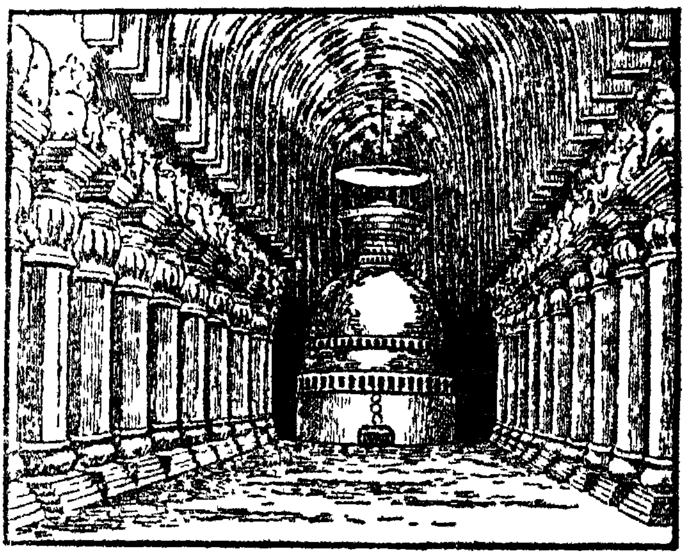
गंगा—"पुरातत्त्वांक"

नवरी, १६३३ | ष-माघ, १६८६

"GANGA"
(An Illustrated Hindi Monthly)

प्रवाह ३, तरंग १ | पूर्ण तरंग २५

"PURATATTWANK"—Special Archaeology Number Rs. 3/-



प्रधान संरक्षक

बनैली-राज्याधिपति साहित्य-विभूषण कुमार कृष्णानन्द सिंह बहादुर

अध्यक्ष

पण्डित गौरीनाथ झा, व्याकरणतीर्थ

इस अंकके सम्पादक

राहुल सांकृत्यायन
रामगोविन्द त्रिवेदी

वार्षिक मूल्य ५) रुपये
विदेशके लिये ७) ,,

"ज्ञानप्रवाहाऽविमलाऽऽदिगंगा"
—शंकराचार्य

"पुरातत्त्वाङ्क"का मूल्य ३)
साधारण अङ्क ॥)

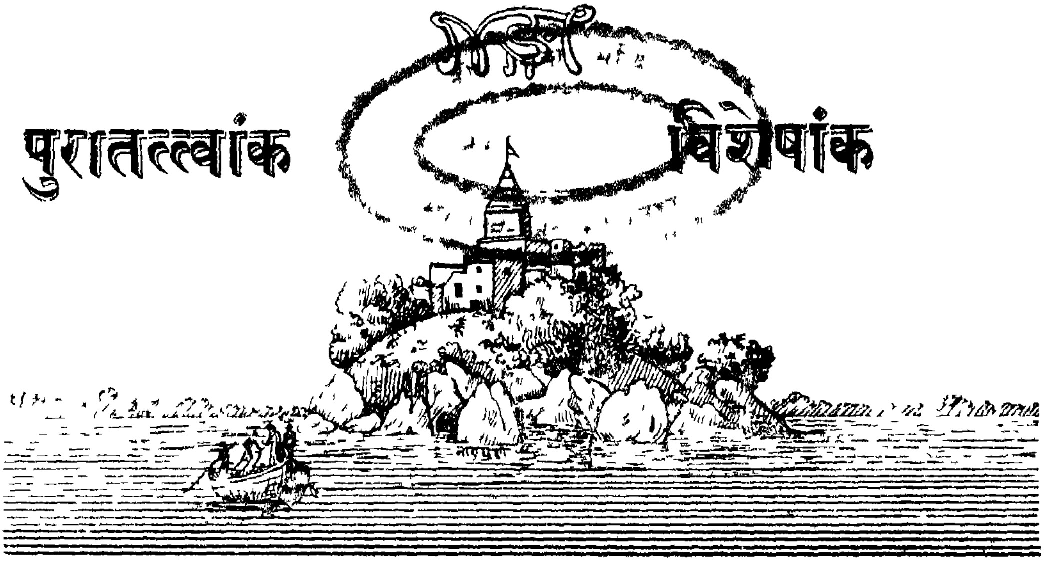
लेख-मालिका

चित्र-सूची



"गंगा" के प्रधान संरक्षक

पुरातत्त्वांक विशेषांक



सचित्र हिन्दी-मासिक पत्रिका

प्रवाह ३ | जनवरी, सन् १६३३; पौष-माघ, संवत् १६८६ | तरंग १, पूर्ण तरंग २५

पटनाके खँड़हरमें

बा० रामधारी सिंह "दिनकर", बी० ए० (आनर्स)

वैभवके ककाल ! नियतिके अकरुण भग्न विहार !
ओ सम्पन्न-मगध-उत्सव-अभिनयके उपसहार !
अरे राजपतियोंके गौरवकी तुम सुप्त समाधि !
बता, बता, सो रहा कहा वह सोनेका ससार ?

विश्वका सपना वह सुकुमार
कहां सिसकी भरता अनजान ?
प्रलयके तिमिराञ्चलमें कहा
छिपी वह वैभवकी मुसकान ?

नियतिके कुटिल अकमें कहा
ऊँघता वह विराट् शृंगार ?
हुआ किस गगनागणमें अस्त
हमारा स्वर्णोदय साकार ?

लहरता है कहा शूरताका वह पारावार ?
कहा गूँजता आज हमारे भारतका जयकार ?
फड-फड फहर रहा किस रणमें मेरा विजय-निशान ?
अरे चमकती "चन्द्रगुप्त"की कहा आज तलवार ?
काँपते सुन मेरा रणघोष कहा अब भूके राष्ट्र विशाल ?
हमारे पदपर झुकता कहा ग्रीसका वह गर्वोन्नत भाल ?
बिहँसती भारत-जननी कहा विजयकी आभामें छबिमान ?
कहां गाते किन्नर-गन्धर्व मौर्य्य-वीरोंके गरिमा-गान ?
गूँज उठे जिस धर्म्म-गीतके स्वरसे देश-विदेश
जरा सुना दे हमें आज गौतमके वे उपदेश !
गिरि, वन, जलधि लाँघ भूतलपर प्रसरित होते आज
कह, "अशोक"की प्रबल बाँह चढ़ क्या मेरे सन्देश ?
यहा धर्म्मगुरुकी समाधि है, तू ऐसे मत भूल।
संस्कृतिकी सुकुमार लताका यहीं छिपा है मूल।
इतना रखना याद, यदपि वह डूब गया दिनमान।
इस उजाड़ उपवनमें भी थे खिले कनकके फूल ॥
आज लोटता जिस मिट्टीमें मेरा मुकुट महान
वहीं कभी तूने देखे है अद्भुत विभव-वितान।
किन्तु अभ्युदयका इस जगमें एक अर्थ सहार।
अतः आज तेरे मरघटमें रोता अभ्युत्त्थान ॥
मुरझ गया सन्ध्या-अञ्चलमें मेरा स्वर्ण प्रकाश।
पतझडकी झखाड सेजपर सोया विमल विकास।
हाय, गवाकर आज विभव-मणियोंके वे शृंगार--
खोज रहे तेरी मिट्टीमें हम अपना इतिहास ॥

यही सुख-सम्पतिका आख्यान
विनश्वरताका चिर अभिशाप।
नियतिका कुटिल व्यंग, परिहास,
यही है इस जगतीका पाप ॥
अशाश्वत विश्व-विभवमें यहा,
निहित है शाश्वत सत्यानाश।
प्रलयके सौरभमें अज्ञात,
व्याप्त है जल, थल अनिलाकाश ॥

गूंज रहा जगके कण-कणमें महाप्रलयका राग।
एक-एक कर छोड रहा कुसुमोंको सरस पराग।
क्षणभंगुरताके इस वनमें विकल बैठ हम आज।
अपने वैभवकी समाधिपर गाते करुण विहाग ॥

पुरातत्त्व और इतिहास

राव बहादुर डा० एस० कृष्णास्वामी आयंगर एम० ए०, पी-एच० डी०

पुरातत्त्वमें निम्न-लिखित विषय सम्मिलित है :—

(क) शुद्ध पुरातत्त्व, शिल्पकला, मूर्त्तिविद्या और विभिन्न चित्र-कलाएँ ;

(ख) लिपि-विद्या और मुद्रा-विद्या ।

इस अर्थ-निरूपणमें साधारणतः विकासवादका सिद्धान्त लागू होता है । इस सिद्धान्तका व्यवहार भले ही भ्रमोत्पादक न मालूम पड़े, किन्तु इसे सिद्धान्तरूपमें व्यवहृत करनेमें बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है । दीर्घ काल तक विचार करनेपर इसका परिणाम फलदायक हो सकता है, किन्तु साधारण रूपमें, सावधानीके साथ व्यवहार करनेसे, जो भूलकी सम्भावना हो सकती है, उसके प्रमाणकी बहुत कम आवश्यकता है । कभी-कभी यह दावा किया जाता है कि, विकास-वादका सिद्धान्त अल्पकालके लिये भी लाभके साथ व्यवहृत किया जा सकता है और इसमें यदि कुछ भूल भी हों, तो उनका अन्य दूसरे प्रमाणों द्वारा विचार करनेपर निवारण हो सकता है ।

अत्यन्त सावधानीके साथ व्यवहृत करनेपर भी पुरातत्त्व-सम्बन्धी पदार्थ, विस्तृत रूपमें, (जिनमें पुरातत्त्व-सम्बन्धी सभी प्रकारकी वस्तुएँ आ जायँ) हमें इतिहास-निर्माणमें केवल अस्थि-पंजरका काम दे सकते हैं । उदाहरण-स्वरूप किसी घटनाका प्रभाव या कौन-सी घटना किससे आगे या पीछे घटी या जिस जातिकी पुरातत्त्व-सम्बन्धी वस्तुकी परीक्षा की जा रही है, उसकी साधारण अवस्था या सभ्यताका पता आदि विभिन्न सूचनाएँ इससे बहुत-कुछ मिल सकती है । किसी भी सभ्यताके सम्बन्धमें, पूर्ण जानकारीके लिये, पुरातत्त्व-सम्बन्धी प्रमाणोंसे काम चलाना जरा टेढ़ी खीर है । हमें इसके लिये कुछ अधिककी आवश्यकता है । हाँ, इतिहास-निर्माण-कार्यमें हमें मनुष्य-कृत पदार्थ ही वास्तविक सहायता पहुँचा सकते हैं, और, जिसे हम पुरातत्त्व-विद्या समझते हैं, वह भी इसी "मानव-कार्य"में सम्मिलित है।

इधर, हालमें, पुरातत्त्व-विद्यामें, हमारे देशमें, बहुत कुछ उन्नति हुई है और इसके लिये हम सर जान मार्शलके, जिनकी, विचार एवं प्रतिभासे सम्पन्न, देख-रेखमें इस विभागने इतनी उन्नति की है, ऋणी है । तक्षशिला, नालन्द, सारनाथ, पाटलिपुत्र, नागौर (राजपुताना) प्रभृति केन्द्रोंमें जो खोदाईके कार्य हुए है, उनने इतिहासके अध्ययनमें भिन्न-भिन्न रूपसे बहुत कुछ प्रशंसनीय सहायता की है । किन्तु इन सबसे बढ़कर सिन्ध-प्रदेशकी खोदाई है । इस कार्यके प्रारम्भमें तो ऐसा प्रतीत होता था कि, यह मेसोपोटामियाकी हू-बहू नकल है और प्राप्त वस्तुएँ **भारत-सुमेरीय** सभ्यताके स्मृतिचिह्न हैं, किन्तु ज्यों-ज्यों आगे कार्य बढ़ता गया, नयी-नयी चीजोंका पता चला और फलस्वरूप यह भ्रम दूर हो गया । वहाँकी प्राप्त वस्तुओंने यह साफ प्रमाणित कर दिया है कि, यह सुमेरीय सभ्यतासे बिलकुल भिन्न हैं । सर जान मार्शलने अपने लेखोंमें इस बातपर जोर दिया है कि, इसे भारत-सुमेरीय नहीं, वरन् सिन्धु-तटस्थ सभ्यताका नाम देना चाहिये । परन्तु वह समय अभी नहीं आया है कि, हम इस विषयमें बहुत दूर आगे बढ़कर इसका अन्तिम निर्णय कर सके। इस सभ्यताका वास्तविक रूप (जिसे पुरातत्त्वकी खोजने प्रकट किया है) जाननेके लिये अधिक अध्ययन एवं विशेष सामानकी आवश्यकता है । हम तबतक निर्णय-रूपसे कुछ कहनेमें लाचार है, जबतक उस स्थानमें पुरातत्त्वज्ञों द्वारा प्राप्त वस्तुओंकी जाँच, अच्छी तरह, विशेष अध्ययनके साथ, न की जाय । परन्तु इतना अवश्य है कि, इसके कार्य-क्रमसे

हमें इस प्रश्नको सन्तोष-रूपसे हल करनेमें सफलता-प्राप्ति होगी। खैर, जो हो, वह समय कभी भी आवे, निर्णय यही करना है कि, यह सभ्यता ऋग्वेदिक है अथवा प्राविड़?

इसके अलावा पुरातत्त्वका कार्य बहुधा पुराने नगरों, मन्दिरों एवं दूसरे प्रकारके साधारण गृहोंके पते लगानेमें सहायक होता है। उदाहरणार्थ नालन्द, सारनाथ तथा अन्य स्थानोंके बौद्ध-मन्दिर हैं। कभी-कभी पुराने मन्दिरोंका पता लगाकर उनके रूपका जीर्णोद्धार भी बहुत कुछ मूल्य रखता है; जैसा कि, भारतवर्षके बहुतसे स्थानोंमें इस प्रकारके जीर्णोद्धार किये हुए मन्दिर हमें, मन्दिरकी बनावटके अपूर्ण रूपका, दिग्दर्शन करा सकते हैं। यद्यपि इस प्रकारके जीर्णोद्धार-कार्य केवल भूमितलके खाका मात्र ही है, परन्तु, फिर भी, इस अल्प सहायतासे भी, हमलोग सम्पूर्ण मन्दिरकी बनावटके विषयमें बहुत कुछ अनुमान कर सकते हैं। इन भग्न खँडहरोंके (जो केवल अंश-रूपमें पाये गये हैं) आधारपर उनकी समस्त बनावट, सभ्यताकी उन्नति और उस कालकी स्थितिके विषयमें बहुत-कुछ सहायता मिल सकती है, और, इसी कारण इसका एक खास मूल्य है। अन्वेषण-कार्यमें बहुतेरी प्रसिद्ध और नवीन प्राप्त वस्तुएँ (जिनसे प्रचलित विचार-क्षेत्रमें एक प्रकारकी क्रान्ति-सी मच गयी है) भारतकी सीमाके ही अन्दर नहीं, किन्तु भारत-महासागरके दूसरे द्वीपों तथा अन्य देशोंमें भी पायी गयी हैं। इस कार्यमें हनोई (अनाम) के फ्रेंच पुरातत्त्व-विभाग और जावाके डच पुरातत्त्व-विभागके कार्य विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। अकुरवट और अकुरथामके गड़े हुए मन्दिरोंके अन्वेषण-कार्यने भारतकी सीमाके बाहर भारतीय सभ्यताके प्रसारपर बहुत कुछ प्रकाश डाला है। हम मानते हैं कि, इतना ही यथेष्ट दिलचस्पीका विषय है, किन्तु इस क्षेत्रमें अधिक कार्य इस रहस्यको और भी अच्छी तरह सुलझावेगा और इतिहासके गुप्त रहस्योंका उद्घाटन करनेमें काफी सहायता देगा। शायद इस क्षेत्रमें इस विषयका अधिक कार्य डच पुरातत्त्व-विभागका ही है। इस विभागने बोरोबुदरके विशाल मन्दिरके अध्ययनके सम्बन्धमें एक नियमित रूपसे प्रयत्न किया है। इतने महान् परिश्रमके बाद भी उन लोगोंका कार्य इस मन्दिरके रहस्यकी गुत्थी सुलझानेमें अधिक सफलता लाभ नहीं कर सका है। इसका पता इस विभागके दो बृहत भागोंमें समाप्त होनेवाले विशाल ग्रन्थों और अन्यत्र छपी हुई ४०० पुस्तिकाओंके द्वारा (जो इसी विषयपर प्रकाशित हुई है) लगाया जा सकता है। यह पुरातत्त्वके कार्य और साहित्यके आपसके सम्बन्धका बड़ा जबर्दस्त उदाहरण है। अतएव इस कीर्त्ति-स्तम्भका रहस्य तबतक उचित रूपसे मालूम होना असम्भव है, जबतक कि बौद्ध-धर्मके सभी प्रकारके साहित्यका गम्भीर अध्ययन नहीं किया जाय और उस अध्ययनके द्वारा इस तरहके कीर्त्ति-स्तम्भोंका अर्थ नहीं लगाया जाय।

महाबलीपुरम (मद्रास) में पाये गये भारतीय कीर्त्ति-स्तम्भोंके द्वारा यह बात और भी साफ २ समझमें आ जाती है। वहाँ पाये जानेवाले पल्लव राजाओंके शिला-स्तम्भ एवं कीर्त्तिस्तम्भ लगभग एक शताब्दीसे भी अधिक दिनोंसे यात्रियोंके लिये एक कौतूहलकी वस्तु हो रहे हैं! उनका तरह-तरहका अर्थ लगाया जा रहा है! इधर हालमें पुरातत्त्व-विद्या एवं लिपि-विद्यामें कुछ मतभेद हो जानेके कारण साधारण रूपसे सभ्यताका निर्णय बहुत कुछ अंशोंमें, बन्द हो गया है। इसका जीता-जागता उदाहरण एक वह शिला-मूर्त्ति है, जो इस स्थानमें "अर्जुनकी तपस्या"की मूर्त्तिके नामसे प्रसिद्ध है। इस प्रश्नके अलावा कि, यह मूर्त्ति स्थापत्य-शिल्प या लिपि-शिल्प है, (जो समयके निर्णयके लिये निश्चित प्रमाणका कार्य देता है), इस शिलापर खोदी हुई इस मूर्त्तिका अर्थ लगाना (क्योंकि इस प्रकारके कीर्तिस्तम्भोंके अर्थ लगानेके सम्बन्धमें बहुत कुछ पथ-प्रदर्शनका काम दे सकता है) बहुत कुछ महत्त्व रखता है। इस नगरको सुन्दर बनानेमें मनुष्यकृत जितने पदार्थ हैं, उनमें एक वह

पदार्थ भी है, जिसकी ओर हमारा ध्यान, प्रबल रूपसे, आकृष्ट होता है। वर्तमान विष्णु-मन्दिरके ठीक पीछे इस स्थानमें एक बहुत बड़ी खड़ी ढलुवाँ चट्टान है। इसके बीचसे, वृष्टि-जलसे घिस जानेके कारण, एक प्रकारका जल-पथ बन गया है। वर्षाका जल, जो दूसरी चट्टानोंके शिखरपर तथा ऊपरी भागमें प्रवाहित होता है, एकत्र होकर चट्टानके इसी जल-पथसे बहता है। समयके प्रवाहके साथ जलके इस प्रवाहने भी इस चट्टानको दो सम भागोंमें विभक्त कर दिया है। शिल्प-मूर्तिकारने इस चट्टानपर उपदेशमय एक बड़े भव्य चित्रका खोदना आवश्यक समझा। उसने इस चट्टानपर विविध प्रकारके दृश्य चित्रित कर दिये है। जल-तलमें सभी-प्रकारके जल जन्तु, नाग-नागनियोंके साथ, बह रहे हैं। किनारेपर अनेक जीव-जन्तु, जल पीनेके हेतु, आते हुए दृष्टिगोचर होते है। पास ही, दूसरी ओर, एक कुटी बनी है। कुटीके कारण, स्नान-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न कार्य करते हुए, किसी भी हिन्दू-धर्मके तीर्थस्थानके निकट होनेवाले धार्मिक कृत्य करते हुए ये चित्र निस्सन्देह सारे दृश्यके प्रधान अंग है। चट्टानके ऊपर, जल-पथके सन्निकट ही, दाहिने पैरके अँगूठेपर खड़ी एक शिलामूर्त्ति है। यह मूर्त्ति इतनी दुबली-पतली है कि, इसके अस्थि-पंजरतक दृष्टिगोचर होते हैं। इसके दोनों हाथ परमात्माकी तपस्या करनेके रूपमें ऊपरकी ओर उठे हुए है। इसके ठीक सामने किसी देवताकी एक विशाल मूर्ति है। देवताकी स्वाभाविक जटासे यह भी प्रतीत होता है कि यह देवाधिदेव भगवान महादेवकी मूर्ति है। उसके ठीक नीचे उसी तपस्वीकी एक दूसरी मूर्त्ति, एक छोटे मन्दिरके सम्मुख तपस्या करनेके भावके रूपमें, प्रदर्शित की गयी है। अतएव यह स्पष्ट है कि, यह उस व्यक्तिकी शंकरसे वरदान माँगनेके समयकी मूर्त्ति है। यदि केवल इन्हीं सब अंगोंपर विचार किया जाय, तो यह अनुमान निकाला जा सकता है कि, इस दृश्यमें नदीको ही मुख्यत प्रधानता दी गयी है। परन्तु इस चित्रमें कुछ और भी बातें हैं, जो विचारणीय हैं। इस सारे चित्रका अर्थ लगानेके लिये एक चित्र प्राप्य है, जो दूसरी जगह है। उपर्युक्त बातोंपर विचार करनेके कारण इसके मुख्य अंगको ध्यानमें रखकर इस मूर्तिका नाम जो यहाँ "अर्जुनकी तपस्या" के नामसे प्रचलित है, अस्वीकार करने योग्य है और इस मूर्त्तिका अर्थ "गंगावतरण" ही लगाया जा सकता है। यह मत फ्रेञ्च पुरातत्त्व-विशारद मोन्स गुलबूका है। पाण्डिचेरीके प्रोफेसर गोविन डुब्रेल और पाश्चात्य पुरातत्त्व-विभागने भी इसका समर्थन किया है। डा० आनन्दकुमार स्वामीने भी अपनी पुस्तक "भारतीय एवं सुदूर भारत-एशियाई कला" में इस मतका अनुमोदन किया है। इससे यह स्पष्ट है कि, विद्वानोंका बहुमत इसे "गंगावतरण"का चित्र स्वीकार करता है। अतएव इसके प्रचलित नामका आधार (जिसे कोई भी ऐतिहासिक आधार प्राप्त नहीं है) दन्तकथाके सिवा और कुछ नहीं हो सकता।

इस प्रकार केवल स्थापत्यप्रमाणके आधारपर ही विचार नहीं किया जा सकता। सबसे पहली बात यह है कि, यहाँ शिलामूर्त्तिकारका "गंगावतरण"को इस भाँति दिखलानेका क्या उद्देश्य है? दूसरी बात यह है कि, यदि उसने दिखलाया भी, तो वह उचित रूपमें सफलीभूत हो सका है अथवा नहीं? इस प्रश्नके पूर्व यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि, इस चित्रमें जितनी बाते है, उन सबोंकी "गंगावतरण"की कहानीके आधारपर व्याख्या की जा सकती है अथवा नहीं? पहली बात जहाँतक स्पष्ट है, यह है कि, एक मनुष्य उग्र तपस्या करता है, भगवान शंकर दयार्द्र होकर सम्मुख प्रकट होते है और उसे वरदान माँगनेकी आज्ञा देते हैं। वहाँ नदीकी उपस्थिति इस बातको स्पष्ट करती है कि, वरदानमें नदीका पृथ्वीपर आना ही माँगा गया है, शिला-मूर्त्तियोंका (जो इस शिला-चित्रके मुख्य अंग हैं) चित्रण करना शिल्पकारकी इच्छा पृथक रूपसे दूसरी बातोंको दिखलानेकी है। इस मूर्त्तिकी ठीक बाँई ओर, ठीक उसी समतल

भूमिपर, जहाँ यह मन्दिर है, और वह तपस्यालीन है, दो विशालकाय बलिष्ठ मनुष्योंकी मूर्तियाँ हैं। उन दोनोंके हाथोंमें बाणके साथ चढ़े हुए धनुष है और ऐसा प्रतीत होता है, मानो वे किसी शिकारके पीछे हों। उन लोगोंके एकदम सामने एक विशालकाय जन्तु अपनी शक्तिभर, अत्यन्त तीव्र गतिसे, भागा जा रहा है। उसके कार्य तथा चालसे यह स्पष्ट है कि, वह बड़ा भयभीत है। उसका रूप अन्य स्थानोंमें भी अंकित है और अन्तमें उस ध्यान-मग्न तपस्वीके निकट टूटकर निकल पड़ता है। जन्तुकी आकृतिसे यह प्रत्यक्ष है कि, वह वराहके सिवा कोई दूसरा जानवर नहीं है। इसका स्वभाव भी प्राचीन भारतकी कुटियोंके आसपास रहनेवाले जन्तुओंके स्वभावसे बिलकुल भिन्न मालूम पड़ता है। यह निस्सन्देह है कि, ये शिकारी इसी शूकरके पीछे लगे हैं और यह यथाशक्ति बचनेके प्रयत्नमें है। यह भाव इतना स्पष्ट एवं प्रधान रूपसे अंकित है कि, हम लोग इसे सम्पूर्ण दृश्यका एक गौण अंश मान सकते हैं। इस पूरे दृश्यकी व्याख्या करनेके समय इस चित्रका भी अर्थ निकालना अत्यन्त आवश्यक है। "गंगावतरण"की कहानीमें इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

"गङ्गावतरण"में शङ्करका भाग गौण है, क्योंकि गंगा कुछ उनकी कृपासे नहीं अवतरित हुई है। वे रंगमंचपर केवल इसलिये बुलाये जाते हैं कि, गंगाके स्वर्गसे पृथ्वीपर गिरनेके समयकी प्रबलताको वे सम्हाल सकें। उन्होंने यह कार्य, भगीरथपर प्रसन्न होकर, स्वीकार किया था। अतएव उन्होंने गंगाके महान् भारको अपने ही ऊपर रोककर अपनी जटामें बाँध रखा, पश्चात् धीरे-धीरे बूँद-बूँद बहने दिया। यह कार्य केवल गंगाकी धाराकी तीव्र गतिको रोकने और गंगादेवीके गर्वको चूर करनेके लिये ही किया गया था। "गंगावतरण"के दृश्योंमें शंकर सर्वत्र इसी रूपमें दिखलाये जाते हैं। भारतवर्षमें इस सम्बन्धके समस्त चित्र इसी प्रकारके हैं। परन्तु इस शिलाचित्रमें महादेव, प्रधान देवताके रूपमें, दयालु दाताकी तरह, उस तपस्वीके एक बहुत घोर संकटके समय, उपस्थित किये गये हैं। इसलिये इस चित्रमें नदीकी प्रधानता मानना सरासर अनुचित है। इस घटनाके सम्बन्धमें दूसरी अनुचित बात यह है कि, नदी एक क्षुद्र धाराके रूपमें दिखायी गयी है और कहानीमें जो शिवका भाग है, वह यहाँके शिवके भागसे उनकी उपस्थिति, इस सम्बन्धमें, आवश्यक नहीं है। शिवकी उपस्थिति गंगाको पूर्ण रूपसे, अपनी प्रबल धाराके रूपमें, दिखलाना उचित था। साथ ही शिवके गंगाको अपनी जटामें रोकनेका दृश्य दिखलाना आवश्यक था। यदि यह नहीं, तो वह जटाके एक कोनेमें क्षुद्र धाराकी भाँति प्रवाहित ही दिखायी जा सकती थी। इस शिला-चित्रमें इन दृश्योंका प्रायः अभाव-सा है। इसके अलावा दो मृगया करनेवालों और वराहके चित्रोंकी स्पष्टता बिलकुल ही नहीं होती है। आकाशमें विचरण करनेवाले जो चित्रमें नदीकी ओर जाते हुए दिखलाये गये हैं, उनका अर्थ स्पष्ट है कि, वे सबके सब चित्रके ठीक बीचमें अंकित भगवान् शंकरकी मूर्तिकी ओर जा रहे हैं। वरदान देनेके समय ऐसी घटना प्रायः सब कहानियोंमें दिखायी जाती है। यह स्वाभाविक है। उनमें बहुतेरे आकर ठहर जाते हैं, कुछ आकर शीघ्र ही इस समाचारको दूसरोंके पास पहुँचानेके लिये चले जाते हैं और इस प्रकार पितृगण तथा देवगण विविध भौतिक कार्य करते हैं। नियमानुसार इस चित्रमें भी इनका वही कार्य है। शिलापर शिकारियों और वराहके चित्र चित्रित हैं। उनकी कहानी ठीक वही है, जो हमें "किरातार्जुनीय"में उपलब्ध है। नदी कुटीका एक साधारण अंग मात्र है। साथ ही तपस्या-भूमिमें पायी जानेवाली शान्ति प्राप्त है। हाँ, वराहका आना इस स्वाभाविक शान्तिमें बाधा डालता है। हिन्दूमतानुसार कोई भी कुटी ऐसी जगहपर सम्भव नहीं, जहाँ विपुल जल-प्राप्ति असम्भव हो। साथ ही यह धारा तो एक स्वाभाविक है, जिससे मूर्तिकारने नदी अंकित करनेमें, सुभीतेसे, लाभ उठाया है। इसके सिवा नदीमें कोई खास विशेषता नहीं, जो गंगावतरणवाली घटनाका चित्र माना जाय।

नदीके चित्रकी इस प्रकार सन्तोषपूर्वक व्याख्या कर अब चित्रमें अंकित शिकारियों एवम् वराहकी व्याख्याका प्रयत्न करना चाहिये। किरातार्जुनीय अथवा महाभारतके किरात-पर्वमें पाठक अर्जुनकी तपस्याका वर्णन पावेंगे।

कहानीमें अर्जुनका भावी युद्धकी तैयारीके लिये पाशुपत-प्राप्तिके अर्थ तपस्या, वराहका आगमन, उसका पीछा करना, किरातवेशी शिवसे युद्ध, बात खुल जानेपर अर्जुनका पश्चात्ताप और क्षमा-याचना, शिवका प्रसन्न होना, वरदान देना आदि बातें विशद रूपसे चित्र-काव्यमें वर्णित हैं। कहानीके तीन प्रधान भाग विभिन्न दृश्योंमें शिलापर दिखाये गये हैं। चित्रपरिशीलनसे किसी भी सिद्धान्तसे यह सन्देह नहीं रह जाता है कि, यहाँ कलाकारका वास्तविक उद्देश्य केवल यही है अथवा कुछ दूसरा नहीं। साथ ही इसका और कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि, इसकी व्याख्या किसी दूसरे रूपसे की जाय। चित्रके प्रचलित नामके बदले कोई दूसरा नाम देनेके पूर्व आवश्यकता है कि, प्रचलित नामकी अयोग्यता स्पष्ट रूपसे प्रमाणित की जाय। यह तो निर्विवाद है कि, यह अयोग्यता बिलकुल नहीं प्रमाणित की गयी है और खूबी तो यह है कि, उसके बदले एक नये नामकी सिफारिश की गयी है। इसका आधार नदीको छोड़कर और कुछ भी नहीं है। इसके अलावा सम-सामयिक साहित्यमें अर्जुनको पाशुपत अस्त्र प्रदान करना वर्णित है। मैंने भी १९१७के 'इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में इस कहानीको उद्धृत किया है। इसके सिवा यह एक यथार्थ बात है कि, इस चित्रके निर्माण-कालमें पल्लव-नरेश सिंह विष्णुकी राजसभामें किरातार्जुनीयका प्रचार पूर्णरूपसे था। इस महाकाव्यका लेखक कवि भारवि इनका समकालीन था। प्रायः चित्र इस कविके काव्यका चित्रानुवाद है। यह चित्र पाँचों भाइयों (पाण्डवों) मेंसे एक मुख्य भाईके सम्बन्धमें होनेके कारण इस स्थानका नाम भी पाण्डवोंपर पड़ गया है। इसकी दूसरी कोई भी व्याख्या, जब तक साहित्यकी सहायता पुरातत्त्वके प्रमाणके लिये न ली जाय, सम्भव नहीं है। इतिहासके प्रधान पात्रोंके इस प्रकारके उदाहरणका प्रधान उद्देश्य यही है। इन सब बातोंको देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, पुरातत्त्व-सम्बन्धी वस्तुओंके अर्थ लगानेमें भूल होनेकी बड़ी सम्भावना है।

मूर्ति-विद्याके सम्बन्धमें लोगोंकी कुछ ऐसी प्रवृत्ति है कि, वे मूर्ति-विद्यासम्बन्धी सभी कृतियोंका अर्थ, विकास-वादके सिद्धान्तके सहारे लगाते हैं, किन्तु वे भूल जाते हैं कि, विकास-वादका सिद्धान्त, जिसका मूर्ति-विद्यासे सम्बन्ध है बहुत कुछ, अन्य कई कारणोंसे, परिवर्तित हो जाता है। कलाके विकाशके सिद्धान्तमें धर्मके आधारपर अवलम्बित मूर्तिविद्याकी रीतियोंके कारण बड़ा हेरफेर हो जाता है। कलाका विकास-वाद जब मूर्तिविद्यामें लागू होता है, तब उसमें बहुत कुछ संशोधन लाना है और यदि मूर्तिविद्याकी रीतियोंके आधारमें जो रीतियोंकी विभिन्न कलाएं हैं, उन्हें ध्यानमें रख, तभी अर्थ लगानेमें सरलता होगी। अन्य प्रकारकी कलाएँ एकदम ही भिन्न वस्तुएँ हैं। इनमें कलामें विकास-वादका सिद्धान्त विचक्षणतासे लागू हो सकता है। अगर इसमें प्रभावोत्पादक हस्तक्षेपकी कुछ सम्भावना भी है, तो वह केवल उन जातियोंके अनुकरणकी है, जिनके साथ सम्बन्धकी सम्भावना हो और जिसके कुछ प्रमाण हों। यदि ऐसी बात न हो, तो विकास-वादका सिद्धान्त सुन्दर परिणामके साथ लागू हो सकता है।

लिपि-विद्या और मुद्रा-विद्या इस सम्बन्धमें ठीक उसी प्रकारके एक ही आधारपर अवलम्बित है। किंतु प्राचीन लिपि-विद्यापर यदि हम केवल उन्नतिशील विकास-वादकी दृष्टिसे किसी तरफ देखें, तो अधिक विश्वास कर सकते हैं। हाँ, यदि केवल इसीके आधारपर हम काल-निर्णय करनेका प्रयत्न करें, तो हम भूलकी सम्भावनासे बिलकुल परे नहीं हैं। किंतु इतना अवश्य है कि इस विद्याके समुचित अध्ययनसे अधिक उन्नतिके साथ सुदृढ़ अवस्थापर पहुँच सकते हैं। मुद्रा-विद्यामें विकास-वादका सिद्धान्त लिपि-विद्यासे यदि अधिक नहीं, तो बराबर अवश्य लागू होता है। इसके अलावा इसमें

जो कुछ विशेष लाभ है, वह यह है कि, हम मुद्राओंको कारीगरीके रूपकी कलाकी सुंदर कृति मान सकते हैं। इसमें एक बहुत बड़ा लाभ यह भी है कि, इसमें कोई भी हेरफेर लानेवाली ऐसी रीति या प्रथा नहीं है, जिसका परिणाम बहुत दूर तक पड़े। इतना होते हुए भी इसमें विकास-वादके सिद्धांतको लगाते समय अत्यंत सावधानी एवं संयमकी आवश्यकता है।

साहित्य-क्षेत्रकी ओर मुड़नेपर पता चलता है कि, पुरातत्त्व मनुष्य-मस्तिष्ककी अपने सभी अंगोंमें सर्वांगपूर्ण एवम् श्रेष्ठ उपज है और इसमें हमें उस वस्तुकी प्राप्ति होती है, जिससे हम किसी भी दूसरी वस्तुकी अपेक्षा पुरातत्त्व-अन्वेषणके सम्बन्धमें अधिक लाभ उठा सकते हैं। लेकिन इसमें बहुत भूल हो सकती हैं, जिनसे बचनेके लिये अत्यंत सावधानीकी आवश्यकता है। इस क्षेत्रमें चेतनका अनुभव खूबीसे किया जा सकता है। इसी कारण इसमें सभी प्रकारके मनुष्य-मस्तिष्ककी तरंग और व्यक्तिगत समीकरणोंका स्वच्छन्द विचार छोड़ दिया जा सकता है। अर्थ लगानेके साधारण सिद्धान्तोंकी कोई भी नियमबद्ध परिभाषा देनी, स्वकथित प्रमाणोंके आधारकी अपेक्षा, विशेष कठिन है। इसके अलावा हमें जो पुस्तकें प्राप्त हैं, उनकी सचाई और शुद्धतापर हम पूर्णरूपसे विश्वास नहीं कर सकते। परन्तु किसी भी जातिकी सभ्यताके इतिहासका बहुत-सी हालतोंमें ज्ञान करानेके लिये पुरातत्त्व सबसे पूर्ण और सुन्दर साधन है। शर्त यह है कि, प्राप्त वस्तुओंकी छानबीन, बहुत सावधानीके साथ, सम्यक् समालोचनाके द्वारा, निर्णयात्मक विचारसे, की जाय। अतएव इतिहास-निर्माण प्राप्त वस्तुओंकी उचित छानबीन करने और उनका समुचित मूल्य आँकनेपर ही निर्भर करता है। साथ ही यह भी देखना आवश्यक है कि, प्राप्त वस्तुएँ इतिहासके किस विशेष प्रश्न या अंगपर अधिक लागू हैं।

जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है, उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि, वास्तविक अर्थ लगाकर किसी निर्णयपर पहुँचना कितना कठिन एवं कैसी कैसी भूलोंका समावेश होनेकी आशंका है। तो भी इसमें सफलता प्राप्त करना कोई असम्भव कार्य नहीं है। भले ही यह बहुत उत्तम पूर्णताको प्राप्त न कर सके, किंतु उस श्रेणीकी पूर्णता इसमें अवश्य आवेगी, जो मानव-शक्तिकी पहुँचके भीतर है।

भारतीय पुरातत्त्व

श्रीयुत पी० श्रीनिवासाचार्य एम० ए० (लंडन)

किसी राष्ट्रके निर्माणमें जो मुख्य उपकरण सहायक होते हैं, उनमेंसे उस राष्ट्रको सांस्कृतिक अनुश्रुतियों (*Traditions*) की विशेषताओंका एकीकरण मुख्य स्थान रखता है। राष्ट्रकी आत्मा सर्वदा उसकी संस्कृति, उसकी भावनाओं तथा उसके अतीत कालके आख्यानोंसे अनुप्राणित रहा करती है। उन सभी विषयोंका अर्थात् अतीत कालके सभी भौतिक पदार्थोंका विश्लेषण, उनका स्पष्टीकरण तथा अन्वेषण ही पुरातत्त्व-विषयका मूल आधार है। यह पुरातत्त्वके साथ ही-साथ इसके सम्बन्धमें सभी विषयों—इतिहास तथा शिलालेख आदि—का सम्बन्ध स्थापित करता है।

भारत सरकार, अपने प्रारम्भिक शासनकालमें, भारतकी पुरातत्त्व-विषयक गवेषणाओंके महत्त्वसे अनभिज्ञ नहीं थी; किन्तु इस बीसवीं शताब्दीमें इस विषयपर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है; क्रमबद्ध छानबीन की जा रही है, पुरातात्त्विक क्रमिक विकासपर अच्छा प्रकाश पड़ता हुआ दीख पड़ता है।

पिछले इतिहासपर दृष्टिपात करनेसे हम कह सकते हैं कि, लार्ड कैनिंग ही भारतीय पुरातत्त्वके जन्मदाता हैं—यद्यपि इनके पहले भी कुछ काम हो चुका था। सन् १८३४ में जनरल कनिंघम तथा सन् १८५१ में मेजर किट्टोने सारनाथमें कुछ खोदाईका काम किया था; किन्तु उन लोगोंका यह कार्य वैयक्तिक रूप एवं ससीम क्षेत्रमें सम्पादित हुआ था। सन् १८६० में लार्ड कैनिंगने *Archaeological Servey of India* की स्थापना की; और, सन् १८६२ में, पुरातत्त्व-विशारद जनरल एलेक्जेंडर कनिंघमको पुरातत्त्व-विभागका डाइरेक्टर नियुक्त किया। इस परिश्रमी विद्वान्ने, सन् १८६२ से १८८४ तक, अकथ परिश्रम किया और अपनी महत्त्वपूर्ण खोजकी रिपोर्टोंको, लगभग २३ खण्डोंमें, प्रकाशित कराया। इनमें सरकारी साधारण वार्षिक रिपोर्टोंसे कहीं अधिक सच्ची खबरें, खोजकी विशेषताएँ तथा पूरे-पूरे विवरण दिये गये हैं। डाइरेक्टर जनरल कनिंघमकी दस वर्षोंसे अधिक श्रमशीलता वस्तुतः उनकी निजी कृति थी, लेकिन सन् १८७४ में डाक्टर बर्जेस मद्रास और बम्बई में सर्वेसियोंकी पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोजोंके लिये डारेक्टर जनरल नियुक्त किये गये। ये जनरल कनिंघमको ही तरह पुरातत्त्व-विभागके अन्वेषणमें निपुण थे और अन्तमें उनके स्थानमें डाइरेक्टर जनरल भी हुए। इन्होंने ३२ खण्डोंमें *Imperial Series* प्रकाशित करायी है, जिसमें कनिंघम साहबकी रिपोर्टों के साथ सन् १६०२ के पूर्वतकके पुरातत्त्व-सम्बन्धी विवरण भी दिये गये है। इसके अतिरिक्त, मेजर कोल (जो सन् १८८१-१८८४ तक प्राचीन स्मारकोंके अध्यक्ष, *Curator of the Ancient Monuments*, थे) की लिखी "भारतीय स्मारकोंका संरक्षण" (*Preservation of National Monuments of India*) शीर्षक तीन वार्षिक रिपोर्टें और फुटकर लेख उस समय प्रकाशित हो चुके थे।

सन् १८६६ में डा० बर्जेसके अवकाश ग्रहण करनेपर पुरातत्त्वका काम, फाइनेन्स कमिटी (*Finance Committee*) की उदासीनताके कारण, ढीला पड़ गया। सन् १८६६ में लार्ड कर्जनका ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने लब्धप्रतिष्ठ पुरातत्त्वज्ञ जान मार्शलकी अध्यक्षता में, सन् १६०२ में, *Imperial Department*

of Archaeology की स्थापना की। इसके बाद तो भारतीय पुरातत्त्वका काम प्रति वर्ष सुचारु रूपसे चलने लगा। भारतवर्षमें ही नहीं, सारे संसारमें इस पुरातत्त्व-विभागका कार्य प्रसिद्धि प्राप्त करने लगा; और, "*Indian Archaeological Survey*" के रूपमें इसके द्वारा वार्षिक रिपोर्ट भी प्रकाशित होने लगी।

उपर्युक्त वार्षिक रिपोर्टों तथा जनरल कनिंघम, डा० बर्जेस और मेजर कोलके पुराने प्रकाशनमें विशेष विभिन्नताएँ हैं। जैसा कि, पहले कहा जा चुका है, पहलेके प्रकाशनमें जहाँ पुरातत्त्व-विषयक प्रमाणोंका विस्तृत समावेश है, वहाँ इन रिपोर्टोंसे पुरातत्त्व विषयक वस्तुएँ प्रायः अपना इस प्रकार परिचय देती हैं, मानो इनपर विशेष मननशील अध्ययन नहीं किया गया है; और, इनके तत्त्वोंकी जानकारी जिज्ञासु पुरुषोंपर ही छोड़ दी गयी है।

पुरातत्त्व-सम्बन्धी प्राचीन और नवीन प्रकाशनमें स्वभावतः अन्तर होना अनिवार्य था; क्योंकि पहले इस विषयके विद्वानों और प्रेमियोंकी संख्या बहुत कम थी, साथ ही इस विभागमें उतनी ठोसगी भी नहीं आयी थी। लेकिन बादमें जो वार्षिक रिपोर्टें प्रकाशित हुईं, उनसे आशा हुई कि, उनमें विद्वत्तापूर्ण विवरण मिलेंगे, किन्तु न वे प्राप्य ही हैं, न विशेषज्ञोंको वे इसका परिचय ही देती हैं कि, कौन-कौनसे नये आविष्कार हो चुके हैं! अतः पुरातत्त्व-विभागका मुख्य ध्येय, नयी खोज और खोदाइयोंके बदले, प्राचीन संस्मरणोंकी रक्षा करना हो गया।

खोदाईके काममें बहुत कम उन्नति होनेके कारण लगभग सन् १९२५ में इस विभागमें कुछ (नाम मात्रको) परिवर्तन हुआ। चूँकि तब विदेशी और गैर-सरकारी लोगोंको खोदाई करनेकी सख्त मनाही थी, इसलिये खोज और खोदाईके कामोंमें विशेष उन्नति नहीं हुई। सन् १९२५ में कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण खोज और खोदाईके काम हुए, जिनसे इस ओर भारत सरकारका ध्यान, विशेष रूपसे, आकृष्ट हुआ, और, सिर्फ खोदाईके लिये ही उसने वार्षिक ढाई लाखकी मंजूरी भी दे दी। अन्वेषणके कार्यके लिये, आवश्यक सहकारी कार्यकर्त्ताओंके साथ, एक डाइरेक्टर जनरलकी नियुक्ति हुई। इसके अतिरिक्त भावी अन्वेषण और खोदाईके कार्याधिक्यको अनुभव कर, सरकारी कार्यकर्त्ताओंकी सफलताकी दृष्टिसे, खोज या खोदाई करनेवाली बाहरी या गैर सरकारी सोसाइटियोंको भी देशमें खोज और खोदाई करनेके अधिकार दे डालनेका भारत सरकारने निश्चय किया। भारत सरकारने ऐसा इसलिये किया कि, डाइरेक्टर जनरल जान मार्शलको—जिनके कन्धोंपर सारा भार लदा रहता था—अपने पुरातात्त्विक जीवनकी अनुभूति तथा मनोरञ्जक और महत्त्वपूर्ण बातें लिखनेका अवसर मिलता रहे।

सरकारके द्वारा कुछ संरक्षणके काम भी हुए थे, तो भी प्रारम्भमें पुरातत्त्व-विभागका मुख्य काम केवल माप और अन्वेषण ही था। यद्यपि सन् १९०२ से सन् १९२६–२७ तक पुरातत्त्व-विभागका मुख्य काम प्राचीन संस्मरणोंकी रक्षा करना ही रहा, तो भी पुरातत्त्व-विभागके द्वारा, दूसरी दिशामें, कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य भी हुए, जिनसे पुरातत्त्वज्ञोंके हृदयमें, भारतीय पुरातत्त्वके प्रति, विशेष जिज्ञासा और कौतूहल उत्पन्न हुआ। भारत सरकार इस ओर जितनी थोड़ी रकम खर्च करती आ रही है, उसीसे अब वह पुरातत्त्वके सभी छोटे-छोटे विभागोंके लिये उचित व्यवस्था करनेकी चेष्टा कर रही है, और, अर्थाभावके कारण, खोज और खोदाईका जो काम, अपने बूतेपर, उससे नहीं चल सकता, उसके लिये वह बाहरी या गैर-सरकारी सहायता प्राप्त करनेकी चेष्टा कर रही है।

पुरातत्त्व-विभाग द्वारा अबतक किये गये संरक्षण, खोज और खोदाईका विवरण संक्षेपमें लिखना कठिन है। संरक्षणके विषयमें हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि,

भारतीय या विदेशी—जो भारतीय-पुरातत्त्वमें कुछ भी अनुराग रखते होंगे—यात्रियोंने प्रत्यक्ष देखा होगा और वे खूब जानते होंगे कि, देशमें कोई भी ऐसा कीर्ति-स्तम्भ या स्मारक नहीं- चाहे वह किसी भी धर्म या समाजका हो—जिसकी सहतक पुरातत्त्व-विभाग न पहुँचा हो और जिसकी देख-रेख वह भली भाँति न करता हो।

सरकारको यह आशा बँधी थी कि, किसी-न किसी उपायसे पुरातत्त्व-विभाग अपना काम कभी-न-कभी अवश्य समाप्त कर डालेगा, किन्तु इसका ठीक उलटा ही हो रहा है—जितनी ही मुस्तैदीके साथ काम किया जा रहा है, उतनी ही मात्रामें सफलता दूर भागती जाती है। मुख्यत इसके दो कारण है। एक तो यह कि, संरक्षणका काम एक बार या एक दिनका नहीं, चिरस्थायी है। दूसरी बात यह है कि, भारतवर्ष जैसे देशमें, यदि ऐसे-ऐसे दस विभाग भी लगातार काम करें, तो दो सौ वर्षोंके बाद भी, सहस्रो ध्वसावशेषोंकी छान-बीन अथवा खोज खोदाइयाँ बाकी ही रह जायँगी!

साधारणत. इस कार्यका तत्त्व अब तो भली भाँति मालूम हो गया है और काम भी सुचारु रूपसे चल रहा है। सर जान मार्शलका कहना है कि, प्राचीन स्मारक या कीर्ति स्तम्भ, महत्त्वपूर्ण अन्तर और भावोंके विचारसे, दो भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। मुसलमानोंकी वस्तु-निर्माणशैलीमे—जो सरसेनी शिल्पकलासे बहुत-कुछ मिलती-जुलती है—लोहेके जोड या लकड़ीका व्यवहार नहींके बराबर मिलता है। वस्तुनिर्माणमें वे लोहे और लकड़ीपरकी नक्काशियोंपर कम ध्यान देते थे। ईंटोंकी दीवारोंपर ही नक्काशी की जाती थी और इसके कारण गुम्बजों या मेहरावोंके एक बार फट जानेपर उनकी खूबसूरती- बढ़िया नक्काशी—खराब हो जाती है। प्राचीन मुस्लिम वस्तु-निर्माणशैलीमे एक और बात है। सम्भवत. अपने स्मारकों या मीनारोंका निर्माण करनेकी उनकी एक ही शैली होती थी, और, उनकी ऐसी चाल बहुत प्राचीन कालसे ही चली आ रही है। अतः ऐसी दशामें, सरसेनी स्मारकोंके आकार-प्रकारका पता लगाना उतना असम्भव नहीं जान पड़ता, क्योंकि वे एक ही आदर्श, आकार, संस्कृति और विचारसे तैयार किये जाते थे, उनमें बहुत कम अन्तर होने पाता था।

हिन्दुओंके स्मारकों या कीर्तिस्तम्भोंमें ठीक इससे उलटी बातें पायी जाती हैं। सर जान मार्शलने कहा है कि, हिन्दुओं और मुसलमानोंके स्मारकोंमें विशेष यही अन्तर है कि, हिन्दू शिल्पकार पत्थर या स्लेटकी पट्टियों और काठपर नक्काशी करते थे, इसलिये वे बहुत सुन्दर और टिकाऊ होते थे। दीवारोंके फट जानेपर भी उनकी निजी सुन्दरता बिगड़ने नहीं पाती थी और वे यथास्थान फिर लगा दिये जा सकते थे। इमारतोंके गिर जानेपर भी वे जिस दशामें मिले हैं, उससे उनकी वास्तविक सुन्दरता और कुशल शिल्प कृतिके विषयमें बहुत कुछ जाना जा सकता है। वर्षा, तूफान आदिका उनपर कुछ-न-कुछ अवश्य प्रभाव पड़ा है, तो भी मुस्लिम-शिल्पकलाकी अपेक्षा अतीत-कालीन भारतीय शिल्पकलापर उनके ध्वसावशेषोंसे अधिक प्रकाश पड़ता है, और, उनसे बहुत-सी नयी-नयी बातोंका पता भी चल जाता है।

उपर्युक्त विवरणोंसे पता चलता है कि, पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज और खोदाईका काम अभीतक बहुत थोड़ा ही हो पाया है; इस कामका बड़ा भाग अभी बाकी ही है। पैमाइश, खोज और खोदाईके काम इन दिनों साथ-साथ हो रहे हैं। बात तो यह है कि, जितनी ही अधिक खोदाई हो रही है, उतना ही पैमाइशका काम बढ़ता जा रहा है। केलियोलिथिकयुग (*Chaleolithic Age*) के कुछ स्थानोंकी खोदाईके कारण बलूचिस्तानके कुछ भागोंकी पैमाइश और खोज करनी पड़ी है। वहाँ लगभग ८० ऐसे स्थान ढूँढ़ निकाले गये हैं, जो केलियोलिथिक

युगसे सम्बन्ध रखते हैं। यहाँपर आजतककी की गयी जिन भारतीय खोजों और खोदाइयोंसे प्राचीन इतिहासके प्रेमियोंके हृदयमें हलचल-सी मच गयी है, उनका पूरा-पूरा विवरण देना बिलकुल असम्भव है। फिर भी, हरप्पा, मोहञ्जोदड़ो, तक्षशिला, नालन्द, पाटलिपुत्र, सारनाथ, नागार्जुनीकुण्ड, टिनेवेली जैसे स्थानोंकी खोदाइयों और खोजोंके विषयमें थोड़ा-बहुत प्राय सभी शिक्षित जानते हैं। तो भी, खोज और खोदाईकी मोटी-मोटी बातोंकी जानकारीके लिये कुछ ऐसे ऐसे मुख्य स्थानोंकी एक सूची इस लेखके अन्तमें दी गयी है, जहाँ सरकारी या गैरसरकारी विभागों द्वारा खोदाईके काम हुए हैं। भिन्न-भिन्न स्थानोंकी खोदाईके सम्बन्धमें कुछ विचार करनेके पहले पुरातत्त्व-विषयक कामोंके व्ययके सम्बन्धमें कुछ ध्यान देना आवश्यक जान पड़ता है।

भारतीय पुरातत्त्व-सम्बन्धी पैमाइश, खोज और खोदाइमें लगी हुई रकमकी ठीक-ठीक तादाद बताना तो कठिन है, तो भी हम यथासाध्य केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारों तथा अन्यान्य लोगोंके द्वारा लगी हुई रकमका ब्योरा आगे चलकर देनेकी चेष्टा करेंगे।

भारतीय पुरातत्त्व कई विषयोंसे सम्बन्ध रखता है। इनमें मुख्य-मुख्य विषय ये हैं—कला तथा शिल्प, पेलियोग्राफी तथा पाषाण-शिलालेखन, मुद्रा-विद्या, सभ्यताका इतिहास, मानवजाति-शास्त्र, प्राचीन भूविद्या और वनस्पतिशास्त्र (*Geophysics*)। इन विषयोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी नृवंशविद्या तथा शब्द-व्युत्पत्ति-सम्बन्धी आदि विषयोंपर भी पुरातत्त्वका बहुत-कुछ प्रकाश पड़ता है। अगर इन विषयोंमेंसे प्रत्येकको लेकर बारी-बारीसे, विस्तृत रूपसे, विवेचन किया जाय, तो प्रत्येकका एक-एक बड़ा पोथा तैयार किया जा सकता है। यहाँ परिचय मात्रके लिये हम एक या दो विषयोंका ही साधारण उदाहरण देंगे।

कलाके उदाहरणस्वरूप अजन्ता और अमरावतीकी चीजें बड़े महत्त्वकी हैं। इनसे विश्व-कलापर बहुत कुछ प्रकाश पड़ा है। इनसे ही दो नवीन शैलियोंकी उत्पत्ति हुई है—आन्ध्रशैली और बंगाली शैली। मुद्राविद्याके अनुसन्धानका महत्त्व तो तब मालूम होता है, जब हम यह अनुभव करते हैं कि, प्राचीन या अर्वाचीन कालके भारतवर्षके कई महत्त्वपूर्ण भाग मुद्राओंके ही आधारपर लिखे जा सकते हैं। उदाहरणस्वरूप क्षत्रपों या कुषाणोंका ही इतिहास ले लीजिये। इन दोनोंमें किसी एककी भी राजवंशावली तैयार करनेके लिये हम यदि एतत्-सम्बन्धी मुद्राओंका सहारा न लें, तो इस कार्यमें पूरी सफलता मिल ही नहीं सकती। कारण यह है कि, बिना इनकी मुद्राओंके काल-सम्बन्धी स्पष्ट एवं प्रामाणिक ज्ञान हमें हो ही नहीं सकता—सिलसिलेके साथ हम चल ही नहीं सकते। इस विषयकी दृष्टिमें *Dr Hultzsch* और प्रो० इ० जे० रैप्सनकी खोज बड़ी मूल्यवान् हैं।

मुद्रा-सम्बन्धी महत्त्वकी जाँचके लिये हम कुषाणोंकी वंशावली लेते हैं। डा० फ्लीट और कनेडीके मतानुसार सम्राट् कनिष्कने, कडफिस प्रथम और कडफिस द्वितीयके बाद नहीं, पहले ही राज्य किया था, और, वही विक्रम-संवत्का जन्म देनेवाला भी था। डा० टामस इस सिद्धान्तको नहीं मानते थे। किन्तु पेशावर स्थित चैत्य-स्तूपमें पुरातत्त्व-विभाग द्वारा किये गये अनुसन्धानोंसे वास्तविक बातोंका पता लग गया है। सर जान मार्शलने सिद्ध कर दिया है कि, स्तूपके ऊपरी भाग वासुदेव तथा पश्चात्-कालीन कुषाणोंके बनाये हुए हैं, और, स्तरण तथा कारीगरीके काम कनिष्क, उसके उत्तराधिकारियों तथा कडफिस प्रथम और द्वितीय द्वारा हुए हैं। निम्न भागके स्तरणका काम शकों और पह्लवोंके समयमें समाप्त हुए हैं। पेशावरके आसपास, सिरकप नामक नगरमें भी, ठीक ऐसी ही, एक पुरानी इमारतका ध्वंसावशेष मिला है। इस

ध्वंसावशेषकी खोदाईसे पता चलता है कि, जब इस पुरानी इमारतकी दो मंजिलें उठ चुकीं, तब इसे लोगोंने सूना छोड़ दिया। इन दो मंजिलोंमें जो प्राचीन वस्तुएँ मिली हैं, वे पल्लवी राजाओंके ही समयकी हैं। इस ध्वंसावशेषमें जितनी मुद्राएँ मिली हैं, वे कनिष्क या उसके उत्तराधिकारियोंकी नहीं, बल्कि उनके पूर्ववर्ती राजाओंकी ही हैं। ये मुद्राएँ इस बातके स्थूल प्रमाण हैं कि, कड्फिस प्रथम और द्वितीयके बाद ही कनिष्कका यहाँ प्रादुर्भाव हुआ था।

भारतीय पुरातत्त्वके महत्त्वको सिद्ध करनेके लिये सिन्धु-नदीकी दरी और दक्षिण पंजाबकी ही खोदाइयाँ काफी हैं। हरप्पाकी खोदाइयोंसे ऊँची-ऊँची अट्टालिका-ओंवाली विशाल नगरीका पता चला है। इमारतोंपर इमारतें बनी पायी गयी हैं। मोहन्जोदारोंके ध्वंसावशेषमें मिली हुई वस्तुएँ, पुरातत्त्वकी दृष्टिमें, हरप्पाकी अपेक्षा, अधिक मूल्यवान् सिद्ध हुई हैं। वहाँकी मुहरों, सीलों, मुद्राओं और मूर्त्तियोंसे पता चलता है कि, वे सुमेरियनों-की प्राचीन सभ्यतासे बहुत-कुछ मिलती-जुलती हैं, जो ईस्वी सनसे ३००० वर्ष पूर्वकी मानी जाती हैं। सुमेरिय-नोंकी संस्कृति नागरिक जीवनमें ओतप्रोत है। कुछ लोगों-का विचार है कि, सुमेरियन जाति मेसोपोटामियाके आस-पाससे आयी। यह बहुत सम्भव जान पड़ता है कि, किसी समय सुमेरियनोंका सिन्धु-निवासियोंके साथ सम्बन्ध रहा होगा—वे यहाँ आते-जाते होंगे। कतिपय लोगोंका तो विचार है कि, यदि सुमेरियनोंकी मेसोपोटामियाके आस-पाससे आनेकी बात सम्भव है, तो क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि, उनकी सभ्यताका मूल स्थान सिन्धु-नदी-की दरी है और उनका मूल निवासस्थान यही (सिन्धु-उपत्यका और पंजाब) है? पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज और खोदाई होनेके पहले ईस्वी सन्से ३००० वर्ष पहलेकी संस्कृति या सभ्यताको हम वेदों, सूत्रों तथा पुराण आदिमें ही ढूँढा करते थे और उल्लिखित विवरणोंको ही प्रामाण्य समझा करते थे, उस समय हमें कोई भी वास्त-विक—स्थूल—प्रमाण नहीं मिलता था। लोकमान्य तिलक और जैकोबी महोदयके मतानुसार ऋग्वैदिक काल ईस्वी सन्से ४००० वर्ष पूर्व होना चाहिये। यदि यह काल-निर्धारण ठीक है, तो भारतवर्षमें आनेके बाद जिन भारतीयोंसे नवागत आर्योंका युद्ध हुआ था, वे इन्हीं विशाल नगरोंके निवासी रहे होंगे। किन्तु आश्चर्य तो इस बातका है कि, सिन्धु-निवासियोंका जीवन, उनके आचार-विचार, रीति-रस्म ऋग्वैदिक आर्योंसे नहीं मिलते! इसके सिवा खोदाईमें मिली हुई वस्तुओंकी जाँच करनेसे तो पता चलता है कि, वे ऋग्वैदिक आर्योंसे बिलकुल भिन्न पुरुष थे, इनसे उनका कुछ सम्बन्ध ही नहीं था!! ऋग्वेदके सूक्तोंसे पता चलता है कि, सिन्धु-उपत्यकाके प्राचीन निवासियोंके साथ नवागत आर्योंका घोर संघर्ष हुआ, जो (सिन्धु उपत्यका-निवासी) भौतिक सभ्यतामें इनसे कहीं बढ़े-चढ़े थे, और, आर्योंने उनके नगर, दुर्गादिको ध्वस्त कर डाला या उनके विनाशके कारण बने। इनके देवादि-देव इन्द्र "पुरन्धर" कहलाते थे। एजियन (*Aegean*) जैसे प्रागैतिहासिक नगरोंमें जब आर्यभाषा-भाषी आर्योंकी दूसरी टुकड़ियोंका आधिपत्य हो गया, तब सिन्धु-उपत्यका-का क्या पूछना? वे अपने आक्रमणकारियों—आर्योंका सामना न कर सके। फलतः आर्योंके पैर यहाँ जम गये।

सुमेरियन जाति समुद्र-तटवर्त्तिनी जाति थी, और, सम्भवतः ईसासे ३०-० वर्ष पूर्व मेसोपोटामिया और भारतमें सामुद्रिक आवागमन प्रचलित था। उनकी सांस्कृतिक सदाशयता आर्यों के आनेके पूर्व ही भारतके प्राचीन निवासियोंके हृदयमें स्थान पा चुकी थी।

भारतकी द्राविड़ जातियों और मेसोपोटामियाके निवासियोंके आचार-व्यवहार आदिमें कहाँतक सादृश्य है, यह विचारनेकी बात है। प्राक् आर्यकालमें मेसो-

पोटामियाकी सभ्यतासे भारतका सम्बन्ध, जल और स्थल, दोनों मार्गों द्वारा था। इसका पक्का प्रमाण यही है कि, सुमेरिया और भारतवर्षकी कई खोदाइयोंमें बहुत-कुछ ऐसी वस्तुएँ मिली हैं, जो परस्पर मिलती-जुलती हैं।

उपर्युक्त सिद्धान्त हरप्पा और मोहञ्जोदारोकी खोज और खोदाईमें पायी गयी वस्तुओंके पुरातात्त्विक अध्ययनका फल है। खोजकी वर्तमान अवस्थामें यह कहना असम्भव है कि, उपर्युक्त सिद्धान्त बिलकुल ठीक ही है। सम्भव है, आगेकी खोज और खोदाईमें कुछ ऐसे प्रमाण मिल जायँ, जिनसे कुछ दूसरा ही सिद्धान्त निकाला जा सके। हमें अभी केवल भारतवर्षकी ही नहीं, बल्कि संसार-भरकी खोजों और खोदाइयोंपर ध्यान रखना चाहिये, जिनसे हमारी आधुनिक विचार-धाराके बदल जानेकी सम्भावना है।

सन् १९२४-२५ ई० में पुरातत्त्व विभागके व्ययकी तालिका यह है—*

स्थान	व्ययकी रकम
१ पुरातत्त्व-विभागके डाइरेक्टर जनरल	१,९८,८९१
२ मुसलिम और ब्रिटिश स्मारकोंके सुपरिण्टेन्डेन्ट (दिल्ली म्युजियम और फोर्ट गार्डनके कार्यकर्ताओंके साथ)	५०,५३०
३ हिन्दू और बौद्ध स्मारकोंके सुपरिण्टेण्डेन्ट	५०,८४०
४ पश्चिमोत्तरीय केन्द्र	[illegible]६,९४७
५ पश्चिमीय केन्द्र	६१,९९५
६ केन्द्रीय स्थान (*Central circle*)	३१,३४३
७ पूर्वीय केन्द्र	२५,८८०
८ दक्षिणी केन्द्र	२४,३६७
९ वर्मा केन्द्र	३८,९५७
१० भारतवर्षके सरकारी एपिग्राफिस्ट	४३,५७९
११ दक्षिणी केन्द्रके सरकारी असिस्टेंट एपिग्राफिस्ट	२७,९१६
१२ भारतीय पुरातत्त्व-विभागके केमिस्ट	१६,६०८
१३ दिल्ली-स्थित एशियाई पुरातत्त्वका केन्द्रीय म्युजियम	२०,५८२
१४ इण्डियन म्युजियमके पुरातत्त्वविभागके सुपरिण्टेन्डेण्ट	३१,९१२
कुल	६,५९,६५

संरक्षण आदिके कामोंमें खर्चका ब्योरा—

प्रान्त	व्ययकी रकम
युक्तप्रान्त—	
मुसलिम और ब्रिटिश स्मारकोंमें	१,३२,०२३
हिन्दू और बौद्ध स्मारकोंमें	१९,०३५
पंजाब (दिल्ली)—	
मुसलिम और ब्रिटिश स्मारकोंमें	५७,१६२
हिन्दू और बौद्ध ,,	३२,९२२

* इस तालिकामें नीचे लिखे सभी तरहके व्ययकी रकम सम्मिलित कर दी गयी है—

१ कार्यकर्त्ता

(क) आफिसरोंका वेतन।

(ख) नौकरोंका वेतन (संरक्षणके लिये सहायक, मुन्शी, किरानी, एकाउन्टेण्ट, फोटोग्राफर, नकशानवीस और चपरासी आदि)।

(ग) ऐसी रकमें, जो पुरातत्त्वके डाइरेक्टर जनरल द्वारा विद्यार्थियोंको वृत्ति-स्वरूप दी जाती हैं; ऐतिहासिक इमारतों और मुसलिम तथा ब्रिटिश स्मारकोंके सुपरिण्टेन्डेण्टोंका वेतन आदि।

२ म्युजियम और डाकबंगले।

३ फोटोग्राफी और तत्सम्बन्धी वस्तुएँ।

४ लाइब्रेरी (पुस्तकोंकी खरीद भी इसमें सम्मिलित है)।

५ कण्टिजेन्सी (*Contingency*)

६ भत्ता (*Allowances*)।

पश्चिमोत्तर प्रान्त	३,६६१
बम्बई	८४,२२१
बिहार और उड़ीसा	१८,०६६
मध्यप्रदेश और बरार	२४,७६६
बंगाल	२५,५२१
आसाम	७,६८४
मद्रास	२१,६१५
कुर्ग	३२२
बर्मा	६३,१६०
अजमेर	३,५४२
छत्तरपुर-राज्य	३,०००
कुल	४,८५,२६७

मुख्य २ स्थानोंकी सूची, जहाँ खोदाई की गयी है—

आदित्यनाटर	दहपार्वतीय	पागन
अजन्ता	गुम्मडिदुरु	पहाड़पुर
आल्लूरू	हरप्पा	पैकोर
अमरावती	इंदौजा	पाटलीपुत्र
बलूचिस्तान (अनेक स्थानोंमें)	जमालगढ़ी	पेड्डमुडियम्
बसाढ़	झूकर	पेरमबैर
बलआ	कसिया	राजगृह
बासनगर	कोसम	सहेट-महेट
भैरवकुण्ड	कुरुक्षेत्र	सैदपुर
भीरमाउंड	महाबलीपुरम्	साँची
भीटा	मन्दोर	सारनाथ
बिलसर	माट	शाह-जी-की-ढेरी
ब्राह्मणाबाद	मालखाया	शनवरवाड़ा
बुलन्दीबाग	मोहन्जोदारो	सिरकप
चम्पावत	नागार्जुनीकुण्ड	तख्तेबाही
चारसद	नागौर (मारवाड़)	तक्षशिला
चटगाँव	नालन्द	उनकोटि

नीचे उन पुरातत्त्व-विज्ञों तथा शिलालेख-निरूपकोंके नाम दिये जाते हैं, जिन्होंने इस विभागमें अबतक उल्लेखनीय कार्य किया है। इसमें साधारण कार्यकर्त्ताओंके नाम, स्थानाभावके कारण, नहीं दिये गये हैं—

एफ० एच० ऐंड्रूज	ए० एच० लौंगहर्स्ट
एज० डी० बर्नेट	एच० लूडर्स
बी० एम० बरुआ	ई० जे० एच० मैकें
भगवानलाल इन्द्रजी	सर जान मार्शल
डी० आर० भाण्डारकर	एन० जी० मजूमदार
जे० एफ० ब्लैकिस्टन	नीलकंठ शास्त्री
टौमस ब्लॉश	एफ० ओ० आर्टल
जे० जी० बुहलर	टी० ए० पेल
जे० बर्जेस	जे० प्रिंसेप
एच० एच० कोल	राजेन्द्रलाल मित्र
सर एलेक्जेंडर कनिंघम	रामप्रसाद चन्दा
के० एन० दीक्षित	जे० रामय्या
जे० फर्गुसन	ई० जे० रैप्सन
जे० एफ० फ्लीट	ए० री
ए० फहरर	पी० एल० राइस
एच० हार्ग्रीव्ज	राय बहादुर दयाराम साहनी
हीरानन्द शास्त्री	ई० सेनार्ट
ई० हल्ट्ज	आर० सिवेल
वी० एच० जैक्सन	वी० ए० स्मिथ
के० पी० जायसवाल	सर आरेल स्टीन
डी० जी० जौविन	डी० बी० स्पूनर
एफ० किलहॉर्न	एफ० डब्ल्यू० टामस
एस० कोनो	माधवस्वरूप वत्स
स्टेन कोनो	वी० वेंकय्या
एच० कृष्ण शास्त्री	जे० पी-एच० वाजेल
एस० कृष्णास्वामी आयंगर	एल० ए० वैडेल
मुहम्मद हमीद कुरैशी	जी० यजदानी
राय बहादुर मौलवी जाफर हसन	

भारतीय पुरातत्त्वका पूर्वेतिहास

आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी

पुरातत्त्व संस्कृत शब्द है। वह अंग्रेजी शब्द *Antiquity* के अर्थमें व्यवहृत होता है। पुरानी वस्तुओंका तत्त्व जानना, उनकी रक्षा करना, उनके विषयमें गवेषणा करना, उनके सम्बन्धकी भूलों और भ्रमोंका निरसन करना आदि इस शास्त्रके जाननेवालोंका काम है।

यद्यपि हमारे पूर्वजोंका लिखा हुआ यथार्थ इतिहास उपलब्ध नहीं; तथापि उनकी निर्माण की हुई ऐसी सामग्री विद्यमान है, जिसकी सहायतासे हम प्राचीन समयकी घटनाओंका बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त कर उस समयके इतिहासकी रचना भी कर सकते हैं। यह सामग्री प्राचीन ग्रन्थ, शिलालेख, ताम्रपत्र, कीर्तिस्तम्भ, सिक्का, मन्दिर, स्तूप, किला, प्रासाद आदिके रूपमें विद्यमान है। परन्तु इतिहासके महत्त्वसे अनभिज्ञ होनेके कारण हमलोगोंने इस सामग्रीसे भी लाभ नहीं उठाया—अपने आप इतिहास-रचनाका सूत्रपात तक नहीं किया! भारतके प्राचीन इतिहासके निर्माणका पाठ हमें पढ़ाया है सात समुद्र पार रहने वाले पश्चिमी देशोंके निवासियोंने। उन्होंने इसका पाठ ही हमें नहीं पढ़ाया, इतिहासका कुछ अंश स्वयं ही निर्माण करके हमारे सामने रख भी दिया है। इसके आरम्भका श्रेय इङ्गलिस्तानकी निवासिनी अंग्रेजजातिको है, अतएव इस विषयमें हम लोग उसके कृतज्ञ हैं।

पलासीके युद्धके बाद अँग्रेजोंकी ईस्ट इण्डिया कम्पनीका प्राबल्य इस देशमें बढ़ने लगा। १७७४ ईस्वीमें, उसने बंगालके तत्कालीन नवाबको पदच्युत करके, उस प्रान्तका सूत्र, अपना गवर्नर जनरल नियत करके, उसके हाथमें दे दिया। अतएव अंग्रेज-कर्मचारियोंकी संख्या-वृद्धि होने लगी। इन कर्मचारियोंमें कितने ही विद्वान् और सुशिक्षित थे। उन्होंने पहले-पहल भारतवर्षके पुरावृत्तके निर्माणका श्रीगणेश किया। पीछेसे तो फ्रांस, जर्मनी और आस्ट्रिया आदि देशोंके निवासियोंने भी इस काममें हाथ लगाया और अंग्रेजोंकी अपेक्षा इन्हीं लोगोंने भारतीय इतिहासका अधिक प्रचार किया। परन्तु कामका आरम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनीके अंग्रेज कर्मचारियोंने ही किया और उसकी सफलताके बहुत-कुछ साधन भी उन्हीं लोगोंने प्रस्तुत किये।

सर विलियम जोन्स पहले अंग्रेज थे, जिन्होंने संस्कृत-भाषाका ज्ञान सम्पादन किया। इस काममें उन्हें बड़ी-बड़ी बाधाओंका सामना करना पड़ा। पण्डितोंकी दृष्टिमें वे म्लेच्छ थे। म्लेच्छको संस्कृत पढ़ाकर भला कौन धर्म-भीरु पण्डित अपनी धर्महानि करेगा? परन्तु दृढ़प्रतिज्ञ होनेके कारण सभी आगत विघ्नोंके पार जाकर जोन्स साहबने काफी संस्कृत-ज्ञान प्राप्त कर लिया। संस्कृत सीखकर इन्होंने शकुन्तला नाटक और मनुस्मृतिका अनुवाद, अंग्रेजीमें, प्रकाशित किया। उसे देखकर यूरोपके विद्वानोंमें खलबली मच गयी! उन्होंने कहा, जिस जातिके ज्ञान-भण्डारमें ऐसी-ऐसी पुस्तकें विद्यमान हैं, उसका भूत काल बड़ा ही उज्ज्वल रहा होगा, उसमें ऐसे-ऐसे न मालूम और कितने ग्रन्थ-रत्न पड़े होंगे; अतएव इस जातिके पूर्वेतिहाससे परिचय प्राप्त करनेसे अनेक लाभ होनेकी सम्भावना है।

इस प्रकारकी सम्भावनासे प्रेरित होकर कई अंग्रेज इस देशके पुराने ग्रन्थोंका पता लगाने और उनके अनुशीलनमें प्रवृत्त हो गये। इस प्रवृत्ति—इस ज्ञान-लिप्साका फल यह हुआ कि, सर विलियम जोन्सने, तत्कालीन गवर्नर जनरल वारन हेस्टिंग्सकी सहायतासे, कलकत्तेमें,



"गंगा" के अध्यक्ष—
पण्डित गौरीनाथ झा, व्याकरण-तीर्थ

१५ जनवरी १७८४ को, "एशियाटिक सोसायटी" नामकी एक सस्थाकी सस्थापना की। इस संस्थाने एशिया खण्डके इतिहास साहित्य, स्थापत्य, धर्म, समाज और विज्ञान आदि विषयोंके सम्बन्धमें खोज करना अपना उद्देश्य निश्चित किया। बस, इस सभाकी स्थापनाके साथ ही भारतवर्षके इतिहास अर्थात् पुरातत्त्वके अन्वेषणका शुभ काम आरम्भ हुआ। परन्तु इस कार्यारम्भके पहले ही सैकड़ों प्राचीन इमारतें नष्ट-भ्रष्ट हो गयीं; सैकड़ों शिला लेखोंकी सोलें और लोढ़े बन गये, सैकड़ो शिलालेख मकानोंकी दीवारोंमें चुन दिये गये, सैकड़ो दानपत्रोंके ताम्रफलक गलाकर घड़े, लोटे तथा बर्तन बना डाले गये! प्राचीन ग्रन्थ कितने गले, कितने काटभक्षय बने, कितने पन्सारियोंकी दूकानोंमें पहुँचे, इनका तो कुछ हिसाब ही नहीं। खैर, भारतके सौभाग्यसे इस नवी सस्थापित सस्थाने पुरानी वस्तुओंकी रक्षाका सूत्रपात कर दिया।

सर विलियम जोन्स इसके अनन्तर चार्ल्स विलकिन्सने सस्कृत-भाषा सीखी। उन्हींके प्रयत्नसे देवनागरी और बगला टाइप तैयार हुए। उन्होंने कुछ पुराने लेख भी ढूँढ निकाले और उनपर विवेचनापूर्ण नोट भी लिखे। भगवद्गीताका अंग्रेजी अनुवाद भी उन्होंने किया।

एशियाटिक सोसायटीने "एशियाटिक रिसर्चेज" नामकी एक पुस्तकमाला निकालना आरम्भ किया। १७८८ से १७९७ ईस्वीतक इस मालाके पाँच भाग निकले। जो भिन्न-भिन्न विद्वान् पुरातत्त्व-विषयोंके अध्ययनमें लगे हुए थे, उनके लेख इसी मालामें निकलते रहे। इसकी बड़ी कदर हुई। इसके कई सस्करण इंगलैंडमें भी निकले। एक फरासीसी विद्वान्ने इसका अनुवाद, अपनी भाषामे, प्रकाशित किया। इस प्रकार भारतीय पुरातत्त्वके सम्बन्धमें यूरोपवालोंने भी योगदान आरम्भ कर दिया। नये-नये पुरातत्त्वज्ञ पैदा हो गये और यह काम झपाटेसे होने लगा।

सर विलियम जोन्सकी मृत्युके बाद, १७९४में, उनका स्थान हेनरी कोलब्रुकने ग्रहण किया। वे भी अच्छे सस्कृतज्ञ थे। उन्होंने इस देशके सम्बन्धमें अनेक ग्रन्थ और लेख लिखे। "हिन्दुओंके धार्मिक रीति-रवाज", "भारतीय वर्णव्यवस्थाकी उत्पत्ति", "संस्कृत और प्राकृत भाषा", "सस्कृत और प्राकृत-छन्द शास्त्र" आदि बड़े ही महत्त्वपूर्ण लेख उन्होने प्रकाशित किये। वेद, सांख्य, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त कृषि, वाणिज्य, समाज व्यवस्था, कानून, धर्म, गणित, ज्योतिष् इत्यादि अनेक विषयोपर भी बड़े ही गवेषणा पूर्ण लेख, उन्होंने, लिखे। इन लेखोंमें निर्दिष्ट बातों और सिद्धान्तोंको उनके परवर्ती विद्वान् आजतक सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं। कोलब्रुकने देहलीके स्तम्भपर उत्कीर्ण विशालदेवकी सस्कृत प्रशस्तिका भी अनुवाद, अंग्रेजीमें, किया। १८०७ ईस्वीमें वे एशियाटिक सोसायटीके सभापति हुए और उसी साल, उन्होंने, भारतीय ज्योतिष् और खगोल-विद्यापर एक गहन ग्रन्थ प्रकाशित किया। भारतसे लौट जानेपर उन्होंने इंगलैंडमें रायल एशियाटिक सोसायटीकी स्थापना की और सस्कृत-भाषा सीखने तथा भारतीय पुरातत्त्वका ज्ञान-सम्पादन करनेके विषयमें लोगोंको ऐसा चस्का लगा दिया कि, दिन-पर-दिन नये-नये सस्कृतज्ञ और पुरातत्त्वज्ञ पैदा होने लगे। यदि कोलब्रुकके सदृश प्रकाण्ड पण्डित इस ओर इतना ध्यान नहीं देते, तो यूरोपमें सस्कृत-भाषाका इतना प्रचार शायद ही होता।

कोलब्रुक साहबके साथ ही भारतमें अन्य अंग्रेज भी पुरातत्त्व-विषयक काममें लग गये थे। डा० बुकननसे, मैसूर प्रान्तमें, वहाँके प्राचीन पदार्थोंके विषयमें, बहुत कुछ ज्ञान-सम्पादन किया। इस बातसे सन्तुष्ट होकर ईस्ट इंडिया कम्पनीने, १८०७ ईस्वीमें, उनको एक विशिष्ट पदपर नियुक्त किया। उसपर रहकर उन्होंने बंगाल, आसाम और बिहारके कितने ही जिलोंमें दौरे करके वहाँके

पुरातत्त्वकी खोज की और अनेक अज्ञात ऐतिहासिक बातोंका पता लगाया। इधर पश्चिमी भारतमें साल्ट साहबने कनेरी-गुफाओंका और रस्किन साहबने हाथी-गुफाओं (*Elephanta caves*) का वृत्तान्त लिखा। ये वर्णन "बाम्बे ट्रांजैक्शन्स" (*Bombay transactions*) नामकी पुस्तकके पहले भागमें प्रकाशित किये गये। इसी पुस्तकके तीसरे भागमें साइक्स साहबका लिखा हुआ बीजापुरका ऐतिहासिक वर्णन प्रकट हुआ। दक्षिणी भारतवर्षके पुरातत्त्वके वर्णन तो कई विद्वानोंने प्रकाशित किये। इस कामका आरम्भ टामस डानियलने किया। कर्नल मेकंजीने सैकड़ों प्राचीन ग्रन्थ और शिलालेख ढूँढ़ ढूँढ़कर एकत्र किये। राजपूताने और मध्य भारतकी पुरानी बातोंको खोज निकालनेमें कर्नल टाडने बड़ा नाम पाया।

इस प्रकार पूर्व, पश्चिम और दक्षिण भारतमें, पुरातत्त्व-विषयक ज्ञान और सामग्री प्राप्त करनेमें, कितने ही विद्वान् लग गये। उनके लेखों और ग्रन्थोंके प्रकाशनसे अनेक अज्ञात और विस्मृत वस्तुओंके ज्ञानका उद्धार हुआ।

इस प्रणालीसे थोड़ा बहुत काम तो अवश्य हुआ, पर पुराने शिलालेख और ताम्रपत्र आदि, जो अबतक मिले थे, वैसे ही, बिना पढ़े, पड़े थे; क्योंकि उनकी लिपि पुरानी होनेके कारण पढ़ी नहीं जा सकती थी। जिस लिपिको हम देवनागरी कहते हैं, वह विकसित लिपि है। वह तीन रूपान्तर प्राप्त करनेके अनन्तर अपने वर्तमान रूपमें आयी है। उसका पहला रूप ब्राह्मी कहाता है। वह सन् ईस्वीके ५०० वर्ष पहलेसे लेकर प्रायः ३५० ईस्वीतक पाया जाता है। इसके अनन्तर उसे जो रूप मिला, वह गुप्त-लिपिके नामसे अभिहित है। वह विशेष करके गुप्त-वंशीय नरेशोंके शासन-समयमें—अर्थात् सन् ईस्वीके पाँचवें शतकतक—प्रचलित थी। उसके बादका उसका विकसित रूप कुटिल-लिपिके नामसे उल्लिखित है। उसका प्रचार ईसाके छठेसे लेकर दसवें शतकतक माना जाता है। इससे पाठकोंको ज्ञात हो जायगा कि, हमारी वर्तमान देवनागरी-लिपिके पुराने तीनों रूपोंसे परिचित हुए बिना पुराने ग्रन्थों और उत्कीर्ण लेखोंका पढ़ा जाना असम्भव है। ये रूप धीरे-धीरे दुर्बोधतासे सुबोधताकी ओर पहुँचते गये हैं। जो लिपि जितनी ही अधिक पुरानी है, अपरिचित होनेके कारण, वह उतनी ही दुर्बोध भी है।

पहले-पहल चार्ल्स विलकिन्सने पुरानी लिपिमें लिखे गये अर्थात् उत्कीर्ण लेख पढ़नेकी चेष्टा की। दिनाजपुर जिलेमें एक स्तम्भके ऊपर खुदे हुए राजा नारायण पालके समयके एक लेखका उद्धार, उन्होंने, १७८५ ईस्वीमें, किया। पण्डित राधाकान्त शर्माने देहलीके अशोक-स्तम्भके ऊपर उत्कीर्ण तीन लेख पढ़े। ये लेख चौहान राजा बीसल देवके थे। इनमेंसे एकका समय "संवत् १२२० वैशाख सुदी ५" ज्ञात हुआ। जे० एच० हैरिंगटनने भी कई पुराने लेखोंको पढ़ा। इन सबकी लिपि बहुत पुरानी न थी। इससे ये लेख थोड़े ही परिश्रम और मनोयोगसे पढ़ लिये गये। विशेष कठिन लिपि है गुप्त-कालीन देवनागरी। चार्ल्स विलकिन्सने उसके पढ़नेके लिये कोई चार बरसतक परिश्रम किया। अन्तमें उन्होंने इस लिपिकी प्रायः आधी वर्णमाला-से परिचय प्राप्त कर लिया। उधर और लोग भी पुरानी लिपियाँ पढ़नेकी चेष्टामें सतत लगे हुए थे। उनमेंसे कर्नल जेम्स टाड, मि० बी० जी० बैबिंगटन, वाल्टर इलियट, कैप्टन ट्रायर, डा० मिल डब्ल्यू० एच० वाथके नाम सबसे अधिक उल्लेख-योग्य हैं। किसीने राजपूतानेके कुछ पुराने लेख पढ़, किसीने वलभीके, किसीने प्रयागके, किसीने और प्रान्तोंके। बैबिंगटन और इलियटने प्राचीन तामील और कनाडी-लिपियोंकी वर्णमालाओंका अधिकांश ज्ञान सम्पादन करके उन लिपियोंमें उत्कीर्ण कितने ही शिलालेख पढ़ डाले। इस प्रकार १८५३ ईस्वीतक बहुतसे पुराने लेखोंका उद्धार हो गया। इस काममें जेम्स प्रिंसेप नामके एक विद्वान्ने बड़ा काम किया। उन्होंने देहली, कमाऊँ और एरणके

स्तम्भोंके ऊपरके, साँची और अमरावतीके स्तूपोंके ऊपरके और गिरनार पर्वतके ऊपरके अनेक लेख पढ़ डाले और उनके अनुवाद भी, विवेचनासहित, प्रकाशित कर दिये। सो, इन अनेक विद्वानोंके सतत परिश्रमका फल यह हुआ कि, गुप्त-कालीन लिपिका सारा भेद खुल गया, वह हस्तामलकवत् हो गयी। उसमें उत्कीर्ण लेख अच्छी तरह पढ़ लिये जाने लगे। रहे कुटिल-लिपिमें लिखे गये या उत्कीर्ण ग्रन्थ और शिलालेख आदि। सो, यह लिपि वर्तमान देवनागरी लिपिसे बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इससे उनके पढ़ जानेमें विशेष कठिनता न हुई। वे सहज ही पढ़ लिये गये।

पुरातत्त्वज्ञ विद्वानोंने जब कुटिललिपि और गुप्तलिपिको आयत्त कर लिया, तब सन् ईस्वीके चौथे शतकके उत्तरार्द्ध से लेकर दसव शतकतकके प्राचीन भारतके इतिहासका बहुत कुछ अंश अँधेरेसे उजेलेमें आने लगा। सकड़ों शिलालेख, ताम्रपत्र और सिक्के पढ़े जाने और उनपर विवरणात्मक लेख प्रकाशित होने लगे। जिन अनेक प्राचीन राजा और राजवंशोंके नामतक न सुने गये थे, उनके ऐतिहासिक वृत्तान्त प्रकाशित होने लगे।

परन्तु भारतकी सबसे पुरानी ब्राह्मीलिपिको तबतक भी कोई न पढ़ सका था। इस लिपिमें खुदे हुए लेख १७९५ ई० में ही मिल चुके थे; पर उनमें क्या है, यह कोई नहीं बता सका। उनमेंसे कुछकी नकल मेजर विलफर्डको भेजी गयी। वे उस समय काशीमें थे और काशी ठहरी पण्डित-राजोंकी खान। खयाल यह हुआ कि, वहाँ कोई-न-कोई पण्डित उन्हें जरूर पढ़ लेगा; और भगवती अन्नपूर्णाके कृपाकटाक्षसे, वहाँ, एक पढ़नेवाले निकल भी आये। उन्होंने उनको पढ़कर बताया कि, ये पाण्डवोंके गुप्त लेख हैं। अज्ञातवास और वनवासके समय, जब वे वन-वन मारे-मारे फिरते थे, तब उन्होंने अपने पत्रपातियोंकी जानकारीके लिये, अज्ञात लिपिमें ये लेख गुफाओं और शिलाओंपर खोद दिये थे। उन्होंने बे-सिर-पैरका उनका आशय भी बता दिया! पण्डितजीने एक पुस्तक भी हाजिर कर दी, जिसमें उन्होंने भारतकी कितनी ही पुरानी लिपियोंकी वर्णमालाएँ लिखी बतायीं! इसपर उन्हें खूब इनाम मिला! इधर पुरातत्त्ववेत्ता खुशीसे नाच उठे! उन्होंने घीके दिये जलाये और कहा, अब क्या है, अब तो पुरानेसे भी पुराने लेख पढ़ लेंगे!

यह सब उस पण्डितकी जालसाजी और धूर्तता थी। यह बात धीरे-धीरे पुरातत्त्वज्ञोंको मालूम हो गयी और मूँड़ माड़कर वे लोग फिर उन लेखोंको पढ़नेकी चेष्टामें लग गये। वे लेख एलोराकी गुफाओंमें उत्कीर्ण लेख थे। इसके बाद ब्राह्मी-लिपिमें उत्कीर्ण और भी अनेक लेख मिलते गये।

इन लेखोंको पढ़ लेनेकी सबसे अधिक जिज्ञासा जेम्स प्रिंसेपके हृदयमें उत्पन्न हुई। उन्होंने अनेक लेखोंकी छापें मँगाकर सामने रखीं और लगे सबको परस्पर मिलाने। धीरे-धीरे उन्हें कुछ वर्ण, रूपमें एकसे ही, मालूम हुए। उनको वे अलग करते गये और अन्तमें, वे इस लिपिके स्वरोंसे परिचित हो गये। इससे उनका उत्साह बढ़ा। वे और वर्णोंको भी पहचाननेकी चेष्टा करने लगे। गुप्त-लिपिके वर्णों से मिलान करके उन्होंने कितने ही व्यञ्जनोंसे भी परिचय प्राप्त कर लिया। इस काममें पादरी जेम्स स्टीवन्स आदिने भी उनकी कुछ सहायता की। उन्होंने भी कुछ वर्ण पहचाने। इस प्रकार अनवरत उद्योग करते-करते प्रिंसेपको इस लिपिका पूरा ज्ञान प्राप्त हो गया और उन्हें यह भी मालूम हो गया कि, इस लिपिमें खुदे हुए अशोकके समयके इन लेखोंकी भाषा संस्कृत नहीं, प्राकृत है। इलाहाबाद, साँची, गिरनार, धौली आदिके अशोक-स्तम्भोंके लेखोंको पढ़ लेनेपर उन्होंने यह पूर्वोक्त निष्कर्ष निकाला, जो सर्वथा सच था। इन वर्णमालाका ज्ञान हो जानेपर ब्राह्मीलिपिके लेख धड़ाधड़ पढ़े जाने लगे और सन्

ईस्वीके पहलेके भी भारतीय इतिहासको घटनाएँ प्रकाशमें आने लगीं। यह बहुत बड़ा काम हुआ। इसका सारा श्रेय जेम्स प्रिंसेपको मिला।

बस, अब भारतकी पुरानी लिपियोंमेंसे केवल एक लिपिका ज्ञान-सम्पादन करना शेष रहा। उसका नाम है खरोष्ठी। यह लिपि पुराने जमानेमें केवल पंजाब और उसके आगे गान्धार देशके ही लेखों आदिमें, सन् ईस्वीके तीन-चार सौ वर्ष पहलेतक, प्रयुक्त हुई थी। बैक्ट्रियन, ग्रीक, शक, क्षत्रप आदि राजवंशोंके समयके सिक्कोंपर यही लिपि व्यवहृत हुई थी। अफगानिस्तानकी सीमा और उस देशके भीतर भी पाये गये अशोकके कई अभिलेख भी इसी लिपिमें हैं। इसे पहले कोई ससेनियन लिपि कहता था, कोई पहलवी, कोई ब्राह्मीका ही पूर्व रूप, कोई कुछ, कोई कुछ, पर पढ़ कोई नहीं सका। उधर मिले हुए सिक्कोंपर एक ओर ग्रीक और दूसरी ओर खरोष्ठी-लिपिको देखकर मेसन साहबने अन्दाजन कुछ नाम पढ़े, यथा मिनेंड्रो, अपोलोडोटो, अरमाइयो आदि। ग्रीक नाम पढ़कर, कुछ-कुछ अक्षर-साम्यके आधारपर, उन्होंने इस तरहका अन्दाज लगाया। उन्होंने इस विषयमें प्रिंसेप साहबसे लिखा-पढ़ी की। उन्होंने कई नामों और कई पदवियोंका पढ़ लिया। इस प्रकार खरोष्ठी-लिपिके कई अक्षरोंका उद्घाटन हो गया। साथ ही यह भी मालूम हो गया कि, यह लिपि अरबी-फारसी-लिपिके सदृश दाहिनी तरफसे बाँई तरफको लिखी जाती है और सेमेटिक-वर्गकी है, पर इस लिपिमें लिखी हुई भाषा कौन-सी है, इसका पता तबतक भी नहीं लगा। १८३८ ईस्वीमें बक्ट्रियाके ग्रीकोंके कुछ सिक्कोंपर पाली-भाषाके लेख मिले। इससे यह सन्देह हुआ कि, खरोष्ठी-लिपिवाले लेखोंकी भी भाषा हो-न-हो पाली ही होगी। यह अनुमान सच निकला। अतएव इस लिपिमें लिखी हुई भाषाका पता लग गया। इस भाषा-ज्ञानकी सहायतासे प्रिंसेप साहबने खरोष्ठीके १७ अक्षर पढ़ लिये। अवशिष्ट अक्षरोंमेंसे कुछ नारिस साहबने और कुछ जनरल कनिंघमने पढ़े। इस तरह इस वर्णमालाका भी सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया और भारतके प्राचीन इतिहासकी जानकारी प्राप्त करनेका मार्ग यथेच्छ खुल गया।

"एनश्यंट इण्डियन अल्फाबेट" नामकी पुस्तकमें इस विषयका बड़ा ही मनोरञ्जक वर्णन है। कितनी कठिनाइयोंको पार करके और कितने अजस्र उद्योग करनेके अनन्तर प्राचीन लिपियोंको पढ़नेमें सफलता हुई, इसका अन्दाज पूर्वोक्त लेख पढ़नेपर ही हो सकता है। इस काममें सबसे अधिक सफलता प्रिंसेप साहबको ही हुई। अतएव हम भारतवासियोंको उनका विशेष कृतज्ञ होना चाहिये। यही मत जनरल कनिंघमका भी है। जनरल साहबने जो पुरातत्त्व विषयक पुस्तक-माला लिखी है, उसके भी पहले भागमें उन्होंने इस विषयका बड़ा मनोरञ्जक वर्णन किया है। सम्भव है, मूल लेखकने अपने लेखका अधिकांश उसीकी सहायतासे लिखा हो।

प्रिंसेपके बाद कोई तीस वर्षतक जेम्स फर्गुसन, मेजर किट्टो, एडवर्ड टामस, जनरल कनिंघम, वाल्टर इलियट, मेडोज टेलर, टॉवन्स आदि कितने ही विद्वानोंने भारतीय पुरातत्त्वके कामको आगे बढ़ाया और नये नये ऐतिहासिक तत्त्वोंका उद्घाटन किया। किन्हींने उत्तरीय भारतमें काम किया, किसीने पश्चिमीयमें, किसीने दक्षिणीयमें। फर्गुसनने पुरातन-वास्तु-विद्या (*Ancient Architecture*) का ज्ञान प्राप्त करके पुस्तकें लिखीं। टामसने पुराने सिक्कोंकी ज्ञान प्राप्तिके लिये परिश्रम किया। मेजर किट्टोने पुरानी चित्रविद्याके उद्धारकी चेष्टा की। टेलरने मूर्ति-निर्माण-विद्यापर पुस्तक-प्रकाशन किया। जनरल कनिंघमने ब्राह्मी, खरोष्ठी, गुप्तकालीन—सभी लिपियोंका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करके सैकड़ों-हजारों शिलालेखों और दानपत्रोंको, विवरण-पूर्वक, प्रकाशित किया। इन लोगोंकी देखादेखी

भारतीय विद्वान् भी ज्ञान-सम्पादनकी इस शाखाकी ओर झुके और पहले-पहल बम्बईके डाक्टर भाऊदाजीने कितने ही नवीन शिलालेखोंका प्रकाशन करके उनपर गवेषणापूर्ण लेख लिखे। साथ ही काठियावाड़के निवासी प० भगवान-लाल इन्द्रजी और बङ्गाली विद्वान् डा० राजेन्द्रलाल मित्रने भी भारतके भूले हुए इतिहासके अनेक पृष्ठोंपर प्रकाश डाला। यह सब काम इन लोगोंने निजके तौरपर, बिना किसीकी आर्थिक सहायताके, किया।

१८४४ ई० में लन्दनकी रायल एशियाटिक सोसाइटीने ईस्ट इण्डिया कम्पनीसे सिफारिश की कि, इस इतने महत्त्वके कामके लिये, उसे मदद देनी चाहिये। इस बातको उसने मान तो लिया, पर कुछ किया-कराया नहीं!

उस समय जनरल कनिंघम संयुक्त प्रान्तके चीफ इंजिनियर थे। पुरातत्त्वसे उनको प्रेम पहलेसे ही था। उनसे कम्पनीकी यह शिथिलता नहीं देखी गयी। उन्होंने एक योजना (स्कीम) तैयार करके गवर्नमेंटको भेजी और लिखा कि, यदि यह काम गवर्नमेंट न करेगी, तो फ्रेंच या जर्मन करेंगे। ऐसा होनेसे गवर्नमेंटकी बड़ी बदनामी होगी। तब कहीं गवर्नर जनरलकी सुषुप्ति भंग हुई। उन्होंने उस योजनाको मंजूर किया और १८६२ ई० में पुरातत्त्व-विभाग (*Archaeological Survey*) की स्थापना हुई। कनिंघम ही उसके डाइरेक्टर नियुक्त हुए और इस कामके लिये उन्हें २५०) महीना अलौंस मिलने लगा। यह बन्दोबस्त चन्द-रोजा समझा गया और नौ बरसोंतक जारी रहा। इस बीच कनिंघम साहबने पुरातत्त्व-विषयक नौ रिपोर्टें लिखकर प्रकाशित कीं। इन रिपोर्टोंका सम्बन्ध केवल उत्तरीय भारतसे है। गवर्नमेंटका खयाल था कि, यह काम थोड़े ही समयमें समाप्त हो जायगा; पर कनिंघम साहबकी रिपोर्टें देखकर उसकी आँखें खुल गयीं। उसे मालूम हो गया कि, यह काम तो बड़े महत्त्वका है और शीघ्र समाप्त होनेवाला नहीं! तब, १८७२ ई० में, गवर्नमेंटने सारे भारतमें पुरातत्त्व-विषयक खोज करानेका निश्चय किया और कनिंघम साहबको ही डाइरेक्टर जनरल बनाया। उनकी मददके लिये उसने और विद्वानोंको भी नियत किया। अतएव डा० बर्जेसको भी यही काम दिया गया और, १८७४ ई० में, वे दक्षिणी भारतमें खोज करने लगे।

१८८० ई० तक पुरातत्त्व-विभाग प्राचीन खोज तो करता रहा, पर प्राचीन इमारतोंकी रक्षाका भार प्रान्तीय गवर्नमेंटोंपर ही था। उन्होंने इस काममें बड़ी शिथिलता की। परिणाम यह हुआ कि, पुरानी इमारतें नष्ट होने लगीं। तब उनकी रक्षाके लिये एक क्यूरेटर नियत हुआ। उसने (मेजर कोलने) १८८१से १८८३तक "प्रिजर्वेशन आफ नेशनल मान्यूमेंट्स" नामकी तीन रिपोर्टें प्रकाशित कीं।

१८८५ ई० में जनरल कनिंघमने पेंशन ले ली। तबतक वे पुरातत्त्व-सम्बन्धिनी २४ रिपोर्टें निकाल चुके थे। ये रिपोर्टें बड़ी बड़ी जिल्दोंमें हैं। इनको पुरातत्त्व-विषयक ज्ञानकी बहुत बड़ी निधि समझना चाहिये। ये कनिंघम साहबके अलौकिक परिश्रम, उद्योग और योग्यताका अपूर्व साक्ष्य दे रही हैं। बिना इनका साद्यन्त पाठ किये कोई भी साक्षर मनुष्य भारतीय पुरातत्त्वके इतिहासका पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

कनिंघम साहबके बाद उनकी जगह डा० बर्जेसको मिली। तब खोजके साथ ही संरक्षणका भी काम इसी महकमेको दिया गया। उसका विस्तार बढ़ाया गया, सारा भारत पाँच भागों या सर्किलोंमें बाँटा गया। प्रत्येक भागके लिये एक एक सर्वेयरकी योजना की गयी। प्राचीन लेख पढ़नेके लिये एक विलायती पण्डित रखा गया और उसकी सहायताके लिये देशी विद्वानोंकी भी योजना हुई।

१८८६ ई० में बर्जेस साहब अपने घर गये। तब इस महकमेकी कला उतरने लगी। इसके खर्चकी जाँच-पड़ताल करनेके लिये एक कमिटी बनायी गयी। उसने खर्चमें बहुत

कुछ कतरब्योंत करनेकी सिफारिश की। वह स्वीकार हुई। कुछ सर्वेयर निकाले गये। डाइरेक्टर जनरलका पोस्ट तोड़ दिया गया। सरकारने कहा—बस, पाँच वर्षोंमें इसका काम खतम कर दिया जाय, परन्तु काम कुछ हुक्मके अधीन थोड़े ही रहता है! वह खतम नहीं हुआ; उल्टा बढ़ता दिखाई दिया! तब गवर्नमेंटने हुक्म निकाला कि, खोजका काम बन्द किया जाय, केवल संरक्षणका काम जारी रहे। तदनुकूल ही कार्रवाई होने लगी। यह उतरती कला १९०० ई० तक रही।

इसी बीच लार्ड कर्ज़न गवर्नर जनरल होकर भारत आये। उन्होंने पुरातत्वके काममें बड़ी दिलचस्पी दिखायी और एक लाख रुपया वार्षिक खर्च मंजूर किया। १९०२ में सर जान मार्शल साहब विलायतसे बुलाये गये और डाइरेक्टर जनरल नियत हुए। तबसे इस महकमेका काम बहुत झपाटेसे हो रहा है। इन दिनों इस विभागमें डाइरेक्टर जनरल राय बहादुर प० दयाराम साहनी एम० ए० हैं।

गवर्नमेंटकी देखादेखी कई देशी रियासतोंने भी अपने यहाँ पुरातत्त्व-विभाग खोल दिये हैं और अजायबघरोंकी भी स्थापना की है। भावनगर, माइसोर, हैदराबाद, ट्रावनकोर आदि राज्य इस विषयमें सबसे आगे हैं। सारनाथ, मथुरा, नागपुर, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, लाहोर, अजमेर आदिमें जो अजायबघर हैं, उनमें पुराने सिक्कों, चित्रों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों और अन्यान्य प्राचीन वस्तुओंके संग्रहको देखकर प्राचीन भारतकी अनन्त ऐतिहासिक घटनाओंका दृश्य नेत्रोंके सम्मुख आ जाता है। लन्दनमें भी एक बहुत बड़ा प्राचीन पदार्थ-संग्रहालय है।

भारतके पुरातत्वकी खोज करनेके लिये अब तो फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली, रूस आदिमें भी बड़ी-बड़ी संस्थाएँ खुल गयी हैं और अनेक सामयिक पुस्तकें निकल रही हैं। उनमें बड़े ही गवेषणापूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं। ये संस्थाएँ सैकड़ों प्राचीन ग्रन्थोंका भी उद्धार कर रही हैं। इस विषयमें जर्मनीके विद्वानोंने सबसे अधिक काम किया है और बराबर कर रहे हैं।

इस समय पुरातत्त्वसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक सामयिक पुस्तकें निकलती हैं। प्राचीन शिलालेखों और ताम्रपत्रों आदिके प्रकाशनके लिये भी—इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, इपी ग्राफिया इण्डिका, इपी ग्राफिया कर्णाटिका आदि—कई सामयिक पुस्तकें हैं। एक पुस्तक ब्रह्म देशके प्राचीन लेख प्रकाशित करनेके लिये अलग ही है।

इस महकमेने भारतकी प्राचीन कीर्तिकी जितनी रक्षा की है, उतनी और किसीने नहीं की। इसीकी बदौलत अनन्त स्तूपों, मन्दिरों, मसजिदों और ऐतिहासिक इमारतोंकी रक्षा हुई है। यदि यह महकमा अस्तित्वमें न आता, तो सहस्रशः प्राचीन नरेशोंका नामतक सुननेको नहीं मिलता और अनेक प्राचीन राजवंशोंके अस्तित्वतकका पता नहीं लगता! +

+ आचार्य द्विवेदीजीका पूर्व-लिखित लेख। —"गङ्गा"-सम्पादक।

भारतीय-पुरातत्त्वान्वेषण

प० शशिनाथ चौधरी बी० ए०

इस देशके पुरातत्त्व विभागके मुख्यत: दो प्रकारके कार्य्य हैं – खोज और सञ्चय। १८७० ई० से पूर्व गवर्नमेंटने इस सम्बन्धमें कोई महत्त्वपूर्ण कार्य्य नही किया था। कप्तान सर एलेक्जेंडर कनिंघमकी अध्यक्षतामें भारतीय पुरातत्वान्वेषणका कार्य्य प्रारम्भ हुआ। तीन वर्षके बाद बम्बई और मद्रासमे कार्यारम्भ हुआ। इस खोजके काममें उस समय प्राचीन वस्तुओका अन्वेषण तथा स्मारकोका वर्णन करना था। सञ्चय अथवा प्राचीन वस्तुओके सुरक्षित रखनेका कार्य्य स्थानीय सरकारके हाथमे रहा। इस कार्य्यके लिये दक्ष कार्य्यकर्त्ता नियुक्त नही किये जाते थे और न उसके सञ्चालनका कोई समुचित प्रबन्ध ही था। यथार्थत: १८७८ ई० से ही, लार्ड लिटनके समयमें, इस ओर ध्यान दिया गया। सरकारने सयुक्त प्रान्तके प्राचीन स्मारकोको सुरक्षित रखनेके लिये ३॥ लाख रुपये मजूर किये। मेजर कोलने, तीन वर्षतक, इस महत्त्वपूर्ण कार्य्यका सम्पादन किया। इसके अनन्तर एक नया धाराप्रवाह बहा। मेजर साहबका स्थान तथा अध्यक्ष (Director General) का पद उठा दिया गया। लार्ड कर्जनके समयमें संरक्षणका नियमितरूपसे काम होने लगा। आठ केन्द्र बनाये गये। साथ ही यह भी प्रबन्ध किया गया कि, इन आठों केन्द्रोंके कार्य्यकर्त्ता एक अध्यक्षकी अधीनतामें कार्य्य करें। संरक्षणके कार्य्यके लिये, आवश्यकता पड़नेपर, सरकार द्वारा द्रव्य मिलनेका भी प्रबन्ध हुआ। एक कानून बना, जिससे ऐतिहासिक स्मारकों और चिन्होंकी रक्षा हो। यह कानून विशेषत वैयक्तिक रूपसे अधिकृत ऐतिहासिक वस्तुओंकी रक्षाके लिये ही बना। इसके साथ ही इसका उद्देश्य यह हुआ कि, प्राचीन स्थानोकी खोदाई और प्राचीन वस्तुओंकी खोजके लिये सरकार द्वारा कार्य्य हो। सर जान मार्शल, सी० आई० ई०, की अध्यक्षतामें पुरातत्त्वसम्बन्धी क्रमबद्ध कार्य्य, विशाल रूपसे, होने लगा। खोदाई और मरम्मतके कार्य भी होने लगे। फल यह हुआ कि, प्राचीन ऐतिहासिक इमारतोंके फिरसे बननेके कार्य्य प्रारम्भ हो गये और खोदाईके काम वैज्ञानिक रूपसे होने लगे। तक्षशिला, पाटलिपुत्र, साँची (भोपाल स्टेट), सारनाथ (काशीके समीप), नालन्द (बिहार), पहाड़पुर (बङ्गाल), नागार्जुनीकोण्ड (मद्रास), हरप्पा (पञ्जाब) और मोहञ्जोदारो (सिन्ध) मे खोदाईके महत्त्वपूर्ण कार्य्य हुए। सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य्य मोहञ्जोदारोमें हुआ है, क्योंकि वहाँ ऐतिहासिक कालके बहुत पहले (ईसाके जन्मके ३००० वर्ष पहले) के चिह्नोको खोदकर निकाला गया है। म्युजियमों (अजायबघरों) की स्थापना प्रायः उन सब स्थानोंमें हुई है, जहाँ खोदाईका काम हुआ है। तक्षशिला, नालन्द और सारनाथमें स्थानीय अजायबघर हैं। इन स्थानोंमें ही निकली हुई चीजोको सुरक्षित रखनेका उद्देश्य यह है कि, यहाँ जो कुछ वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, उनके रूपका ठीक-ठीक अर्थ, प्राचीन विशाल-भवनोंको अच्छी प्रकार देखकर, लगाया जा सके। जमीनसे निकले हुए किसी अंशका पता लगानेमें, वस्तुओं-

के हटा लिये जानेपर, बडी कठिनता उत्पन्न होती।

पुरातत्त्व-विषयक खोजसे एक लाभ यह भी हुआ कि, इसके द्वारा कितने ही वंशोके क्रमबद्ध इतिहासको अधिक प्रामाणिकता प्राप्त हुई। शिला-लेख-सम्बन्धी कितनी ही पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं। १६ वाँ भाग छप रहा है। अशोककी लेख-सम्बन्धी पुस्तकका द्वितीय संस्करण, अभी अभी, हुआ है। अशोककी पश्चात्-काल-सम्बन्धी पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित होगी।

भारतकी प्राचीन स्मृतियाँ अनेक प्रकारकी हैं, और, उनके श्रेणी-विभाग भी अनेक हैं। कई वर्ष पूर्व जो प्राचीनतम सामग्री उपलब्ध थी, वह मौर्य्य-कालकी ईंटे और प्रस्तर थी। इसके अतिरिक्त लौरि-यानन्दनगढके स्तूप भी प्राप्त थे, जो वैदिक काल-की अन्त्येष्टि-क्रियाके सूचक थे। ये ईसाके जन्मके पूर्व ७ वी और ८ वी शताब्दियोंके कहे जाते हैं। राजगृह-नगरमें भी पुरानी प्रस्तरकी दीवारें पायी गयी हैं, जो इसी कालकी मानी जाती है। पूर्व काल-के गृहनिर्माण-कला-सम्बन्धी चिह्नोके अभावका कारण यह बतलाया जाता था कि, पहले लकडीके मकान बनाये जाते थे, जो सर्वथा नष्ट हो चुके है। परन्तु अभी-अभी जो मोहञ्जोदारो (सिन्ध) और हरप्पा (पंजाब) में खोदाइयाँ हुई है, उन्होने लोगोकी इस झूठी धारणाको दूर कर दिया है। अब लोगोके विचारमें विशाल परिवर्त्तन हो गया है। अब पाश्चात्य विचारवालोको भी इस बातका विश्वसनीय प्रमाण मिल गया है कि, ईसाके जन्मके पूर्व ३ री और ४ थी सहस्राब्दियोंमें, अथवा इनसे भी पूर्व, भारतवर्षमें उच्च कोटिकी सभ्यताका अस्तित्व था; यहाँ बडे-बडे नगर थे, जिनकी जन-संख्या असंख्य थी, मकान सुन्दर और सुदृढ थे, मन्दिर और सार्वजनिक गृह ईंटोके थे। तात्पर्य्य यह है कि, मेसोपोटामिया और ईजिप्टके नागरिक जितने प्रकार-के सौख्यका उपभोग करते थे, ठीक उसी समयमें, भारतवासी भी उतने ही प्रकारके सुखका जीवन बिताते थे। मोहञ्जोदारो और हरप्पामे सात या छ नगरोके भग्नावशेषोंके अस्तित्वका पता लगा है, जो एकके बाद दूसरे एवं एकके ऊपरसे दूसरे बने हुए माने जाते है।

मोहञ्जोदारोमें जो मकान दीख पडे हैं, वे तीन नवीनतम गृहोके अंश हैं। इनमे तीसरा, जो इन तीनो-में प्राचीनतम है, सबसे अधिक सुन्दर है। इनमे अधिकाश रहनेके मकान अथवा दूकाने है। कुछ ऐसे भी हैं, जो मन्दिरके समान मालूम होते हैं। एक विशालकाय भवन है, जो बडा स्नानागार-सा प्रतीत होता है, जिसमे चारो ओर झरोखोवाली सीढीदार बैठक और सभाभवन (हॉल) है। ये अच्छी रीतिसे पक्की ईंटोके बने हुए है। इनमेंसे अधिकाश दोतल्ले मकान थे, जिनपर चढनेके लिये सीढियाँ बनी हुई थी। इस स्थलमे तथा इस स्थानके समीपमे अन्य भी कितने ही प्राचीन चिह्न पाये गये है। सोने और चाँदीके आभूषण, प्रस्तर और हाथी दाँतकी खोदी हुई मुहरे, ताँबेके औजार और बर्त्तन, पक्की मिट्टीके बर्त्तन और खिलौने, हड्डी और घोंघके गहने तथा मिट्टीके सादे और रंगदार बर्त्तन आदि मिले है।

इस आविष्कारका फल यह हुआ है कि, सिन्ध तथा पंजाबमें, कम-से कम ३ री और ४ थी सहस्राब्दियोमे (ईसाके पूर्व), उच्च कोटिके नागरिक-जीवनके अस्तित्वका यथेष्ट प्रमाण मिला है। कितने ही घरोंके भीतर कूपो, स्नानागारों तथा नालियोंके होनेके कारण इस बातका प्रमाण मिलता है कि, किसी समय यहाँका सामाजिक जीवन उसी प्रका-

रका था, जिस प्रकार सुमरदेशमें, जो तत्कालीन ईजिप्ट और बेबिलोनके नागरिक जीवनसे उत्कृष्ट समझा जाता था। यहाँके अधिकाश लोगोंका व्यवसाय खेती था। एक कौतूहलवर्द्धक बात यह है कि, मोहञ्जोदारोके गेंहूँका जो नमूना प्राप्त हुआ है, वह पजाबके वर्त्तमान कालमें उपजनेवाले गेंहूँसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है। रोटीके अतिरिक्त तत्कालीन निवासी गो-मास, भेंड़का मास, सूअरका मांस, कच्छपका मास, पण्डूकका मास, घडियालका मास, सिन्धुनदीका ताजी मछलियों और समुद्रकी सूखी मछलियोंका मास आदि भोजन करते थे। सॉढ, बैल, भैस, भेड, सूअर, कुत्ता, घोड़ा और हाथी पाले जाते थे। सोने और चाँदीके अतिरिक्त, वे ताँबा, टीन, राँगा और शीशा आदिका व्यवहार करते थे। सूत कातने और कपडा बुननेके काम वे जानते थे, वे कपासकी खेती करते थे। जौहरी और कुम्हारके कार्य्यमें वे दक्ष थे।

उनकी लिखनेकी कलाने अधिक विकास पाया था, क्योंकि प्रस्तरके हजारसे अधिक टुकड़ोपर सुन्दर-सुन्दर जानवरोंके चित्र पाये गये है और एक अज्ञेय-लिपिमें (जिसे कोई नही पढ सका है) प्रस्तरके टुकडोंपर चित्र-कहानी लिखी हुई मिली है। मोहञ्जोदारोकी अन्त्येष्टि-क्रियाकी प्रणाली स्पष्ट रूपसे मालूम नहीं होती; परन्तु हरप्पामें दो प्रकारकी क्रियाओका प्रमाण मिलता है। प्रथम शवके पूर्ण रूपसे गाडे जानेकी प्रणाली और द्वितीय अधिकाश रूपसे शवके गाड़े जानेकी प्रणाली। दूसरी विधिकी २७ समाधियोंकी जाँच हुई है, जहाँ शवकी खोपड़ियाँ और हड्डियाँ मिली हैं।

सिन्धु-देशीय सभ्यताका प्रसार अम्बाला जिलेके रूपर नगरतक पाया गया है, जो एक प्रकारसे सतलज और यमुना नदी तक पहुँचा है। भावी पुरातत्त्वान्वेषणके कार्यसे इस सभ्यताका प्रचार और प्रसार गङ्गानदीकी उपत्यकाओंमें भी पाया जायगा, ऐसा अनुमान किया जाता है। भारतवर्षके हजारो वर्षोंका इतिहास अन्धकारमें पडा है, जिसके विषयमें अबतक कुछ भी ज्ञात नही हुआ, परन्तु यह आशा क जाती है कि, भविष्यमें जो पुरातत्त्वसम्बन्धी खोदाई होनेवाली है, उससे इस अन्धकार-कालपर अवश्य प्रकाश पड़ेगा। मौर्य्यकालसे (अर्थात् ईसासे पूर्व ३री शताब्दीसे) भारतवर्षकी गृहनिर्माण-कला और रूप-कला (*formative Art*) का स्वरूप तो अच्छी प्रकार प्रकट हो गया है, जिसके विषयमें निस्संदिग्ध होकर सम्मति दी जा सकती है।

मौर्य्यकालकी चौथी शताब्दीसे अबतक जितने स्मारक प्राप्त हो चुके हैं, उनमें गुफाओंके अतिरिक्त ४थी शताब्दीकी (ईसाके जन्मकालके पूर्वकी) लकडीके घेरे हैं, जो प्राचीन पाटलिपुत्र (वर्त्तमान पटना) नगरकी चारो ओर थे और जिनके अधिक अंशका ज्ञान लोगोको प्राप्त हो चुका है। इसके अनन्तर अशोकके शिला-लेखों और स्तम्भ-लेखोकी गणना है। अशोकके बनवाये हुए पाटलिपुत्रके सभा-भवनके स्तम्भका भग्नावशेष, कितने ही ईंट-स्तूप आदि भी, कम प्रख्यात नही है। अशोकके कुल बारह स्तम्भोका ज्ञान लोगोको है। इनमें दसपर लेख खुदे हुए हैं, जिनमें लौरियानन्दनगढ़का स्तम्भ, जो चम्पारन जिलेमें है, वस्तुतः सुरक्षित है। प्रत्येक स्तम्भका प्रधान भाग एक ही टुकड़ेका था, जो शह-तीरके समान था। इसके तीन भाग थे। ऊपरका भाग, नीचेका भाग और मध्य भाग, जिनमें दस्त-कारीकी सफाई थी। अशोकके समयका सर्वोत्तम स्तम्भ वह है, जो सारनाथमें प्राप्त हुआ है। इसमें

चार सिंह खुदे हुए हैं, जिनकी कमर एक दूसरेसे मिली हुई है। सिंहोंके ऊपर एक स्तम्भ है, जो कारीगरीका जीता-जागता नमूना है। यह स्तम्भ एक पहियेपर आश्रित है, जो भगवान् बुद्धके उपदिष्ट धर्म्मका द्योतक है। इस पहियेके कितने ही अंशोका पता लगा है। यह सारनाथके अजायबघरमें सुरक्षित है। ईसाके जन्मके १५० वर्ष पूर्वका एक स्तम्भ, बेसनगरके उत्तर-पूर्वमें, ग्वालियर-राज्यमें है। ईसाकी मृत्युके ७० वर्ष बादका एक स्तम्भ कार्लीकी गुफाके सम्मुख है। ५ वीं शताब्दीका एक तृतीय स्तम्भ एरनमें (मध्य प्रान्तमें) है। इनमें एक लोहेका है; शेष प्रस्तरके हैं। यह लोहेका स्तम्भ दिल्लीमें, कुतुबमीनारके समीप, है। इसपर जो लेख है, उससे पता चलता है कि, इसका निर्माण गुप्तवंशके चन्द्र (सम्भवतः चन्द्रगुप्त द्वितीय, जो ३७५ ई० में हुए थे) द्वारा हुआ था। यह एक आश्चर्यकी बात है कि, उस समय भी हिन्दू लोहेका इतना बड़ा स्तम्भ बना सकते थे, जितना बड़ा स्तम्भ अब भी अकस्मात् ही तैयार होता है। उससे पश्चात् कालके स्तम्भ समस्त भारतवर्षमें, विशेषतः मद्रास प्रान्तमें, पाये जाते हैं। कमसे कम ऐसे बीस स्तम्भ दक्षिण कनाडा जिलेमें प्राप्त हुए हैं। मैंगलोरके समीप ही, मुदाबिद्रीमें, एक जैन-मन्दिरके सम्मुख, इसका प्रत्यक्ष और सुन्दर प्रमाण मौजूद है।

उत्तर भारतवर्षमें जिसे हम स्तूप कहते हैं, लङ्कामें वह 'दगबस'के नामसे विख्यात है। यह किसीके स्मृति-चिह्नको सुरक्षित रखनेके लिये बनाया जाता है, जो स्तूपके नीचेके भागमें रखा जाता है। बौद्धों और जैनोंकी दन्त-कथाओंमें कथित किसी प्रसिद्ध घटनाके संस्मरणार्थ भी यह निर्मित किया जाता है। जैनोंने भी स्तूप बनवाये थे, परन्तु उनके स्तूप उपलब्ध नहीं हैं। कुछ समय पूर्वतक इस प्रकारका एक स्तूप कँकाली तिलामें (मथुरामें) था, जिसमें जैन-कलाकी कुशलताके अच्छे प्रमाण पाये जाते थे और जो अब संयुक्त प्रान्तके अजायबघरमें सुरक्षित हैं। बौद्धोंसे सम्बन्ध रखनेवालोंमें साँचीका स्तूप सर्वोत्तम समझा जाता है। यह दोषयुक्त नहीं जान पड़ता। देखनेमें वृत्ताकार ढोलके समान है, जो बहुत ऊँचा नहीं है। इसपर अर्द्धवृत्त गुम्बज आश्रित है, जिसका व्यास नीचेवाले ढोलसे कम है। इस ढोलकी चारो ओर खुला मार्ग है, जहाँ लोग घूम-फिर सकते हैं। यह अंश प्रस्तरकी झिलमिलीसे घिरा हुआ है। ठीक केन्द्र-स्थानके सम्मुख एक बड़ा फाटक है, जो केवल लकड़ीका बना हुआ है और जिसमें बाहर और भीतर सुन्दर एवं विशाल खोदाईका काम किया हुआ है। इस स्तूपकी मौलिक बनावट ईंटोंकी थी, जिसका व्यास पूर्वमें वर्त्तमान-कालीन व्यासकी अपेक्षा आधा ही था। यह अशोकका बनवाया हुआ है और सम्भवतः उसी समयका जान पड़ता है, जिस समय दक्षिण फाटकपरका सिंह मुख-स्तम्भ प्रस्तुत किया गया था। परन्तु जान मार्शलने अपने नये आविष्कार द्वारा यह प्रमाणित किया है कि, इसके ऊपरका प्रस्तरवाला ढक्कन, घेरा और सिंहद्वार, कमसे कम, १५० और २०० वर्ष पीछेके हैं। दूसरे प्राप्त बौद्ध स्तूपोंमें सारनाथ, प्रयाग और जब्बलपुरके बीच भरहुट, अमरावती (मद्रासमें) और पिपरहवा (नेपालकी सीमापर) में हैं। खास भरहुटका स्तूप एक प्रकारसे लुप्तप्राय है, क्योंकि उसकी सामग्रीको गाँववालोंने, घर बनानेके काममें, व्यवहृत किया है। शहतीरका वह अंश, जो बच गया था, कलकत्तेके अजायबघरमें सुरक्षित है। इस शहतीरपरके उभरे हुए चित्र (जिसमें कुछ लेख

भी हैं) बहुत उपयोगी प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध जातक अथवा बुद्धकी जन्म-कथासे है। अमरावतीका स्तूप भी अब अप्राप्य है। इसके शहतीरके कुछ अंश, जो विशालता और कलाकी दृष्टिसे अद्वितीय है, ब्रिटिश और मद्रास म्युजियमोमे रखे हुए हैं। मिस्टर डबल्यू० सी० पेपीने पिपरहवाके स्तूपको १८९८ ई० मे खुदवाया था। एक शिलाका ऐसा टुकडा मिला था, जिसपर कुछ लिखा हुआ था। कितने ही विद्वानोकी सम्मति है कि इसमे बुद्ध भगवानके विषयका कोई चिह्न रहा होगा, जिसे उनके सम्बन्धी शाक्योंने स्तूपके भीतर सुरक्षित कर रखा था। यदि यह कथन सत्य हो, तो हमे यह मानना पडेगा कि, यह वैसोमे है, जिनमे बुद्ध भगवानका शव-भस्म, उनकी मृत्युके पश्चात्, लाया गया था। *

पुरातत्त्वकी वस्तुओमे गुफाओकी भी गणना होती है, जो पहाडो अथवा चट्टानोमें खोदी जाती है। पश्चिम भारतमे इनकी सख्या अत्यधिक है - प्रत्येक १० गुफाओमे ९ इसी भागमे पायी जाती है। इनमे सर्व-प्रसिद्ध गुफाएँ भाज, बेदसा, कार्ली, कनेरी, जुनार, नासिक, एलोरा, अजन्ता, बराबर, नागार्जुनी, उदयगिरि और खण्डगिरिमे है।

गुफाएँ तीन श्रेणियोमे विभक्त की जा सकती है, बौद्ध, हिन्दू और जैन। अबतक जिन प्राचीनतम गुफाओका पता लग सका है, वे बराबर और नागार्जुनीकी है, जो अशोक और उसके पौत्र दशरथ द्वारा खोदायी गयी थी। ये आजीवकोंको समर्पित कर दी गयी थी। यह आजीवक-सम्प्रदाय दिगम्बर (वस्त्रहीन) था, जिसकी प्रतिष्ठा मङ्खलीपुत्र गोसलने की थी। इसके अनन्तर प्राचीन गुफाओकी नामावलीमे भाज, पितलखोरा और अजन्ताके ९ नम्बरवाले एवं नासिकके १९ नम्बरवाले खोहोकी गणना होती है। फरगुसन तथा डाक्टर बर्जेसके मतसे ये ईसाकी मृत्युके २०० वर्ष पूर्वके है। परन्तु सर जान मार्शलकी नवीन खोज तथा शिलालेख द्वारा इस बातका दृढतर प्रमाण मिल रहा है कि, ये उतने प्राचीन नही है। बौद्ध गुफाएँ दो प्रकारकी है; चैत्य और बिहार। चैत्य साधारण मन्दिरके समान होता है, बिहार भिक्षुके रहनेका स्थल है। चैत्य देखनेमे धनुषाकार गुम्बजवाला होता है, सिंहद्वारपर अर्द्ध चन्द्राकार खिडकी रहती है, ठीक बीचमें रास्ता रहता है, जिसकी दोनो ओर गुफाके समान छोटी-छोटी कोठरियाँ रहती है, अन्तरङ्गमे वृत्ताकार एक स्तूप रहता है। यह देखनेमे गिरिजाघरके समान होता है। बिहारका चारो ओर छोटी-छोटी कोठरियाँ रहती हैं। पश्चात् कालके बने बिहारमे एक, एकान्त वास करनेके योग्य, पिछली दीवारके बीचमे, उसके साथ ही, सटकर, कोठरी बनायी जाती थी, जिसमें भगवान् बुद्धका विशाल मूर्ति स्थापित की जाती थी।*

शायद ही ऐसा कोई "चैत्य" मिलेगा, जिसके समीप बिहार न हो। हिन्दुओके गुफा-मन्दिरोका नमूना बम्बईके निकट एलिफेन्टामे है। यह शिवार्पित किया हुआ है और ७ वी शताब्दीसे पूर्वका नही है। परन्तु इन सबोंसे कही अधिक प्रसिद्ध मन्दिर एलोराका कैलास-मन्दिर है। यह ठीक मन्दिर-सा प्रतीत

* भगवान् बुद्धकी मृत्युके बाद उनका शव जलाया गया था। भस्म आठ शिष्य ले गये थे। प्रत्येक स्थानमे स्तूपके भीतर स्मरणार्थ वह भस्म रखा गया था।

* बुद्धगयाकी मूर्ति ठीक इसी प्रकारकी है।

होता है—इसकी बनावट ही ऐसी है। परन्तु यथार्थतः यह एक चट्टानको ही खोदकर बनाया गया है। यह भी शिवार्पित है। यह राष्ट्रकूटके राजा कृष्ण द्वारा ७६८ ई० में खोदा गया था। इस राजाका चित्र अब भी मन्दिरके ऊपरकी छतपर खुदा हुआ दीख पड़ता है। जैनोंकी गुफाओंमें खण्डगिरि और उदयगिरिके खोह प्राचीनतम हैं। मध्यकालीन खोहका नमूना इन्द्रसभा है, जो एलोरामें प्राप्त है, नवीनतम खोह नासिकका है, जो अनकाइमें है। इनमें अधिकाशकी छतें किसी समय विशेष रूपसे चित्रित थी। इस प्रकारके सुरक्षित खोहोंमें अजन्ताका है, जो ३५०-६५० ई० तकके बीच प्रस्तुत किया गया था। इसकी प्रशसा कलाकी दृष्टिसे, बहुत अधिक हुई है। इसकी प्रतिलिपि सर्वप्रथम मेजर जिलने की थी, परन्तु वह १८६६ ई० में क्रिस्टल पैलेसके जल जानेसे नष्ट हो गयी। इस प्रकारसे नष्ट हुए चित्रोंकी प्रतिलिपि पुन जान ग्रिफिथ्सने ली, जो बम्बईके "आर्टस स्कूल" में रहते थे। इनकी आधी प्रतिलिपि भी अग्निसे केनसिङ्गटनमें नष्ट हो गयी। इनकी अन्तिम बार नकल लेडी हेरिङ्घमने १९०९–११ ई०में की थी। उस भद्र महिलाका एक चित्र सम्पूर्ण है, जो विक्टोरिया और अल्बर्ट म्युजियमके भारतीय विभागमें सुरक्षित है। "इण्डिया सोसाइटी" नामकी एक संस्थाने इन्हे पुस्तकाकारमे प्रकाशित किया है। एक दूसरे प्रकारके चित्ताकर्षक खोह, जो उचित रीतिसे सुरक्षित नही है, ग्वालियर-राज्यके 'बाघ'-स्थानमें प्राप्य हैं। इन गुफाओपर "इडिया सोसाइटी" का ध्यान है, जो अध्ययन कर रही है।

सीमाप्रान्तमें एक प्रकारके ऐसे भग्नावशेष पाये जाते हैं, जो प्राचीन कालमे गान्धारके नामसे विख्यात थे। ये विनष्ट बिहारो तथा जमीनके भीतर गडे हुए स्तूपोके अंश हैं। इनमें बौद्ध मन्दिर (चैत्य एवं बिहार) तथा बुद्धकी प्रतिमाएँ हैं। कोरिन्थ-देशीय एरोटसका, हाथमें एक बड़ी-सी पुष्पमाला लिये हुए, नग्न चित्र, पक्षवाले एटलांटसके अनेक चित्र तथा और भी अनेक चित्रकारीके नमूने इस बातका यथेष्ट प्रमाण हैं कि, भारतवर्षपर यूनान देशकी गृहकलाका प्रभाव अवश्य पडा था। १९०९ ई० में, पेशावरमें स्तूपाकार मिट्टीकी एक ढेरकी खोदाई हुई थी, जिसे लोग "शाहजी-की-ढेरी" कहते है। इस खोदाईसे गान्धार-कालकी गृहकलाके कितने ही नमूने प्राप्त हुए हैं, राँगेके छोटे छोटे बाक्स आदि। राँगेके बाक्स परके लेखसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि, यह स्मारक कनिष्क द्वारा निर्मित हुआ था। इसे लार्ड मिटोकी सरकारने बर्म्माके बौद्धोको उपहारमे प्रदान किया था और इस समय यह मंडालेमे सुरक्षित है। लगभग इसी कालका एक स्तूप मणिकलामें (पञ्जाबमें) है, जिसकी खोदाई महाराज रणजीत सिहके फ्रासीसी कप्तान वेंटुरा और कोर्टने, १८३० ई० मे, की थी। कितने ही स्तूपोमें कनिष्कके समयकी मुद्राएँ मिली हैं।

वाराह-मन्दिरके नामसे एक गुप्तवंश-कालीन मन्दिर प्रसिद्ध है, जो देवगढ (झासी) मे है। इसी समयका एक मन्दिर साँचीमे है और दूसरा ईंटका बना हुआ भिठार गाँव (कानपुर) मे है। इससे पश्चात् कालका एक मन्दिर टिगोवा नामक स्थानमें, मध्य प्रान्तमे, है। दक्षिण-भारतमें दो और मन्दिर है लदखाँ और दुर्गामन्दिर, जो अभोले नामक स्थानमें, बीजापुरमे, हैं। यह दुर्गा-मन्दिर आठवी शताब्दीका है। इन दोनोमे समानता इतनी ही है कि, इनकी छतें चिपटी है और किसीमें किसी प्रकारका घुमाव (सीढीके समान) नही है। सब प्रकारसे ये दोनों

एकदम भिन्न हैं। यहाँ हम स्पष्ट रूपसे उन दो प्रकारकी बनावटोंका प्रारम्भ देखते हैं, जो "इंडो-एरियन" तथा "द्राविडियन"के नामसे विख्यात हैं। इनकी विभिन्नता ७ वी शताब्दीमें और उसके पश्चात् और भी स्पष्ट हो जाती है। "आर्य्य-मन्दिर"का झुकाव "लम्बा" और "द्राविड"का "पड़ी लकीर"के समान होता है। पहलेका चिह्न यह है कि, यह सीधा नहीं होता। दूसरा देखनेमे "पिरामिड" की तरह होता है अर्थात् पहले प्रकारका लम्बा होता है, जिसका अधो-भाग अधिक चौड़ा नहीं होता और दूसरे प्रकारका ऊँचा तो अधिक नहीं होता; पर उसके नीचेके अंश की परिधि अधिक होती है। उड़ीसामें भुवनेश्वरका मन्दिर, बुन्देलखण्डमें खजुराहोका मन्दिर, जोधपुरमे ओसियाका मन्दिर, आबू पहाड़पर दिलवराका मन्दिर "आर्य्य"-श्रेणीके प्रसिद्ध उदाहरण हैं। 'द्राविड" श्रेणीका उदाहरण मद्राससे दक्षिण, समुद्रके तटपर, "ममल्लापुरम् रथ"का मन्दिर है। यह देखनेमे नाम मात्रका रथके समान है, यथार्थतः इसका रूप मन्दिर जैसा है। यह 'द्राविड़"-श्रेणीका प्राचीनतम उदाहरण है, जो ७ वी शताब्दीका है। कैलासनाथका मन्दिर (जो काञ्जीवरम्मे है) उसी कालका है। उसके पश्चात् कालके उदाहरणमे बीजापुरके "अपहोले और पत्तद्फल" के मन्दिर हैं, जो बम्बई प्रान्तमे है। एलोराका कैलास-मन्दिर इसीका एक नमूना है। "द्राविड़"-श्रेणीके पश्चात् कालके उदाहरणोमे त्रिचनापल्लीके श्रीरङ्गम्का मन्दिर और तञ्जोरका मन्दिर है।

यो तो भारतवर्षमे अबतकके मिले हुए लेख अनेक पदार्थोंपर लिखे गये हैं; परन्तु विशेषत प्रस्तर और ताँबेपर ही है। लिपियाँ दो प्रकारकी हैं:—ब्राह्मी और खरोष्ठी। खरोष्ठी भारतवर्षके उत्तर-पश्चिम भागोंमें प्रायः प्रचलित थी। ब्राह्मी बाई ओरसे दाहिनी ओर लिखी-पढ़ी जाती थी और इसीसे भारतवर्षकी सब आधुनिक लिपिओंकी उत्पत्ति हुई है। खरोष्ठी दाहिनीसे बाई ओर लिखी जाती थी, जो भारतवर्षमें ईसाके पूर्व, ५ वीं शताब्दीमें, फारसदेशीय प्रभावके कारण, पञ्जाबमें प्रचलित हुई थी। यह प्राचीन "अरमी"का परिवर्तित रूप है। इस लिपिका प्रचार ४ थी शताब्दी (ईसाकी मृत्युके बाद) तक था, ब्राह्मीने इसके स्थानको पीछे ग्रहण किया। सबसे प्राचीनतम लेख, जिसके विषयमे निश्चित तिथि ज्ञात है, अशोकके प्रसिद्ध लेख है। इनकी दो श्रेणियाँ है, प्रथम शिला-लेख, द्वितीय स्तम्भलेख। ये लेख पेशावरसे ४० मील उत्तर-पूर्व शाहबाज-गढ़ीसे लेकर नेपालकी तराईके निगलिव नामक स्थान तकमें, काठियावाड़के गिरनारसे उड़ीसाके धौली तकमें, हिमालयकी नीची उपत्यकाकी कलसीसे लेकर मैसूरके सिद्दापुर नामक स्थान तकमे पाये गये है। इससे यह भी पता चलता है कि, अशोकके राज्यका विस्तार कितना था। इन शिला-लेखोमे यूनान देशके पाँच राजाओके नामोका उल्लेख है.—एनटीओकस द्वितीय, जो सिरियाका राजा था, टालेमी, फिलाडेलफ आदि। ये कौतूहल-वर्द्धक है और इनसे यह सिद्ध होता है कि, ईसाके जन्मके २६६ वर्ष पूर्व अशोकका राज्याभिषेक हुआ था। एक स्तम्भ लेखके आविष्कारसे बुद्ध भगवान्के जन्म-स्थानका पता, निश्चित रूपसे, लगता है, जो पहले बहुत समय तक विवादग्रस्त विषय था। दूसरा उपयोगी लेख बेसनगरके स्तम्भपरका है। इस स्तम्भका पता बहुत समय पूर्वसे ही था; परन्तु इसके लेखका पता सर जान मार्शलको लगा। इसमे एक गरुड़-स्तम्भ है, जिसे भगवान् वासुदेवके

स्मरणार्थ "डायन-पुत्र हेलियोडोरस"ने स्थापित किया था। यह तक्षशिलाके राजा एण्टिअलकिड्सका दूत था। इसमें हेरियोडोरस "भागवत" कहा गया है, जिससे यह प्रकट होता है कि, यद्यपि यह यूनानी था, तो भी इसने हिन्दू-धर्मको ग्रहण किया था। यह वैष्णव था। नासिकके १० नम्बरकी गुफाको दान करनेवाला उषवदेव अपनेको शक-जाति बतलाता है, वह इंडो-सीथियन था। उसने ३ लाख गौओ और १६ ग्रामोंको देवताओ और ब्राह्मणोंको प्रदान किया था, जो प्रतिवर्ष एक लाख ब्राह्मणोंको भोजन कराता था। यह एक दूसरा उदाहरण है कि, परधर्मावलम्बीने हिन्दू-धर्मको ग्रहण किया था। इस प्रकार भारतवर्षके भिन्न-भिन्न समयका राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक इतिहास जाननेके लिये ये लेख बहुमूल्य सामग्री है। इनके अतिरिक्त कोई दूसरी विश्वास-पात्र सामग्री है ही नही। इनके अभावमे हमारा काम नही चल सकता और हम एक अन्धे मनुष्यके समान होंगे, जो हताश होकर चारो ओर टटोलता फिरता है।

मुसलमानी गृह-कला-सम्बन्धी कार्य्य भारतवर्षमे, १३ वीँ शताब्दीमे, जब मुसलमानोंके रहनेकी स्थिरता हो गयी, प्रारम्भ हुआ। इनकी प्रथम मसजिद हिन्दू और जैन मन्दिरोंका सामग्रीसे ही बनी है। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि, मन्दिरमे केवल किञ्चिन्मात्र परिवर्त्तन करके ही मसजिदका निर्माण कर दिया गया है। अजमेरकी "अढाई दिनका झोपड़ा" नामकी मसजिद और कुतुबमीनारके समीप की मसजिद इस बातके प्रमाण हैं। भारतवर्षमे मुस्लिम गृह-निर्माण-कार्य्य भिन्न-भिन्न समयमें, भिन्न-भिन्न वंशोकी अधीनतामे, भिन्न-भिन्न रूपसे हुआ है। पठान बादशाहोंके समयकी इमारतोंकी यह खूबी है कि, वे बडी लम्बी-चौडी और कामदार होती थी। कुतुबमीनार, अलतमश और अलाउद्दीन खिलजीके मकबरे इसके अच्छे नमूने हैं। शरकीयाबी इमारतके तीन नमूने हैं, जो जौनपुरमें पाये गये है और जहाँ कितने ही मकबरे है। मण्डूमें, जो धार स्टेटमें हैं, एक तीसरे प्रकारका नमूना निकल पडा। हुसङ्गका मकबरा और जामा मसजिद, जहाज महल और हिँडोला महल पठान बादशाहोके समयके धार्म्मिक और सामाजिक गृह-निर्माणकलाकी गवाही दे रहे हैं। बङ्गालके मुसलमानोकी प्रणाली (गृह-निर्माण सम्बन्धी) एक स्वतन्त्र रूपकी ही थी। पण्डुआ, मालदह और गौडदेशीय मकान इसके उदाहरण है। इनमे अदोना मसजिद (जो सिकन्दरशाहकी है), एक लाखी मसजिद, कदम्ब रसूल मसजिद आदि प्रसिद्ध है। गुलबर्गा और विदरके 'बाहमनी" वंशवाले भी इमारतोंके प्रेमी थे, इनका राजधानीमे कितने ही प्रसिद्ध भवन बने हुए थे। गुलबर्गाकी मसजिद (जो भारतवर्षकी सब मसजिदोसे भिन्न प्रकारका है) में यह विशेषता है कि, जहाँ एक भी गुम्बजकी आवश्यकता दूसरी मसजिदोमे प्रतीत नहीं हुई, वहाँ इसमे ६३ गुम्बज बने हुए है। फरगुस्सन साहब कहते है कि, "इन सब मुस्लिम इमारतोंमें अहमदाबादका इमारतें सबसे अधिक खूबसूरत हैं।" सिदी सैयदकी मसजिद जिसमे पत्थरके झरोखेके मेहराब, गुम्बज और छत इस तरह सुन्दर हैं कि, इनका जोडा किसी भी जगहमे या किसी भी समयमें मिलना दुश्वार है। मुस्लिम कारीगरोंमे इतना अधिक हिन्दूपन कही भी नहीं है एक प्रकारसे यह हिन्दू-कृति ही है। इसके ठीक विपरीत बीजापुरके आदिलशाहके वंशवालोकी इमारत है। इसमे हिन्दूपन

का नाम-निशान भी नहीं है—न तो इसके आकार प्रकारमें अथवा न इसके किसी खास काममें। बीजापुरमें जो इमारतें अब बच रही हैं, वे ये हैं, जामा मसजिद, गङ्गामहल और गोल गुम्बज। पठानोंके समान ही मोगल बादशाह बड़े शौकीन थे। इनका खास अपना ढङ्ग, अकबरके समयमें, हिन्दू और मुस्लिम कलाके सम्मिश्रणके रूपमें, प्रारम्भ हुआ। सम्राटोंकी इमारतोंमें हुमायूँकी कब्र और फतहपुर-सिकरी तथा आगरेके प्रासाद प्रसिद्ध हैं। जहाँगीरके समयकी उसकी लाहौरकी मसजिद और इतमद-उद्-दौलाकी कब्र अच्छे नमूने हैं। शाहजहाँके समयमें सजावटके काममें बहुत उन्नति हुई, जो इमारतके प्रेम और मौलिकताका फल है। यह उसके समयकी ही बात है कि, जगत्प्रसिद्ध "ताजमहल", जो उसकी स्त्री मुमताजमहलका स्मारक है, आगरेमें बना। उसके समयका दूसरा प्रसिद्ध और सुन्दर स्मारक मोती मसजिद है, जो आगरा किलेके भीतर है।❋

पुरातत्त्वकी बातें

बा० मोतीचन्द्र एम० ए० (लंडन)

भारतीय तथा एशियाकी सभ्यता-सम्बन्धी खोजका श्रीगणेश एशियाटिक सोसाइटी नामकी संस्थासे होता है। यह १५ जनवरी, सन् १७८४ ई० में, कलकत्ता नगरीमें, स्थापित हुई थी। २२ जनवरी, सन् १७८४ ई० को इस संस्थाके कतिपय सदस्योंने तत्कालीन गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स तथा कौन्सिलके अन्य सदस्योंके नाम इस संस्थाकी संरक्षकता स्वीकार करनेके लिये एक पत्र भेजा। वह पत्र यह है—"*Application*"

"*To the hon'ble Warren Hastings Esq Governor General, President, Edward Wheeler, John Macpherson, and John Stables, Esquires, Members of the Council of Fort William in Bengal*

"*Honourable Sir and Gentlemen,*

"*A society, of which we are members, having been instituted for the perpose of inquiring in to the History Civil and Natural, the Antiquities, Art, Sciences and literature of Asia, We are desirous that you will honour us with accepting this title of our patrons and request you to consider this application as the token of the great request With best wishes we are*

Hon'ble Sir and Gentlemen

Your most humble Servants

John Hyde, Thomas Low,
William Jones, Charles Wilkins,
John Carnal, John David Paterson,
David Anderson, Charles Chapman,
William Chambers, Charles Hamilton,
Francis Gladwin, George Hilard
Gonathan Duncan, Barlau

Calcutta January, 22, 1784"

अर्थात् "माननीय गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स तथा एडवर्ड ह्वीलर, जान मैकफर्सन और जान स्टेबल फोर्ट विलियम, कौन्सिलके सदस्योंकी सेवामें।

❋ इस लेखको लिखनेमें "टाइम्स आफ इंडिया"की "इयरबुक"से सहायता ली गयी है। —लेखक।

"माननीय महोदय तथा सज्जनगण !

"एक सभा, जिसके कि, हम सदस्य हैं, एशियाके राजनीतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक अन्वेषण तथा कला, पुरातत्त्व, विज्ञान एवम् साहित्यकी खोजके लिये खोली गयी है। हम लोगोंकी इच्छा है कि, आप सज्जनगण इस सभाकी सरक्षता स्वीकार करें तथा इस पत्रको हम लोगोंके आदरका चिह्न जानकर विचार करें।

आपके इत्यादि।"

इस पत्रका उत्तर वारेन हेस्टिंग्सने इस प्रकार दिया था—

"Gentlemen,

"We very much approve and applaud your endeavours to promote the extension of knowledge by the means, which local advantages afford in a degree, perhaps, exceeding those of any part of the globe; and we derive Great hopes of your attainment of so important an end from our personal Knowledge of the abilities and the talent of the Gentlemen, whose names we read in the subscription to your address.

"We accept the title you have been desirous of Conferring upon us of Patrons to your Society, and shall be happy to avail ourselves of any occasion that may occur of contributing to its success

We are, Gentlemen,
your most obedient
humble Servants
Warren Hastings,
Edward Wheeler,
John Macpherson,
John Stables.

पत्रका फल यह हुआ कि, हेस्टिंग्स तथा अन्य सदस्योंने एशियाटिक सोसाइटीकी सदस्यता स्वीकार कर ली तथा उसके कार्यमें सहायता देनेका वचन दिया। इस प्रकार भारतवर्षके इतिहासमें वैज्ञानिक रीतिसे पुरातत्त्वकी खोजका सूत्रपात हुआ।

सोसाइटीके संस्थापकोंमें मुख्य सर विलियम जोन्स सभापति बनाये गये।

प्रथम सभापतिकी हैसियतसे सर जोन्सने जो व्याख्यान दिया था, वह बड़े ही मार्केका था। उसमें उन्होंने एशियामें पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोजकी बड़ी ही आवश्यकता बतलायी थी। पाठकोंकी सेवामें भाषणका एक अंश उपस्थित किया जाता है—

"सज्जनो,

"इस देशको देखनेकी इच्छा मुझमें सदासे बड़ी ही प्रबल थी। विगत वर्ष मैं इस देशके लिये यात्रा कर रहा था कि मुझे एक दिन एकाएक भारतवर्ष-सा विस्तृत देश दीख पड़ा। बाँई ओर फारस तथा अरब देशकी रेतीली हवा जोरोंसे चल रही थी। यह दृश्य इतना सुहावना था कि, इसने मेरे हृदयमें एक नवीन जागृति उत्पन्न कर दी, क्योंकि मेरा चित्त सर्वदा पूर्वीय देशोंके इतिहास तथा कथाओंका स्मरण किया करता था। मुझे इस बातका अत्यन्त हर्ष हुआ कि, मैं उस देशमें आ गया, जिसका कि, विस्तृत आकार एशियाके, और हिस्सोंसे घिरा हुआ है। मैंने सोचा कि, वह एशिया, जो सर्वदा विद्वानोंकी धरित्री, लाभदायक-कलाओंकी जननी, योद्धाओंकी कर्मभूमि, विद्वानोंकी जन्मभूमि, प्राकृतिक दृश्योंसे पूरित, भिन्न-भिन्न धर्मों, राज्यप्रबन्ध, कानून, आचार-विचार, रहन-सहन, भाषाओं तथा विभिन्न प्रकारके मनुष्योंकी निवास-भूमि है, भूमण्डलका विशाल क्षेत्र है, अब भी बिना खोजके पड़ा है और कितनी ही लाभदायक वस्तुएँ उसमें यों ही बेकार पड़ी हैं। यह सोचनेपर मुझसे नहीं रहा गया। मैंने विचारा कि, इस अस्थिर, क्षणभंगुर तथा

परिमित जीवनमें तभी ऐसे कार्य हो सकते हैं, जब कि, बहुत-से मनुष्योंकी शक्तियाँ एकत्र होकर इस कामको हाथमें ले। मुझे इस बातकी प्रसन्नता है कि, मेरे बङ्गाल-निवासी भाइयोंमें यह बात मौजूद है। इत्यादि।" ❀

एशियाटिक सोसायटीने "एशियाटिक रिसर्चेज" नामका एक पत्र भी निकाला, जो सन् १८३९ ई० तक चलता रहा। इसमे भारतवर्षके सम्बन्धमें बहुत महत्त्व-पूर्ण लेख निकलते रहे। आरम्भमें शिला-लेखोंके सम्बन्धमें विलकिन्स तथा मूर्त्तियोंके सम्बन्धमें चेम्बर्सके अच्छे लेख निकलते रहे। महाबलीपुरमकी मूर्त्तियोंका सुन्दर विवरण चेम्बर्सने "एशियाटिक रिसर्चेज"के पहले भागमें किया है। यद्यपि इन लेखोंमें बहुत-सी भूलें है, परन्तु उस समयकी परिस्थिति तथा साधनोंको देखकर यही कहना पड़ता है कि, इन लोगोंका प्रयत्न सराहनीय था।

गवेषणा-परायण सर विलियम जोन्सके प्रयत्नसे पश्चिमीय देशोंमें संस्कृत-भाषाका अच्छा प्रचार हुआ। आपने अँग्रेजीमें मनुस्मृति तथा शकुन्तलाका अनुवाद किया और संस्कृत-भाषाके ऋतुसंहारके छपवानेका भार भी आपने ही प्रथम लिया था।

कोलब्रुक उन महानुभावोंमें हो गये है, जिन्होने अपना तन, मन, धन, सब संस्कृत-भाषा तथा संस्कृतिके प्रचारार्थ न्याछावर कर दिया है। आपने ही सर्वप्रथम संस्कृत-भाषाको वैज्ञानिक रीतिसे सीखनेकी प्रथा चलायी। आपने संस्कृत-भाषाके प्राय प्रत्येक अंगपर अच्छा प्रकाश डाला। हैमिल्टनका नेपोलियन द्वारा फ्रांसमें पकड़ लिया जाना भी संस्कृत-भाषाके लिये बड़ा ही उपकारप्रद सिद्ध हुआ। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् शेलजेलने इनसे संस्कृत सीखी और "*On the language and wisdom of Indian*" नामकी पुस्तक प्रकाशित की। भाषाविज्ञानकी नींव भी सं० १८१६ ई० में फ्रान्स बोपने डाली।

वेदोंके सम्बन्धमें भी सर्वप्रथम कोलब्रुकने ही लेख लिखे। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान रोसेनने ऋग्वेदके आठ अध्याय प्रकाशित किये। राथने भाषाविज्ञानपर '*On the Literature and History of Veda*" नामकी पुस्तक, १८४६ ई० में, लिखी। मैक्समूलरका नाम और काम तो प्रत्येक संस्कृत साहित्यक विद्यार्थीको सर्वदा स्मरण रहेगा।

तिलक, जैकोबी तथा और बहुतसे नाम ऐसे लिये जा सकते है, जिन्होंने संस्कृत-साहित्यके लिये बहुत कुछ किया।

शिलालेखोंके सम्बन्धमें सर्वप्रथम लेख लिखनेवाले विलकिन्स है। आपके बाद कोलब्रुकने शिलालेखोंके सम्बन्धमें अनेक लेख "*Transactions of the Royal Asiatic Society*" में प्रकाशित किये। अगर हम प्रिन्सेपको भारतीय शिलालेखोंको ठीक ठीक पढ़नेका प्रयत्न करनेवालोंका अग्रणी माने, तो अत्युक्ति न होगी। प्रिन्सेपने बहुतसे शिला-लेखोंका, खासकर अशोकके लेखोंका, अनुवाद करनेका सराहनीय कार्य किया। आपकी पुस्तक "एसेज आन एन्टिक्वेटीज" अपने ढगकी एक ही है। "*Indian Antiquary*" नामके पत्रकी स्थापना सन् १८७२ ई० में हुई। इसमें हजारों शिलालेख, टिप्पणियोंके साथ, प्रकाशित हुए है, जिनसे भारत वर्षके विभिन्न समयके इतिहासपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। "*Epigraphica Indica*" की स्थापना सन १८८८ में हुई। इसके सम्पादक अपने कार्यमें निपुण नियुक्त किये जाते है और इनका यह कर्तव्य होता है कि, शिलालेखोंको प्रकाशित करें तथा इस विषयमें लोगोंका उत्साह बढ़ावें। जहाँतक हो सकता है, इसके सम्पादक शिलालेखोंके सम्पादन तथा समझनेमें लोगोंकी मदद करते रहते है। पहले शिलालेख इस पत्रमे छपते है और अन्तमे पूर्णतया ठीक हो जानेपर "*Corpus Inscriptionum Indicarum*" में अपने समयके शिलालेखोंके साथ जोड़ कर छाप जाते है।

❀ *Asiatic Researches, Vol 1* 1788, *Introduction P. IV--X.*

शिलालेखोंके छापने और लिपियोंके पढ़नेमें अनेक पाश्चात्य पण्डितोंने घोर परिश्रम किया है।

इस सम्बन्धमें सर्वप्रथम उल्लेखनीय नाम कनिंघमका आता है। आपकी "*Archaeological Survey of India*" तेईस भागोंमें प्रकाशित हुई है। जहाँ-जहाँ आपको शिलालेख मिले, आपने उनको अपनी रिपार्टोंमें स्थान दिया। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र, मेरी समझमें, सर्वप्रथम भारतीय हैं, जिनका नाम पुरातत्त्वकी खोजमें चिर स्मरणीय होगा। आपने बुद्धगयाके शिलालेखोंका विवरण अपनी "बोधगया" नामकी पुस्तकमें दिया है। डाक्टर फ्लीट तथा *Dr Hultzch* के नाम हम लोगोंको कभी भी विस्मृत न करने चाहिये। फ्लीटने कनाड़ी भाषाके शिलालेखोंका अनुवाद करके इतिहासके हर एक विद्यार्थीका बहुत ही बड़ा उपकार किया है। *Dr Hultzch* ने '*South Indian Inscriptions*" द्वारा भी दक्षिण भारतके इतिहास-लेखकोंका काफी उपकार किया है। राइस द्वारा सम्पादित "*Epigraphica Carnatica*" का भी उल्लेख इस सम्बन्धमें आवश्यकीय है। खरोष्ठी-भाषाके इने-गिने जाननेवालोंमें डा० स्टेन कोनो तथा प्रोफेसर रैप्सनके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

डाक्टर भाण्डारकर, रामप्रसाद चन्दा, राय बहादुर दयाराम साहनी, काशीप्रसाद जायसवाल, राखालदास बनर्जी, हीरानन्द शास्त्री इत्यादि भारतीय विद्वानोंने भी बहुत बड़ा काम किया है। विस्तार-भयसे विवेचन नहीं हो सकता। डाक्टर यजदानी द्वारा सम्पादित '*Epigraphica Indo-Moslemica*' मुसलमान-कालीन भारतपर अच्छा प्रकाश डालती है।

प्राचीन मुद्राओंकी खोजसे जितना उपकार भारतवर्षका हुआ है, उतना शायद ही किसी देशका हुआ होगा। बहुतसे सिक्कों द्वारा उन राजाओंका नाम ज्ञात होता है, जिनका उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। वंशावली इत्यादि ठीक करनेमें भी सिक्कों द्वारा बहुत बड़ी सहायता मिलती है। इस सम्बन्धकी खोजका आरम्भ मार्सडनकी "*Numismata Orientala*" नामकी पुस्तकके प्रकाशनसे होता है। इस पुस्तकके बाद विल्सनकी "*Ariana Antiqua*" नामकी पुस्तक छपी। प्रिन्सपने इस सम्बन्धमें भी कुछ कार्य किया। आपकी पुस्तक सन् १८४८ ई० में प्रकाशित हुई। टामसकी "*Ancient Indian weights*" नामकी पुस्तक भी मुद्राओंके तौल इत्यादिके सम्बन्धमें, एक ही है। भारतीय पुरातत्त्व-वेत्ताओंमें अनवरत कनिंघमका नाम सर्वोच्च है। पुरातत्त्व सम्बन्धी प्रत्येक विषयमें आपकी प्रतिभा पायी जाती है। आपकी '*Coins of Ancient India*" नामकी पुस्तक अब भी अपने विषयकी अनूठी है। प्रो० रैप्सनकी "*Indian Coins*" नामकी पुस्तक सन् १८९८ ई० में प्रकाशित हुई थी। आप अब भी अपने कार्यमें दत्त-चित्त हैं। विन्सन्ट स्मिथका नाम भारतवर्षमें स्कूलके विद्यार्थियोंसे लेकर बड़े-से-बड़े विद्वानोंतकमें प्रचलित है। आपकी '*Catalogue of Coins in the Indian Museum, Calcutta, including the Cabinet of the Asiatic Society of Bengal*" भी एक अत्यन्त उपयोगी पुस्तक है। बैक्ट्रियन, इण्डो पार्थियन, इण्डो-सीदियन तथा कुषाणोंके सिक्कोंके सम्बन्धमें फान सालट, गार्डनर तथा कनिंघमने अच्छा कार्य किया है।

एक बात और। भारतवर्षमें एक बड़ी भारी बुराई है। वह है पुरानी लकीर पीटते रहना। हम लोग अब उन्हीं बातोंको उदाहरणार्थ उपस्थित करते हैं, जिनको कि अमुक किसी व्यक्ति-विशेषने सैकड़ों वर्ष पहले किया है। आधुनिक संसार बड़ा ही परिवर्त्तनशील है। कल जो बातें हो चुकी हैं, वे आज ही पुरानी पड़ जा सकती हैं। पुरातत्त्वकी खोज भी ५० सालमें बहुत कुछ उन्नत हो चुकी है। इसलिये हम लोगोंको उचित है कि, आँखें बन्दकर पुराने लेखकोंको एकदम प्रमाण न मानकर आधुनिक खोजोंका अध्ययन करें। तब अपनी बुद्धि द्वारा जो उचित जान पड़े, उसे ग्रहण करें।

भारतमें ऐतिहासिक अन्वेषणका कार्य

काव्यतीर्थ प्रो० लौटू सिंह गौतम एम० ए०, एल० टी०

आजसे सौ वर्ष पहले भारतीय इतिहासका प्राचीन अंश अनेक दन्त-कथाओं तथा आख्यायिकाओंकी गुहाओंमें छिपा था। दूरकी बात जाने दीजिये, काशीके पास ही संसार-प्रसिद्ध सारनाथके अनेक ऐतिहासिक पदार्थोंका नामकरण भूलभुलैया ढंगसे हुआ था। जिसके पास ही भगवान् बुद्धने अपने शिष्योंको प्रथम उपदेश दिया था और जहाँपर बौद्धधर्मके 'चत्वारि आर्यसत्यानि' का प्रथम परिष्कार हुआ था, वह चौखण्डीस्तूप नामका स्थान "सीताजीकी रसोई"के नामसे प्रसिद्ध था तथा धर्मेकस्तूप "लोरिककी कुदान या टीला" कहा जाता था। अटकलपच्चू घटनाओंका ऐसा नकली प्रासाद खड़ा किया था कि, अधिकांश लोग भ्रममें पड़ गये। बी० एन० डबल्यू० रेलवेके सारनाथ स्टेशनसे दोनों स्तूप आपको दिखाई देंगे। पहला "चौखण्डी स्तूप" है। उससे अनुमानतः आधा मीलपर प्रधान मठ और "धमेख" अथवा 'धर्मेकस्तूप' है। "धमेख" स्तूप और 'चौखण्डी' स्तूपमें आधी मीलका फासला है। कहा जाता है कि, कोई "लोरिक' नामका अहीर दूधका पात्र लेकर "चौखण्डी' स्तूपसे "धमेख" स्तूप तक आ जाता था और फिर धमेखसे चौखण्डी स्तूप तक। इन्हीं स्थानोंमें उसकी गाएँ चरा करती थीं। मानो वह कलयुगी "हनूमान्" था। इस प्रकारकी अनेक दन्त कथाओंने ऐतिहासिक घटनाओंको छिपा रखा था। किन्तु अब ऐतिहासिक अन्वेषण द्वारा ऐसी आधारहीन कथाओंका निराकरण हो रहा है। भारतमें यों तो कुछ यूरोपीय विद्वानोंने इधर-उधर ऐतिहासिक अन्वेषणका कार्य प्रारम्भ किया था, किन्तु प्रथम डाइरेक्टर जनरल सर ए० कनिंघमके समयसे अन्वेषणका कार्य सुव्यवस्थित रूपसे होने लगा। तथापि अर्थ-कष्टसे इस कार्यमें बाधा पड़ती थी। लार्ड कर्जन महोदयने "आर्कियालाजिकल डिपार्टमेंट" (पुरातत्त्व-विभाग) का जन्म दिया। इसके लिये वे धन्यवादके पात्र हैं। उक्त विभागके डाइरेक्टर जनरल सर जान मार्शलकी अध्यक्षतामें खोदाई और अन्वेषणका कार्य पिछले तीस वर्षोंमें, सारे भारत और बर्मामें, हुआ है और बहुत-सी नयी बातें विदित हुई हैं। उनमेंसे कुछका अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन किया जायगा। आजकल "मोहेंजोदारो' तथा "हरप्पा"के अन्वेषण-कार्यको संसारमें ख्याति है। सिन्धके "लरकाना" जिलेमें "मोहंजोदारो" है। इसके अन्वेषण-कार्यका श्रेय इन पंक्तियोंके लेखकके इतिहासगुरु ब्रह्मलीन आचार्य राखालदास वन्द्योपाध्याय एम० ए० को है।

पुरातत्त्वकी १९२५-२६ वाली वार्षिक रिपोर्टके ७२-७३ पृष्ठोंपर उल्लेख है—"*The operations at Mohenjodaro in the Larkana district of Sindh were conducted during the winter of 1925-26 on a scale larger than any essayed in this country. As stated in the previous reports, the discovery of this remarkable site was made by Mr R. D. Banerjee (the Archaeological Superintendant in the Western Circle 1922) and during the following years excavations were carried out both by him and his successors.*" अर्थात् "सिन्ध देशके "लरकाना" जिलेमें "मोहंजोदारो"के स्थानमें खोदाई आदिका कार्य सन् १९२५-२६ के जाड़ेमें ऐसे बड़े पैमानेसे किया गया, जैसा इस देशमें नहीं हुआ था। जैसा कि, पहली रिपोर्टमें भी कहा जा चुका है कि, इस स्थानकी खोज पुरातत्त्व-विभागके

पश्चिमी प्रान्तके सुपरिन्टेन्डेन्ट महाशय आर० डी० बनर्जीने सन् १६२२ में की थी। तबसे आजतक महाशय बनर्जी और उनके पीछे अन्य कर्मचारियोंने इस कार्यको बढ़ाया है।" अस्तु। आइये इस "मोहञ्जोदारो" की कुछ राम-कहानी सुनिये।

इस कहानीके पहले यह जानना आवश्यक है कि, डा० स्पूनर सन् १६१५ में, पाटलिपुत्रकी खोदाईके समय, कुछ ऐसे गड़े हुए भवन पाये, जिनका सादृश्य फारस देशकी राजधानी "सुसा" के गृहोंसे था। बस, आपने एक नये सिद्धान्तका प्रतिपादन कर डाला। आपने सिद्ध करना चाहा कि, मौर्यसम्राट् सोलहो आने नहीं तो, बारह आने पारसी अवश्य थे। आपके इस सिद्धान्तका खण्डन तो अवश्य हुआ, किन्तु कुछ लोगोंके मस्तिष्कमें यह बात अवश्य नाचती रही कि, हो-न-हो भारतवर्ष फारसका ऋणी है। अतः जब "मोहञ्जोदारो"में कुछ और बातें मिलीं, तब झट लोगोंने इन सबको "भारतीय-सुमेरियन-संस्कृति"के अन्तर्गत निहित किया। किन्तु इन दस वर्षोंमें इतनी नयी चीजें मिली हैं कि, विद्वानोंने इसे "सिन्धु-संस्कृति" का नाम दिया। यद्यपि सिन्धु, फारस और मेसोपोटामियाकी संस्कृतिमें कुछ सादृश्य है अवश्य, तथापि "सिन्धु-सभ्यता" एक निराली चीज है। इन देशोंकी संस्कृतियोंका सादृश्य होना भी सहजमें ही समझा जा सकता है, क्योंकि चन्द्र-गुप्त द्वितीय विक्रमादित्यने बाह्लीक और फारसकी विजय की थी तथा वहाँ गुप्त-कालीन राजाओंके समयमें भारतीय संस्कृतिका प्रवेश हुआ था।

अभी कहा जा चुका है कि, कुछ वर्षोंसे ऐसी निराली चीजें मिली हैं, जिनसे तत्कालीन सिन्धु-संस्कृतिका अच्छा पता चलता है। "मोहञ्जोदारो" से ४५० मील दूर पंजाबके मौंटगोमरी जिलेमें "हरप्पा" नामक स्थान है। वहाँ भी खोदाई हुई है। वहाँ भी ऐसी ही निराली चीजें मिली हैं। आजकल ये दोनों स्थान प्रसिद्ध हो रहे हैं। अच्छा, सिन्धु-संस्कृतिका अनुमान कीजिये। अनुमानतः ११ एकड़ जमीनकी पूरी खोदाई हुई है। नीचे तीन नगरोंके भग्ना-वशिष्ट पदार्थ मिले हैं। उनमेंसे सबसे विशिष्ट एक "बौद्ध मन्दिर" है। उसके पास ही एक छोटा-सा स्नानागार है। गृह बड़ी ही मजबूतीसे बनाये गये थे। गृहों और दूकानोंके निरीक्षणसे पता चला है कि, जीवनकी सुखद सामग्रियाँ जैसी वहाँ थीं, वैसी न तो बेबिलोनिया, न मेसोपोटामिया और न नील नदीके किनारे मिश्र देशमें ही पायी जाती हैं। "हरप्पा"में जो पदार्थ मिले हैं, वे इनसे भी प्राचीनतर हैं। एक वहाँ भी ताम्रपत्र मिला है। उसमें ताम्बेके सिक्के, कुछ अस्त्र-शस्त्र मिले हैं—कुल्हाड़ियाँ, तलवार, भाले इत्यादि। ये मोहञ्जोदारोके पदार्थोंसे प्राचीनतर हैं। ज्ञात होता है कि, इन नगरोंकी सभ्यता ईसासे २५८० वर्ष पूर्व और ४५०० वर्ष पूर्वके बीचकी है।

मोहञ्जोदारो और "हरप्पा"के प्राप्त पदार्थोंसे निष्कर्ष निकलता है कि, इन नगरोंमें कृषि अवश्य होती थी। कृषिमें कौन-कौन हथियार प्रयुक्त होते थे, कौन-कौन-सी फसलें होती थीं, इसका सविस्तर पता नहीं मिलता। इतना अवश्य पता चलता है कि, उस समयका गेहूँ आजकलके पंजाबी गेहूँ जैसा होता था। उस समय सिन्धमें दो नदियोंका पानी जाता था "सिन्धु" और "मिहराम" या "हकरा"। आजकी अपेक्षा वर्षा भी अधिक होती थी। लोग प्रायः रोटी और दूध खाते थे। कभी-कभी मांस भी खाते थे। "खाद्य जन्तुओं"की हड्डीसे पता चलता है कि, वे शूकर और कछुवा आदि खाते थे। इनके अनुसन्धानमें महाशय *R B Sewell I M S* से बड़ी सहायता मिली।

घरेलू जानवरोंमें प्रायः बैल, सांड, भैंसका होना पाया जाता है। बिल्लीका पता नहीं चलता। कुत्ता बड़ा विचित्र था। यूनानी *Aelian* लिखता है—"जब कुत्ता शेरके किसी अंगको पकड़ लेता था, तब उसकी टाँग काटने

पर, जब वह मर जाता था, तब उसकी पकड़ छूटती थी।" चरखे और करघेका पूरा प्रचार था । पुरुष दो वस्त्र रखते थे—धौत और उत्तरीय। वे छोटी-छोटी दाढ़ियाँ और गलगुच्छा भी रखते थे। पुरुष और स्त्री, दोनों आभूषण पहनते थे । लोग सोने-चाँदीके आभूषण बनते थे। खोदाईमें सोनेका कलई किया हुआ आभूषण भी मिला है। ये सिन्धु-संस्कृतिवाले पुरुष सोना, चाँदी, ताँबा, टीन और शीशा आदिकी भी जानकारी रखते थे। उन्हें लेखन-कलाका भी ज्ञान था । उस समय मुर्दोंको समाधि देने और जलानेका भी प्रमाण मिलता है। वे लोग किस जाति या वंशके थे, इसका पता अभी निश्चित रूपसे नहीं चला है ।

वे लोग शिव और पृथ्वी माताके उपासक थे। पवित्र जानवरों और वृक्षोंकी भी पूजा करते थे। पता चलता है कि, शक्तिकी उपासना अधिक करते थे । इसी शक्तिकी उपासना पश्चिमी एशिया भरमें होती थी। यह सिन्धु-संस्कृति उस बड़ी संस्कृतिके अन्तर्गत है, जो एड्रियाटिक समुद्रसे जापानतक विस्तृत थी।

ऐसा मालूम होता है कि, बेबिलोनिया और इस सिन्धुकी संस्कृतिमें बड़ा सादृश्य है। इन देशोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा। सम्भवतः उत्तरी भारतके लोग अपनी सभ्यता लेकर पाश्चमीय एशिया तक फैले हों, किन्तु इस विषयमें निर्विवाद सिद्धान्तका उल्लेख करना असम्भव है। जो हो, परन्तु अब यह निश्चित हो गया है कि, भारत अपनी संस्कृतिके लिये अन्य देशोंका उतना ऋणी नहीं है, जितना वह १९२२ के पहले माना जाता था। अनुमान तो यही कहता है कि, भारतने ही अन्य देशोंमें अपनी संस्कृति फैलायी।

पञ्जाबका तक्षशिला या "टोकसिला" सिकन्दरके समयतक बड़ा ही प्रसिद्ध नगर था। यहाँ भी खोदाई हुई है । इससे अन्वेषण-कार्यमें बड़ी सहायता मिली है। पाणिनिने तक्षशिलाके विश्वविद्यालयमें शिक्षा पायी थी । यहींपर कुशान-वंशीय नृपतियोंके सिक्के "स्तूप-समूहों"में पाये गये हैं, जिनसे महाराज कनिष्कका अधिकांश इतिहास निश्चितप्राय हो गया है। महाभारतमें जिस जन्मेजयके यज्ञका वर्णन किया गया है, उसका प्रारम्भ इसी नगरमें हुआ था। आशय यह है कि, महान सिकन्दर-के आक्रमणतक यह नगर पश्चिमी पञ्जाब प्रान्तकी राजधानी था। यूनानी लेखकों और आजकलके अन्वेषकोंने सिद्ध कर दिया है कि, यह नगर वैदिक संस्कृतिका एक प्रधान केन्द्र था।

संयुक्त प्रान्तमें अनेक ऐतिहासिक स्थान हैं, जिनकी खोदाईसे ऐसे ऐतिहासिक रत्न प्राप्त हुए हैं, जिनसे भारतीयोंका मस्तक ऊँचा हो सकता है। प्राचीन स्थानोंमें सारनाथ, मथुरा, कसिया, सहेट, भितरी (गाजीपुर) अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे यदि एक-एकपर सविस्तर लेख लिखा जाय, तो "गंगा"के विशेषांकके लिये पर्याप्त होगा। अतः स्थानाभावसे केवल दिग्दर्शन भर कराना होगा।

संसार-प्रसिद्ध सारनाथ काशीसे चार मील, वरुणा नदीके उस पार, है। इसका शुद्ध नाम "शारङ्गनाथ" है। इसे बौद्धसाहित्यमें ऋषिपत्तन या इसिपत्तन और मृगदाव भी कहते हैं। बौद्ध-धर्मके चार महातीर्थ हैं, जिनका सम्बन्ध भगवान् बुद्धसे है। कपिलवस्तुमें भगवान् बुद्धका अवतार हुआ था, गयामें भगवानने आत्मज्योतिका दर्शन किया था, सारनाथमें धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन किया था और कुशीनगरमें परिनिर्वाण प्राप्त किया था। प्रत्येक बौद्ध सारनाथको "ऋषिपत्तन" या इसिपत्तन कहता है, क्योंकि गौतम बुद्धके अवतार ग्रहण करनेपर एक बोधिसत्त्वने यहींपर निर्वाण प्राप्त किया था। बौद्ध-पुराणवादी इसे "मृगदाव" भी कहते हैं, क्योंकि किसी पूर्व जन्ममें गौतम बुद्ध और उनके चचेरे भाई देवदत्त दो मृगयूथोंके मापक थे।

गौतम बुद्धके महाप्रस्थानके अनन्तर बौद्ध भिक्षुक पर्णशालाएँ बनाकर यहाँ रहते थे। उस समय बुद्धकी मूर्त्तियाँ नहीं बनती थीं। अशोकके समय सारनाथका सितारा चमका। मठ और विहार बनाये गये। पहले हूणोंने छठी शताब्दीमें और सुलतान महम्मदने ११ वीं शताब्दीमें इन ऐतिहासिक स्थानोंको नष्ट-भ्रष्ट किया। पश्चात् १२ वीं शताब्दीके अन्तमें गोरी और उसके दास कुतुबुद्दीन ऐबकने यहाँके अवशिष्ट स्थानोंको छिन्न-भिन्न कर जला दिया। आज सात सौ वर्षोंतक सारनाथमें सारनाथ महादेवकी स्मृति और बौद्ध महातीर्थके अतिरिक्त यहाँ कोई विशेष ऐतिहासिक पदार्थ न बचे थे। १८१५ में कर्नल मो० मैकेंजीने कुछ खोदाईका कार्य कराया और प्राप्त पदार्थोंको एशियाटिक सोसायटी, बंगाल, को भेंट किया।

जनरल सर अलेकजेंडर कनिंघमने १८३४-३६ में अपने पासके पैसेसे यहाकी खोदाई की और "धमेख स्तूप" तथा "चौखण्डी स्तूप" को बाहर निकाला। १८५१—५८ में मारखम् किट्टोने भी थोड़ा-सा कार्य किया। इसके पश्चात् थोड़ा-बहुत कार्य कई लोगोंने किया। १९०५ से आजतक पुरातत्त्व विभागके अन्तर्गत सारनाथ-अन्वेषणका कार्य जारी है। विगत वर्ष अनागारिक धर्म्मपालने संसार भरके बौद्धोंकी सभा कर "मूलगन्ध-कुटी-विहार" का प्रवेशोत्सव किया। कहा जाता है कि कनिष्कके पश्चात बौद्धोंकी दूसरी सभा इस जोड़की नहीं हुई थी।

आजकल सारनाथका "अजायबघर" विशेष दर्शनीय है। सर जान मार्शलने सन् १९२५-२६में "चत्वारि आर्य-सत्यानि"का उपदेश एक प्रस्तरपर खुदा हुआ, प्रधान मन्दिरके पश्चिमकी ओर, पाया।

"चौखण्डी स्तूप" (जिसके पास भगवान् बुद्धने पाँच शिष्योंको प्रथम उपदेश दिया था), "प्रधान मन्दिर" (जो अशोकके विहारोंके बीचमें है), अशोकका शिलालेख (जो बौद्ध धर्ममें सम्प्रदाय निकालनेवालेके विरुद्ध है), "धमेख" अथवा "धर्मेकस्तूप", गहरवार-नरेश गोविन्दचन्द्रका शिलालेख और उनकी रानी कुमारदेवीका बौद्ध विहार, कनिष्कका शिलालेख आदि आदि महत्त्वके पदार्थ सारनाथमें हैं।

भारतकी हिन्दू-सभ्यताका यह केन्द्र है। सारनाथ महादेवका मन्दिर, जैनियोंके ११ वें तीर्थङ्कर श्रीश्रेयांशका मन्दिर और जिस पर्णशालामें भगवान् बुद्ध रहते थे (जिसे आजकल प्रधान मन्दिर (*main shrine*) कहते हैं)—ये सब यहीं हैं। अतः सारनाथ विशेष द्रष्टव्य है। इसे इतिहासके अन्वेषणमें बड़ी सहायता मिली है। जिन्हें संसारव्यापी बौद्ध-सभ्यताका आनन्द लेना हो, उन्हें यहाँ आकर सारनाथकी रजसे अपने शरीरको पवित्र करना चाहिये। आज भी वर्षके बारहों महीनों और प्रत्येक दिवस बौद्धभक्तों तथा ऐतिहासिक छात्रोंकी मण्डलियाँ सारनाथके पवित्र स्थानको सुशोभित करती दिखायी देती हैं एवम् प्रत्येक धर्मवालोंके मुँहसे एक बार भगवान् बुद्धके लिये "धन्य धन्य" शब्द निकल पड़ते हैं। 'नमो बुद्धाय बुद्धाय"का जप करनेवाले लङ्का और ब्रह्मा देशोंके भिक्षु, जो यहीं रहते हैं, हमारे पूर्वजोंकी महत्ताके मूर्त्तिमान स्वरूप हैं।

आजकल जिसे कसिया कहते हैं, वही सम्भवतः कुशीनगर था। वहींपर भगवान् बुद्धने निर्वाण लिया था। वहाँ निर्वाण-स्तूप भी है, जहाँ बौद्ध लोग दर्शनार्थ जाते हैं। यह स्थान भी दर्शनीय है। श्रावस्ती, जिसे आजकल सहेट महेट कहते हैं, परन्तु जो अभीतक विवादास्पद है, प्रसिद्ध स्थान है। गाजीपुरके भितरी ग्रामके शिलालेखसे गुप्त-कालीन भारतवर्षीय इतिहासमें बड़ी सहायता मिली है। संयुक्त प्रान्तमें आगरा, फतहपुर-सिकरी, चुनार, अलीगढ़, मेरठ, सिकन्दरा, कालपी, इटावा आदिमें प्राप्त मध्य

कालीन भारतकी चीजोंमें भी अन्वेषण-कार्यमें सहायता मिली है। इनका विस्तृत वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता।

बिहार प्रान्तमें ऐतिहासिक अन्वेषणके कार्यमें पाटलिपुत्र, नालन्द, राजगृह, पालामऊ, मुँगेर, रोहितासगढ़, कटक, भुवनेश्वर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। पाटलिपुत्रकी खोदाईसे मौर्य-सभ्यता और पारसी सभ्यताका सम्बन्ध मालूम हुआ है। इन खोजोंसे चाणक्यके अर्थ-शास्त्र तथा यूनानी लेखक मेगास्थनीजके लेखोंका समर्थन हुआ है। मि० स्पूनरने यहाँपर खोदाईका कार्य सम्हाला। आपके नये सिद्धान्तका हवाला दिया जा चुका है। बिहार-प्रान्तीय अन्वेषणका कार्य अभी चल रहा है। कलिङ्गके "खारबेलन"के शिलालेखोंसे बिहार और कलिङ्गका सम्बन्ध स्थापित हुआ है। अब भी अनेक रहस्य छिपे हैं, जो पीछे उद्घाटित किये जायगे। सारे बिहारमें बौद्ध धर्मका पूरा प्रचार था। इतने बौद्ध "मठ" और इतने "विहार" बने थे कि, सारे प्रान्तका नाम ही "विहार" पड़ गया। यहां "पालवंशी" नरेशोंने "बौद्धधर्म"का पुनरुद्धार किया था, किन्तु तान्त्रिक "बौद्धधर्म"ने समाजको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था, अतः वह भी भारतसे भगाया गया।

६ ठी शताब्दीमें "नालन्द"का प्रसिद्ध स्थान बिहार ही क्या, समस्त भारतवर्षका भूषण था। प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसांगने सातवीं शताब्दीमें इसका विस्तृत वर्णन किया था। यहाँ प्रसिद्ध बौद्ध विश्वविद्यालय था। एशियाके भिन्न-भिन्न देशोंके छात्र यहाँ अनेक शास्त्रोंका अध्ययन करने आते थे। नालन्दमें अबतक जिन विहारोंमें खोदाईका कार्य हो चुका है, उनमें दस भवन स्थित हैं। ग्यारहवाँ मठ भी दिखाई पड़ता है, जो बड़गाँव ग्रामकी ओर है। अनुमान है कि, यह ग्राम भी नालन्द-विश्वविद्यालयके अहातेके अन्तर्गत था। नालन्दके उद्घाटनसे बहुत-सी बातोंका पता लगा है; किन्तु अभी बहुत कार्य अवशिष्ट है।

राजगिरि बौद्ध-इतिहासमें इसलिये प्रसिद्ध है कि, गौतमबुद्ध आकर वहाँ ठहरते थे। आजकल जिसे जरासन्धकी बैठक कहते हैं, वह वही गुफा थी, जिसमें गौतम बुद्ध विश्राम लिया करते थे। पुरातत्त्व-विभाग इसकी रक्षा करता है।

पलामू या पालामऊमें "चेरोगढ़" प्राचीन निवासियोंकी ऐतिहासिक स्मृति है। घने जंगलमें यह गढ़ सुरक्षित रखा गया है।

मुँगेरका किला मीरकासिमका कृति है। उसकी भी सुरक्षाका भार पुरातत्त्व-विभागके हाथमें है। आजकलके आधुनिक-इतिहासमें मुँगेर एक विशिष्ट स्थान रखता है।

शाहाबाद जिलेमें रोहतासगढ़ प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। मध्यकालीन भारतमें इसका नाम अफगान-सम्राट् शेरशाह सूरसे सम्बद्ध है। कहा जाता है कि, उसकी विजय-लक्ष्मीकी कुञ्जी यही गढ़ है। शेरशाहने बड़ी पटुतासे चूड़ामणि ब्राह्मणको मिलाकर यह कार्य किया था। "मानसिंह-प्रासाद", "शीशमहल" आदि दर्शनीय भवन है।

कटकका "परबती गढ़" ऐतिहासिक दृष्टिसे अत्यन्त दर्शनीय है।

भुवनेश्वरका मन्दिर कला और साहित्यकी दृष्टिसे समस्त भारतमें निराला है। इस मन्दिरका निर्माण इतनी अच्छी शैलीमें हुआ है कि, इसके अध्ययन द्वारा वंगीय कला और स्थापत्य-शास्त्रका मार्मिक रहस्य मालूम हो सकता है। अधिक न कहकर इतना ही कहना पर्याप्त है कि, इस स्थानपर हिन्दू-धर्म और तान्त्रिक बौद्ध-धर्मका संयोग मालूम पड़ता है। चार मूर्तियाँ (बोधिसत्वपद्मपाणि, चामुण्डा देवी, इन्द्राणी और वाराहीकी) अच्छी दर्शनीय हैं।

यों तो बंगाल प्रान्तमें कई स्थानोंमें अन्वेषणका कार्य हुआ है (जैसे रामपाल, किदिरपूर, ढाका आदि आदि);

किन्तु "पहाड़पुर" विशेष प्रसिद्ध है। पहाड़पुरमें एक ऐसा अच्छा मन्दिर मिला है, जो समस्त भारतमें अपना जोड़ नहीं रखता। इस मन्दिरमें हिन्दू-बौद्ध-संस्कृतिका अच्छा सम्मिश्रण किया गया है। "भूमिस्पर्श-मुद्रा" और "व्याख्यान मुद्रा" की अवस्थामें भगवान् बुद्धकी मूर्तियाँ हैं। गोवर्द्धनधारी चतुर्बाहु कृष्ण और बलरामकी मूर्तियाँ, यम और यमुनाकी मूर्तियाँ, बालि, सुग्रीव, तारा, बोधिसत्त्वपद्मपाणि आदिकी मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। पहाड़पुरके शिलालेखोंने ऐतिहासिक घटनाओंपर बड़ा प्रकाश डाला है। कला और इतिहास, दोनों दृष्टियोंसे पहाड़पुर प्रसिद्ध है। अभी वहाँ बहुत-सी ऐतिहासिक बातोंका अनुसन्धान होना बाकी है।

यों तो मद्रासमें भी अनेक ऐतिहासिक स्थान पाये गये है, किन्तु उनकी प्रसिद्धि प्राय मध्यकालीन भारतमें हुई। ये स्थान हैं—एसूलीपट्टम्, पुलीकट, कोचीन, पोर्टोनोके, तूतीकोरन प्रभृति। किन्तु विशेष प्रसिद्ध हैं—महाबलीपुरम्, पुष्पगिरि, अल्लुरु, गुम्मडिदुरु और नागार्जुनीकोण्ड, पिछले तीन स्थानोंमें अन्वेषणका कार्य पर्याप्त हुआ है। अल्लुरु और गुम्मडिदुरु कृष्णा जिलेके ग्राम हैं, जहाँ कुछ बौद्ध स्तूप हैं। नागार्जुनीकोण्डमें भी स्तूप है। देशी राज्योंमें भोपालके अन्तर्गत साँचीका स्तूप बहुत प्रसिद्ध है। छत्रपुरमें खजुराहोका मन्दिर और धार राज्यमें "मण्डू" आदि प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान हैं। इन सब स्थानोंसे अनेक ऐतिहासिक तत्त्वोंका निश्चय हुआ है।

ब्रह्म प्रान्तमें पैगन, ह्मौजा, कन्नागूर, प्रोम आदि नगरोंमें खोदाई और अन्वेषणका कार्य हुआ है, जिससे बौद्ध इतिहासकी बहुत-सी विवादास्पद समस्याओंपर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है।

यह तो हुआ अत्यन्त संक्षिप्त विवरण। भारतके ऐतिहासिक अन्वेषणके कार्यका एक अंश मात्र हो पाया है। अभी तो असीम क्षेत्र अवशिष्ट है। इस विषयमें सर जान मार्शल, जो पुरातत्त्व-विभागके डाइरेक्टर जनरल थे, की सम्मति सुनिये—

"*Every couple of acres (in Balochistan) that are cleared up to their full depth involve in the difficult conditions as to labour and climate in Balochistan, a whole seasons' work; thus, if a site is no more than two hundred acres in extent, it is likely to take a century to explore What is true of Balochistan is equally true of the rest of the Indian empire*"

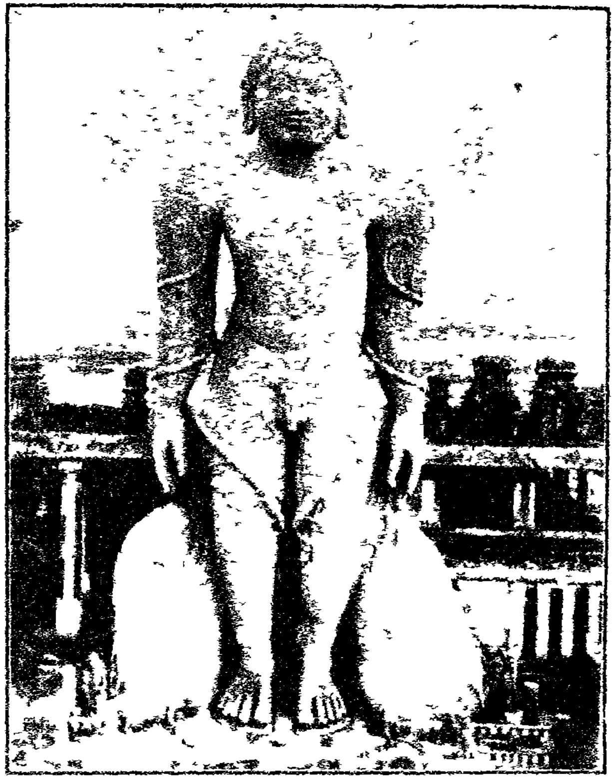
मतलब कि, यदि दो एकड़की पूरी खोदाई हो, तो मजदूरी और जलवायुका विचार कर पूरे एक वर्षका समय लगेगा। इस प्रकार दो सौ एकड़की खोदाईमें २०० वर्ष लग जायँगे। और, जो बात बिलोचिस्तानपर लागू है, वही भारतीय साम्राज्यके अवशिष्ट भागपर।

भारतवर्षमें ऐतिहासिक अन्वेषणके कार्यका क्षेत्र वस्तुतः असीम है। हजारों वर्षोंके पश्चात् भी बहुत कार्य बच रहेगा। ग्राम-ग्राममें अनेक ऐतिहासिक मसाले पड़े हैं। अनेक पुराने रत्न भी भरे पड़े हैं। भला हो पाश्चात्य विद्वानोंका, जिनकी सहकारितासे इतिहास शास्त्रके विधानमें महत्त्व-पूर्ण कार्य हुआ है। यह सत्य है कि, पश्चिमी विद्वानोंने प्रथमतः पद-पदपर गल्तियाँ कीं, किन्तु प्रधानतः उन्हींके प्रोत्साहनसे अनेक देशी विद्वान् इस क्षेत्रमें आ उतरे। इन्हींके परिश्रमसे भारतीय इतिहासमें इतिहासत्व आया। जो लोग पहले भारतीयोंके प्राचीन पुरुषोंको "असभ्य शैशवावस्था"में मानते थे, वे भी ऐतिहासिक तथ्यके आगे नत-मस्तक हैं। भगवान् विश्वनाथसे प्रार्थना है कि, हम भारतीय अपने इतिहास-शास्त्रका

"गंगा"



श्रीचन्द्रप्रभजी (८ म तीर्थङ्कर)



श्रीबाहुबलि गोम्मट स्वामी श्रवणबेलगोला ।



श्रीपार्श्वनाथजी

(विक्टोरिया एंड अलबर्ट म्युजियम, लन्दनकी आज्ञासे)



श्रीऋषभनाथजी और श्रीमहावीर स्वामी

(ब्रिटिश म्युजियम, लन्दनकी आज्ञासे)

सत्ता विधान कर सकें, जिससे हम अपना ऐतिहासिक स्थान फिर भी प्राप्त कर सकें। इतिहासके सच्चे ज्ञानसे ऐहिक और पारलौकिक सुख मिलता है। सचमुच यही मानव-जीवनका अन्तिम ध्येय है।❀

❀ इस निबन्धको तैयार करनेमें सर जान मार्शल, दयाराम साहनी, एन० के० दीक्षित, चन्द, माधोस्वरूप वत्स तथा पूज्यवर ब्रह्म-लीन आचार्य राखालदास वन्द्योपाध्यायके लेखों एवम् अनेक विद्वानोंके ग्रन्थोंसे सहायता मिली है। अतः लेखक सबका कृतज्ञ है।

भूगर्भशास्त्र और पुरातत्त्व-विज्ञान

प्रोफेसर कृष्णकुमार माथुर बी० एस-सी० (लंडन) ए० आर० एस० एम०

(भूगर्भशास्त्र और पुरातत्त्वविज्ञान—भौगर्भिक-काल-विभाग—भौगर्भिककालका वर्षोंमें अनुमान—मनुष्यका पशु-संसारमें स्थान—तृतीय और चतुर्थ कल्पोंमें वानरजातिके चिह्न—पंजाबकी नमककी पहाड़ी और हिमालयमें बन्दरोंके अस्थिशेष—तृतीय कल्पमें हिमालयका जन्म-चतुर्थ कल्पके शिलासमूहमें मनुष्यके चिह्न—भारतीय शिलासमूहमें मनुष्यके चिह्न—अविनाशचन्द्रदास और वैदिक काल।)

इस पृथ्वीका और पृथ्वीपर रहनेवाले पशु तथा वृक्ष आदिका इतिहास भूगर्भशास्त्रका विषय है। पृथ्वीको बने हुए प्रायः दो-डेढ़ अरब वर्ष हुए। अनेक युगोंमें जो मिट्टी-की तहें पानीमें बनी हैं, उनमें उस समयके मरे हुए जन्तु और वृक्ष भी अकसर दब गये हैं। पीछे यह तहें, दाबके कारण, कठोर होकर शिला बन जाती हैं। भूकम्प होनेपर पानीसे ऊपर निकल आती हैं। उनको जाँच करनेसे उनके रचना-कालके इतिहासका पता लगता है। पुरातत्त्वविज्ञान-का विषय मनुष्य है। भूगर्भ-शास्त्रका जितना मनुष्यके विकाश और इतिहाससे सम्बन्ध है, उतना ही सम्बन्ध दूसरे जन्तुओं और वृक्षोंके विकाशसे है। पुरातत्त्व वैज्ञा-निकके लिये मनुष्यप्रधान विषय है; दूसरी वैज्ञानिक घटनाएँ केवल सहायकरूप हैं।

सारिणी नं० १

भौगर्भिक कल्प और युग	वर्षोंमें अनुमान किया हुआ समय	जीवनका विकाश	प्रधान जीवन
चतुर्थ कल्प(२य युग)	१,२५,०००		मनुष्यजाति
तृतीय कल्प ४र्थ युग)	४,००,००,०००	मनुष्य	जरायुज जन्तु
द्वितीय कल्प(३ययुग)	२०,००,००,०००	पक्षी जरायुज	सर्पीले जन्तु
		सर्पीले जन्तु	मछली
प्रथम कल्प(६ष्ठ युग)	५०,००,००,०००	मेंढककी जाति	
		मछली	
आर्कियन कल्प	१,६०,००, ०,००० —२००,००,००,०००	बिना रीढ़के जानवर	

भौगर्भिक विचार-दृष्टिको समझनेके लिये भौगर्भिक-काल-विभागको जाननेकी आवश्यकता है। यह उक्त सारिणी नं० १ में दिखलाया गया है। इस काल-विभागका आधार प्रत्येक युगके जीवनपर है। आर्कियन कल्पके पत्थरोंमें जीवनका चिह्न नहीं मिलता। प्रथम कल्पके आदिमें ही बिना रीढ़की हड्डीके जन्तु पाये जाते हैं। ये बहुत-सी जातियोंके हैं। इस कल्पके उत्तरार्द्धमें, रीढ़वाले जानवरोंमें मछलियाँ अधिक संख्यामें पायी जाती हैं। द्वितीय कल्पमें सर्पीले कूर्म और मगरजातिके जन्तुओंका विकाश हुआ। वह बड़े बड़े आकारवाले हुए और जल, थल तथा आकाशमें विचरते थे। पक्षी और जरायुज जीवोंका विकास तृतीय कल्पमें हुआ। मनुष्य जरायुज है, उसका तृतीय कल्पसे पहले पाया जाना असम्भव है। तृतीय कल्पमें भी मनुष्यकी हड्डियाँ शिलाओंमें नहीं मिलतीं। भौगर्भिक शिला-समूहमें मनुष्यके चिह्न केवल चतुर्थ कल्पमें पाये जाते हैं।

सारिणी न० २

प्राइमेट (*Primates*)

- चतुष्पद
  - लैमुर बन्दर [आँखके किनारेकी हड्डी । हाथ-पैरसे छोटे]
  - सिमियन बन्दर [आँखकी चौतरफी हड्डी पूरी । हाथ-पैरसे लम्बे]
    - चिपटी नाकवाले
      - आर्कटोपिथिक समूह [३२ दाँतवाले; पजेदार]
        - १—मारमोसेट
        - २—मिडास बन्दर
        - [दक्षिण अमेरिका]
      - सीबियस-समूह [३६ दाँतवाले] [दक्षिण अमेरिका]
    - लम्बी नाकवाले [दाँत ३२]
      - श्वानमुख । सपुच्छ
        - १—बबून
        - २—मकाके [साधारण लाल मुँहवाला बन्दर]
        - ३—सरकोपिथिकस
        - ४—सेमनोपिथिकस [कालेमुँहवाला लंगूर]
        - [एशिया और अफ्रीका]
      - मानवरूप । (अपुच्छ)
        - १—चिम्पांजी
        - २—गोरीला
        - [अफ्रीका]
        - ३—ओरांग
        - [सुमात्रा]
        - ४—गिबन
        - [मलाया]
- द्विपद [हाथ-पैरसे छोटे । बड़ा मस्तिष्क]
  - मनुष्य

सारिणी न० १ में सौर वर्षोंका अनुमान केवल पाठकोंके सन्तोषके लिये दिया गया है। यह विषय बहुत कठिन है। भूगर्भ-वैज्ञानिक प्राय सौर वर्षोंमें भौगर्भिक कालका विचार नहीं करते। वह केवल शिलासमूह और उसके अन्तर्गत जीवशेषका यथाक्रम सयोजन करनेपर ही सन्तुष्ट रहते हैं। सौर वर्षोंमें कालका अनुमान विवाद-ग्रस्त विषय है। उसको समझनेके लिये पाठकोंको मौलिक पुस्तकोंका अवलोकन करना चाहिये। सारिणीमें वह अक दिये गये हैं, जो इस समय बहुमान्य हैं। यह आश्चर्यकी बात है कि, पृथ्वीकी रचनाका अनुमान किया हुआ काल वैदिक सृष्टि-संवत्से बहुत कुछ मिलता है।

उक्त सारिणीको देखनेसे मालूम होगा कि, मनुष्य भौगर्भिक कालमें एक अत्यन्त नवीन सृष्टि है। मनुष्य अपने आपको कितना ही श्रेष्ठ मान ले, किन्तु वास्तविक रूपमें वह ईश्वरकी वानरजातिका एक फूल है। उसकी उत्पत्ति समझनेके लिये वानरजातिका विभाग समझना

आवश्यक है। यह विभाग सारिणी न० २ में दिखलाया गया है। उसके अध्ययनसे भिन्न-भिन्न प्रकारके बन्दरोंका हाल मालूम होगा। प्रत्येक भागमेंसे, उदाहरणके लिये, एक-एक बन्दरका रूप भी चित्रमें दिखा दिया गया है। सारिणीमें बन्दरोंका निवास-स्थान भी बताया गया है। अब हम यह समझनेका प्रयत्न करेंगे कि, किन-किन युगोंके शिला-समूहमें इन बन्दरोंकी हड्डियाँ पायी जाती हैं। यह जान लेना आवश्यक है कि, विकाश-सिद्धान्तके अनुसार सारे बन्दर और मनुष्य एक ही पूर्वजको सन्तान हैं। यह सिद्धान्त अन्य धर्मोंके माननेवालोंको कितना ही अप्रिय हो, किन्तु हिन्दूधर्मके विपरीत नहीं माना जा सकता। कुछ पण्डितोंका विचार है कि, मत्स्यावतार, कूर्मावतार, वाराहावतार और नृसिंहावतार जीवनके विकाशके ही द्योतक हैं। परशुराम, वामन, राम आदि मनुष्यमें मानसिक शक्ति और दैवी कलाकी वृद्धिके विवेचक हैं।

सारिणी न० ३

भौगर्भिक काल — कल्प	भौगर्भिक काल — युग	प्रत्येक युगमें बने हुए हिन्दुस्तानके मुख्य शिलासमूह।	पुरातत्व-काल-विभाग	मानवीय मृतजाति
चतुर्थ कल्प	हालासीन [आधुनिक काल]	गङ्गा आदि नदियोंकी नवीन मृत्तिका, जो आजकल जमा हो रही है (खादर)।	धातुकाल { लौहकाल, काँसाकाल, ताम्रकाल } नवपाषाणकाल	आधुनिक मनुष्य
	लायस्टोसीन [हिमनदी-काल]	गङ्गाके मैदानका प्राचीन नदीप्रवाहित मृत्तिका-समूह (भाँगर)। करनूलकी गुफाकी मिट्टी (मद्रास-प्रान्तमें)। (नर्मदाके तटका नदी-प्रवाहित मृत्तिका-समूह। हिमालयमें नदियोंके ऊँचे तट। दक्षिण देशके उच्च तलके लाटराइट। शिवालिक शिला-समूहके सबसे ऊपरके स्तर।	पुरापाषाण-काल	आधुनिक मनुष्य नियंडर्थल-मनुष्य पिल्टडाउन-मनुष्य हाइडेलबर्ग-मनुष्य
तृतीय कल्प	प्लायोसीन	हिमालय और पंजाबकी नमककी पहाड़ीके कुछ शिला-समूह। सिंध और मध्य ब्रह्मा। (इयोसीन युगके शिलासमूह प्राय समुद्रज हैं। अन्य युगोंके पत्थर सिन्ध और ब्रह्माको छोड़कर नदीमें बने हैं)।	?	जावाका नर-वानर व नरजाति और अन्य जरायुज का विकाश
	मायोसीन			
	आलिगोसीन			
	इयोसीन			

बन्दर और मनुष्यमें, उत्पत्ति-विषयमें, घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण यह आवश्यक है कि, हम भौगर्भिक कालमें वानर-समूहके विकासपर विचार करें ! ऊपर कहा जा चुका है कि, तृतीय और चतुर्थ कल्पसे प्राचीन शिला-समूहमें इनका कोई चिह्न नहीं मिलता । इन कल्पोंके विभाग सारिणी न० ३ में दिखलाये गये हैं । अमेरिकामें इयोसीन युगके शिला-समूहमें इस प्रकारके छोटे बन्दर मिलते हैं, जिनमें मनुष्यों और बन्दरोंके शारीरिक गुणोंका मेल है। लैमूरके अस्थि-शेष भी पाये जाते हैं । मिश्र देशमें फयूम प्रान्तके आलीगोसीनयुगी शिला-समूहमें लैमूर और सीमियन बन्दर पाये जाते हैं । इनके अतिरिक्त एक प्राचीन लम्बी नाकवाला बन्दर भी मिलता है । इससे यह ज्ञात होता है कि, तृतीय कल्पके इस प्राचीन युगमें भी बन्दरों-की भिन्न-भिन्न जातियोंमें विभाजन शुरू हो गया था। मायोसीन युगके शिला-समूहमें यूरोप और एशियाके कई देशोंमें ऐसे बन्दरोंके ढाँचे पाये जाते हैं, जिनका आज-कलकी बन्दरकी जातियोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध है । यूनान देशमें एक मैसोपिथिकस नामका पूरा ढाँचा मिला है, जिसमें साधारण लाल मुँहवाले बन्दर और काले मुँहके लंगूरके शारीरिक गुणोंका मिश्रण है । इससे यह मालूम होता है कि, यह जन्तु इन दो वानरोंका पूर्वज है अथवा पूर्वजका निकट सम्बन्धी है । इसी प्रकार मायोसीन शिला-समूहमें ओरियोपिथिकस नामक जन्तु-विशेष मिलता है, जो श्वानमुखी बन्दर और मानवरूप बन्दरका पूर्वज रूप जान पड़ता है। डायोपिथिकसमें चिम्पांजी, गोरीला और कुछ मनुष्यके गुण सम्मिलित हैं ।

पञ्जाबकी नमककी पहाड़ीके प्रान्तमें मायोसीन युगके शिला-समूहमें बन्दरों और अन्य वानरोंके अस्थिशेष बहुतायतसे मिलते हैं । श्वानमुख बन्दरोंमें दो प्रकारके लंगूर, २ बबून, १ लाल मुँहवाला साधारण बन्दर और एक सरकोपिथिकस बन्दर मिलते हैं । मानव-रूप वानरोंमें डायोपिथिकस, पालियोसिमिया (ओरांग सम्बन्धी) और शिवपिथिकस मिलते हैं । इन बन्दरोंमें, जो एकसे अधिक आधुनिक जातिके पूर्वज-रूप हैं, अत्यन्त शिक्षाप्रद हैं । शिवपिथिकसके केवल दाँत और जाबड़े मिले हैं और वह मनुष्यके दाँतों और जाबड़ोंसे बहुत मिलते हैं । डाक्टर पिलग्रिमकी यह सम्मति है कि, शिवपिथिकस मनुष्यजाति का पूर्वज है, किन्तु अन्य वैज्ञानिक उनसे सहमत नहीं हैं । उनका विचार है कि, खोपड़ी और हाथ पैरकी हड्डी मिले बिना इस बातका निश्चय नहीं हो सकता । शिवपिथिकससे कम-से कम यह तो पता लगता है कि, तृतीय कल्पके मायोसीन युगमें, शारीरिक आकृतिमें, मनुष्यसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले जीव विद्यमान थे ।

प्लायोसीन युगके बहुतसे बन्दर आजकलके जीवित बन्दरोंसे मिलते हैं । प्लायस्टोसीन युगके आरम्भमें प्राय आजकलका वानरी संसार ही दीख पड़ता है ।

तृतीय कल्पमें मनुष्यका कोई ऐसा चिह्न नहीं मिलता, जो सन्देह-रहित हो । ब्रह्मदेशके प्लायोसीन युगके शिला-समूहमें, और अन्य देशोंमें भी, कुछ चकमक पत्थर मिलते हैं, जिनको बहुतसे विद्वान् मनुष्य-कृत मानते हैं, किन्तु इसमें मतभेद है । इतना सब विद्वान् मानते हैं कि, आदि मनुष्यका विकास तृतीय कल्पमें ही हुआ होगा । ×

× इस स्थानपर जावाके विचित्र "नर-वानर" पिथिकान्थ्रोपस्का उल्लेख उपयुक्त होगा । इस जीवकी अस्थि प्लायोसीनके अन्त अथवा प्लायस्टोसीनके आदि युगकी शिलामें मिली है । मस्तिष्कके नापसे और खड़े होकर चलनेमें वह बन्दरों की अपेक्षा मनुष्य ही माना जायगा, किन्तु उसके दाँत और अन्य भाग बन्दरोंसे मिलते हैं । इसके सन्देह नहीं कि, इस जीवका नर और वानरके बीच स्थान है; किन्तु यह मानना आवश्यक नहीं कि, यह मनुष्यका पूर्वज है । सम्भव है कि, विकास-वृक्षमें यह जीव मनुष्यके समीपकी एक सूखी हुई शाखा हो ।

हिमालयकी नीची पहाड़ियोंमें अस्थिशेषका इतना बाहुल्य है कि, हिमालयकी प्राचीन तराई वानर-जातिके निवास और विकासका एक मुख्य केन्द्र मालूम होती है। तृतीय कल्पसे पहले हिमालयके स्थानमें एक बड़ा समुद्र था और दक्षिण हिन्दुस्थान एक प्राचीन महाद्वीपका भाग था। इयोसीन युगके अन्तमें हिमालय-प्रान्तकी भूमि समुद्रसे ऊपर निकल आयी। मायोसीन युगमें, नव हिमालयकी तराईमें, अनेक प्रकारके पशु-पक्षी विचरते थे। इस युगमें हिमालय फिर ऊपर उठा। हिमालयका अन्तिम उत्थान प्लायस्टोसीन युगके अन्तमें हुआ। इस प्रकार हिमालय-पर्वतकी सृष्टि तीन युगोंमें, तीन उत्थानमें, हुई। सम्भव है कि, हिमालयकी आकाशकी ओर गतिका अन्त अभी नहीं हुआ है। समय-समयपर जो उत्तर-भारतमें भूकम्प आते हैं, उनका केन्द्र हिमालयकी जड़ोंमें है। भूकम्पोंसे यह मालूम होता है कि, पृथ्वीके इस प्रान्तमें अभी शान्ति स्थापित नहीं हुई है; और, अबतक कुछ आन्तरिक शक्तियाँ काम कर रही हैं।

प्लायस्टोसीन युग अत्यन्त शीतमय काल था। यूरोप और अमेरिकाके उत्तरी देशोंमें हिम-नदियोंका राज्य था। हिन्दुस्थानमें, हिमालयकी नीची पहाड़ियोंमे भी, हिम-नदी बहती थी, किन्तु उत्तर-भारतके मैदानमें और दक्षिणमें केवल शीतकी अधिकता थी। चतुर्थ कल्पके दो युग और तत्कालीन भारतीय शिला समूह सारिणी न० ३ में दिखाये गये है। एक कालममे पुरातत्त्व-वैज्ञानिक-काल-विभाग भी दिखाया गया है।

यूरोपकी हिमनदीकालरचित शिलाओंमें मनुष्यजातिके अनेक चिह्न प्राप्त हुए हैं।

प्लायस्टोसीन युगके आदिकी शिलामें, जर्मनीमें, हाइडेलबर्ग-समीप मौर नामके स्थान में एक नीचेका जावड़ा, रेतकी खानमें, मिला है। इसका नाम होमो हाइडेलबर्गेंसिस अथवा "हाइडेलबर्गका मनुष्य" रखा गया है। दाँत मनुष्यसे मिलते हैं, किन्तु जावड़ा मानवरूप बन्दरका है।

इंग्लैंडमें, ससेक्स प्रान्तके पिल्टडाउन स्थानमें, सड़कके रोड़ेकी खानमें, खोपड़ी, जावड़ा और दाँत मिले हैं। इनका नाम "पिल्टडाउनका मनुष्य" रखा गया है। कुछ विद्वानोंका मत है कि, खोपड़ी किसी प्राचीन मृत मनुष्यजातिकी है, जावड़ा, सम्भव है, किसी बन्दरका हो। इस मनुष्यके और हाथोंका मिलना अत्यावश्यक है।

मनुष्यकी एक मृत जातिका नाम "नियण्डर्थल मनुष्य" है। उस मनुष्यकी सम्पूर्ण अस्थिया यूरोपके अनेक देशोंकी गुफाओंमें मिली हैं। उसके आकारका वैज्ञानिकोंको पूर्ण ज्ञान है। वह छोटे क़दका पुष्ट मनुष्य था। उसका ढाँचा मानवरूप बन्दरोंसे बहुत मिलता है। टाँगें छोटी थी और मनुष्यकी तरह ठीक सीधा खड़ा होकर नहीं चल सकता था; किन्तु उसके दाँत मनुष्यके थे और मस्तिष्क भी बन्दरोंसे बड़ा था। वह केवल पत्थरके मुस्टेरियन टाइपके औज़ार, लकड़ी और हड्डी व्यवहारमें लाता था। मस्तिष्कके उच्च गुणोंका कुछ भी चिह्न नहीं मिलता।

प्लायस्टोसीन युगके उत्तरार्द्धमें आधुनिक मनुष्यकी अन्त खोपड़ियाँ और अस्थियाँ मिलती हैं तथा उनके पत्थरोंके औज़ार मिलते हैं। उनका सविस्तर विवरण इस लेखकी सीमासे बाहर है।

सारिणी न० ३ में चतुर्थ कल्पके भारतीय शिला-समूह दिखाये गये हैं। यह लिखा जा चुका है कि, प्लायस्टोसीनके आरम्भमें हिमालयका अन्तिम तीसरा उत्थान समाप्त हो चुका था और हिन्दुस्थानका प्राय वही आकार था, जो इस समय है। इस युगमें उत्तर-भारतका मैदान धीरे-धीरे नदी-प्रवाहित रेत और मिट्टीसे भरता रहा। इनमें प्लायस्टोसीन युगके जानवरोंकी हड्डियाँ बहुत नहीं मिली हैं; किन्तु इनमें एक बहुत बड़े मृतजातिके हाथी-का दाँत, बनारस जिलेमें, गङ्गातटके एक नीचे स्तरमें,

मिला है, जो काशी विश्वविद्यालयमें रखा गया है। सम्भव है, और अस्थियाँ भी प्राप्त हों। नर्मदाका मैदान भी प्लायस्टोसीन युगका बना हुआ है। उसमें उस समयके जानवरोंकी हड्डियाँ और मनुष्यकृत पत्थरके औज़ार मिले हैं। दक्षिण देशमें, कानूल जिलेकी एक गुफामें, बहुतसे प्लायस्टोसीन जानवरोंकी हड्डियाँ और मनुष्यकृत पत्थरके औज़ार मिले हैं। दक्षिणमें, ऊँचे स्थलोंमें, एक लाटराइट नामक पाषाणविशेष मिलता है, जो प्लायस्टोसीन युगमें बना है। उसमें विशेषकर कड़पा और कानूल जिलोंमें बहुत मनुष्यकृत पत्थरके औज़ार प्राप्त हुए हैं।

हिन्दुस्थानमें आधुनिक मनुष्यको छोड़कर किसी प्राचीन मानुषिक मृतजातिकी हड्डी अबतक नहीं मिली है। हिमालय और पंजाबकी नमककी पहाड़ियोंमें, अस्थियोंके बाहुल्यके कारण, विद्वानोंका यह विचार है कि, आदि मनुष्योंका पता हिन्दुस्थानमें अथवा मध्य एशियामें मिलना चाहिये। ईश्वर करे कि, इस देशमें इस विषयपर हिन्दुस्थानी विद्वानों द्वारा ही भविष्यमें अन्वेषण हो।

डाक्टर अविनाशचन्द्र दासने अपनी पुस्तक "ऋग्वेदिक इण्डिया"में यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि, ऋग्वेदके सप्तसिन्धुके समीपमें चार समुद्र थे; और, भूगर्भशास्त्रके अनुसार ये समुद्र तृतीय कल्पके पूर्वार्द्ध-कालमें, पंजाबकी चारों ओर, थे। उस पुस्तकमें यह कई बार लिखा है कि, भूगर्भ-विज्ञानसे यह सिद्ध होता है कि, ऋग्वेदका समय तृतीय कल्पके पूर्वार्द्धके लगभग है। दास महाशयने भौगर्भिक घटनाओंके उल्लेखमें बहुत अत्युक्तिसे काम लिया है और उनकी भौगर्भिक व्याख्या, कई स्थानोंमें, विज्ञानके विरुद्ध है। वैदिक समयका पशु-जीवन प्रायः आधुनिक युगका है और तृतीय कल्पके जीवनसे तनिक भी नहीं मिलता। लेखककी सम्मतिमें दास महोदय भूगर्भ विद्याके आधारपर अपने मन्तव्यको सिद्ध करनेमें सफल नहीं हुए हैं।

इस लेखके सम्बन्धकी कुछ पुस्तकें ये हैं—

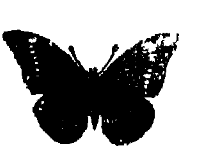
1 *Fossil Men Elements of Human Palaeontology By M Boule English translation by J E Ritchie and T Richie 1923*

2 *Geology of India. By D. N Wadia*

3 *Prehistoric India By Panchanan Mitra, 1923*

4. *Physics of the Earth Pt IV The age of the earth Bulletin of the National Research Council, U S. A No 80 1931*

5 *New Siwalik Primates By G E Pilgrim Record Geological Survey of India. X L V, 1915*



सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यता और मोहञ्जोदारो

डा० नरेन्द्रनाथ लाहा एम० ए०, पी-एच० डी० पी० आर० एस०

भारत सरकार द्वारा मोहञ्जोदारोकी सन् १९२२ से २७ तककी खोदाईमें पुरातत्त्वकी जो वस्तुएँ मिली हैं, उनमेंसे कइयोंके साङ्केतिक चिह्न या भाव अभीतक नहीं समझे जा सके हैं। किसी-किसी मुहर और मूर्तिपर आज भी मत-भेद चल रहा है। किन्तु अनुभवी पुरातत्त्ववेत्ता सर जान मार्शलने—जिनके अधिनायकत्वमें खोदाई हुई थी—अपनी लगभग सात सौ पन्नोंकी जो रिपोर्ट, पुस्तक-रूपमें,* प्रकाशित करायी है, उससे ज्ञात होता है कि, भारतवर्ष

* मोहञ्जोदारोकी खोदाईकी जो पुस्तक अभी हालमें सरकारके द्वारा प्रकाशित हुई है, उसमें कुल ३२ अध्याय हैं। यह पुस्तक जिस सिलसिलेसे लिखी गयी है, उसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

पुस्तकके प्रथम ६ अध्यायोंके लेखक, सम्पूर्ण पुस्तकके सम्पादक, सर जान मार्शल हैं। इन ६ अध्यायोंमें देश, जल-वायु, नदियाँ, स्थानविशेष और उनकी खोदाई, इमारतें, अन्य पुरातत्त्वकी सामग्री प्राचीन कला, धर्म, मृतकोंकी व्यवस्था, सिन्धु-सभ्यताकी व्यापकता, सिन्धु-सभ्यताके उन्नायक तथा उसका काल और स्तूप-क्षेत्रकी बातें हैं।

"किश"की खोदाईके प्रमुख कार्यकर्ता मि० अर्नेस्ट मैकेने १३ अध्यायोंका मसाला दिया है। इनमें मोहञ्जोदारोके SD, L तथा DK क्षेत्र, वस्तु तथा भवन-निर्माणकला, साधारण एवं चित्रीकृत मृत्तिका-मूर्तियाँ भिन्न-भिन्न प्रकारके पशुओंकी आकृतियोंके नमूने प्रतिमाएँ, पत्थरके पात्रादि, सीलों तथा उनकी मुहरें, ताम्रपत्र घरेलू कामकाजकी सामग्री, वैयक्तिक आभूषणादि, खिलौने, हाथी-दाँत, कचकड़े और मिश्रित धातुओंकी वस्तुएँ, यान्त्रिक महत्त्वकी अन्य वस्तुएँ आदिकी विस्तृत चर्चा है।

मि० हार्ग्रीव्जने, जो एक समय भारतमें पुरातत्त्व-विभागके स्थानापन्न डाइरेक्टर जनरलके पदपर थे, *HR* क्षेत्रका वर्णन लिखा है। राय बहादुर दयाराम साहनी (वर्तमान डाइरेक्टर जनरल)ने भी *HR*. क्षेत्र तथा ***B*—*VS*** क्षेत्रके सम्बन्धमें कुछ लिखा है। मि० सी० जे० गड (ब्रिटिश म्युजियमके कार्यकर्ता) और मि० सिडनी स्मिथ (मेसोपोटामियाके पुरातत्त्व-विभागके इन्स्पेक्टर) ने दो भागोंमें आदि-सिन्धु-लिपिकी बाह्य आकृति एवं यान्त्रिक रीतियोंकी व्याख्या लिखी है। प्रो० एस० लैंग्डन (आक्सफोर्ड विश्व-विद्यालयके असीरिया-सम्बन्धी पुरातत्त्वके पण्डित) ने भी सिन्धु-लिपिपर ही लिखा है। मि० एम० सना उल्ला (पुरातात्त्विक रसायनशास्त्रके विद्वान्) ताँबे और काँसेके बर्तनों तथा अन्यान्य वस्तुओंका रासायनिक विवेचन किया है। मि० ए० एस० हिम्मी (गवर्नमेंट कालेज, लाहौरके भूतपूर्व प्रिंसिपल) ने तौल और मापकी विधियोंपर प्रकाश डाला है। भारतवर्षके प्राणिविद्या-सम्बन्धी अन्वेषण (*Zoological Servey*) के डाइरेक्टर कर्नल आर० बी० सीमार सिवेल और डा० बी० एस० गुहा—जुलाजिकल सर्वेके प्राणिविद्याविशारद—ने मानव तथा प्राणिविद्या-सम्बन्धी अवशेषोंको निरूपित किया है। सर एडविन पेस्को (भारतीय भूतत्त्वविषयक विभागके डाइरेक्टर) ने इस खोदाईमें मिले हुए खनिज पदार्थों और धातुओंके गुण प्रकट किये हैं।

अन्य सहायक कार्यकर्ताओंकी भी सहायता ली गयी है। इसमें मि० आर० डी० बनर्जी और उनके अनुगामी मि० एम० एस० वैट्स तथा के० एन० दीक्षितके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मि० एन० जी० मजुमदारने भी खोदाईमें मिले ताँबेके सिक्कोंपर कुछ लिखा है।

आजसे लगभग ६००० वर्ष पूर्व कैसी उन्नत सभ्यताका केन्द्र था—उस समयके लोग कितने कुशल कलाकार, धर्मनिष्ठ और सुख-समृद्धि-शाली थे ! ❀

उपर्युक्त पुस्तककी भूमिकामें, मार्शल साहबने, सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यताके सम्बन्धमें, जो बातें लिखी हैं, वे बड़े महत्त्वकी और ध्यान देने योग्य हैं। उनका सारांश इस प्रकार है—

"सिन्धु-नदीके तटवर्ती भू-भागोंमें निवास करनेवालोंके धर्ममें बहुत-कुछ ऐसी बातें हैं, जो अन्यान्य देशोंमें भी मिल सकती हैं, और, ये बातें संसारके प्राय सभी प्राचीन धर्मोंमें लागू होती हैं। किन्तु यदि सर्वांशत विचार किया जाय, तो उन दिनोंका धर्म इतना एतद्देशीय-विशिष्ट था कि, आज भी वह किसी-न-किसी रूपमें यहाँ विद्यमान है। मोहञ्जोदारो और हरप्पामें जो धार्मिक चिह्नावशेष मिले हैं, उनके आधारपर कहा जा सकता है कि शैव धर्म कलकालिथिक युग (*Chalcolithic Age*)+ या इससे भी पूर्वका है।

अतएव भारतवर्षकी गणना फारस, मेसोपोटामिया और मिस्र जैसे प्राचीन सभ्यताभिमानी देशोंमें होना चाहिये। तात्पर्य यह नहीं कि, भारतवर्षकी भूमि आदि सभ्यताकी धात्री कही जा सकती है, क्योंकि प्राचीन सभ्यताके साक्षि-स्वरूप, भिन्न भिन्न देशोंकी खोदाइयोंमें, अबतक जो कुछ पुरातात्त्विक चिह्न मिले हैं, उनके आधारपर किसी भी देश-विशेषको ऐसा गौरव नहीं मिल सकता। मेरा विचार तो यह है कि, कलकालिथिक युग तथा इसके क्रमानुगत कालोंकी सभ्यता कई देशोंके सम्मिलित प्रयत्नोंसे समुद्भूत हुई थी—सभ्यताके उन्नयनमें थोड़ा-बहुत सबोंका हाथ था।

"मोहञ्जोदारोके विशाल स्नानागार और एक-से-एक सुन्दर भवन—उनके भीतर अतलस्पर्शी कुएँ तथा जलनिर्गमकी बहुश्रमसिद्ध प्रणालियाँ—इस बातके ठोस प्रमाण हैं कि, उस युगके साधारण नागरिक भी ऐसी सुख-शान्ति, ऐसे भोग-विलासमें अपना जीवन व्यतीत करते थे, जिसकी उपमा तत्कालीन सभ्य संसारके अन्य किसी भी देशमें नहीं थी।

"दूसरे-दूसरे देशोंमें उस समय (ईसासे ३००० वर्ष पूर्व) की ऐसी कोई भी वस्तुएँ हमें नहीं उपलब्ध हैं, जो आकार-प्रकारमें यहाँके भेड़ों, कुत्तों तथा अन्य पशुओंके सूक्ष्माकार चिकने, चमकीले और रंगीन नमूनों या पत्थरके टुकड़ोंमें खोदकर बनायी गयी मुहरों—विशेषत छोटी-छोटी सींगोंवाले कुबड़े साँड़ों—से सर्वांशत मिलती-जुलती हों। हरप्पाकी केवल दो सर्वश्रेष्ठ एव सुन्दर मानव-प्रतिमाओंसे तो ग्रीसके प्रथमवर्गीय युगके ही नमूने टक्कर ले सकते हैं।"

प्रसिद्ध ऐतिहासिक ऐरेयन तथा अलेक्जेंडरके समकालीन ऐतिहासिकोंने लिखा है कि, अलेकजेंडर या

❀राजयोग कालेज, प्वाइंट लोमा, कैलीफोर्नियामें व्याख्यान देते समय प्रो० केनिथ मारिसने, भारतकी प्राचीन सभ्यताके सम्बन्धमें, कहा था —

"I doubt Alexander carried here any cultural impulse in the ordinary case, it is our Euro American conceit to imagine that the Greek was the highest thing in civilization in the world at that time We may take it that Indian civilization was far higher and better in all essentials"

—*The Hindustan Review*, *Vol. LV*, *No 318-19*, *pp 146*

+ कलकालिथिक युगमें पत्थरके हथियारों और बर्त्तनोंके साथ-साथ ताँबे या काँसेके भी हथियार और बर्तन व्यवहृत होते थे।

अलक्षेन्द्रके भारतवर्षपर आक्रमण होनेके कई सौ वर्ष पूर्व ही सिन्धुका यह भाग मरुस्थलमें परिणत हो चुका था। हजारों वर्ष पूर्वकी भौगर्भिक अस्तव्यस्तियाँ, बाह्य प्रकृति—ओले, वर्षा, तूफान आदि—तथा देशकी युगपरिवर्तन-कारिणी उत्कर्षापकर्ष-सम्बन्धिनी घटनाओंकी विनाश-लीलाएँ ही मोहञ्जोदारोके ध्वस्त होनेके वास्तविक कारण हैं। आजसे ५०० हजार वर्ष पूर्व भारतवर्षकी जलवायु दूसरी थी, वायुमण्डल ही दूसरा था। उस समयके बाद पृथ्वीतलमें कितना परिवर्तन हुआ है, इसका आप अन्दाज लगावें।* मोहेञ्जोदारोके भीतर धँस जानेका एक कारण सिन्धु-प्रदेशकी तत्कालीन नदियोंके भिन्न-भिन्न मार्गों का बनना भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभीके भयङ्कर जल-विप्लवोंके संघटन भी कारण हुए हैं।

अबतक मोहञ्जोदारोके विशाल भवनोंकी कुल सात तहोंका पता लग चुका है। इनमें पहली तह अति प्राचीन कालकी है। दूसरी, तीसरी और चौथी मध्यकालीन हैं तथा बाकी (ऊपरवाले) तीन स्तर इनके बादके बने जान पड़ते हैं। पहलेके बने हुए स्तर पृथिवीके बहुत भीतर, पानीवाली सतहमें, पाये गये हैं। साधारणतः प्रारम्भिक स्तरके भवनोंकी आयु १००० वर्ष कूती गया है। बाद के स्तरोंके लिये (६×५००) ३००० वर्ष रखा गया है। पुरातत्त्व-विशारदोंका कथन है कि, विश्व-प्रसिद्ध प्राचीन नगर ट्राय, एथेंस या रोमकी समानतामें तो मोहञ्जोदारोके आदि-निर्मित (प्रथम स्तर) भवनोंकी आयु १००० वर्ष ठहरायी जा सकती है। अन्य देशोंकी अपेक्षा, ध्वंस और पुनरुत्थानकी गति, यहाँ अधिक तेज थी, इसलिये पिछले प्रत्येक स्तरके लिये, दो-दो पीढ़ियोंका समय, (२५०×२=५००) अर्थात् ५०० वर्ष रखा जा सकता है। यह ४००० वर्ष तो मोहञ्जोदारोके केवल सातों स्तरोंकी आयु हुई, किन्तु इतनी ही अवधिके भीतर सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यताके उत्थान और पतनको सलोम नहीं किया जा सकता। कई वस्तुएँ तो इससे भी पूर्वकी ठहरायी जाने योग्य मिली हैं। यहाँकी खोदाईमें मिली हुई वे दोनों सीलें, जो एलम (*Elam*) और मेसोपोटामियाकी प्राचीनतम सभ्यताके साथ भारतीय आदि-सभ्यताका सम्बन्ध दृढ़ीभूत करती हैं, निश्चय ही ईसासे ३००० वर्षसे भी पूर्वकी—प्राक् सारगोनिक युगकी—हैं। प्रोफेसर लैंग्डन और गड्ड महाशयने माना है कि, सिन्धुकी सभ्यता ईसाके २८०० वर्ष पूर्वसे भी प्राचीन है। उत्कर्षताकी दृष्टिसे सीलोंके अतिरिक्त अन्य जो जो वस्तुएँ सिन्धु-उपत्यकाका सम्बन्ध आदि-सुमेरियन उत्कर्षसे स्थापित करती हैं, उनमें निम्नाङ्कित विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) अल्-उबैदसे घड़ों या बर्तनोंके जो टुकड़े मिले हैं, वे भारतीय सम्मिश्रित धातविक अशों (*Indian potstone* *) से बने हैं।

(२) खोदाईमें प्राप्त एक मूर्ति (*Plate* XCVIII) में जो त्रिपर्णी जैसा चिह्न है, ठीक वैसे ही चिह्न कुछ प्राक्कालीन सुमेरियन '*Bulls of Heaven*' (स्वर्गके वृषभ की) मूर्तियोंमें मिले हैं।

(३ दो सीलों (नं० ३५६ और ३५७) में खुदे हुए सींगोंवाले पशुओं जैसे चित्र।

(४) हरप्पामें जो *Toilet-set* (शृङ्गार-सम्बन्धी आवश्यक सामग्री) मिला है, ठीक उसी प्रकारका 'उर्' (*Ur*) में भी मिला है।

(५) कारनेलियनके चित्रपूर्ण मस्तकोंके नमूने

* देखिये—"गङ्गा"के 'वेदाङ्क'में प्रकाशित डा० अविनाशचन्द्र दासका "वेदकालीन सभ्यता" शीर्षक लेख, पृष्ठ २६१

* *Potstone—A massive variety of talc-schist, composed of a finely felted aggregate of talc, mica and chlorite* —Indian Historical Quaterly

'किश'की प्राक् सारगोनिक कालवाली कब्रोंमें मिले हुए मस्तकोंसे मिलते-जुलते-से हैं।

(६) किसी प्रकारके जलपात्रका जैसा विचित्र ढकन यहाँ मिला है, वैसा ही ढकन "जमदेत नस्र"की खोदाईमें भी मिला है।

(७) कचकडेकी टेढ़ी-मेढ़ी अँगूठियाँ और स्नान शृङ्गार-सम्बन्धी पत्थरकी सन्दूकें।

"उर" और "किश"में मिली चीजोंको माध्यमिक युगकी चीजें ठहराया गया है, इसलिये मोहञ्जोदारोकी सभ्यता ईसासे लगभग ३२५० से २७५० वर्ष पूर्वके बीचकी हुई।

मोहञ्जोदारोकी नगर-निर्माण-प्रणालीपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि, सिन्धु-उपत्यकाके निवासी इस कलामें बड़े निपुण थे। वहाँकी १३ से ३० फीटतक चौड़ी सड़कें, मोड़परकी इमारतोंके गोलाकार कोन तथा ३ फीट ८ इञ्चसे लेकर ७ फीटतक चौड़ी गलियाँ आदि उपर्युक्त कथनके समर्थक हैं। इमारतोंके भीतर नालियाँ कम मिलती हैं। कारण, रसोईघर तथा स्नानगार सड़क या गलीके समीपवाली दीवारोंके ही पास बने हुए हैं। आयपर अतिरिक्त कर बैठनेके डरसे नगरवासी अपने मकानोंमें बाहरी सजावट या तड़क-भड़क नहीं रखते थे। सड़कोंकी अगल-बगल, सार्वजनिक हितके लिये, जो बड़े बड़े नाले मिलते हैं, उनसे तत्कालीन वर्षाकी अधिकता प्रमाणित होती है। मिट्टीकी बनी नालियाँ (नाबदान) भी मिली हैं। इमारतोंके भीतर केवल दो ही शौचगृह पाये गये हैं। जान पड़ता है, तबके लोग, आजकलके नागरिकोंकी भाँति, घरमें पाखाना जाना अच्छा नहीं समझते थे। यहाँ जिस प्रकारके तोरण (*Arch*) हैं, वे ईजिप्ट और बेबिलोनके प्राथमिक कालके तोरणों जैसे नहीं हैं। सभी ईंटें पक्की ही मिली हैं, कच्ची ईंटें नहीके बराबर मिली हैं। घरोंमें खिड़कियोंकी संख्या कम है, किन्तु स्नानागार प्रायः सबोंमें देखा गया है।

भवन-निर्माण-कलाका सबसे सुन्दर नमूना मिला है एक विशाल स्नानागार। भवनका क्षेत्रफल १८० × १०८ फीट है। इसके भीतर ३९ फीट लम्बा और २३ फीट चौड़ा तथा लगभग ८ फीट गहरा एक जल-कुण्ड बना है, जिसके ऊपरसे, चारों ओर, बरामदे बने हुए हैं। गन्दे जलको जमीनके भीतरसे ही बाहर निकालनेके लिये एक बड़ी नाली बनी है।

इस विशाल स्नानागारसे दक्षिण-पश्चिमकी ओर, गर्म हवाके सेवनके लिये, विचित्र ढंगके मकान, कोठरियाँ और बरामदे बने हैं। यहाँ भस्म और लकड़ीके कोयले पाये गये हैं। जान पड़ता है, उस समयके लोगोंको गर्मघर (*Hypocaust**) का ज्ञान था।

भवन-निर्माण-सम्बन्धी विचित्र और मनोरञ्जक तीन और बातें हैं। पहली है एक स्तम्भाधारभूत (सभा)-भवन। बीस बीस खम्भे चार कतारोंमें लगे हुए हैं। ऊपरवाली छत इनके ही आधारपर टिकी हुई है। दूसरी हैं कुछ ऐसे मठ या मन्दिर, जिनके कुछ भी स्पष्ट सांकेतिक चिह्न नहीं मिले हैं। जान पड़ता है, यह सर्वसाधारणके लिये साधारण उपासना-मन्दिर रहे होंगे। तीसरी है बौद्ध मठ सहित एक बौद्ध स्तूप। समूचे स्तूपका तो अभी पता नहीं चला है, किन्तु इसका जो भाव दीख रहा है, उससे यह लगभग ५० फीट चौड़ा (उत्तर-दक्षिण) और ७४ फीट लम्बा है। उसकी ईंटें ११॥ इञ्च लम्बी, ५॥ इञ्च चौड़ी और २॥ इञ्च मोटी हैं। ४४ फीट लम्बा और ६ फीट चौड़ा एक सभा-भवन भी, इसी मठके भीतर, मिला है। ११ वें कमरेके नीचे एक प्रागैतिहासिक कालका

* *Hypocaust*—प्राचीन कालके लोग, भवनके बीचोबीच एक ऐसा घर बनाते थे, जिसमें बराबर आग जलती रहती थी और उसकी गर्मी ऊपर नीचे—तमाम कमरोंमें बँट जाती थी

मिट्टीका बर्तन मिला है। वहीं एक दूसरे मिट्टीके बर्तनमें १६८४ सिक्के सञ्चित मिले हैं, जो कुषाण या कुशनवंश के राजा वासुदेव प्रथमके समयके कुछ ही बादके हैं। इन सिक्कोंके ही आधारपर पुरातत्त्वविदोंने अन्दाज़ लगाया है कि, यह मठ सम्भवतः सम्राट् कनिष्क या हुविष्क द्वारा ही संस्थापित हुआ था।

मोहञ्जोदारोकी खोदाईमें मिली हुई चीजोंमें सबसे महत्त्वपूर्ण सीलें और मुहरें हैं। मई, १९२७ ई०तक कुल ५२८ सीलें मिली थीं। आकृति-भेदकी दृष्टिसे सीलें १० प्रकारकी हैं —(१) वर्तुलाकार (*cylendrical*), (२) वर्गाकार—जिनकी पीठपर छिद्रित गण्ड (*boss*) हैं, (३) वर्गाकार—जो दोनो तरफ खुदी हुई हैं, (४) समचतुरस्र, (५) बटनदार (*with linear designs*), (६) समचतुरस्र—छिद्रित-कूर्म-पृष्ठाकार, (७)घनाकार, (८) गोलाकार-छिद्रित-गण्ड-सहित (९) समचतुरस्र—छिद्रित-गण्ड-सहित, (१०) गोलाकार—जिनको दोनों ओर खुदा हुआ है।

न० ३ और ४ की सीलोंमें अधिकांश "स्वस्तिका"के निशान बने हैं। इस तरहकी निशानवाली सीलें पुरानी दुनियाके क्रीट (*Crete*), कैपेडोसिया (*Cappadocia*), ट्राय (*Troy*), सूसा (*Susa*) और मुस्यन (*Musyan*) नामक स्थानोंमें भी मिली हैं। विभिन्न धातुओंके अलावा कचकड़े और हाथी-दाँतकी भी कुछ सीलें हैं। सीलोंमें किसी-किसीपर सुमेरियन वीर एङ्कुडु (*Enkudu*)के चित्र हैं। अन्यान्योंमें, जिनपर किसी पशु-विशेषके चित्र और कुछ मन्त्र खुदे हुए हैं, शुभ-फलदायक ताबीज या मोहरकी बिजायठ समझी जाती है। कई सीलोंपर एक सींगवाले किसी विचित्र पशुका चित्र है। इन्हें तो कोई हरिण और कोई बैल समझते हैं, किन्तु टिसियस (*Ctesias*) और अरस्तूने इन्हें भारतीय बतलाते हुए, चित्रको भारतवर्षीय गदहा माना है। कई सीलोंपर (ब्राह्मणीय) वृषभों, भैंसों, भारतीय गैंडों, बाघों, हाथियों, मगरों, हरिणों और पौराणिक स्वरूप प्राणियोंके चित्र हैं। कइयोंपर बकरों और बिच्छुओंके भी चित्र मिले हैं। कुछ ऐसी भी सीलें हैं, जिनपर धनुर्बाण-धारी मनुष्योंके चित्र हैं। किसीमें जुलूस भी दिखलाया गया है। इनके अलावा किसी किसी सीलपर, कई ऐसे भी चित्र हैं, जो आजतक पहचाने ही नहीं गये हैं।

मुहरें चार तरहकी मिली हैं— (क) वर्गाकार, (ख) त्रिभुजाकार, (ग) गोलाकार और (घ) मिट्टीके बर्तनोंपरकी छाप।

घड़े या और तरहके केवल पाँच ही ऐसे बर्तन मिले हैं, जिनपर सीलोंकी मुहरें हैं। मिट्टीकी रंगीन और पालिशदार टिकियोंपर भी ३१ मुहरें मिली हैं। इन मुहरोंमेंसे, किसी-किसीमें, घुटनोंके बल बैठे हुए मनुष्यकी तस्वीर मालूम होती है, जो हाथमें पत्तीदार कोई चीज लिये हुए है। किसीमें ठूँठे पेड़के सामने खड़ा हुआ बकरा है और पेड़के नीचे एक मनुष्य खड़ा है। कइयोंने इसका अर्थ लगाया है कि, वृक्ष-देवको प्रसन्न करनेके लिये पुजारी बकरेकी बलि दे रहा है। किसी-किसी मुहरमें दो घुटनोंके बल बैठे हुए उपासकोंके बीच एक योगीका स्वरूप है। "ख"—श्रेणीकी मुहरें विचित्र और आकर्षक हैं। इनमें चार व्यक्ति, हाथोंमें झण्डे लिये, जाते हुए दीखते हैं।

ताँबेकी जो छोटी-छोटी पट्टियाँ (टिकियाँ) मिली हैं, वे दो तरहकी हैं। एक तो वे हैं, जिनकी एक ओर किसी पशु या मनुष्यका स्वरूप है और दूसरी ओर कुछ अक्षर खुदे हुए हैं। दूसरी वे हैं, जिनमें दोनों ओर अक्षर खुदे हुए हैं।

पशुओंमें अधिकांश हाथी, हरिण, खरहे, गैंडे, भैंसे, मनुष्य, बकरे, साँड़, बाघ और बन्दर हैं। किसी किसीमें दो सिरवाले विचित्र जानवर भी हैं।

यह पट्टियाँ इतनी पतली हैं कि, इनसे मुहर देनेका

काम लिया जाना बिलकुल असम्भव है सम्भव है, बालोंमें (बिजायठ आदि की तरह यह पहनी जाती हों और इनमें कुछ मन्त्र-शक्ति हो।

सिन्धु-लिपिकी चिह्न-सूचीमें ३९६ सांकेतिक चिह्न हैं। इनमें कई तो ऐसे हैं, जो पारस्परिक सादृश्य रखते हैं। लिपिकी आकृतिके विषयमें यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि, यह चित्र जैसी दीख पड़ती है। अधिकांशतः लिपियाँ दाईं ओरसे बाईं ओर लिखी गयी हैं। कहीं कहीं दाईं ओरसे बाईं ओर और बाईं ओरसे दाईं ओर है। लोगोंकी धारणा है कि, सीलों आदिकी लिपियाँ साल आदिमें चित्रित स्वरूपोंकी सोनिकाएँ हैं। इतना अन्दाज रहते हुए भी कई शब्दोंकी लिपियाँ अभीतक निरूपित नहीं की जा सकी हैं। संख्यावाचक चिह्नोंका पता अभीतक नहीं लगा है। कोई सीधी लकीरोंके समूहको संख्यात्मक चिह्न समझते हैं, और, किसी-किसीका कहना है कि, वे बहुवचनात्मक हैं। मि० गडके कथनानुसार सिन्धु-सुमेरियन-लिपियोंमें तो कुछ कुछ सादृश्य है भी, किन्तु मिनोअन (*Minoan*) और सिन्धु-लिपिमें बहुत कम सादृश्य है। पश्चिमोत्तर-प्रदेशमें मिले हुए कुछ सिक्कोंमें जो लिपि है, उसमें भी सिन्धु लिपि कुछ कुछ मिलती-जुलती है। उक्त महाशयका ही कथन है कि, आदि-सिन्धु-लिपि प्राचीन चित्रविद्यासे सम्बन्ध रखती है।

इस आदि-सिन्धु-लिपिके विषयमें, प्राचीन संकेत निरूपकोंने, तीन बातें कही हैं—

(क) लेख स्वरद्वारोंमें है।

(ख) सीलोंके लेखमें अधिकांशतः नाम ही हैं।

(ग) नाम प्रायः भारतीय आर्य-भाषाके हैं।

तीन चिह्नोंके परस्पर मिलावका अर्थ "पुत्र" लगाया है, और, इसी धारणाके बलपर, अन्य प्रकारके भी तीन चिह्नोंके परस्पर मिलावके भाव इसी तरहके लिये गये हैं।

मि० स्मिथका कथन है कि, लेखोंमें केवल नाम ही नहीं—उनमें भिन्न-भिन्न भावात्मक चिह्न-विशेष भी हैं।

प्रो एस० लैंग्डनने भिन्न-भिन्न सांकेतिक चिह्नों—इस आदि-लिपिके अक्षरों—की जो सूची तैयार की है, उसमें केवल २८८ ही चिह्न दिये हैं। उन्होंने स्पष्ट रूपसे कह दिया है कि, ब्राह्मीकी उत्पत्ति सिन्धुकी इसी चित्र-रूपी आदि-लिपिसे हुई है। उन्होंने, अपनी इस सम्बन्धकी पुस्तककी भूमिकामें, ब्राह्मी और आदि-सिन्धु-लिपिकी चर्चा करते हुए, दोनोंमें पारस्परिक सादृश्य, सोदाहरण, दिखलाया है।*

यह पुस्तक लिखनेके एक वर्ष बाद प्रोफेसर साइवको जमदेत (किशसे १७ मील उत्तर-पूर्वकी ओर)से प्राचीन सुमेरियन लिपिके कोई दो सौ नमूने मिले थे। इन नमूनों (*Tablets*)के साथ उन्हें कुछ चमकीले (पालिशदार)

* प्रो० लैंग्डनने उसी पुस्तकमें, एक स्थानपर, लिखा है —

"If this script was preserved and finally passed into the alphabet of the Buddhist period, it proves that the Aryans must have had intimate contact with these founders of culture in India. In any way we may look at the problem, the ***Aryans*** *in India are far more ancient than history admits. Their migration across Anatolia, where traces of them are found in the inscriptions of the Hittite capital, as early as the seventeenth century, is a hypothesis entirely contradictory to the new situation revealed by these discoveries in the Indus Valley. Far more likely is it that the Aryans in India are the oldest representatives of the Indo Germanic race."*

मिट्टीके बर्तन भी मिले थे। इन बर्तनोंका मिलान, उन्होंने, सिन्धु-उपत्यकामें मिले आदि-सिन्धु-लिपिके साथ मिले हुए बर्तनोंके साथ किया, तो दोनोंमें उन्हें बहुत सादृश्य जान पड़ा। इस कारण उनकी पूर्वकी धारणा और भी दृढ़ीभूत हो गयी। इन दोनों लिपियोंमें कहीं-कहीं कुछ विभिन्नताकी जो झलक मिलती है, वह लिखनेकी रीतियोंमें ही।

मोहञ्जोदारोकी खोदाईमें धर्म-सम्बन्धी संकेतात्मक जो वस्तुएँ मिली हैं, उनका स्पष्ट निरूपण अबतक नहीं हुआ है। यह विषय अभीतक विवादास्पद है। कोई भी ऐसी मूर्त्ति नहीं मिलती, जिसे स्पष्टतः कोई धार्मिक रूप दिया जा सके। कुछ मिला भी है, तो उसके सम्बन्धमें इसीका झगड़ा चल रहा है कि, वह भारतवर्षकी किस प्राचीन जातिकी धार्मिक सामग्री है—उसके उपासक किस जातिके पुरुष थे। मानियर विलियमका कथन है कि, द्राविड़जाति या प्राक् (पूर्वकालीन) आर्यजाति शुद्ध हिन्दू-धर्ममें सम्मिलित नहीं की जा सकती। वह हिन्दू-धर्मके निकृष्टतम अङ्गोंकी पोषिका थी। हापकिन्सका भी यही मत है। किन्तु ओपर्ट (*Oppert*) महोदयका कथन है कि, अनार्य (सिन्धु-उपत्यकाके निवासी) स्वर्गके सर्वोपरि देवताके अस्तित्वमें विश्वास करते थे और पृथिवीमाताको उनकी सहकारिणी मानते थे। उनकी धारणा थी कि, पृथिवीमाता निखिल विश्वकी अधिष्ठात्री है। उन लोगोंमें यह भी धारणा बँधी हुई थी कि, मृत्युके बाद आत्माका पुनर्जन्म होता है।

कई टेराकोटा (*Terracotta*) मूर्त्तियोंमें एक सारसना स्त्रीका स्वरूप अङ्कित है, जो शिरोवस्त्र (*Head-dress*) धारण किये हुए है। किसी-किसीमें कण्ठहार भी दिखलाया गया है। ऐसी भी कुछ स्त्री-मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनके कानोंमें प्याला जैसी कोई वस्तु लटकती हुई मालूम होती है। इस प्रकारकी सभी मूर्त्तियाँ आदिमाता या प्रकृति-देवीका समझी जाती हैं। इस प्रकारकी छोटी-छोटी प्रतिमाएँ पश्चिमीय एशियाके फारस (*Persia*) और एजियन (*Ægean*)के बीच, कई प्रदेशोंमें, पायी गयी हैं। आदिमाता (*Mother Goddess*)की पूजा सर्वप्रथम अनातोलिया (*Anatolia*)—सम्भवत फ्रीजिया (*Phrygia*) में आरम्भ हुई थी। सिन्धु-उपत्यकामें मिली इस प्रकारकी छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ सिन्धु-प्रदेशसे नील-नदीतकके सभी प्रदेशोंमें, धर्म-प्रचार या घरेलू पूजा-पाठके लिये, रखी जाती थीं। ऐसी मूर्त्तियाँ, कलकालिथिक युगमें, सार्वजनिक तथा धार्मिक सूत्रोंमें बँधकर, एकीभूत हो गयी थीं। इन्हीं आदिमाताने ही, आगे चलकर, शक्ति—फिर जगदम्बा, जगज्जननी आदिका—रूप अथवा नाम धारण कर लिया। जो हो, अनार्योंमें (सिन्धु-उपत्यकाके निवासियोंमें) यही आदि और सर्वश्रेष्ठ देवी मानी जाती थीं।

एक सीलकी त्रिमुखी मूर्त्तिको लोगोंने शिवकी मूर्त्ति बतलाया है, जो योग-साधनकी दशामें बैठे हुए हैं। आबू पर्वतके समीपस्थ "देवाङ्गना" नामक स्थानके एक टूटे-फूटे मन्दिरसे भी ऐसे ही त्रिमुख भगवान् शंकरकी मूर्त्ति मिली है। ❀

योगाभ्यास करनेकी दशामें और भी कुछ मूर्त्तियाँ तथा सीलें मिली हैं। किसी-किसीमें, शिवके हाथोंमें, सींगें भी देखी गयी हैं। जो हो, ऐसी मूर्त्तियोंसे साफ प्रकट होता है कि, प्राक्कालीन जनसाधारणमें शिवकी भक्ति और योग-साधनकी भावना विशेष थी।

भारतवर्षमें शक्ति-पूजा सबसे प्राचीन है। शाक्त धर्मका आन्तरिक भाव शाश्वत स्त्री आदिबीज (मूल तत्त्व)से पुरुष-आदिबीजके साथ एकीकरण करना है। आज शाक्त धर्मके भीतर, पश्चात्कालीन हिन्दूधर्म और आर्य-संस्कृतिके प्रभावानुसार, जो भी नियम आ गये हों, किन्तु इस धर्मके

❀ *Elements of Hindu Iconography* —Gopi Nath Rao.

आदि-उन्नायक अनार्य ही थे।

हरप्पामें भी दो लिङ्गाकार पत्थरकी वस्तुएँ मिली हैं। जान पड़ता है कि, लिङ्ग-पूजाके भी जन्मदाता प्राक्कालीन आर्य ही थे। इन दो लिङ्ग-मूर्त्तियोंसे यह धारणा समूल नष्ट हो जाती है कि, यहाँ शाक्त धर्मका उदय ग्रीक या अन्य पाश्चात्य आक्रमणोंके बाद हुआ था।

पहले कहा जा चुका है कि, कई सीलोंमें वृक्ष-देवताको बकरा अथवा मनुष्यकी बलि चढ़ानेके चित्र मिलते हैं। पेड़ोंकी पत्तियोंसे पीपल-वृक्षके ही होनेका बोध होता है। पीपल-वृक्ष, आज भी, हिन्दू-धर्ममें अपना महत्त्व रखता है। बुद्ध भगवान्‌को एक पीपल-वृक्षकी ही छायामें महाज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। बेबिलोनके प्राचीन ध्वसावशेषोंमें भी ऐसी ही कुछ चीजें मिली थीं। प्राचीन कालमें वहाँ वाले भी इसे "*Sacred tree of life*" कहकर इसकी पूजा करते थे। हरप्पामें भी ऐसी कई वस्तुएँ मिली हैं।

पशु-पूजाके सम्बन्धकी भी सीलें या मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनकी चर्चा पहले ही हो चुकी है। ताँबेपर पशुओंके जो चित्र खुदे हुए हैं, वे या तो करामाती तावीजें (*Talismans*) या वाहोंके आभूषण ही होंगे।

सिन्धु-उपत्यकाके जनसाधारणकी धर्म-सम्बन्धी जितनी वस्तुएं मिली हैं, उनका सर्वांशत कोई एक रूप नहीं दिया जा सकता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि, लोगोंमें कोई कोई मूर्त्ति-पूजाके पक्षपाती थे और कोई-कोई इसके विरोधी। हाँ, योग-साधन सामान्यतः उपासनाका अङ्ग समझा जाता था; और, यह कहना अनुचित न होगा कि, वैदिक साहित्यमें उल्लिखित धार्मिक मनोभाव प्राक् आर्यों (*Pre-Aryans*) से ही उधार लिये गये थे। हाँ, उनका संस्कृत रूप वैदिक युग वालोंने ही दिया था। कुछ लोगोंकी यह धारणा निरी भ्रमात्मक है कि, प्राक्-आर्यजातिकी धार्मिक रीतियाँ जंगल या उपत्यकाओंमें रहनेवाली आजकलकी जङ्गली जातियोंमें पूर्ण रूपसे पायी जाती हैं।

मृतकोंकी दाहकर्म-सम्बन्धी बातें भी कुछ ऐसी ही गड़बड़ हैं। तो भी, जितनी लाशें, हरप्पा और मोहञ्जोदारोसे, खोद निकाली गयी हैं, उनकी जाँच-पड़ताल करनेपर पता चला है कि, कुल तीन तरहसे मृतक-संस्कार किया जाता था। सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यता जब अपनी चरम सीमाको पहुँची हुई थी, तब साधारणतः लाशें जला डाली जाती थीं। लाशोंको जमीनमें गाड़ी जानेवाली बात कुछ बादकी समझी गयी है, और, यह तरीका उन्हीं लोगोंमें था, जो लोग बाहर (पश्चिमकी ओर)से आकर यहाँ बस गये थे। मोहञ्जोदारोमें जो अस्थि-पञ्जर मिले हैं, वे कलकालिथिक युगके हैं; और, वे नगरवासियोंके ही हो सकते हैं। ये अस्थि-पञ्जर चार प्रकारके हैं—(१) प्रोटो-आस्ट्रेलायड् (*Proto-Australoid*), (२) मेडिटरेनियन, (३) अल्पाइन मूलवंशकी मंगोलियन शाखावाले और (४) अल्पाइन (*Alpine*)। उन दिनों भारतवर्षके पड़ोसी प्रदेशोंसे प्रोटो-आस्ट्रेलायड् लोग तथा एशियाके दक्षिणी समुद्र-तटवर्त्ती प्रदेशोंसे मेडिटरेनियन और पूर्वी तथा पश्चिमीय एशियासे अल्पाइन एवम् मंगोली अल्पाइन लोग बराबर आया-जाया करते थे। किन्तु इस कथनकी सन्तोषजनक पुष्टि अभी नहीं हुई है। कारण, मनुष्योंकी खोपड़ियाँ ऐसी बहुत कम मिली हैं, जिनके माप ले-लेकर अपेक्षाकृत विभिन्नता ढूँढ़ निकाली जा सके। यह भी निश्चित नहीं हो सका है कि, इन चारो प्रकारके अस्थि-पञ्जरोंमें किस प्रकारके अस्थि-पञ्जरोंको सिन्धु-उपत्यकाकी तत्कालीन निजी सभ्यताका परिचायक माना जाय। किसी-किसीका मत है कि, उस सभ्यताके मूल जन्मदाता वैदिक कालके ही आर्य हैं; और, इसी लिये सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यता भारतवर्षमें आर्योंके आधिपत्यकी प्राचीनतापर प्रकाश डालती है। औरोंका कथन है कि, सिन्धुदेशवासी

सुमेरियन या ऐसी ही किसी दूसरी जातिके सम्बन्धी थे, और, इसी कारण सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यता-सूचक वस्तुओंमें सुमेर लोगोंकी सभ्यताकी छाप मिलती है। किन्तु, चूँकि, सुमेरों और द्राविड़ोंके आजसे ५००० वर्ष पूर्वकी शारीरिक गठनकी समस्या अभीतक बखूबी सुलझायी नहीं जा सकी है, इसलिये कई विद्वान् इस कथनको प्रामाणिक नहीं मानते।

सिन्धु-सभ्यताकी वस्तुनिर्माण-कलाके परिचय-स्वरूप यहाँ कुछ विशिष्ट वस्तुओंकी चर्चा आवश्यक-सी जान पड़ती है। उन दिनोंके भावुक और अनुभवी कलाकारोंकी जितनी चीजें प्राप्त हुई हैं, उनमें मोहञ्जोदारोकी नर्त्तकीवाली मूर्त्ति और हरप्पाकी दो ऐसी ही मूर्त्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। पहली मूर्त्तिमें नर्त्तकीके, स्वरके तालपर, नाचने और हाथोंसे भाव अभिव्यक्त करनेका ढंग झलकता है। हरप्पा वाली मूर्त्ति तो, कलाकी दृष्टिसे, इतनी बे-जोड़ है कि, उसके मुकाबलेकी चीज, इटली-हेलेनिस्टिक या अन्य किसी स्कूलकी कलाके इतिहासमें मिलती ही नहीं! यद्यपि यह बात बिलकुल सच्ची एवं प्रामाणिक है कि, यह मूर्त्तियाँ भारतीय कलाकारोंके मँजे हुए हाथोंकी चीज हैं, तो भी कइयोंको इन मूर्त्तियोंके ई० पू० चौथी सदीकी ग्रीस-देशीय मूर्त्तियाँ होनेका धोखा होता है! हरप्पाकी दो मूर्त्तियोंमेंसे एकमें ताण्डव-नृत्य करते हुए नटराज (शिव) की मूर्त्ति है, जिसके तीन सिर होनेका सन्देह होता है।

आभूषण पहननेकी चाल स्त्री और पुरुष—दोनोंमें थी। खोदाईमें कई प्रकारके आभूषण मिले हैं। इनमें मेखला (*Girdles*), कर्णफूल तथा नूपुर विशेषतया स्त्रियाँ ही धारण करती थीं। शेष आभूषण—हार, केयूर, अँगूठी आदि—दोनोंके लिये थे। सोने, चाँदी या हाथी-दाँत आदिके बने आभूषण उच्च कुलके लोगोंमें और सीप, कचकड़े, ताँबे तथा टेराकोटाके बने निम्न श्रेणीके लोगोंमें व्यवहृत होते थे। नाचनेवाली या शृङ्गार-प्रिय स्त्रियाँ तो अपनी बाहोंमें इतने गहने लाद लेती थीं कि, समूची बाँह ही ढक जाती थी!

घरेलू काम-काजकी चीजें पत्थरकी ही होती थीं। ताँबे और काँसेके बर्तन बहुत कम थे फ़यांस (*Faience*) के छोटे-छोटे नकाशदार बर्तन बनते थे। बर्तनोंमें कटोरे, प्याले, तश्तरियाँ, कलसे, कड़ाहियाँ, तसले, रकाबियाँ, हाँड़ियाँ और चुल्हे आदि अधिक मिले हैं। हड्डियों, हाथी-दाँत और शंख या घोंघों (*Sells*) से सूइयाँ और कंघे आदि तथा ताँबे और काँसेकी टाँगियाँ, लकड़ी चीरनेकी आरियाँ, फावड़े, हँसिये, छूरे और बर्छियाँ बनती थीं।

तरह-तरहके खिलौनोंमें झुनझुने, सीटियाँ (*Whistles*), मिट्टीकी स्त्री, पुरुष, पशु, चिड़ियाँ, गाड़ी आदि बहुत मिले हैं। सीटियोंकी शकल-सूरत चिड़ियों जैसी है। इन खिलौनोंमें गाड़ियोंके मिट्टीके पहियोंको देखकर जान पड़ता है कि, सिन्धु-उपत्यकाके रहनेवालोंमें, सवारीके लिये, रथ काममें लाया जाता था। उरकी खोदाईमें पत्थरके पटियोंपर जो खुदा हुआ रथ मिला है, वह उसी समय (ईसासे ३२०० वर्ष पूर्व)का मालूम होता है। तात्पर्य यह यह है कि, आजसे ५१३२ वर्ष पूर्व जिस प्रकार "उर"में सवारीके लिये रथ प्रयुक्त होता था, उसी तरह सिन्धु उपत्यकामें इसका प्रचलन था। पासेके खेलकी जो गोटियाँ मिली हैं, वे बड़ी सुन्दर और आधुनिक पाश्चात्य जगत्की गोटियोंसे बिलकुल भिन्न हैं। गोटियाँ संगमरमरकी हैं।

तौलनेके जितने बटखरे मिले हैं, उनमेंसे कुछ काले स्लेट-पत्थरके बने हैं, और, वे एलम और मेसोपोटामियामें मिले बेलन जैसे बटखरोंकी तरह हैं। जो बटखरे बहुत वजनी हैं, उनके सिरोंपर एक ऐसा छेद किया हुआ है कि, उनमें रस्सी घुमाकर बाँधी जा सके। हेम्मी (*Hemmy*) साहबने कहा है कि, ये बटखरे एलम और मेसोपोटामियाके

बटखरोंसे कहीं अधिक पक्के हैं। इनका क्रम इस प्रकार है—१, २, ४, ८, १६, ३२, ६४, १६०, २००, ३२०, ६४०, १६००।

युद्धके हथियारोंमें फरसा, बर्छा, भाला, धनुर्बाण, गदा, ढेलवाँस आदि मिले हैं। बाहरी चोटोंसे आत्म-रक्षाके लिये ढाल, मुकुट (*Helmet*) या कवच (जिरहबैख्तर) बिलकुल नहीं मिले हैं। आश्चर्यका विषय तो यह है कि, किसी भी तरहकी तलवार—जो ताम्रयुग (*Copper Age*)में यमुना गङ्गाके बीचके निवासियोंका हथियार थी—नहीं मिली है।

पत्थरका फलवाला बाण तो एक भी नहीं मिला है। जो कुछ मिला है, वह ताँबेका बना है और दूसरे हथियारोंकी अपेक्षा बहुत कम पाया गया है। जान पड़ता है, धनुर्बाण विशेष प्रिय अस्त्र नहीं समझा जाता था। विचित्र प्रकारके कुछ यन्त्र भी मिले हैं। पुरातत्त्वविदोंका अनुमान है कि, ऐसी मशीनें विपक्षि दलका सेनामें बाण और पत्थरके बड़-बड़े गोले फेंकनेके काममें लायी जाती थीं।

मोहञ्जोदारोके घरोंमें चर्खेके कई प्रकारके चक्र मिले हैं, जिनसे सूत कातने और कपड़े बुननेकी बात प्रमाणित होती है। चर्खेकी कितनी ही बेशकीमती चीजें और पुर्जे भी मिले हैं, जिनसे अनुमान किया जाता है कि, धनी और गरीब- दोनों ही, सूत कातते और कपड़े बुनते थे। एक चाँदीकी कलसीमें कुछ रूई भी मिली थी, जिसकी जाँच *Indian Central Cotton Committee* की शिल्पकला-सम्बन्धिनी प्रयोगशाला (*Technological Laboratory*) में हुई थी। जाँचसे पता चला है कि, वह आजकलकीसी रूईसे कुछ कम चिकनी और मुलायम थी। जो हो, ऊनी और सूती कपड़े बनते थे, इसमें अब किसी को भी सन्देह नहीं रह गया है।

गेहूँ और जौके जो दाने खोदाईमें मिले हैं, उनकी जाँच करनेपर पता चला है कि, वैसा गेहूँ आज भी पंजाब में पैदा होता है, किन्तु जौ यहाँ नहीं मिलता। ईजिप्टकी उस समयकी कब्रोंमें—जिस समय खान्दानी कब्रगाहोंकी चाल नहीं चली थी—इस तरहके दाने मिले हैं। लेकिन अभी यह तय नहीं हो पाया है कि, पहले-पहल, फावड़ेकी जगह, सिन्धु-उपत्यकाकी भूमिमें हल चला था या सुदूर ईजिप्टकी भूमिमें, तो भी इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं रह गयी है कि, मोहञ्जोदारो और हरप्पाके निवासी गेहूँ और जौकी खेती करते थे। मांसाहारी लोग (गोमांस के अतिरिक्त) सूअर, भेड़, कछुवे और पड़केका मांस खाते थे। समुद्र और नदीकी मछलियाँ भी कोई-कोई खाते थे। घोंघा खानेके भी काफी प्रमाण मिले हैं।

यहाँतक सिन्धु उपत्यकाकी सभ्यता और मोहञ्जोदारोकी बातें हुईं। अब यह देखना है कि, वैदिक कालके आर्य ही इस सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यताके जन्मदाता थे या यह सभ्यता उनकी सभ्यतासे भिन्न थी।

सर जान मार्शल द्वारा सम्पादित जिस पुस्तककी पहले चर्चा की जा चुकी है, उसके आधारपर इन दोनों सभ्यताओंके सम्बन्धमें जो तुलनात्मक विचार स्थिर किये जा सकते हैं, उनका संक्षिप्त रूप नीचे दिया जाता है—

(क) "वेदोंमें वर्णित भारतीय आर्योंका समाज प्रायः ग्रामीणों तथा कृषकोंका है। उन्हें नागरिक जीवनका ज्ञान नहीं था। उनके घर केवल मिट्टी और बाँससे ही बनते थे। किन्तु मोहञ्जोदारो और हरप्पामें ऐसे-ऐसे सुन्दर एवं विशाल भवन मिले हैं, जिनमें नागरिक जीवनकी सभी आवश्यक बातें—स्नानागार, शौचगृह, रसोईघर तथा भण्डारगृहकी अलग अलग कोठरियाँ—थीं। पक्की और सुन्दर ईंटोंके मकान बनते थे। जिन दुर्गोंका वर्णन वेदोंमें मिलता है, वे मिट्टीके ही बने होते थे; केवल पत्थरकी मामूली चहारदीवारियोंसे घिरे रहते थे। आजसे ५००० वर्ष पूर्व—जब आर्योंका नाम भी कोई नहीं जानता था—पञ्जाब और सिन्धु-दरीकी सभ्यता इतनी

उन्नत थी कि, कई अशोंमें वह ईजिप्ट और मेसोपोटा-मियाकी तत्कालीन सभ्यतासे भी बढ़ी-चढ़ी थी।

(ख) "वैदिक आर्योंमें सोने, ताँबे और पीतलकी धातुएँ काममें लायी जाती थीं। हाँ, यजुर्वेद और अथर्व-वेदके समय चाँदी और लोहेकी भी चीज बनने लगी थीं। सिन्धु-निवासियोंमें, सोनेकी अपेक्षा, चाँदी अधिक चलो हुई थी, किन्तु लोहेकी कोई भी वस्तु नहीं मिली है। शायद इस धातुका उन्हें ज्ञान ही नहीं था। उनके बर्तन अधिकतर पत्थरके ही मिले है। हाँ, ताँबे और काँसेका ज्ञान उन्हें अवश्य था।

(ग) "वैदिक युगके आर्यों के मुख्य अस्त्र थे धनु-र्बाण, बर्छा, छोटे-छोटे कृपाण और कुल्हाड़ियाँ। आत्म-रक्षाके लिये वे एक तरहके मुकुट (*Helmet*) और कवच पहनते थे। सिन्धु-निवासियोंमें करीब-करीब ऐसे ही हथियार थे सही, लेकिन अपने बचावके लिये उनके पास न कोई मुकुट ही था और न किसी तरहका कवच ही। इससे अनुमान किया जा सकता है कि, युद्धमें उन्हें मुकुटधारी और कवचधारी शत्रुओंके हाथ कितनी चोटें सहनी पड़ती होंगी।

(घ) "वैदिक आर्य मांस खाते थे सही, लेकिन वेदोंमें मछली खाने या मारनेका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। सिन्धु-निवासी कछुवे आदि अन्य जलजीवों-की तरह मछलियाँ भी खाया करते थे।

(च) "वेदोंमें, अन्य पशुओंकी अपेक्षा (गौको छोड़कर), घोड़ेका वर्णन अधिक मिलता है, किन्तु मोहञ्जो-दारो और हरप्पाके निवासी घोड़ेसे बिलकुल अपरिचित जान पड़ते हैं। कहीं भी घोड़ेकी मूर्ति या चित्र नहीं मिला है। सीलोंमें दर्जनों पशुओं—चित्र विचित्र जीवों—का स्वरूप मिला है; किन्तु घोड़ेका स्वरूप कहीं भी नहीं है।

(छ) "वेदोंमें गौकी प्रधानता है—अन्य पशुओंकी अपेक्षा इसे कहीं अधिक पूज्य समझा गया है; किन्तु सिन्धु-निवासियोंमें इसकी जगह वृषभ (साँड़)ने ले ली है। वेदोंमें बाघका उल्लेख नहीं मिलता—हाथीकी भी चर्चा नहींके ही बराबर है; लेकिन इन दोनों पशुओंसे सिन्धु-निवासी परिचित थे।

(ज) "सिन्धु-निवासी मूर्त्तिनिर्माण-विद्यामें बड़े निपुण एवं कुशल कलाकार थे—वे चित्रों अथवा मूर्त्तियोंके द्वारा अपने आन्तरिक मनोभाव प्रकट करनेमें पूर्ण समर्थ थे। वैदिक आर्योंमें यह गुण था—वेदोंमें इसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। वैदिक धर्ममें स्त्रियोंसे पुरुषोंकी अधिक महत्ता थी—स्त्रियाँ पुरुषोंके आधीन दीख पड़ती हैं। वैदिक विश्वदेवतागणमें माँ और शिवका कोई स्थान नहीं है। वैदिक कालके आर्यों के घर-घर अग्नि कुण्ड रहता था। ये बात सिन्धु-निवासियोंमें नहीं पायी गयी हैं। सिन्धु-निवासी, अन्य देवोंकी अपेक्षा, शक्ति और शिवको विशेष पूज्य समझते थे—इसके कई प्रमाण मिले हैं। कई शिव-लिङ्ग, मोहञ्जोदारोकी खोदाईमें, मिले हैं। यज्ञादिके लिये मोहञ्जोदारोमें, कहीं भी, अग्नि कुण्ड नहीं मिला है।

'उपर्युक्त विभिन्न प्रचलनोंपर ध्यान रखते हुए ही कोई भी सिद्धान्त स्थिर करना उचित होगा। यदि वैदिक सभ्यताको ही सिन्धु-सभ्यताकी जननी मान लिया जाय, तो यह प्रश्न उठता है कि, बादकी सभ्यतामें लोहे, घोड़े, आत्मरक्षाके लिये मुकुट और कवच आदिसे सिन्धु-निवासी क्यों अपरिचित रह गये? गौकी जगह साँड़ने क्योंकर ले ली? गौके विषयमें ये लोग अनभिज्ञ क्यों रहे? सिन्धु-उपत्यकासे नियोलिथिक युगकी वस्तुएँ—पत्थरके हथियार और बर्तन—मिली हैं। यदि वैदिक सभ्यताके बादकी ही यह सभ्यता थी, तो ताँबे, पीतल और लोहेकी वस्तुएँ क्यों नहीं मिलीं? इन धातुओंसे परिचित होनेपर भी पत्थरको ही अपनानेकी क्या आव-श्यकता थी? एक बात और है। वैदिक कालके आर्योंके, देहातोंसे निकलकर मोहञ्जोदारो और हरप्पा जैसे, सुन्दर-

सुन्दर अट्टालिकाओंसे पूर्ण, विशाल नगरोंमें आकर बसनेमें कई हज़ार वर्ष लग सकते हैं, और, इतने अधिक समयकी अवधि किसी तरह भी माननीय नहीं है।

"वैदिक सभ्यता और सिन्धु-सभ्यताके बीच कोई वास्तविक मूल ढूँढ़ निकालना एकान्त असम्भव है। तो भी सिन्धु उपत्यकाकी खोदाइयोंमें जो वस्तुएँ निकली हैं, उनके आधारपर यह सिद्धान्त स्थिर किया जा सकता है कि, सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यतासे वैदिक सभ्यता बिलकुल विभिन्न और स्वतन्त्र थी।"

अब सर जान मार्शलकी इन युक्तियोंपर, एक-एक कर, पाठक विचार करें, तो असली बातका पता लग जाय।

(क) मार्शल साहबका यह कथन कि, वैदिक आर्य ग्रामीण थे, उन्हें नगर-निर्माणका ज्ञान नहीं था, साधारणतः मिट्टीके ही दुर्ग बनते थे, युक्तियुक्त नहीं जँचता। इसके विषयमें प्रो० मैकडानल और प्रो० कीथके "*Vedic Index*" की कुछ पङ्क्तियाँ देखिये, जो "पुर" (*Pur*) शब्दके सम्बन्धमें लिखी गयी हैं—"पुर" शब्द, ऋग्वेदमें, साधारणतः दुर्गके लिये व्यवहृत हुआ है। ऐसे दुर्ग, निश्चय ही, विशाल और सुदृढ़ होते होंगे। कहीं-कहीं पत्थरोंके दुर्गोंका भी उल्लेख मिलता है। कहीं-कहीं लौह-दुर्गके भी वर्णन हैं, किन्तु सम्भवतः यह काल्पनिक हैं। सम्भवतः पक्की ईंटोंके लिये ही 'आमा' (ऋ० २।३५।६) शब्द प्रयुक्त हुआ है। किसी-किसी स्थलपर सौ दीवारोंवाले दुर्गों की भी चर्चा है।*

(ख) मार्शल साहबका मत है कि, मोहञ्जोदारोकी खोदाईमें लोहेकी कोई वस्तु नहीं मिली है—ऋग्वैदिक कालकी धातुओंमें लोहेका नाम नहीं है—यह धातु यजुर्वेद और अथर्ववेदके समयमें थी।‡ ऋग्वेदमें लोहेके मकान बनते थे, इसका उल्लेख मिलता है, किन्तु यदि इसे काल्पनिक समझ लिया जाय, तो भी इससे तो ऋग्वैदिक कालकी सभ्यता और सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यतामें सादृश्य ही सिद्ध होता है, विभिन्नता नहीं। सोना, ताँबा और काँसा जिस प्रकार सिन्धु-सभ्यतामें थे, वैसे ही वैदिक सभ्यतामें भी। रही चाँदी की बात। सो, यह सिन्धु-उपत्यकाके निवासियों द्वारा भी व्यवहृत होती थी और अथर्व तथा यजुर्वेद (६, २, पृ० १८७) के समयमें भी इससे भिन्न-भिन्न आभूषण आदि बनाये जाते थे। ऋग्वेदमें इसका वर्णन नहीं मिलता; इसलिये यह कह देना ठीक नहीं कि, उस समय यह धातु थी ही नहीं—विशेषतः जब बादके वेदोंमें इस धातुकी अच्छी चर्चा मिलती है। फिर, ऋग्वेदमें पत्थरके बर्तनोंका भी तो उल्लेख मिलता है—अधिक या कम! "उपल", दृषद्" और "उलूखल" आदि पत्थरके ही बने होते थे। सोमपात्र भी, अधिकांशतः, पत्थरके ही होते थे, द्रव-पदार्थ रखनेके लिये "आसेचन", डोल (*Bucket*) के अर्थमें "आहाव", भोजन बनानेके बर्तनके लिये "उखा", पानी पीनेके बर्तनके लिये 'पात्र' तथा घरेलू बर्तनोंके लिये "पारीणाह्य" शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ये बर्तन किस धातुके बने थे, यह नहीं लिखा है। सम्भव है, यह पत्थरके ही हो।

ऋग्वेदमें ढेलवाँस (*Sling-stone*)—पत्थरके छोटे-छोटे टुकड़े फेंकनेवाले यन्त्र—का भी उल्लेख मिलता है।×

(ग) हथियारोंमें धनुष तथा बाण, बर्छे, कृपाण और फरसे (कुल्हाड़ियाँ) सिन्धु उपत्यकाके लोगोंमें भी

* "गंगा" के "वेदाङ्क" में प्रकाशित "वैदिक संहिताओंका सिंहावलोकन" शीर्षक लेख—पृष्ठ २४० देखिये।

‡ "लोहे और सोनेका घर होता था (७।३।७, ७।१५।१४)"—"वेदाङ्कमें प्रकाशित ऋग्वेदकी कुछ उल्लेखनीय बातें"—पृष्ठ २१८ पढ़िये।

×Zimmer, *Altindisches Leben*, P 307; Schrader, *Pre-Historic Antiquities*, P 221

थीं और वैदिक लोगोंमें भी। रही गदाकी बात। मोहञ्जोदारोमें जो गदा मिली है (जिसका उल्लेख अथर्ववेद और तैत्तिरीय संहितामें है—ऋग्वेदमें नहीं), उसे शस्त्रास्त्र-सम्बन्धी उपर्युक्त सादृश्यमें विशेष विभिन्नताका स्थान नहीं दिया जा सकता। ऋग्वैदिक आर्यों के कोट (पहनावा) चमड़े या किसी धातुके बने होते थे।* सम्भव है, सिन्धु-उपत्यकाके निवासियोंके कोट चमड़े के ही बने हों, जो पृथ्वीके गर्भमें, इतने वर्षों के बाद, रहनेके कारण सड़-गल गये हों। शिरस्त्राण (*Helmet*)के विषयमें अभी यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि, सिन्धु-उपत्यकाके निवासियोंमें इसकी चाल नहीं थी। सम्भव है, भविष्यकी खोदाईमें मिले।

(घ) जिस प्रकार सिन्धु निवासी मांस-भक्षी थे, उसी प्रकार भारतीय आर्य भी। ऋग्वेदमें (भारतीय आर्योंके) मछलियाँ नहीं खाये जानेके पक्षमें कहीं भी उल्लेख नहीं है। ऐसी दशामें निश्चयात्मक रूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि, ऋग्वैदिक कालमें लोग मछलियाँ खाते ही नहीं थे।

(च) खोदाईमें गौ और घोड़ेकी मूर्त्तियाँ न मिलनेके कारण ही यह सिद्धान्त स्थिर कर लेना कि, सिन्धु-निवासियोंको इन दो पशुओंका ज्ञान नहीं था—युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। मार्शल साहबने कहा है कि, सिन्धु-निवासी घोड़ेसे बिलकुल अपरिचित और गौओंकी जगह वृषभों (साँड़ों)को ही पूज्य समझते थे। मार्शल साहबका यह निष्कर्ष तभी मान्य होगा, जब वे साबित कर दें कि, घोड़े और गौओं जैसी मूर्त्तियाँ भविष्यकी खोदाईमें नहीं मिलेंगी; और, सीलों आदिमें इन दोनों पशुओंका भी होना ज़रूरी था—इसलिये कि, और-और पशुओंकी तरह, इन्द्रजाल या तन्त्र-मन्त्रके सम्बन्धमें ये भी उपयोगी हैं।

(छ) "वृषभ" शब्द, जब वेदोंमें, इन्द्र, रुद्र, अग्नि आदि देवताओंके लिये भी प्रयुक्त हुआ है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि, वैदिक आर्यों में वृषभको पूज्य पशु नहीं माना जाता था!† बाघ और हाथीके विषयमें वैदिक आर्य अपरिचित थे, यह बात भी निर्मूल है। पहले तो जिसे मार्शल साहबने बाघका स्वरूप माना है, उसीमें काफी सन्देह और मत-भेद है। लम्बी लम्बी लकीरें तो हेना (*Hyena*)के शरीरपर भी होती हैं। "किश" (*Kish*)में इसी प्रकारकी एक सील मिली है उसमें भी मनुष्य या वृक्ष पाया गया है। 'किश'वाले पशुको, जिसके शरीरपर लम्बी लम्बी लकीरें हैं, लोगोंने हेना ही माना है। यदि मोहञ्जोदारोवाली सीलमें हेनाका ही चित्र है, तो "हेना" के अर्थमें ऋग्वेदमें "शालवृक" शब्द प्रयुक्त है (१०।७३।२,६८।१४)। ऋग्वेदमें "बाघ"-शब्दका बोधक कोई शब्द नहीं मिलता, तो भी उसके कुछ समय ही बादके अथर्ववेद और तैत्तिरीय संहितामें "व्याघ्र" शब्द, कई स्थलोंमें, मिलता है। ऋग्वेदमें "वारण" और "हस्तिन्" शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनका अर्थ "हाथी" ही है (*Vedic Index*)। तैत्तरीय तथा वाजसनेय संहिताओंमें "हस्तिप" शब्द मिलता है। एक स्थलपर लिखा भी है कि, पालतू हाथियोंकी सहायतासे [जङ्गली] हाथी पकड़े जाते थे। मेकाले साहबने

* "*Vedic Index*" में '*Varman*' शब्दका अर्थ देखिये।

† "Indra is in Rv constantly designated as a bull, a term applied much frequently to Agni, and occasionally to other gods, such as Dyaus In the Av, a bull is addressed as Indra, and in S B, the bull is stated to be Indra's form × × In one of the sacrifices of the Vedic ritual, a bull represents the god Rudra

—Prof Macdonell's *Vedic Mythology, P 150*

तो एक स्थलपर साफ कह दिया है कि, सम्भवतः मोहञ्जोदारोके निवासी हाथीसे वैसे परिचित नहीं थे, जैसी हमारी धारणा पहले थी।*

[ज] मूर्त्ति-विद्या, मूर्त्ति-निर्माण या मूर्त्ति-पूजाके सम्बन्धमें ऋग्वेदमें उतना वर्णन नहीं मिलता, तो भी एक स्थलपर लिखा है कि, एक इन्द्रकी मूर्तिके मूल्यमें १० गायें काफी नहीं हैं (*Cambridge History of India, I pp 97, 106*)। मार्शल साहबने लिखा है कि, वेदकालीन धार्मिक विश्वासोंमें स्त्रियाँ पुरुषोंके सर्वथा आधीन पायी जाती हैं, और, यह कि, वैदिक देवताओंमें शिव और शक्तिका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। आश्चर्य है कि, उन्होंने क्योंकर समझ लिया कि, सिन्धु-सभ्यतामें स्त्रियाँ, पुरुषोंसे ऊँची नहीं, तो बराबर थीं-पुरुषोंके समान ही उनका अधिकार था। स्त्रियोंके विषयमें, यदि स्त्री मूर्त्तियोंकी अधिकताके ही बलपर, उनकी यह धारणा बँधी हो, तो यह सर्वमान्य नहीं हो सकती। कारण, इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि, स्त्रियाँ पुरुषोंमें आदरणीया या समानाधिकारिणी समझी जाती थीं। फिर, यदि ऐसी बात हो भी, तो वेदोंमें भी साधारणतः स्त्रियाँ समान दृष्टिसे ही देखी जाती थीं। कहीं-कहीं ऐसी बातें अवश्य हैं, जिनमें स्त्रियोंपर पुरुषोंका शासन होना जान पड़ता है; किन्तु ऐसे उल्लेख बहुत कम—नाममात्र—है, इनपर ज़ोर नहीं दिया जा सकता। "मा" (*Mother Goddess*) के अर्थमें "पृथ्वी" नाम कई बार आया है, जिन्हें निखिल भवनकी अधिष्ठात्री देवी कहा गया है। "द्यावा-पृथिवी"का स्थान देवता-मण्डलमें सर्वोच्च है। "शिव"के सम्बन्धमें मार्शल साहबका यह कहना कि, वैदिक विश्वदेवतागणमें इस देवताका कोई स्थान नहीं था, सर्वथा चिन्त्य है। ऋग्वेदीय "रुद्र" शब्द "शिव"के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त, एक स्थल (ऋ० १०।९२।९) पर "शिव"को सर्वहितकारी कहा गया है। उनकी जटाओंके वर्णनमें ही "कपर्दिन्" शब्द आया है (ऋ० १।११४।१—४), जहाँ उन्हें योगीका रूप दिया गया है। "योग" ऋग्वेदीय आर्यों के लिये कोई अपरिचित शास्त्र नहीं था (ऋ० १०।१३६)। वे इस दिशामें पारंगत थे। "योगी"के ही अर्थ अथवा पर्याय रूपमें "मुनि" शब्दका प्रयोग हुआ है। अथर्ववेदमें (२।३४।१, ११।२) "शिव"को पशुपति और महत्नाक्ष कहा गया है (अ० ११।२।२ और ७)—वे चारो ओर देख सकते थे। सम्भवतः मोहञ्जोदारोकी एक सील (चतुर्मुखी) इसी भावकी द्योतिका है। इस चतुर्मुखी देवताको हम ऋग्वेदीय रुद्र कह सकते हैं। लिङ्ग पूजा वैदिक कालमें थी, ऋग्वेदमें ऐसा उल्लेख मिलता है। इन्द्र लिङ्ग-(शिश्नदेव)-पूजकोंको घृणाकी दृष्टिसे देखता था। कहीं-कहीं इनका इन्द्र द्वारा पराजित भी होनेका अर्थ झलकता है।†

वैदिक आर्यों के घर-घर अग्नि-कुण्ड था, यह बात भी प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती, कारण, इस सिद्धान्तकी पुष्टिमें, कहीं भी, स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। सम्भव है, वैदिक युगके परवर्त्ती कालमें अग्निकुण्डकी अधिकता हो गयी हो।

जान मार्शलकी बातोंके उत्तरमें उक्त दलीलें उपस्थित की जा सकती है। परन्तु यह विषय इतना गहन है कि, आसानीके साथ किसी सन्तोषजनक निर्णयपर नहीं पहुँचा जा सकता। यह भी बात है कि, भारतवर्षमें आनेपर

*"× × × *Possibly the elephant was not so well known to the inhabitants of Mohenjodaro as we thought at first*" —*Mohenjodaro and Indus Valley Civilization, P 388*

† *The Religion and Philosophy of Veda (Vol 1 p 129)*

भारतीय आर्यों [*Indo-Aryans*]ने जिस लिपिको अपनाया था, वह सिन्धुकी चित्रमयी लिपि [*Pictographic Script*)से ही बनायी गयी थी। सिन्धुकी यह लिपि भारतवर्षकी सभी लिपियोंसे प्राचीन है। इसे भारतवर्षकी आदि लिपि कह सकते हैं। भारतीय आर्योंके भारतवर्षमें आनेके पूर्व सिन्धु-उपत्यकामें जो भी जाति रही हो—द्राविड़ अथवा अनार्य—उसमें भारतीय आर्यों और उनकी भारतीय सभ्यता शायद समसामयिक ही हो सकती है। दूसरी बात यह है कि, किसी वस्तुविशेषके वर्णनमें काल्पनिकताका समावेश स्वाभाविक है। हाँ, काल्पनिक जगत्की वस्तुसे प्रकृत जगत्की वस्तुमें हमें सत्यका अधिक प्रकाश मिलता है, और, इस कारण, हमारा विश्वास इस पर ही अधिक टिकता है। प्राचीन वैदिक साहित्यके निर्माणमें ऋषियोंने कल्पनाका ही अधिक आश्रय लिया है। इसके विपक्षमें आजसे हजारों वर्ष पूर्वकी सिन्धु-उपत्यकाके विशाल नगर हमारी आँखोंके सामने हैं, जिनका समय पुरातत्त्वविदोंने ईसासे ४००० वर्ष पूर्व स्थिर किया है। कई खोलें तो इससे भी पुरानी हैं, उनके समयका अभी अन्दाज ही कोई नहीं लगा पाया है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि, यह काल-निर्णय भी स्वयं उन्हीं पाश्चात्य विद्वानोंका किया हुआ है, जिनकी दृष्टिमें भारतीय आर्योंका भारतवर्षमें आगमन और उनके वेदोंका निर्माण ईसासे केवल १२०० वर्ष ही पूर्वकी बातें हैं!!

जो हो, आज हम अपनी प्राचीन सभ्यता एवं गौरवकी बातोंको जानेके लिये कल्पना-कन्दरासे निकलकर सत्यके प्रकाशमें आना चाहते हैं, और, उपर्युक्त दोनों सभ्यताओंमेंसे जिसके जितने ही अधिक प्राचीन और स्थूल प्रमाण हमें मिलेंगे, उसे ही हम प्राचीनतर समझेंगे।

मोहञ्जोदारो और हरप्पाकी खोदाइयाँ अभी समाप्त नहीं हुई हैं। सम्भव है, आगे और भी अधिक प्राचीन सामग्री मिले, जिससे सिन्धु-सभ्यताकी अधिकाधिक प्राचीनतापर अधिक प्रकाश डाला जा सके।

मोहेञ्जोदारो

डॉ० लक्ष्मणस्वरूप एम० ए०, डी० फिल (ऑक्सन)

ईरानके सम्राट डेरियस (*Darius*) ने भारतके उत्तरीय भागपर आक्रमण किया और सिन्धु-प्रदेशको अपने राज्यमें मिला लिया, इसका उल्लेख नक्ष-ए-रुस्तम शिलालेखमें मिलता है। इस शिलालेखका काल ईसासे ५१० वर्ष पूर्व है। प्रायः पाश्चात्त्य इतिहासज्ञ भारतका प्राचीन इतिहास ईसासे छठी या सातवीं शताब्दी पूर्वसे आरम्भ करते हैं। इससे पहलेके कालको वे ऐतिहासिक कालसे प्राचीन काल मानते हैं। भारतके, इतिहास-परम्पराके पण्डितोंकी स्मृति कलि-कालके आरम्भसे भी बहुत दूर जाती है। यदि सत्य, द्वापर और त्रेता युगोंकी बात छोड़ दी जाय और केवल वर्तमान कल्पके विषयमें ही विचार किया जाय, तो भी, भारतीय पण्डितोंके मतानुसार, भारतका इतिहास कलि-कालके समकालीन है और ईसासे ३१०२ वर्ष पूर्व आरम्भ होता है। पाश्चात्त्य विद्वान् इस

लम्बी गणनाको सार-रहित मानते आये हैं; पर पिछले ग्यारह वर्षोंमें हरप्पा और मोहञोदारो* में उपलब्ध पुराने पदार्थोंके अध्ययनने यूरोप और अमेरिकाके विद्वानोंके मनमें एक क्रान्ति पैदा कर दी है। वे अब मानने लग गये हैं कि, भारतका इतिहास ईसासे ३०००—४००० वर्ष पूर्वतक पहुँचता है। हरप्पा और मोहञोदारोकी उपलब्धियोंसे भारतीय-इतिहास-परम्पराकी आश्चर्यजनक पुष्टि हुई है, इस लिये भारतके इतिहासमें हरप्पा और मोहञोदारोका विशेष महत्त्व है। इस लेखमें हम मोहञोदारोका संक्षिप्त परिचय देनेका यत्न करेंगे।

मोहञोदारो सिन्धु-प्रान्तमें, सिन्धु-नदीके तटपर, अवस्थित है। उत्तर-पश्चिमीय रेलके डोकरी स्टेशन (*N. W. R.*) से ८ मीलपर है। आजसे दस वर्ष पहले इस स्थानपर केवल रेत और मिट्टीके टिल्ले ही टिल्ले (*mounds*) दिखाई देते थे। एक टिल्लेके ऊपर महाराज कनिष्कका बनवाया हुआ एक बौद्ध-स्तूप था, पर यह स्तूप जीर्ण हो चुका था, भग्न अवस्थामें था। कोई-कोई भाग गिर गया था। भारतीय पुरातत्त्व-विभागने पहले इसी स्तूपपर कार्य्य आरम्भ किया, किन्तु उसको शीघ्र ही पता चला कि, इस स्थानपर बहुत ही पुरानी सभ्यताके चिह्न हैं, और, यह सभ्यता *Chalcolithic Age*+ के समकालीन है। पुरातत्त्व-विभागने बड़े उत्साह और परिश्रमसे यहाँ कार्य्य प्रारम्भ किया। उसको अद्भुत सफलता प्राप्त हुई। इस सफलताका प्रमाण-रूप भारतका प्राचीनतम नगर मोहञोदारो हमारे सम्मुख है। यह एक विशाल नगर है। इस नगरके मकान अग्नि द्वारा पकी हुई ईंटोंसे बनाये गये हैं। भूमि-गर्भमें इस विशाल नगरके प्रादुर्भूत होनेसे उस समयकी सभ्यताके साक्षात्कारका सौभाग्य हमको प्राप्त हो गया है।

इस नगरके निरीक्षणसे स्पष्ट है कि, उन दिनों वास्तु-विद्यामें बहुत उन्नति हो चुकी थी। भारतके आधुनिक नगरोंको देखनेसे मालूम होता है कि, ये नगर किसी विशेष शैलीसे नहीं बनाये गये हैं। जैसे जैसे जन-संख्या बढ़ती गयी, वैसे-वैसे मनमाने स्थानोंपर, व्यक्तिगत सुभीतेके अनुसार, दूकान, घर इत्यादि बनते गये, टेढ़ी-मेढ़ी गलियोंका जन्म होता गया। किन्तु मोहञोदारो नगरकी स्थापना एक विधि-विशेषके अनुसार हुई है। मध्यमें राजपथ था। यह बहुत चौड़ा था। इसकी दोनों तरफ बड़ी-बड़ी दूकानें थीं। उन दूकानोंके ऊपर, परिवारोंके रहनेके लिये, चौबारे बने हुए थे। ऊपर जानेके लिये सीढ़ियाँ थीं, जो बाजारमें आती थीं। इस राजपथके उत्तर और दक्षिणमें गलियाँ हैं। ये गलियाँ एक दूसरेके *Parallel* हैं। इन गलियोंसे छोटी गलियाँ फूटती हैं। ये बड़ी गलियोंसे ठीक *Right angles*

* यू० पी०, पंजाब, बिहार आदिमें "मोहञोदारो" उच्चारण ही प्रचलित है, परन्तु यह ठीक नहीं है। यह सिन्धी शब्द है और इसका उच्चारण "मोहञोदड़ो" है। इसका अर्थ है "*Mound of the dead*" अर्थात् "मृतककी ढेरी"। किसी भी ऐतिहासिक लेखमें "मोहञोदड़ो" ही लिखना उचित है, परन्तु, चूँकि, हिन्दीसंसारमें 'मोहञोदारो" ही प्रचलित है, इसलिये हमने भी प्रचलित रूप ही रखा है। —लेखक।

\+ आधुनिक मतके अनुसार मानव-सृष्टिमें आदि युग पाषाण-युग (*Stone-Age*) था। इस युगमें सब कार्य पत्थरसे बने औजारोंसे किये जाते थे। इसके पीछेके युगको *Chalcolithic* कहते हैं। इस युगमें पत्थरके साथ ताँबे और पीतलका भी प्रयोग होता था।

पर हैं। इस प्रकार इस नगरमें सीधी पंक्तियोंमें भवन बनाये गये थे। पाठकगण शायद समझें कि, इसमें कोई विशेष महत्त्वकी बात नहीं है; पर किसी वर्तमान नगरको देखनेसे प्रतीत होगा कि, व्यवहारमें इस प्रकार करना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव-सी बात है। भारतके नगरोंकी तो बात ही क्या, यूरोपमें भी (जहाँ वास्तु-विद्याका बहुत प्रचार है) वास्तु-विद्याके अनुसार नगर-निर्माण नहीं हुआ है। केवल अमेरिकाके हालके बने हुए नगरोंमें यह बात दिखाई देती है। जिस विद्याका मोहञ्जोदारोके निर्माणमें प्रयोग किया गया है, वह वास्तु-विद्या, ५००० वर्ष पीछे, केवल अमेरिकाके नये नगरोंमें ही दृष्टिगोचर होती है; संसारके अन्य भागोंके किसी नगरमें उसका प्रयोग नहीं हो सका। इससे शायद पाठकगण तबकी उन्नत वास्तुविद्याके महत्त्वका अन्दाज लगा सकें।

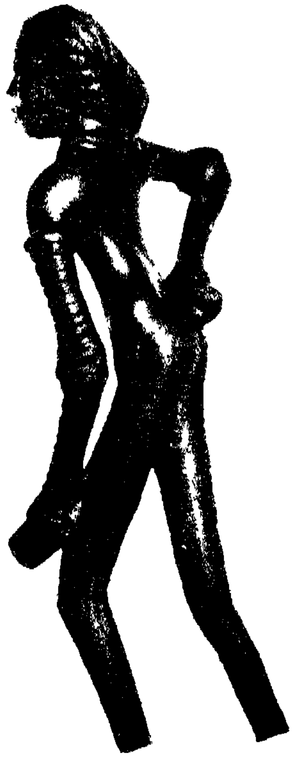
प्रत्येक घरमें एक प्राङ्गण अवश्य था। घर कमसे कम दोमंजिले अवश्य थे। नीचे-ऊपर, पृथक्-पृथक, परिवार रहते थे, इसी लिये, ऊपर जानेके लिये, बाहरसे ही सीढ़ियाँ ऊपर जाती थीं। नगरमें स्थानका अभाव प्रतीत होता है या यों कहिये कि, आबादी (जन-संख्या) बहुत होनेसे थोड़ेसे थोड़े स्थानका भी खूब उपयोग किया जाता था। स्थानके अभावके कारण घरोंके साथ बाग-बगीचोंका होना असम्भव था। सारे नगरमें किसी भी बाग-बगीचेका कोई भी चिह्न नहीं पाया गया है। यह भी मालूम होता है कि, स्थानाभावके कारण घरोंके साथ बरामदा इत्यादि बनानेकी प्रथा नहीं थी। एक ही घरमें, ऊपर-नीचे, पृथक्-पृथक, परिवारोंके निवाससे सिद्ध है कि, नगरका सामाजिक जीवन भली भाँति सुसंगठित था; नहीं तो इस प्रकार परस्पर मिलकर रहना कठिन हो जाता। जैसे आजकल भी हिन्दू और मुसलमान परिवार एक ही घरमें इकट्ठे नहीं रह सकते; इसी प्रकार मोहञ्जोदारोमें भिन्न-भिन्न परिवारोंका मिलकर रहना कठिन हो जाता। इससे सिद्ध है कि, मोहञ्जोदारोके निवासी अधिकतर एक ही धर्मके अनुयायी थे; या, कमसे कम, उनमें धर्म-भेद यदि था, तो उस भेदका सामाजिक जीवनपर कुछ प्रभाव न था।

यह भी प्रतीत होता है कि, मोहञ्जोदारोके लोग बड़े सादे थे। वे अपने घरोंकी दीवारोंपर, बाहर या भीतर, चूने आदिसे पलस्तर नहीं करते थे। दीवारें केवल ईंटोंकी बनी हुई हैं और गारेसे चुनी हुई हैं। केवल चूनेसे टीप कर दी गयी हैं, पर पलस्तर या लिपाईका कोई चिह्न नहीं मिलता। दीवारें नितान्त सादी हैं। उनपर बेल-बूटे, चित्रकारी इत्यादि अलंकार नहीं हैं, और, न दीवारोंपर किसी प्रकारकी मूर्तियाँ ही हैं।

मोहञ्जोदारोमें जो विशेष गुण है, वह इसकी स्वास्थ्य-सम्बन्धिनी प्रक्रिया है। इस नगरके कर्मचारियोंको नगरके स्वास्थ्यका बहुत खयाल था। नगरका स्वास्थ्य बहुधा नगरकी सफाईपर निर्भर रहता है। यह सफाई बहुत-कुछ नगरकी नालियोंपर निर्भर है। यदि नगरकी नालियाँ गन्दी हैं, उनसे हरदम दुर्गन्ध फैलती रहती है, तो नगरके स्वास्थ्य पर अवश्य ही बुरा प्रभाव पड़ेगा। स्मरण रहे, व्यक्तिगत सफाई किसी भी गन्दे नगरमें बहुत देर तक लाभदायक नहीं हो सकती। मिस मेयोने भी अपनी पुस्तक "भारतमाता" (*Mother India*) में, एक बड़े आक्षेपके रूपमें, लिखा है कि, "भारतके नगरोंकी नालियाँ खुली रहती हैं। उनमें गन्दगी रात-दिन बहती रहती है। दुर्गन्धसे वायुमण्डल



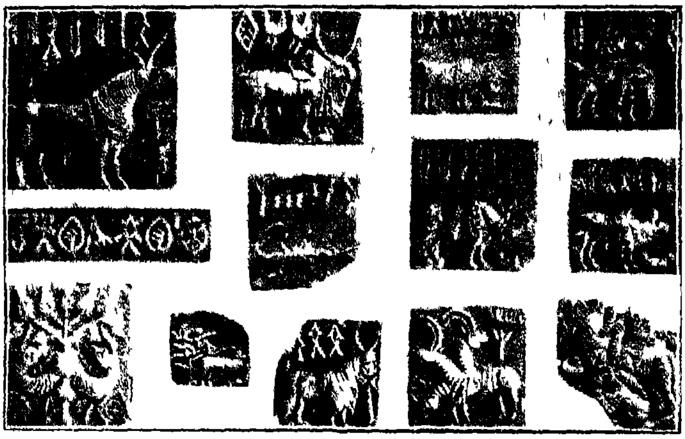
९५—मोहञ्जोदारोकी
मनुष्य-मूर्त्ति



९६—मोहञ्जोदारोकी मिट्टीकी
नग्न-स्त्री-मूर्त्ति



९७—मोहञ्जोदारोकी धातुकी बनी नग्न-नर्त्तकी-मूर्त्ति



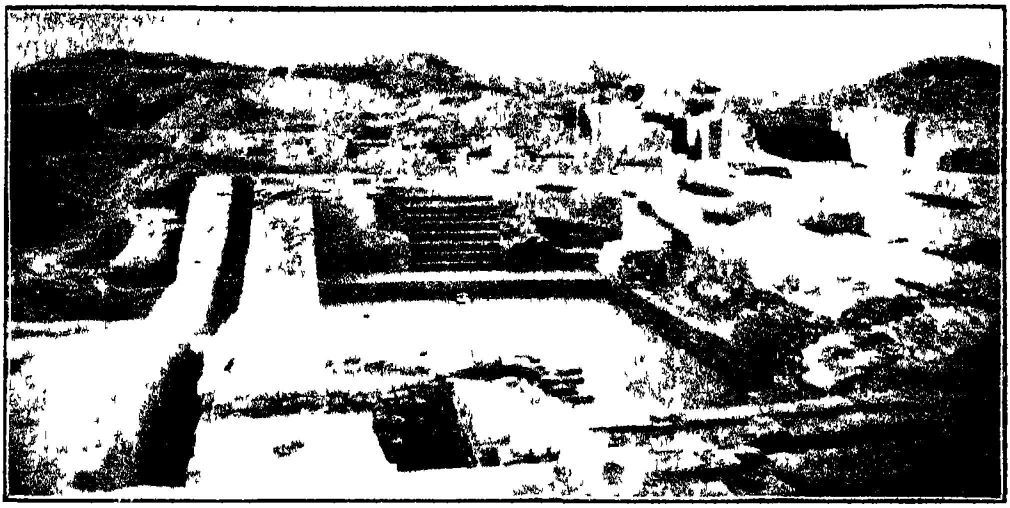
९२—मोहञ्जोदारोमें उपलब्ध मुद्राएँ



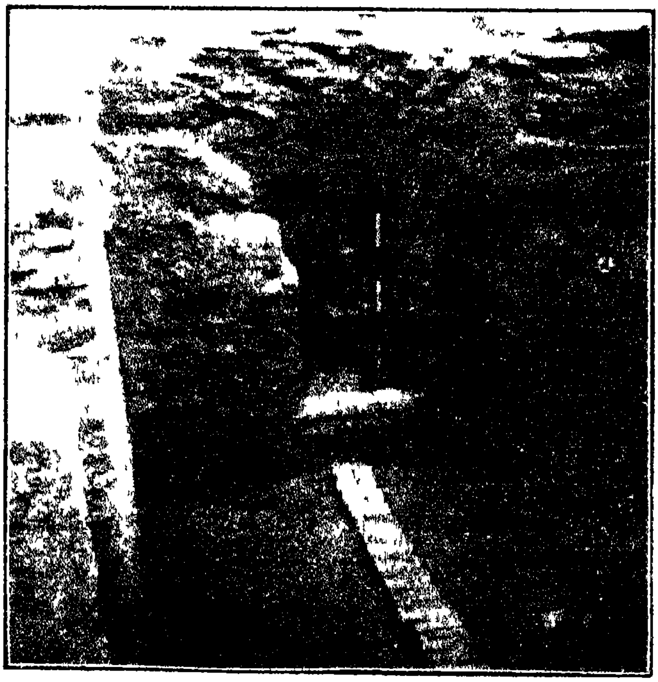
९३—मोहञ्जोदारोके तालाबसे पानी निकलनेका पनाला



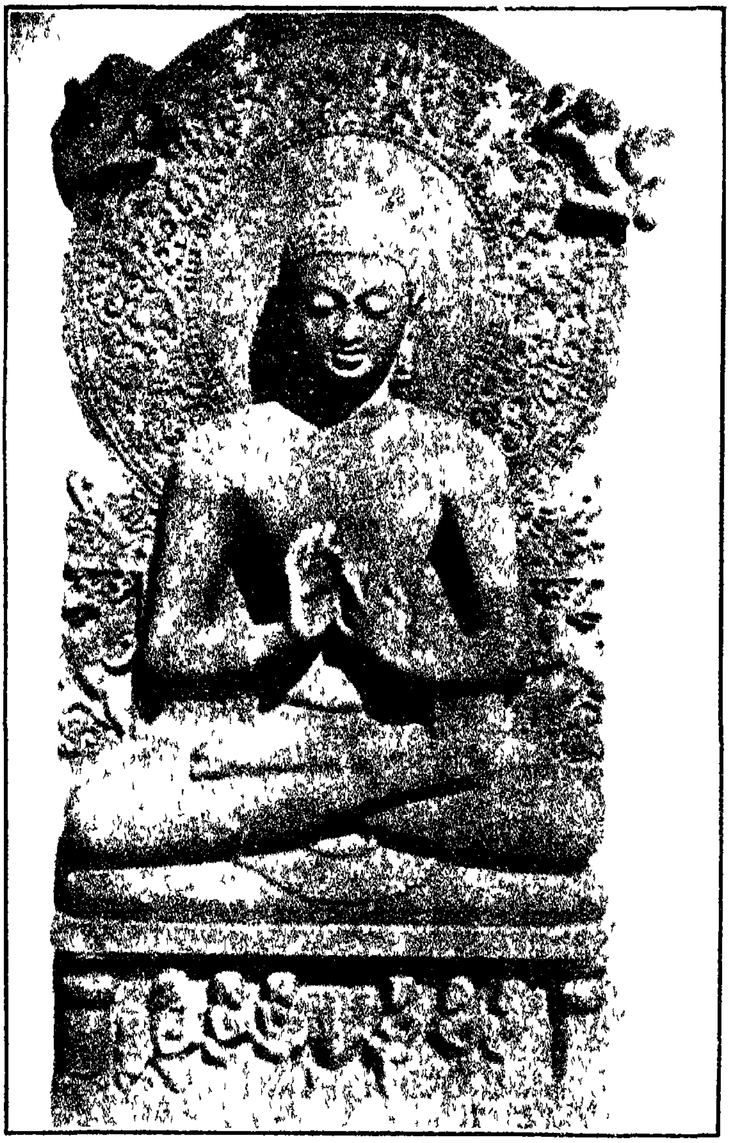
९४—मोहञ्जोदारोके घरके भीतर छोटा कूप



९०—मोहञ्जोदारोके पाँच हजार वर्ष पुराने तालाबका दृश्य



९१—मोहञ्जोदारोके ढके हुए पनाले और नालीका दृश्य



८९—बुद्ध

धर्म-चक्र-प्रवर्तन-मुद्रा

(गुप्तकाल, सारनाथ म्युजियम)

आच्छादित रहता है। इन्हीं नालियोंके ऊपर हलवाइयोंकी दूकानें हैं। नालियोकी दुर्गन्धमें पकी इन मिठाइयोको भारतके लोग बडे चावसे खाते हैं।" चाहे इस वर्णनमें अतिशयोक्ति हो; परन्तु यह कहना ही पड़ता है कि, नगरके स्वास्थ्यका आधार नगरकी नालियाँ ही हैं। मोहञ्जोदारोमें पतनालों और नालियो पर विशेष ध्यान दिया जाता था। घरोंके पतनाले, जो गलीकी नालियोमें गिरते थे, खुले नहीं होने पाते थे। वे सब ढके हुए होते थे। जितने भी पतनाले खोदे गये हैं, वे सब-के सब ढके हुए हैं। फिर गलीकी नालियाँ भी खुली नहीं होती थीं। ये नालियाँ भी सबकी सब ढकी हुई होती थी। पतनाले और गलीकी नालीका दृश्य चित्रमें देखिये। ये नालियाँ इस नगरकी प्रतिष्ठा है। इस प्रकारकी नालियाँ पंजाब प्रान्तकी राजधानी लाहौर, ५००० वर्ष पीछे भी विद्यमान नहीं है। प्रत्येक गलीमें एक ढकी हुई नाली थी। दोनो तरफके घरोंसे इस नाली को छोटी-छोटी नालियोंसे मिला दिया गया है। ये भी ढकी हुई हैं। प्रत्येक गलीकी नाली बडी नाली मे जा गिरती है। ये बडी नालियाँ भी ढकी हुई है। ये बडी नालियाँ एक बडे नालेमें जा मिलती है। यह नाला भी ढका हुआ है। उन नालियोको साफ करनेके लिये, स्थान-स्थानपर, गड्ढे रखे गये हैं। उनमें नीचे उतरनेके लिये सीढियाँ बनायी गयी हैं, जिनसे उतरकर भङ्गी लोग नालियोंकी सफाई किया करते थे। इस प्रकार नगरमें खुली गन्दी दुर्गन्धसे पूर्ण सडी नालियोंका दृश्य दृष्टिगोचर नहीं होता था; और, नगरके स्वास्थ्यकी भली भाँति रक्षा होती थी।

मोहञ्जोदारोके लोगोंको स्नान बहुत प्रिय था। प्रत्येक घरमें, नीचे-ऊपर, दोनों मञ्जिलोंमें, स्नान गृह बने हुए हैं। इन स्नान-गृहोका फर्श पक्का है और एक तरफ ढालू है, जिससे जल न रहे, तुरन्त बह जाय। जल, ढके हुए पतनालेके द्वारा नालीमें गिरा दिया जाता था। स्नानके इतने प्रेमी होनेके कारण जलकी बहुत आवश्यकता होती थी। अधिक जलकी आवश्यकताको पूरी करनेके लिये प्राय: प्रत्येक घरमे एक छोटासा गोल कूप बनवाया गया है। यह कूप भी पक्का है। कूपकी मण्डेरका पत्थर रस्सीकी रगडसे जगह-जगह घिस गया है। इससे स्पष्ट है कि, जल-रस्सी द्वारा हाथोंसे खींचा जाता था। कूपपर, बर्तन रखनेके स्थानमे, छोटे-छोटे गड्ढे पड गये है। इन छोटे-छोटे कूपोके अतिरिक्त गलियोंके कोनोपर तथा बडे बाजारमे बडे-बडे कूप थे, जो सर्व-साधारणके लिये थे। स्नानके कमरे प्रत्येक घरमे पाये जाते है। इससे सिद्ध है कि, मोहञ्जोदारोके लोग निजी सफाई भी बहुत पसन्द करते थे। बडे कूप पनघटका काम देते थे। एक पनघट पर एक पत्थरकी बेंच पडी है। इसपर बैठकर महल्लेकी स्त्रियाँ, अपने-अपने घडे भरनेसे पहले, गप्प-शप मारा करती होंगी।

बौद्ध-स्तूपके समीप ही एक बडा तालाब भी मिला है। यह ३६ फुट लम्बा और २३ फुट चौडा है। यह एक विशाल और आलीशान भवनके मध्यमें बना है। इस तालाबकी चारों तरफ एक पक्का चबूतरा था। चारो कोनोंपर पर्देदार गोल प्राङ्गण बने थे। इन प्राङ्गणोंकी चारो तरफ पक्की दीवारें थी। भीतर स्तम्भ थे। तालाब बडे परिश्रमसे बनाया गया था। इसकी दीवारोंको बिलकुल समतल करनेके लिये थोडा-थोडा घिस दिया गया था। तालाबके नीचेका फर्श पक्का है। ईंटें चौडी करके नहीं रखी गयी हैं, बरन् लम्बी करके रखी गयी हैं।

दोनो तरफ चौडी-चौडी सीढ़ियाँ, पानीतक, आती हैं। इन सीढियोपर, पॉव रखनेके स्थानपर, लकडी या धातुके पत्तर जडे हुए थे। नमीसे दीवारोंको बचानेके लिये *Bitumen* का पलस्तर किया गया था। दक्षिण-पश्चिम कोनेकी तरफ ढालूपन था, जहाँसे एक छोटीसी मोरी द्वारा जल बाहर निकाला जाता था। यह जल एक बडे नालेमें गिरता था। यह नाला भी ढका हुआ था। इस नालेकी बनावट आश्चर्यजनक है। पहले भागमें यह नाला इतना ऊँचा है कि, लम्बेसे लम्बा पुरुष अच्छी तरह खडा हो सकता है। फिर क्रमश यह नाला तङ्ग होता जाता है और अन्तमे एक अद्भुत छतवाले खमदार मार्गसे बाहर निकाल दिया जाता है।

मोहञ्जोदारोमें बहुत-सी पुरानी वस्तुएँ उपलब्ध हुई है—नाना प्रकारके मिट्टीके खिलौने, धातुकी मूर्तियाँ, आभूषण, बर्तन, रङ्ग-बिरङ्गे फूल रखनेके गुलदस्ते इत्यादि-इत्यादि। पर जो बहुत ही आवश्यक वस्तु उपलब्ध हुई है, वह है मुद्रा-समूह। मुद्राओपर कुछ लेख अङ्कित है, जो अभीतक पढे नही गये है। न अक्षर ही पढे गये है और न भाषाके विषयमें ही कुछ जाना जा सका है। ये मुद्राएँ पत्थरकी बनी है। इनका आकार भिन्न-भिन्न प्रकारका है। अधिकतर मुद्राएँ चौरस है। मध्यमे एक छिद्र है, जहाँसे वे डोरीमें पिरोयी जाती थी। ऊपर कुछ अक्षर अङ्कित हैं। नीचेकी तरफ किसी जानवरका चित्र है। अधिक मुद्राओपर एक सींगवाले पशुका चित्र है, जो बैलके सदृश है। किसी-किसी मुद्रापर छोटी सींगोंवाले बैल, किसीपर ऊँचे पिण्डवाले साँढ़, किसीपर गैंड़, किसीपर भैंसे, किसीपर हाथी और किसीपर बारहसिंगेके चित्र है। कितनी ही मुद्राओपर काल्पनिक पशुओके भी चित्र है। किसी भी मुद्रापर अश्वका चित्र नही मिला है। इससे अनुमान होता है कि, मोहञ्जोदारोके लोग अश्वसे अनभिज्ञ थे। दो-चार ही मुद्राएँ ऐसी हैं, जिनपर मनुष्यका चित्र है। एक चित्रमें तो मनुष्य एक वृक्षपर बैठा है, नीचे घासमे एक सिंह बैठा है और मनुष्य क्रोधसे उसकी तरफ घूर रहा है।

ये मुद्राएँ बडे महत्त्वकी है। इन मुद्राओके साक्ष्यसे ही मोहञ्जोदारोके समयका निर्णय हुआ है। जैसी मुद्राएँ हरप्पा और मोहञ्जोदारोमे उपलब्ध हुई है, ठीक वैसी ही सुमेर (*Sumer*) और एलम (*Elam*)मे भी मिली हैं। सुमेर और एलम के समयका निश्चय रूपसे ज्ञान है। इससे परिणाम निकलता है कि, मोहञ्जोदारोका सुमेर और एलम समकालीन है अथवा मोहञ्जोदारो ईसासे लगभग ३००० वर्ष पूर्वका है।

बच्चोंके खिलौने बडे विचित्र है। एक बैलका खिलौना है। इसका पूँछ हिलानेसे सिर भी हिलता है। एक हाथी है, जिसको दबानेसे शब्द होता है। पक्षियोंके मिट्टीके खिलौने बहुतसे मिले है। उनमे छिद्र है, जिनमेंसे सीटी बजायी जा सकती है। एक स्त्रीकी नग्न मूर्ति है। सिरपर पंखेके आकारका कोई वस्त्र है। दोनो कानोपर दो लम्बे कालर जैसे टुकडे लटकते है। गलेमे कितने ही हार है। भुजाओमे कडे और चूडियाँ है। कमरमे केवल रशनादाम है। एक नृत्य करनेवाली स्त्रीकी धातुकी मूर्ति है। सिरके बालोंकी लटें एक कन्धेपर डाल दी गयी है। गलेमे हँसली पहने हुए है। बाम हाथमे, कलाईसे लेकर कन्धेतक, चूडी पहने हुए है। यह मूर्त्ति भी नग्न है। इसके मुखपर औदासीन्यके भाव है। छोटी-छोटी डिब्बियोसे लेकर बड़े-बड़े माट भी मिले हैं। प्याला, थाली, चमचा, कलछी आदि

भी प्राप्त हुए हैं। इनपर काले, लाल आदि रङ्गोंके अनेक डिजाइन बनाये गये हैं। ऊखल, मूसल, चक्की आदि भी मिले हैं। सोने, चाँदी, ताँबे तथा कीमती पत्थरोंके हार पाये गये हैं। ताँबेके कितने ही औजार, चाँदीका एक डब्बा, जिसमे आभूषण रखे हुए थे, और, रूईका बुना हुआ कपडा भी प्राप्त हुआ है। इससे मालूम होता है कि, आजसे ५००० वर्ष पहले, मोहञ्जोदारोमें, रूईके कपडेका प्रयोग होता था।

साराश यह है कि, मोहञ्जोदारोके लोगोकी सभ्यता नागरिक सभ्यता थी। सुदूर छोटे-छोटे ग्रामोका निवास वहाँवालोको भाता नही था। वे नगरोमे बसते थे। उनके नगर समृद्धिशाली थे। उनका व्यापार दूर-दूरके देशोतक फैला हुआ था। उस समय गेहूँ और जौ खूब पैदा होते थे। खजूर उनको बहुत प्रिय था. साँढ, भैंसा, बैल, भेंड सूअर, कुत्ता, ऊँट, हाथी उनके पशु थे। घोडेसे वे परिचित न थे। उनकी गाडी चार पहियोवाली थी। वह प्राय बैलगाडी ही थी। धातुका काम करनेमें वे लोग चतुर थे। सोना, चाँदी, पीतलकी कुछ कमी न थी। शीशा भी काममे लाया जाता था। कातना, कपडे बुनाना श्रेष्ठ समझा जाता था। युद्ध और शिकारमे तीर-कमानका प्रयोग होता था। गदा, नेजा, खड्ग इत्यादि भी युद्धके शस्त्र थे। आरा, छाणी, उस्तरा इत्यादि अनेक औजार पीतल और ताँबेके बनते थे। अमीर लोग सोने, चाँदीके आभूषण पहनते थे और गरीब लोग सीप और पत्थरके। लोग लिखना जानते थे। इनकी मुहरोपर लेख लिखे हुए हैं। मेसोपोटामियाकी सुमेरियन सभ्यता और मिस्र देशकी सभ्यतासे इनकी सभ्यता ऊँचे दर्जेकी थी। उदाहरणके तौरपर रूईका कपडा बुननेकी विधि सिन्धके लोगोको ही मालूम थी, अन्य देश-वालोको नही। इनकेसे विशाल भवन मेसोपोटामिया, मिस्र और अन्य प्राचीन देशोमें नही पाये गये हैं। स्नानपर अधिक ज़ोर दिया जाता था। प्रत्येक घरमें अपना-अपना पृथक कूँवा है। कूँवेके साथ स्नान करनेका कमरा है। इससे प्रतीत होता है कि, स्नान उन लोगोका नित्य कर्म था। नगरमे एक सार्वजनिक पक्का स्नान-गृह था। उसकी दो तरफ सीढियाँ बनी हुई थीं। बीचमे एक लम्बा-चौडा तालाब था। तालाबकी दीवारे और नीचेका फर्श पक्के बने हुए थे। पानीको बाहर निकालनेके लिये एक ऊपरसे ढका हुई नाला बनाया गया था। यह तालाब ऊपरसे ढका हुआ था। इसकी चारो तरफ छोटे-छोटे कमरे थे। इन कमरोमे स्नान करनेवाले लोग अपने वस्त्र बदलते थे। नगरकी नालियोपर विशेष ध्यान दिया जाता था। कोई भी नाली ऊपरसे खुली हुई नही होती थी। उनको पत्थरोसे ढक दिया जाता था। इस प्रकार गन्दी नालियोका दृश्य दृष्टिगोचर नही होता था। दुर्गन्ध भी गलियो और बाजारोमें नही फैलती थी। भारतके बडे-बडे नगरोमे आज भी वैसी नालियाँ नही बनी हैं। इससे सिद्ध है कि, उस समयके लोगोके जीवनमे सुख आनन्द और ऐश्वर्यकी मात्रा अधिक थी।

खिलौना, बर्तनो, मुद्राओ, मूर्तियो आदिपर जो नाना प्रकारके चित्र मिलते हैं उनसे उन लोगोकी चित्रकारीका पता चलता है। चित्र-कलामे वे लोग सिद्ध हस्त थे। ये चित्र बहुत अच्छे हैं। चित्र क्या हैं, जीती-जागती तस्वीरे हैं। चित्र-कला अपनी प्रौढा अवस्थामे पहुँच चुकी थी। ऐसे सच्चे और मनोहर चित्र, हजारो वर्षोके पीछे, केवल प्राचीन यूनानमे ही मिलते हैं, परन्तु मोहञ्जो-

दारोके लोगोंके समयमें किसी भी देशमें नहीं पाये गये हैं।

परन्तु जो सबसे अद्भुत बात है, वह है शिवकी पूजा। मोहञ्जोदारोमे शिवजीकी पूजा होती थी। बहुतसे शिवलिङ्ग उपलब्ध हुए हैं। कितने ही शिवलिङ्ग तो वैसे ही हैं, जैसे कि, आजकल भारतके बहुतसे मन्दिरोंमें देखे जाते हैं। इससे सिद्ध है कि, शिवकी पूजा जिस प्रकार आजकल होती है, उसी प्रकार ५००० वर्ष पहले भी होती थी। संसारके जितने भी धर्म हैं, उनमेंसे किसी भी धर्मकी पूजाका इतिहास इतनी दूरतक नहीं पहुँचता, न किसी धर्मकी पूजाके विषयमें ऐसा स्पष्ट सिद्ध करनेवाला साक्ष्य ही मिलता है।

मोहञ्जोदारोमें उपलब्ध प्राचीन वस्तुओंके अध्ययनसे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि ये वस्तुएँ एक उच्च कोटिकी सभ्यताकी सूचक हैं। पर यह सभ्यता कोई नूतन सभ्यता नहीं थी। मोहञ्जोदारो नगरके स्थापित होनेसे हजारों वर्ष पहले इस सभ्यताका सूत्रपात हो चुका था, और मोहञ्जोदारो नगरकी स्थापनासे पहले कई हजार वर्षोंमें इस सभ्यताकी वृद्धि और पुष्टि हुई होगी। जब मोहञ्जोदारो नगरकी स्थापना हुई, तब यह सभ्यता उन्नतिके शिखरपर विराजमान थी। इससे स्पष्ट है कि मोहञ्जोदारो नगरकी स्थापनासे कम से-कम दो-तीन हजार वर्षोंसे भी पुरानी यह सभ्यता है। इस सभ्यताका आरम्भिक काल ७००० या ८००० वर्षतक पहुँचता है।

स्वतन्त्र प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया जा सकता है कि, इस सभ्यताका आरम्भिक काल मोहञ्जोदारो नगरकी स्थापनासे अवश्य ही कम-से-कम दो-तीन हजार वर्ष पहले है। हम कुछ स्वतन्त्र प्रमाण भी लिखते हैं।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि, मोहञ्जोदारो नगरमें आजसे ५००० वर्ष पहले शिवजीकी पूजा होती थी। शिव उन लोगोंका आराध्य देवता था। पर ऋग्वेदमें शिवका बहुत बड़ा दर्जा नहीं है। ऋग्वेदमें जो महत्त्व इन्द्र, अग्नि, वरुणका है, वह शिवका नहीं है। हम यह भी जानते हैं कि, ऋग्वेदके समय जिन देवताओंका अधिक प्रभुत्व और महत्त्व है, उनका क्रमशः पीछे लोप हो गया, जैसे, ऋग्वेदकालके उच्चतम और सर्वश्रेष्ठ देवता इन्द्र और वरुणका दर्जा रामायण-महाभारतकालमें विष्णु, ब्रह्मा और शिवसे कम है। यदि हम ऋग्वेदके कालसे लेकर महाभारत-रामायणके कालतक, देवताओंके इतिहासपर, दृष्टि डालें, तो मालूम होगा कि, विष्णु और शिवका दर्जा बराबर बढ़ता चला आया है। ऋग्वेदमें विष्णु और शिव साधारण देवता हैं। यजुर्वेदमें शिवका दर्जा, ऋग्वेदकी अपेक्षा बढ़ गया है, और, रामायण-महाभारतके कालतक शिवका दर्जा इतना बढ़ गया है कि, वह हिन्दू-त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, शिव)का तृतीय अंश बन गया। देवताके इस इतिहासको स्मरण रखते हुए और मोहञ्जोदारो नगरमे शिवकी अद्भुत प्रतिष्ठा को जानते हुए हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि, ऋग्वेदकाल मोहञ्जोदारो नगरकी स्थापनाके कालसे बहुत प्राचीन है।

दूसरा प्रमाण यह है कि, उपलब्ध मुद्रा-लेखोंसे स्पष्ट है कि, मोहञ्जोदारोके निवासी लिखना जानते थे। अक्षर लिख सकते थे अथवा लिखनेकी कलाका उस समय आविष्कार हो चुका था। पर ऋग्वेदके समय लिखनेकी कला

का आविष्कार नहीं हुआ था। इसी लिये ऋषि लोग मौखिक उपदेशसे ही अपने शिष्योंको वेद पढ़ाया करते थे। मन्त्र लिखे नहीं जाते थे। ऋचाएँ पुस्तकके रूपमें विद्यमान नहीं थीं। पीछेसे मन्त्रोंको पुस्तकका रूप दिया गया। इससे स्पष्ट है कि, लिखनेकी कलाका आविष्कार ऋग्वेदके समयसे बहुत पीछेका है। यह लिखनेकी कला मोहञ्जोदारोमें प्रचलित थी। इससे यह परिणाम निकलता है कि, ऋग्वेदका समय मोहञ्जोदारोसे बहुत पूर्वका है।

जर्मन देशके प्रसिद्ध आचार्य जैकोबी महोदयने ज्योतिःशास्त्रकी गणनासे सिद्ध किया है कि, ऋग्वेदका समय ईसासे कम-से-कम ५००० वर्ष पहलेका है। मोहञ्जोदारोका समय ईसासे ३००० वर्ष पहलेका है। इससे हमारे ऊपर लिखे कथनकी पुष्टि होती है कि, ऋग्वेदका समय मोहञ्जोदारोसे कम-से-कम दो-तीन हजार वर्ष पहलेका है। संसारके और किसी भी देशकी सभ्यताका इतिहास इतने प्राचीन कालतक नहीं पहुँचता। फलतः भारतकी सभ्यता ही प्राचीनतम सभ्यता है। हम निस्संकोच कह सकते हैं कि, संसारकी सभ्यताका उद्गम-स्थान भारत ही हो सकता है।

नागवंश और गंगा

विद्यामहोदधि बा० काशीप्रसाद जायसवाल एम० ए० बार-एट-ला

गुप्त महाराजोंके पहले आर्यावर्त्तमें नागवंश और उसके सम्बन्धी वाकाटक-वंशका साम्राज्य हुआ। नागवंश बहुत पुराना राजवंश था, जो यादव क्षत्रियोंका था और विदिशामें राज्य करता था। कुषाण शक (जो आजकलके ईरानी ताला-चाकू बेचनेवाले बहचारियोंके भाई-बिरादर थे) बड़े प्रचण्ड राजा हुए। कनिष्कने सारे आर्यावर्त्तमें राज्य जमा लिया। ये हिन्दू-धर्मके बड़े ही विद्वेषी थे। मन्दिर तोड़ डाले और ब्राह्मण-क्षत्रियोंको दबाकर नीच जातियोंका सरकारी नौकरी देकर बढ़ाया तथा बौद्ध-धर्मके पोषक बनकर आर्योंके वर्णाश्रम-धर्मपर धक्का पहुँचाया। शकोंकी इस नीतिका पूरा विवरण पुराणों, अरब लेखक अलबेरूनी, गर्गसंहिता आदिमें दिया हुआ है। इन शकोंको बिहार और मध्यदेश (अन्तर्वेद) से नाग-राजाओंने मार भगाया और धर्मकी रक्षा की। नागराजा रीवाँ-बघेलखण्डके रास्ते नागपुरसे निकलकर कन्तित (कान्तिपुर) और काशी पहुँचे तथा अपने वंशका नया नाम भारशिव रखा। इन्होंने गंगा-तटपर दश अश्वमेध किये। मेरे विचारमें आता है कि काशीमें दशाश्वमेध नामसे अबतक यही स्थान प्रचलित है। काशीमें एक भारशिवकी मूर्त्ति भी अभी मिली है जिसमें राजाके सिरपर शिवकी पिंडी है। यह काशी नागरी-प्रचारिणी सभाके कला-भवनमें है, जिसे मैंने दशहरेके अवसर पर देखा था।

नागवंशीय भारशिव राजाओंके नाम सिक्कोंमें मुझे इस प्रकार मिले हैं—वीरसेन, हयनाग, त्रयनाग, बरजनाग और भवनाग।

इनके वंशवाले पद्मावतीमें थे, जहाँ वे टाकवंशके नामसे राज्य करते थे। इनके नाम गणपतिनाग, भीमनाग, स्कन्द-नाग आदि थे। पद्मावती झाँसीके पास थी, अब उसे पदम पवाया कहते हैं। नागोंकी एक दूसरी राजधानी चम्पावती (भागलपुर) थी। यदि किसी सज्जनको भागलपुरके आस-पास भारशिव या नाग नामपर कोई स्थान या देवालय मालूम

हो, तो मुझे सूचित करेंगे।

नागवंशी शिवके भक्त थे। गंगाको शक म्लेच्छोंसे छुड़ानेके उपलक्षमें, भारशिव राजाओंने, शिवकी गंगाको अपने राज्य और साम्राज्यका चिह्न बनाया। अपने सिक्कोंपर और शिलालेखों तथा देवमन्दिरोंके द्वारोंपर गंगाकी मनोहर मूर्त्ति अंकित करते थे। इसका पूरा-पूरा वर्णन मैंने अपने "*History of India, 150 A. D to 350 A D*" नामक ग्रन्थोंमें लिखा है, जो छप रहा है।

भारशिव नागवंशके बाद उनके नाती रुद्रसेन वाकाटकका राज्य हुआ। रुद्रसेनके आजा चतुरश्वमेध-याजी प्रवरसेन सारे भारतवर्षके सम्राट हुए। उनके समयमें ही नागवंशकी गद्दीके मालिक रुद्रसेन हुए और रुद्रसेनकी नाबालगीमें प्रवरसेन ही राज्य करते थे। प्रवरसेन भारद्वाज गोत्रके ब्राह्मण थे और अजयगढ़ (बुन्देलखंड)में इनकी राजधानी चनकापुरी थी, जिसे अब नचना कहते हैं। इन्होंने अपने वंशका नाम वाकाटक रखा, क्योंकि ये वाकाट गाँवके रहनेवाले थे। प्रवरसेनने भी गंगाको अपना राज-चिह्न माना। मन्दिरोंपर "गंगा-यमुना-द्वार" वाकाटकोंने अंकित किया, और, झंडेपर भी गंगाका चिह्न रखा।

प्रवरसेन समुद्रगुप्तसे भी प्रतापी राजा हुआ। समुद्रगुप्तको सम्राट पदवी नहीं मिली, पर वह प्रवरसेनको प्राप्त थी। प्रवरसेनका ऐतिहासिक वर्णन बिलकुल कल्कि-अवतारमें मिलता है।

इस तरह गंगा भारशिव नागवंश और वाकाटकवंशके समयमें अन्तर्वेद और आर्यावर्त्तकी मुक्तिके इतिहासकी द्योतिका हुई। मानो उस समयका इतिहास श्रीगंगाके नाममें आर्य-जातिने लिखकर अपने सिक्के और झंडेपर हिन्दू-साम्राज्यके चिह्न-स्वरूप गंगाको स्थापित किया। गंगा दूसरोंके लिये नहीं है, पर हमारे लिये इस भावमें हिन्दू-इतिहास है।

प्राचीन साहित्यमें नालन्द

डा० हीरानन्द शास्त्री एम० ए०, डी० लिट् (एपिग्राफिस्ट टु दि गवर्नमेंट आफ इंडिया)

ईसाके कम-से-कम ५०० वर्ष पूर्व, महावीर तथा बुद्धके समयमें, हमें नालन्दका वर्णन मिलता है। जैनोंके सूत्र-कृताङ्ग तथा बौद्धोंके निकायमें इसकी बातें स्पष्ट रूपमें वर्णित हैं। इस प्रसिद्ध स्थानसे मानव-जगतके दो धर्मगुरु, किसी-न-किसी तरह, पूर्ण रूपसे सम्बद्ध थे। तारानाथने इसका उच्चारण "नालेन्द्र" लिखा है, जो सर्वथा गलत है। नालन्दका नाम उपर्युक्त दो ग्रन्थोंके सिवा ताम्रपत्र एवं अन्य शिलालेखोंमें भी प्राप्त है। इसके नामके सम्बन्धमें हुएनसांगने एक कहानी लिखी है। वह यों है—"तथागत अपनी वृद्धावस्थामें इसी जगह बोधिसत्त्व-जीवन व्यतीत करते थे। वह एक बड़े प्रान्तके राजा हो गये। उन्होंने अपनी राजधानी यहीं बनायी। संसारी जीवोंके दुःखसे व्यथित होकर उन्होंने अनवरत रूपसे दान देना प्रारम्भ किया। फलस्वरूप इस जगहका नाम नालन्द (जिसका अर्थ दानका अन्त नहीं) पड़ा।" इत्सिंगके कथनानुसार "नालन्दका पहला नाम नागानन्द था, जो किसी नागके (जिसे नन्द कहते थे) नामपर रखा गया था। या, यह भी सम्भव है कि, चूँकि यहाँ "नल" अर्थात् कमलके फूलोंकी प्रचुरता थी (जो अभी भी है), इसलिये इसका नाम नालन्द पड़ा।"

इन अनुमानोंमें कहाँतक वास्तविकताका समावेश है, वह विज्ञानोंके विचाराधीन है। पिछले दिनों यह स्थान पासके बड़गामके नामसे सम्बोधित किया जाने लगा। हालतक, जब कि, यह रेलवे-स्टेशन बना, यही नाम रहा। किन्तु यदि आप क्षमा करें, तो गौरवके साथ मैं यह कहनेकी धृष्टता करूँ कि, मेरी ही बदौलत यह नाम बदल गया है।

यह स्थान बड़गामके नामसे पुकारा जाता था, यह १७ वीं सदीके ग्रन्थोंमे स्पष्ट प्रकट है। पण्डित हंससोमके "पूर्वदेशचैत्यपरिपाटी" (वि० १५६५) तथा पण्डित विजयसागरके "समेतशिखर-तीर्थमाला" (वि० १७००) नामक जैन-ग्रन्थोंमे बड़गाम नाम ही आया है। इन ग्रन्थोंमे जैन तीर्थयात्रियोंका यात्रा-वर्णन है, जो १६ वीं, १७ वीं सदियोंमें पूर्वमे तीर्थ करने आये थे। इनसे यह पता चलता है कि, नालन्द जीर्ण हालतमें था तथा बड़गामकी (जो महावीरके सर्वप्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ शिष्य इन्द्रभूतिके कारण अत्यन्त पवित्र तथा पूजनीय हो चला था) अवस्था उन्नतिशील थी। फलस्वरूप सम्पूर्ण क्षेत्र, वटवृक्षोंके आधिक्यके कारण, संस्कृतमें वटग्राम कहा जाने लगा। यह स्थान शिक्षाका स्थान भी था। इसका प्रमाण हस्तलिखित पोथियोंसे प्राप्त है। अतएव यह सत्य है कि, स्वर्गीय डा० ब्लाशके रायल एशियाटिक सोसाइटीके जर्नलमें प्रकाशित "दि माडर्न नेम आफ नालन्दा" शीर्षक लेखमें व्यक्त यह विचार कि, नालन्द आधुनिक नाम है, सरासर गलत है। "भारतका प्राचीन इतिहास"नामक ग्रन्थमें व्यक्त विचार भी, किसी रूपमें, भ्रमपूर्ण है। इस सम्बन्धमे यह कहना भी अयुक्ति नहीं कि, इम्पीरियल गजेटियरमें प्रकाशित इस स्थानका बिहार-ग्राम नाम, निराधार होनेके कारण ही छोड़ देना पड़ा। पुरातत्त्व-विभागको धन्यवाद है, जिसके परिश्रमके फलस्वरूप नालन्द नाम प्रचलित हो गया और रेलवे स्टेशनका ही नालन्द नाम नहीं रखा गया—बिहारशरीफमें एक कालेजकी स्थापना भी इसी नामपर कर दी गयी। यहाँ एक और अनुमान भी अयुक्ति-संगत न होगा "सुदस्सना" नामक ग्रन्थमें कहा गया है कि, "जब तथागत जेतवनमे थे, तब उन्होने विचारा कि, थेरासारिपुत्र कार्तिक पूर्णिमाके दिन इस नल ग्राममें मृत्युको प्राप्त हुए।" फाहियानने भी ऐसी ही बातें लिखी हैं। अब प्रश्न यह है कि, नलग्रामका स्थान कहाँ है? यह ध्यानमें रखते हुए कि, बड़गामका ध्वस्त भाग, जो प्राचीन नालन्दके समीप स्थित है (जिसे राइस डविस "बड़का" कहते हैं और मैं, जैन-ग्रन्थोंके आधारपर, बाहिरिका समझता हूँ), जो सारिचकके नामसे पुकारा जाता है, उसे क्या हम नालन्द न सही, नालन्दका एक भाग हो (जैसे, सारिचक बड़गाम) नहीं मान सकते?

जैन-ग्रन्थानुसार नालन्द, महावीरके (जिन्होंने यहाँ १४ चातुर्मास्य बिताये थे) समयमें राजगृहके दूरका स्थान अर्थात् बाहिरिका था। सूत्रकृतांगसे यह पता चलता है कि, ईस्वी सनसे पहले नालन्द एक उन्नतिशील स्थान था। जैकोबीके शब्दोंमें यह केवल नगरका आदर्श वर्णन है। यह सम्पूर्ण वर्णन "औपपत्तिक सूत्र" (प्रथम सूत्र) में है।

भद्रबाहुके (जिनकी मृत्यु १७० वि० में हुई थी) लिखे "कल्पसूत्र" नामक जैन-ग्रन्थमें ये ही बातें हैं अर्थात् नालन्द राजगृहका बाहिरिका था।

"पूर्वदेशचैत्यपरिपाटी" तथा "समेतशिखर-तीर्थमाला" नामक जैन-ग्रन्थ नालन्दके प्राचीन

गौरवको प्रमाणित करते हैं। ये दोनो ग्रन्थ-रत्न अद्यपर्यन्त प्रकाशित नहीं हुए हैं। हमें इनकी जो बातें विदित हुई हैं, वह एक जैन महात्माकी (मेरे बहुत दिन पहले नालन्द-अनुसन्धान-कालमें) कृपाके फल हैं।

पण्डित हंससोमकी "पूर्वदेशचैत्यपरिपाटी"में स्पष्ट लिखा है:—

"नालंदे पाडे चौद चौमास सुणी जै
हौडा लोक प्रसिद्ध ते बडगाम कही जै
सोलप्रसाद तिहाँ अच्छै जिन बिम्ब नमीजे"

'समेतशिखरतीर्थमाला'मे, इस विषयमे, और भी साफ है। उसमे लिखा है—

"बाहिरी नालदा पाडो
सुणायो तस पुण्यपवाडो
वीर चौद रहा चौवास
हौटा बडगाम निवास
बिह देहरे एकसो प्रतिमा नवीलहिई बोधनी गणिमा।"

यदि नालन्द वास्तवमे राजगृहका एक महल्ला रहा हो, तो इतनेमे ही हम अनुमान कर सकते हैं कि, राजगृहकी एवं उसके लोगोकी अवस्था प्राचीन कालमे कैसी बढ़ी-चढ़ी रही होगी। नालन्द तथा राजगृहके बीचकी दूरी सात मीलोंसे कम नहीं है।

बौद्धसाहित्यमे नालन्दका सर्व-प्राचीन वर्णन 'दिघ निकाय", "ब्रह्मजालसूत्त" तथा "महापरिनिर्वाणसूत्त"मे है।

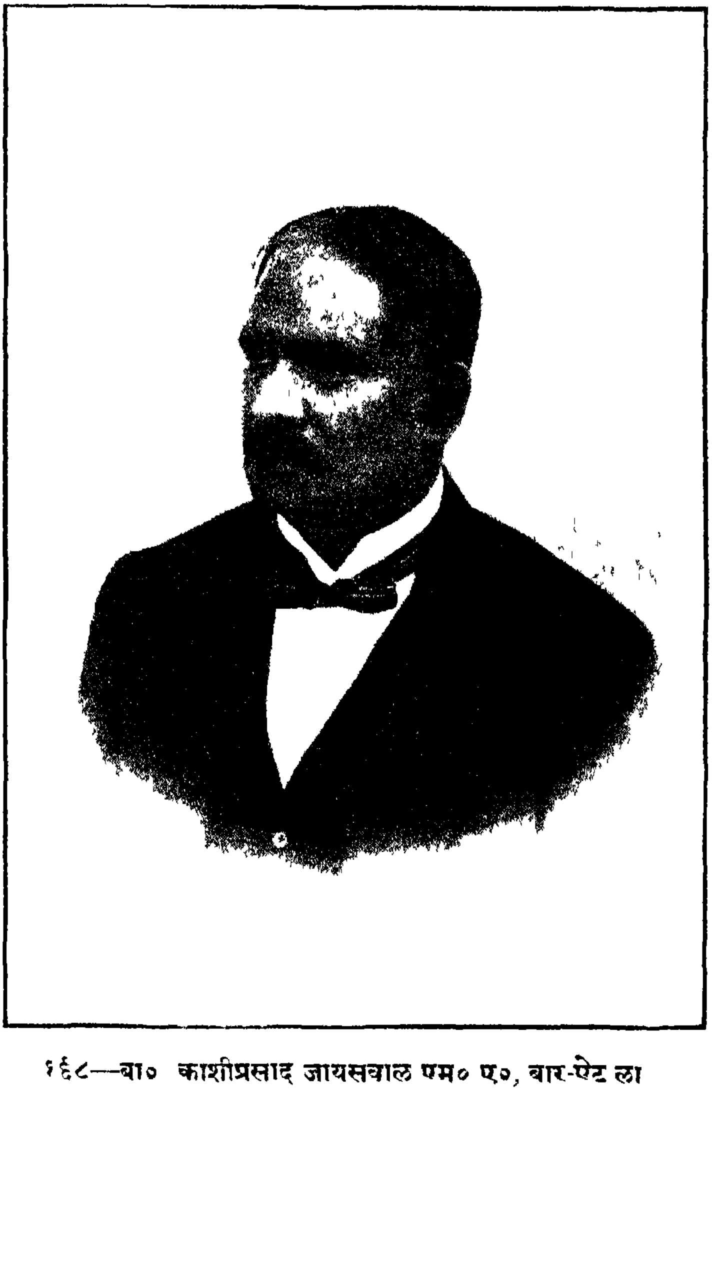
बौद्धग्रन्थोंसे विदित होता है कि, नालन्द राजगृहका एक भाग था। भगवान् बुद्धके जमानेमे नालन्द एक खास स्थान था। यदि ऐसी बात न होती, तो "अन्तरा का राजगटम्, अन्तरा का नालन्दम्" कहना उपयुक्त न होता। जैन तथा बौद्ध, दोनों ग्रन्थोंसे मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि, नालन्द राजगृहकी सीमासे बाहर, किन्तु इसीके दायरेमे, अवस्थित था। मुझे मालूम नहीं कि, ब्राह्मण-ग्रन्थोंमे नालन्द-विषयक कोई चर्चा है या नहीं। सम्भवतः कोई सम्बन्ध न रहनेके कारण ऐसी चर्चाका अभाव होगा। हम जानते हैं कि, राजगृह कृष्णके शत्रु जरासन्धसे सम्बद्ध होनेके कारण एक काव्य-प्रसिद्धकी भूमि है। वहाँके पण्डे अभी भी यात्रियोंको "जरासन्धका अखाडा" दिखाया करते हैं।

कौटिल्य-विरचित अर्थशास्त्रके मैसूर-संस्करणके ५७वे पृष्ठमे, नालन्दके सम्बन्धमे, यों लिखा है—

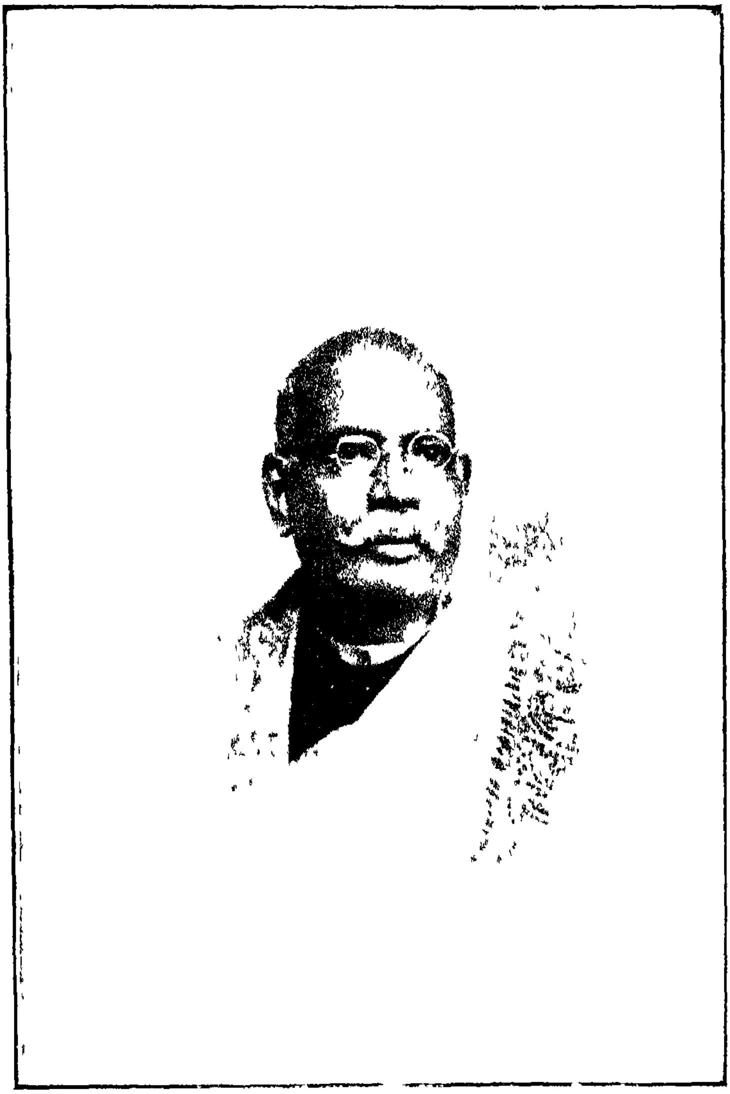
"राजगिहेणाम चाअरे नालंदाणाम बाहिरिआ होत्ता अणेगभवणसअसण्णिविट्ठा।" [राजगृहे नाम नगरे नालन्दानाम बाहिरिआ आसीत् अनेकभवनशतसन्निविष्टा इति परमैश्वर्यसमृद्धबाहिरिकाजातिवर्णन सूयगाग-सूत्रे नालन्दाध्ययने दृश्यते।"

यहाँ भी नालन्द राजगृहका एक उन्नतिशील स्थान कहा गया है, जिसमे सैकड़ों भवन थे। हाँ, इस जगह बाहिरिकाको जाति कहना सत्यतासे अत्यन्त दूर है।

उपर्युक्त बातोंसे सिद्ध है कि, नालन्द ईसाके शताब्दियों पूर्व एवं पश्चात् भी एक उन्नतिशील नगर था। दो महान् धर्मगुरुओं (महावीर तथा बुद्धदेव)की चरण-धूलिने, सौन्दर्यमयी झीलने, पद्मपरिपूर्ण सरोवरने तथा जैन एवं बौद्ध धर्मोंके इन्द्रभूति एवं सारिपुत्र नामक दो प्रधान शिष्योंके निवास-सम्बन्धने प्राचीन-मध्य-कालमे इस



१६८—बा० काशीप्रसाद जायसवाल एम० ए०, बार-ऐट ला



१६९—डा० अविनाशचन्द्र दास एम० ए०, पी-एच० डी०

स्थानकी पवित्रता तथा ख्यातिको अत्यन्त उच्च स्थान दे रखा था। जैनों या बौद्धोंके प्राचीन साहित्य में यहाँ विश्वविद्यालय होनेकी कोई चर्चा नहीं है और मेरा विश्वास है कि, ईसाके चार सौ वर्ष बाद ही यह साहित्यिक केन्द्रके नामसे प्रसिद्ध हुआ। यदि ऐसी बात न होती, तो फाहियान (जिसने समस्त बौद्ध-तीर्थोंका भ्रमण, ४०५ और ४११ के बीच किया था) अवश्य इसके विषयमें अपने यात्रा-वर्णनमें लिखता। उसका चुप रहना व्यर्थ नहीं है।

मेरा विचार है कि, हुएनसंगके समय (जिसने ६३० और ६४५ ई०के बीच भारत-भ्रमण किया था) नालन्द अपनी गौरव-श्रीके उच्चतम स्थानको प्राप्त कर चुका था। किन्तु यह केवल बौद्ध-शिक्षा-संस्कृतिका ही केन्द्र नहीं था, वरन् संस्कृत-साहित्यका भी था। इसी कारण इसे अन्तारााष्ट्रिय ख्याति (जो कि, हुएनसंगके भ्रमण-वृत्तान्त एवं मेरे द्वारा १९११ में प्राप्त ताम्र-पत्र-लेखोंसे है) मिली थी। प्रसिद्ध चीनी तीर्थ यात्रीने, जो (जो वास्तवमें "पर्यटकराज"की उपाधिका योग्य पात्र है) विश्व-प्रसिद्ध नालन्दके विषयमें कहा है, मैं उसे यहाँ दुहराना नहीं चाहता। वह सर्व-जन-विश्रुत है।

ऋग्वेदोक्त आर्यनिवासका भौगोलिक विवरण

डा० अविनाशचन्द्र दास एम० ए०, पी-एच० डी०

ऋग्वेद-संहिता आर्य-जातिका प्राचीनतम धर्मग्रन्थ है। इसमें आर्योंके आदितम निवासका परिचय है। इसके मन्त्रोंकी आलोचना करनेसे ज्ञात होता है कि, इनके रचनाकालमें आर्यगण पञ्चनद-प्रदेशमें, काश्मीरमें, बाह्लीक-प्रदेशमें, गान्धार (अफगानिस्तान)में, बिलोचिस्तानके उत्तरीय भागमें और पश्चिम हिमालयके वास-योग्य स्थानमें निवास करते थे। इन्हीं भू-विभागोंमें आर्योंका आदिम निवास था। पञ्चनदका प्राचीन वैदिक नाम था—"सप्तसिन्धु" यानी सात नदियोंवाला देश। पारसियोंके धर्मग्रन्थ "अवस्ता"में इस प्रदेशका नाम "हप्तहिन्दु" लिखा है। यह पारसियोंका उच्चारण-दोष है कि, "स"की जगह "ह" बोलते हैं।

ऋग्वेदोक्त भौगोलिक विवरणोंकी आलोचना करनेसे पता चलता है कि, पञ्जाबसे ठीक दक्षिणकी तरफ जो राजपुताना प्रदेश है, वहाँ पहले एक समुद्र लहराता था। इस समुद्रमें दृषद्वतीके साथ मिलकर सरस्वती, विपाशा और शतद्रु नामकी नदियाँ गिरती थीं (७।६९।२, ३।३३।२)। सम्प्रति सरस्वती विनशन (बीकानेर) नामक स्थानकी मरुभूमिमें विलुप्त हो गयी है। विपाशा और शतद्रु, दोनो मिलकर जब मरुभूमिकी बालुकाराशिको भेदकर अग्रसर होनेमें असमर्थ हुई, तब उन्होंने पश्चिम की तरफ एक नूतन खात खनन किया और सिन्धु-नदीमें मिल गयीं।

ऋग्वेदमें "पूर्व-समुद्र" एवं "अपर (पश्चिम)-समुद्र" का उल्लेख भी पाया जाता है (१०।१३६।५)। यह पूर्व-समुद्र आधुनिक बंगोपसागर नहीं था; यह पञ्जाबके ठीक पूर्व भागमें अवस्थित था। ऋग्वेदीय युगमें यह समुद्र समग्र गांगेय प्रदेश अर्थात् पाञ्चाल, कोशल, वत्स,

मगध, विदेह, अंग और वंग देशोंको समाच्छन्न करके विद्यमान था। किन्तु ऋग्वेदमें कहीं भी इन देशोंका उल्लेख नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि, यह समग्र भू-विभाग, उस समय, समुद्रगर्भमें निमग्न था, बहिर्भूत नहीं हुआ था। पौराणिक युग और परवर्ती कालमें अत्यन्त विख्यात गङ्गा तथा यमुना नदियोंका भी ऋग्वेदमें एक या दो जगह ही उल्लेख देखकर हमें विस्मित होना पड़ता है। इसका कारण भी यही हो सकता है कि, ये थोड़ी ही दूरतक बहनेवाली छोटी नदियाँ थीं। हिमालयसे समतल क्षेत्रोंमें अवतीर्ण होकर पूर्वसमुद्रमें निपतित हुई थीं। इसीसे इन दोनों नदियोंका गौरव ऋग्वेदमें नहीं है; किन्तु सरस्वती, दृषद्वती, अपया, असिक्नी, विपाशा, शतद्रु, सिन्धु और इन नदियोंसे मिलनेवाली उपनदियोंका उल्लेख ऋग्वेदमें बहुलतासे पाया जाता है। यह पूर्व समुद्र पञ्जाबके इतना निकट था कि, मंत्रद्रष्टा ऋषिगण अश्विद्वय, उषा और सूर्यको इस समुद्रके गर्भसे समुत्थित होते देखते थे। ❀ अपर-समुद्रमें सूर्यको अस्त होते भी देख सकते थे (१०।१३६।५)। यह अपर-समुद्र अरब-सागर या उसकी एक शाखा मात्र था, जो "सिन्धुसागर" नामसे भी परिचित था और आधुनिक सिन्धु-प्रदेशके ऊपर बहा करता था।

ऊपरकी थोड़ी-सी आलोचना द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि, ऋग्वैदिक प्राक्तन कालमें, वर्तमान पंजाबकी पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशाओंमें परस्पर संयुक्त समुद्र थे। परन्तु ऋग्वेदमें "चतु समुद्राः" –चार समुद्रोंका उल्लेख देखा जाता है (९।३३।६, १०।४७।२)। यहाँ भू-तत्त्वविदोंका कथन है कि, ऐतिहासिक युगके प्रारम्भ-पर्यन्त बाह्लीक और पारस्य देशके उत्तरीय भागमें एवम् वर्तमान तुर्किस्तानके पश्चिमीय प्रान्तमें एक विस्तीर्ण भूमध्यसागर विद्यमान था, जो किसी नैसर्गिक कारणसे शुष्क होकर अभी कृष्णह्रद् (*Black Sea*), काश्यपह्रद् (*Caspean Sea*), आरलह्रद् (*Sea of Aral*) तथा बल्काशह्रद (*Lake Balkash*)के रूपमें परिणत हो गया है, जो स्वतन्त्र-स्वतन्त्र रूपसे अवस्थित हैं। × यह विस्तीर्ण भूमध्यसागर ही ऋग्वेदोक्त चतुर्थ समुद्र था। इन चारों समुद्रोंमें आर्य वणिग्गण पोतोंके द्वारा यात्रा किया करते थे और वाणिज्य द्वारा स्वदेशमें प्रभूत वैभव लाया करते थे। *

"राय समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्य सोम विश्वतः।
आ पवस्व सहस्रिणः ॥" (९।३३।६)

इस मन्त्रके भाष्यमें सायणाचार्य लिखते हैं—"रायो धनस्य सम्बन्धिन चतुर. समुद्रान् धनपूर्णान् इत्यर्थः—" इत्यादि।

इसका सरल अर्थ है, 'हे सोम, धन-सम्बन्धी अर्थात् धनपूर्ण चारों समुद्रोंको चारों तरफोंसे मेरे निकट लाओ और अपरिमित अभिलाषाओंको भी लाओ।'

ऋग्वेदके मन्त्र (१०।४७।२)में इन्द्रको "चतु समुद्र धरुण रयीणां" कहा गया है। सायणाचार्यने, 'चतुः समुद्रं', का अर्थ "चतुरः समुद्रान् यः पयसा व्याप्नोति तम्" और "धरुणं रयीणां"का अर्थ "धरुणं धारक तेषां रयीणां धनानां" किया है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि, आर्योंके प्राचीन निवासके चतुर्दिक चार समुद्र थे।

किसी समय पञ्चनद-प्रदेशके दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में समुद्र विद्यमान था; इसे निश्चित करनेमें भूतत्त्वविदों-के भिन्न-भिन्न मत हैं। विख्यात साहित्यिक मि० एच० जी० वेल्सने अपने *Outline of History* नामक

❀ ऋग्वेद—३।५५।१, ५।४५।१०, ७।५५।७, १०।७३।७, १।४६।२, १।४६।८, ५।७५।८, १०।८८।१३ इत्यादि।

× *Ency Brit Vol. V PP. 179—181 (9th Ed) and Vol XXIII P 634*

* १।४८।३, ५६।२, ११६।१, ४।५५।६, ५।८५।६, ७।८८।३

ग्रन्थमें लिखा है कि, इस तरहके समुद्रका अस्तित्व आजसे २५००० या ५०००० वर्ष पूर्व हो सकता है। यदि २५००० ही रखा जाय, तो भी ऋग्वेदके प्राचीनतम मंत्रोंका रचना-काल, इसी समयके अनुसार, अनुमानतः निर्धारित किया जा सकता है।

जो हो, पूर्वोक्त चतु:सीमाके अन्तरालमें ही प्राचीन आर्योंका निवास था, इसमें सन्देह नहीं। इसी चतुःसीमाके आवेष्टन-मध्यमें आर्यगण बहुसंख्यामें विभक्त होकर वास करते थे। कोई शाखा सप्तसिन्धु-प्रदेशमें, कोई शाखा काश्मीरमें, कोई गान्धारमें, कोई बिलोचिस्तानके उत्तरमें, कोई बाह्लीकमें और कोई तुर्किस्तानमें बसती थी। आर्यों की एक शाखा, धर्म-कलहके कारण, सप्त सिन्धु-देश को छोड़कर ईरान (वर्तमान फारस)में बसने चली गयी थी।

ऋग्वेद (५।६१।१९)में देखा जाता है कि, गोमती नदी (गोमल नदी)के तीरपर पर्वतमय प्रदेशमें दर्भपुत्र राजा रथवीतिका राज्य था। अत्रि-वंशीय अर्चनाना ऋषि उसके सोम-यागमें प्रधान होताका कार्य किया करते थे। इसी ऋषिके पुत्र श्यावाश्वने ऋषित्व लाभ करके राजा रथवीतिकी कन्यासे विवाह किया था। राजा रथवीतिके राज्यसे कुछ ही दूर राजा तरन्तका राज्य था। उसकी दानशीला महिषीका नाम शशीयसी था (५।६१।६–७)। राजा तरन्तके राज्यके समीप ही विददश्वपुत्र पुरुमीढ़का राज्य था (५।६१।६-१०)। गोमती नदी गोमल-वर्त्म (*Gomal Pass*)के बीचसे बहती थी। वैदेशिक शत्रुओंके आक्रमणों वा अभियानोंसे रक्षा करनेके लिये इन दुर्गम गिरि-वर्त्मोंके निकट उक्त राजा लोग राज्य करते थे। वह भी विशेषकर कुर्रम और खैबर प्रभृति गिरिवर्त्मों (*Kurram and Khybar Passes*)की रक्षा करनेके लिये ही। बिलोचिस्तानके उत्तरांशमें जो बोलन-गिरिवर्त्म (*Bolan Pass*) है, सम्भवतः वहां भी आर्यगण बसते थे।

ऋग्वेदमें बहुत नदियोंका नाम पाया जाता है। उनमें सरस्वती और सिन्धु-नदी श्रेष्ठ हैं। ऋग्वेदके १०।७५।५ से ज्ञात होता है कि, सिन्धुसे पूर्वकी ओर बहनेवाली नदियाँ थीं—१ गङ्गा, २ यमुना, ३ सरस्वती, ४ शतद्रु, ५ परुष्णी (ईरावती या रावी), ६ असिक्नी (चिनाब), ७ वितस्ता (झेलम), ८ मरुद्वृधा (असिक्नीसंगता वितस्ता), ९ आर्जीकीया (यास्कके मतसे विपाशाका एक नाम) और सुषोमा (यास्कके विचारसे सिन्धु-नदीका नाम)। इसी सूक्तके छठे मंत्रमें सिन्धु-नदीके पश्चिम प्रवहमाना शाखा-नदियोंका भी नामोल्लेख है—१ तृष्टोमा (सिन्धकी एक नदी), २ सुसर्तु (सुवास्तु), ३ रसा (रहा), ४ श्वेती (अर्जुनी), ५ क्रुमु (कुर्रम नदी), ६ गोमती (गोमल नदी), ७ कुभा (काबुल नदी) और ८ मेहत्नू। ये शाखा-नदियाँ सिन्धुकी पश्चिम दिशासे, गान्धार (अफगानिस्तान) और बिलोचिस्तानके उत्तर भागसे, प्रवाहित होकर इसी (सिन्धु)में मिलती थीं। ऋग्वेदमें इनके अतिरिक्त इन नदियोंके भी नाम पाये जाते हैं—१ श्वेतयावरी (७।२६।२८), २ शिफा (१।१०४।३), ३ अञ्जसी, ४ कुलिशी, ५ वीरपत्नी (१।१०४।३), ६ सरयू (५।५३।९, १०।६४।९), ७ अदीना परुष्णीका एक नाम ७।१८।९), ८ दृषद्वती, ९ अपया, १० जह्नावी (३।५८।६) प्रभृति। सरयूनदीको कोई-कोई कोशल-राज्यमें बहनेवाली सरयूनदी ही समझते हैं, किन्तु यह सर्वथा भ्रान्ति है। ऋग्वेदके मन्त्र रचनाकालमें कोशल-राज्यका अस्तित्व ही नहीं था। यह सरयू अफगानिस्तान की एक नदी थी। किसीके मतसे तक्षशिलाके पास बहने-वाली किसी नदीका नाम सरयू था। जन्द अवेस्तामें इसका नाम "हरयू" है। ऋग्वेदके ५।५३।९ मन्त्रमें श्यावाश्व ऋषि इस प्रकार मरुद्गणकी स्तुति करते हैं—"हे मरुद्गण, रसा, अनितभा, कुभा और सर्वत्र गमनशीला

सिन्धु-नदी जिससे तुम लोगोंके लिये विलम्ब उत्पादन नहीं करे। जलपूर्ण सरयू जिससे तुम लोगोंको निरुद्ध करके नहीं रखे। हम लोग जिससे तुम्हारे आगमनजन्य सुखको लाभ कर सकें।" मरुद्गण वारिवर्षणके प्राक् कालमें प्रवाहित होते थे (५।५३।१०)। सुतरां इनका जलीय वाष्पसमूह पश्चिम और उत्तर देशसे प्रवाहित होकर पूर्वदिग्वर्ती सप्तसिन्धु-प्रदेशमें आता था, इस विषयमें सन्देह नहीं है। इसलिये श्यावाश्व ऋषिने अफगानिस्तानके मध्यमें प्रवाहित होनेवाली रसा (रहा), अनितभा, कुभा (काबुल नदी), सरयू (हरयू) और सप्त सिन्धुकी सीमान्तवर्तिनी सिन्धु-नदीका उल्लेख किया है।

पाठकोंको स्मरण होगा कि, श्यावाश्व ऋषिके पिता अर्चनानाने गोमल वा गोमतीके तीरवर्ती राजा रथवीतिकी राजधानीमें सोम-याग किया था और श्यावाश्व ऋषिने इन्हीं राजाकी कन्यासे विवाह किया था। इससे यह सत्य अनुमान किया जा सकता है कि, श्यावाश्व उसी प्रदेशमें, सिन्धु-नदीके तटपर, वास करते हों। श्वेतावरी, शिफा, अञ्जसी, कुलिशी, वीरपत्नी और अदीना प्रभृति नदियोंको बहुतेरे बाह्लीक-प्रदेशकी नदियाँ कहकर अनुमान करते हैं। मेरे विचारसे भी यह अनुमान सत्य मालूम पड़ता है। "जह्नावी" नदी गङ्गा या जाह्नवी नहीं थी। पण्डित रुद्रदेव शास्त्रीका मत है कि, "सिन्धु-नदीके पश्चिम, पाँचकोशके पूर्व और बुनार-प्रदेशके उत्तर जह्नावी प्रदेश है।" इसे ३।५८।६ मन्त्रमें 'पुराणमोक" (पुरातन आश्रयस्थान वा गृह) कहा गया है। इस प्रदेशमें जो नदी बहती थी, उसका नाम जह्नावी था।

ऋग्वेदके दो मन्त्रोंमें (६।२७।५-६) "हरियूपीया" और "यव्यावती" का उल्लेख देखा जाता है। आचार्य सायण कहते है कि, "हरियूपीया किसी नदी वा नगरका नाम है। यव्यावती हरियूपीयाका ही नामान्तर मात्र है। हरियूपीया वा यव्यावती किस कालमें प्रवाहित होती थी, यह नहीं जाना जा सकता।" अध्यापक हिले ब्रांट (*Hillebrandt*) का मत है कि, "सम्भवतः ये दोनों नदियाँ सप्तसिन्धुके बहिर्भागमें थीं।" किसी-किसीके मतसे ईरान-प्रदेशके मध्यमें प्रवाहित हरिरुद् नदीका प्राचीन नाम हरयूपीया था। इसी नदीके तीरपर इन्द्र वृचिवान्के वंशके व्यक्तिगणको पराजित करके देववातवंशीय अभ्यवर्तीके अधीन कर दिया था। कोई-कोई अनुमान करते हैं कि, यह वृचिवान् ब्रिजिस (*Briges*) नामक जातिसे अभिन्न थे और फ्रिजिय नामक देशमें वास करते थे। यह अनुमान सत्य मालूम पड़ता है; क्योंकि आर्यगण पश्चिम एशियापर्यन्त, युद्धके लिये, अभियान किया करते थे।

ऋग्वेद (६।४५।३१ मन्त्र)में भी गङ्गाका उल्लेख है—"उरु कक्ष न गाङ्ग्य"। इस मन्त्रांशका अर्थ "गङ्गाके उन्नत कूलकी तरह" है। समतल क्षेत्रमें प्रवाहित गङ्गाका कूल उन्नत वा उच्च नहीं है। किन्तु हरिद्वार वा हृषीकेशके निकट गङ्गा उन्नत पर्वतराजिके मध्यमें प्रवाहित होती है; इसलिये उसका कूल उन्नत बोला जा सकता है। सम्भवतः वैदिक ऋषिने हरिद्वारके निकट स्वल्प परिसरवाली और पूर्वसमुद्रमें गिरनेवाली गङ्गा नदीको उन्नतकूलवाली कहा है।

यमुना नदीका तटसमूह अत्यन्त उर्वर एवं तृणाच्छन्न चारण-भूमि द्वारा परिशोभित था। इसी कारण इस प्रदेशकी गौएँ प्रचुर-दुग्धवती होती थीं। श्यावाश्व ऋषिने मरुद्गणके निकट इस तरहकी प्रार्थना की थी— "मैं जिससे यमुना-नदीके तीरपर प्रसिद्ध धेनुगणको लाभ करूँ (५।५२।१७)।" किन्तु गङ्गा और यमुना कोई बड़ी नदियाँ नहीं थीं, इसलिये इनकी स्तुतिमें कोई स्वतन्त्र सूक्त नहीं रचा गया।

आर्यगणके द्वारा अध्युषित प्रदेशके मध्यमें सिन्धु

और सरस्वती नदियाँ ही श्रेष्ठा थीं। नदी-स्तुतिमें सिन्धुका वर्णन इस प्रकार है—

"......सकल नदियोंमें सिन्धु-नदी ही, तेजमें, श्रेष्ठ है। हे सिन्धु-नदी, जब तुम अन्नशाली अर्थात् शस्यशाली प्रदेशको लक्ष्य करके वर्द्धित हुई, तब वरुण-देवने तुम्हारे पथको जानेके योग्य बना दिया था। तुम भूमिके ऊपर उन्नत पथसे होकर गमन करो। तुम सकलगमनशीला नदियोंके ऊपर विराजो।

"सिन्धुका शब्द पृथ्वीसे उठकर आकाशतकको आच्छादित कर लेता है। महान् वेगसे उज्ज्वल होकर यह चली है। इसके शब्दको सुनकर मनमें होता है कि, मेघ घोर रवके साथ वृष्टि कर रहा है। सिन्धु आती है, जैसे वृष गर्जन करता हुआ आता हो।

"हे सिन्धु, जैसे छोटे बछड़ेके निकट उनकी माताएँ दुग्ध लेकर जाती है, वैसे ही नदियाँ जल लेकर शब्द करती हुई, तुम्हारी तरफ, चारों ओरसे, जाती हैं। जैसे युद्ध करनेके समय राजा सैन्य लेकर जाता है, वैसे ही तुम अपनी सहगामिनी इन दोनों नदी-श्रेणियों (सिन्धुके पश्चिम और पूर्वमें बहनेवाली नदी-श्रेणियों)को लेकर आगे-आगे चलती हो।

"हे गङ्गे, हे यमुने, सरस्वति, शतद्रु तथा परुष्णि, मेरी इस स्तुतिको तुम सब विभक्त करके ले लो। हे असिक्नी-सगता मरुद्वृधा नदी, हे वितस्ता और सुषोमा-सगता आर्जीकीया नदी, तुम सब श्रवण करो।

"हे सिन्धु, तुम पहले तृष्टोमा नदीसे मिलकर चली, पीछे सुसर्तु, रसा और श्वेतीके साथ मिली। तुमने क्रुमु और गोमतीको कुभा और मेहत्नूके साथ मिलाया। तुम सबके साथ मिली हुई थी।

"यह दुर्द्धर्ष सिन्धु सरल भावसे जाती है। इसका वर्ण शुभ्र तथा उज्ज्वल है। यह बहुत बड़ी है। इसका जल चतुर्दिक् परिपूर्ण है। जितने गतिशाली हैं, उनमें सबसे अधिक गति इसीकी है। यह घोड़ीकी तरह अद्भुत है। यह स्थूलकाया रमणीकी तरह सुन्दर-दर्शना है।

"सिन्धु चिरयौवना और सुन्दरी है। इसे उत्कृष्ट रथ, उत्कृष्ट अश्व और उत्कृष्ट वस्त्र है। इसका रूप उत्तम है। इसे बहुत अन्न है और बहुत पशुलोम है। इसके तीरपर शीलमा नामक तृण और सुगन्धि फूल होते हैं।*

"सिन्धुने अश्वयुक्त सुन्दर रथकी योजना की थी। उसके द्वारा यज्ञमें अन्न पहुँचाया था। इसकी महिमा अतुलनीय है। यह दुर्द्धर्ष है और अपने यशसे ही यशस्विनी है।"‡

सिन्धु-नदीका यह उत्कृष्ट वर्णन कितना चमत्कारपूर्ण है! वैदिक कालकी तरह यह नदी आज भी महिमामयी, वेगवती, प्रचण्डा और समृद्धिशालिनी है। अभी भी पंजाब और सिन्धु-प्रदेशमें अच्छे घोड़े जनमते हैं। अच्छे सूती कपड़े और ऊनी कपड़े प्रस्तुत होते हैं। यव, गोधूम आदि प्रचुर परिमाणमें उत्पन्न होते हैं। पर्वतमय तटभूमिमें सुगन्धित पुष्पोंका बाहुल्य है। ऋग्वेदीय युगमें सिन्धु-तटपर बहुत समृद्ध-समृद्ध जनपद थे। वहाँ बहुतेरे धनाढ्य और राजा रहते थे।

सप्तसिन्धु-प्रदेशके घोड़े, बिक्रीके लिये, बाहर भेजे जाते थे। बकरे और भेंड़के लोमसे सुन्दर कपड़े, शाल और कम्बल तैयार किये जाते थे। ऋग्वेदमें कहीं भी कपासकी चर्चा नहीं है। शीतप्रधान सप्तसिन्धु-प्रदेशमें कोई भी सूती कपड़ा नहीं पहनता था। परवर्ती युगमें जब शीतप्रधान ऋतुका ग्रीष्मप्रधान ऋतुसे परिवर्तन हो

* ऋग्वेदके इसी मंत्रमें "ऊर्णावती, हिरण्मयी, वाजिनीवती, सीलमावती" प्रभृतिका अर्थ, कोई-कोई स्वतंत्र-स्वतन्त्र नदी बताते हैं, परन्तु ये नाम सिन्धुके ही विशेषण हैं।

‡ रमेशचन्द्र दत्तके बंगानुवादसे गृहीत।

गया,* तब सप्तसिन्धु-प्रदेशमें सूती कपड़े तैयार होने लगे। ये सूती कपड़े बेबिलन (*Babylonia*) देशतक बिक्रीके लिये भेजे जाते थे। वहाँ इन वस्त्रोंका नाम "सिन्धु" था। ऋग्वेदीय युगमें धान्य, यव और तिल प्रधान शस्य थे। गेहूँकी चर्चा समूचे ऋग्वेदमें कहीं भी नहीं है। यह अन्न परवर्ती युगमें विदेशसे आया था। यजुर्वेदमें इसका उल्लेख है, किन्तु विदेशी जानकर यज्ञीय कार्यमें यह व्यवहृत नहीं होता था। मि० वेल्स (*Wells*) का मत है कि, ईस्वी सन्‌से ६००० वर्ष पूर्व मेसोपोटामिया और एशिया-माइनरसे गेहूँ भारतमें आया था। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि, ऋग्वेदके बहुतसे मन्त्र वर्तमान समयसे ११००० वर्ष पूर्व रचित हुए हैं। उस समय तिल, धान्य और यव ही प्रशस्त यज्ञीय अन्न थे।× जो हो, उस समय सप्तसिन्धु-प्रदेशमें तिल, यव और धान्य प्रचुर परिमाणमें उत्पन्न होते थे। उसी प्राचीन कालमें, हिमालय और बाह्लीक देशसे, सप्तसिन्धु-देशमें, प्रभूत परिमाणमें, स्वर्ण और मणिरत्नादि लाये जाते थे। निकटवर्ती समुद्रसे मोती भी निकाला जाता था। फूलोंकी अधिकता होनेसे मधु भी बहुत होता था।

वैदिक ऋषिगण केवल याग-यज्ञ और पूजा-पाठमें ही नहीं लगे रहते थे, बल्कि उनका ध्यान शिल्प, वाणिज्य आदिके ऊपर भी था—यह सिन्धु-स्तुतिसे स्पष्ट ज्ञात होता है। इसी लिये तो वे—अधिक गौरवान्वित हुए हैं।

ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके तृतीय सूक्तमें सरस्वतीका वर्णन इस प्रकार है—

"पवित्रा, अन्नयुक्त-यज्ञविशिष्टा और यज्ञफलरूप-धनदात्री सरस्वती हम लोगोंके अन्नविशिष्ट यज्ञकी कामना करें।

"सूनृत वाक्यकी उत्पादयित्री, सुमति, लोगोंकी शिक्षयित्री सरस्वती हम लोगोंका यज्ञ ग्रहण करती है।

"सरस्वती प्रवाहित होकर प्रभूत जलयुक्त हुई है। इसने सकल ज्ञानका उद्दीपन किया है।" (१।३।१०-१२)

उपर्युक्त मन्त्रोंका पाठ करनेसे विदित होता है कि, ऋग्वेदीय युगमें सरस्वती-तटपर ही बहुतसे यज्ञानुष्ठान हुए थे और बहुतेरे सूनृत-वाक्यमय मन्त्रोंकी रचना हुई थी।

ऋग्वेदके षष्ठ मण्डल, ६१ सूक्तमें सरस्वतीकी स्तुति इस प्रकार की गयी है—

"यह नदीरूपिणी सरस्वती मृणालखननकारीकी तरह प्रबल और वेगवान् तरङ्गके द्वारा पर्वतके कगूरोंको भङ्ग कर रही है। हम लोग रक्षाके लिये यज्ञ और स्तुति द्वारा उभयकूलनाशिनी सरस्वतीकी परिचर्या करते हैं।

"हे सरस्वति, तुमने देवनिन्दकगणका वध किया है, सर्वव्यापी मायावी बृसयपुत्रका संहार किया है। हे अन्नसम्पन्ना सरस्वती देवि, तुम मानवगणको भूमि प्रदान करती और उनका परिवर्द्धन करती हो।

"सप्तनदीस्वरूपिणी, सप्तभगिनी-सम्पन्ना, प्राचीन ऋषिगणकर्तृक सम्यग्रूपसेविता, हम लोगोंकी प्रियतमा सरस्वती देवी हम लोगोंकी नियत स्तुति-योग्य हो।

"माहात्म्य और कीर्त्तिके द्वारा यह हम लोगोंके मध्यमें प्रसिद्ध है, नदीसमूहके मध्यमें यह अधिक वेगवती है, श्रेष्ठताहेतु यह निरतिशय-शोभाशालिनी है। यह सरस्वती ज्ञानी स्तोताका स्तुतिभाजन है।

"हे सरस्वति, तुम हम लोगोंको प्रशस्त धन दो। हम लोगोंको तुम हीन नहीं करो। अधिक जलके द्वारा हम लोगोंको उत्पीड़ित नहीं करो। तुम हम लोगोंके बन्धुत्वको स्वीकार करो। हम लोग तुम्हारे निकटसे अपकृष्ट स्थानमें नहीं जाँय।"

* जन्द अवस्तामें लिखा है कि, अग्र मैन्यु (शैतान)ने सप्तसिन्धु-प्रदेशकी शीतप्रधान ऋतुको ग्रीष्मप्रधान ऋतुमें परिवर्तित कर दिया था।

× गेहूँ शास्त्रीय ग्रन्थमें म्लेच्छभोजनके नामसे व्यवहृत हुआ है। अभी भी यह यज्ञकार्यमें नहीं व्यवहृत होता।

दशम मण्डलके ६४ वें सूक्तके नवें मन्त्रका अनुवाद पढ़िये—

"महातरङ्गशालिनी, प्रवाहशालिनी सरस्वती, सिन्धु और सरयू रक्षा करनेके लिये आवें। जलप्रेरणकारिणी, जननीस्वरूपा वे सकल देवियाँ हम लोगोंको घृततुल्य, मधुतुल्य जल दान करें।"

सप्तम मण्डलके नवें सूक्तके कतिपय मन्त्रोंका अनुवाद ऐसा है—

"देवी सरस्वती अयोनिर्मित पुरीकी तरह धारयित्री होकर धारक उदकके साथ प्रवाहित होती है। वह समस्त स्पन्दनशील अन्य जलको, महिमा द्वारा, बाधा प्रदान करती है।

"नदीगणके मध्यमें शुद्धा, गिरि-अवधि-समुद्र-पर्यन्त गमनशीला अकेली सरस्वती (नहुषकी प्रार्थना) अवगत हुई थी। नहुषके लिये उसने पार्थिव धन प्रदान किया था और घृत तथा दुग्धका दोहन किया था।

"सुभगा सरस्वती प्रीत होकर हम लोगोके यज्ञमें स्तुति श्रवण करे। अर्चनीय देवगण नतजानु होकर उसके निकट गमन करें। वह नित्य धनाविशिष्ट है और सखा लोगोंके प्रति दयावती है।

" हे सुभगे सरस्वति, वसिष्ठने तुम्हारे लिये यज्ञका द्वार खोल दिया है। हे शुभ्रवर्ण देवि, तुम वर्द्धित होओ, स्तोताको अन्न दान करो।"

सप्तम मण्डलके ९६ सूक्तके ४,५,६, मन्त्रोंमें सरस्वती देवीके साथ "सरस्वान् देव"की भी स्तुति है। जिस प्रदेशमें सरस्वती प्रवाहित होती थी, उस प्रदेशमें तुषार-क्षेत्र (*Glacier*) था, जिससे उसकी धारा सदा पुष्ट रहा करती थी। सम्भवतः लोग उसीको सरस्वान् कहते थे। उक्त तीनों मन्त्रोंका अनुवाद इस प्रकार है—

"हम अर्थाभिलाषी, पुत्राभिलाषी और सुदानयुक्त स्तोता हैं। हम सरस्वान् देवकी स्तुति करते हैं।

"हे सरस्वान्, तुम्हारा जो जलसमूह रसवान् एवं घृत-धारी है, उसके द्वारा हमारी रक्षा करो।

"प्रवृद्ध सरस्वान् देवकी स्तुति हम लोग करें। वे मेघकी तरह दर्शनीय हैं। हम लोग उनसे प्रजा और अन्न लाभ करें।"

सप्तम मण्डलके सम्पूर्ण सूक्तके रचयिता महर्षि वसिष्ठ हैं। ये तृत्सुगणके प्रधान पुरोहित थे। तृत्सुगण (भरतगणके साथ) सरस्वतीके तटपर निवास करते थे। दाशराज्ञ-युद्धके समय तृत्सुगण परुष्णीके तीरपर हो रहा करते थे। पीछे भरतगणके साथ मिलकर ये तृत्सु-गण सरस्वती-तीरपर आ बसे। हिमालयके पाददेशमें जो मिरपुर पर्वत है, वही सरस्वतीका उत्पत्तिस्थल माना जाता है। बहुतोंका अनुमान है कि, पूर्व कालमें, इस जगहपर, एक विस्तृत तुषारक्षेत्र था। यही तुषारक्षेत्र पसीज कर सरस्वतीको पुष्ट करता था। वसिष्ठ सम्भवतः इसी तुषारा-च्छन्न प्रदेशको "सरस्वान्" (अर्थात् जिसमें निःसृत हो) कहते थे। मेरा अनुमान है कि, यहाँ एक *Glacial lake* था।

सरस्वती इस समय मरुभूमिमें विलुप्त हो गयी है। वैदिक कालमें भी यह इसी रूपमें थी, ऐसी बहुतोंकी भ्रान्त धारणा है। बहुतोंका यह भी कथन है कि, सरस्वती का जो महातरङ्गशालिनी, प्रवाहशालिनी आदि विशेषण है, वह वास्तवमें सिन्धुका है—सरस्वतीका नहीं, इसी लिये बहुत मन्त्रोंमें सरस्वती शब्दका अर्थ सिन्धु होता है। किन्तु ऐसी धारणा अत्यन्त भ्रान्त है।

प्राचीन वैदिक युगमें सप्तसिन्धु-देश शीतप्रधान था; इसी लिये ऋग्वेदके बहुत मन्त्रोंमें संवत्सरका नाम हिम वा हेमन्त आया है।* उस समय सरस्वती नदीके उत्पत्ति-स्थानके निकट विस्तृत तुषारक्षेत्र-समूह विद्यमान

* ऋग्वेद १।६४।१०, २।१।११; ३।२।२, ५।५४।१५, ६।१०।७, ४८।८ इत्यादि

था, जिसके पसीजनेसे सरस्वती नदी सदा भरा-पूरी रहती थी। × राजपुतानेमें गङ्गाकी उपत्यकाके निकट समुद्रके रहनेसे सप्तसिन्धु प्रदेशमें खूब वृष्टि होती थी। इस वारिवर्षणसे भी सरस्वतीका यौवन प्रफुल्लित हो जाया करता था। किन्तु कालवश, अब, न वह गाङ्गय समुद्र है, न वह हिमालयका तुषारक्षेत्र-समूह। राजपूतानाका तलदेश मरुभूमिमें परिणत हो गया। सरस्वती सूख गयी। इस बातको पाश्चात्य भूतत्त्ववित् पण्डितगण भी स्वीकार करते हैं। ❀ फलतः ऋग्वेदका सरस्वती शब्द कहीं भी सिन्धुका द्योतक नहीं हो सकता।

सरस्वती नदी और इसकी तटभूमि आर्योंके लिये अत्यन्त पवित्र वस्तु थी। सरस्वतीको आर्य लोग "अम्बितमे, नदीतमे, देवितमे" कहा करते थे अर्थात् सरस्वती श्रेष्ठ माता, श्रेष्ठ नदी और श्रेष्ठ देवी है (२।४१।१६)। इसी सूक्तके १७ वें मन्त्रमें है कि, सरस्वती ही सकल जीवों की आश्रयभूता है। ऋग्वेदमें, सिन्धु-नदी और सरस्वती का मध्यवर्ती भू-भाग "देवकृतयोनि" शब्दसे अभिहित हुआ है (३।३३।४)। महाराज मनुने सरस्वती और दृषद्वती नामक नदी-द्वयके मध्यवर्ती भूभागको "देवनिर्मित देश" कहा है—

"सरस्वती-दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते॥" [२।१७]

ऋग्वेदीय दशम मण्डलके १२१ सूक्तके चतुर्थ मन्त्रमें हिमाच्छन्न पर्वत-समूहका उल्लेख पाया जाता है। उस मंत्रका अर्थ इस प्रकार है—

"जिसकी कृपासे यह सकल हिमाच्छन्न पर्वत उत्पन्न हुआ है, ससागरा पृथ्वी जिसकी सृष्टि है, ये दिशाएँ जिसके बाहुस्वरूप हैं। किस देवताकी हव्य द्वारा पूजा करें ?"

हिमालयके उत्तर प्रान्तसे मूजवान् पर्वतका उल्लेख है। इसी पर्वतपर उत्कृष्ट सोमलता होती थी। इसका नाम "मौजवत" था (१०।३४।१)। बहुतोंका अनुमान है कि, मूजवान् पर्वत ही वर्तमान कैलास है। मूजवान् वा मुञ्जवान् पर्वतके सम्बन्धमें महाभारतमें लिखा है—

'गिरेर्हिमवतः पृष्ठे मुञ्जवान् नाम पर्वतः।
तप्यते तत्र भगवान् तपो नित्यमुमापतिः॥'
[१४।८।१]

× 'Many parts of the Himalayas bear the records of an Ice-Age in comparatively recent times. Immense accumulation of moraine debris are seen on the tops and sides of many of the ranges of the middle Himalayas, which do not support any glaciers at the present time Terminal moraines often covered by grass, are to be seen before the snouts of existing glaciers at such low elevations as 6000 ft or even 5000 ft Sometimes there are grassy meadows pointing to the remains of old silted-up gleacial lakes"

—Wadia's "Geology of India," P 15-16

❀ *An explanation of the decrease of Himalayan glaciers is that it was a consequence of the diminution of the fall of snow, consequent on the gradual change of climate, which must have followed a gradual transformation of an ocean-area into one of clay land The last named circumstance would also account for the great change in the quantity, of rain-fall, and in the flow of the rivers, of which there are many indications in Western India, in Persia and the region east of the Caspian.*

—*Ency Brit, Vol II, P. 688. 9th Ed,*

अनार्य लोग (तिब्बतवासी) इसी पर्वतपरसे, सोम लताको बेचनेके लिये, आर्यों के पास, सप्तसिन्धु-प्रदेशमें, ले जाते थे। मजवानका सोम सर्वोत्कृष्ट होता था, इसलिये यह अत्यन्त समादृत था।

दशम मण्डल, ९४ सूक्त, १२ मन्त्रका अनुवाद इस प्रकार है—

'हे प्रस्तरगण, तुम्हारे पितृ-स्वरूप पर्वत तुम्हें युगयुगान्तरसे धारण किये हुए हैं। स्थिर हैं। उनकी अभिलाषा पूर्ण हो गयी है। वे हरिद्वर्ण वृक्षविशिष्ट होकर पक्षियोंके कलरव द्वारा द्युलोक और भूलोकको पूर्ण करें।'

प्राचीन कालमे प्रचण्ड भूमिकम्प द्वारा कभी-कभी पृथ्वी कम्पित और पर्वतसमूह प्रकुपित-आग्न्युत्पात द्वारा क्षुब्ध या विचलित प्रतीयमान होते थे (ऋग्वेद १।६३।१, २।१२।२, ६।७।५) भूचालसे कभी-कभी पर्वत या उन्नत भाग समतल हो जाती थी (१।६२।५, ।३०।८)। पजाब और हिमालय प्रदेशोंमें इस तरहका भूमिकम्प प्राय हुआ करता था, यह भूतत्त्वविद् लोग स्वीकार करते हैं कुछ वर्ष पहले जो हिमालयकी कॉंगड़ा-उपत्यकामें भयानक भूकम्प हुआ था, वह सबको विदित है।

पर्वतसमूह तो वनाच्छन्न था ही; बल्कि सप्तसिन्धु-प्रदेशमें सम्पूर्ण क्षेत्रमे भी घन-घोर जङ्गल था। ऋग्वेदके १० १४६ सूक्तमें "अरण्यानी"-सम्बन्धिनी एक सुन्दर स्तुति है, उसकी रचना जैसी चमत्कारिणी है, वैसी ही कवित्वमयी भी।

सप्तसिन्धु-प्रदेशके दक्षिण भागमें समुद्रतटपर एक मरुभूमि थी (१०।६३।१५)। उस समुद्रतटकी बालुका-राशिने उड़-उड़कर कितने ही स्थानोंको अनुर्वर और बालुकामय बना दिया था। ऋग्वेद (८।४६।२८)में ऊँटका उल्लेख है, जिसके द्वारा वणिग्गण और जनसाधारण मरुभूमिका अतिक्रमण किया करते थे। उस समय ऊँटका व्यवहार मरुभूमिमें, शत्रुओंसे लड़नेके लिये, या यों भी युद्धके लिये तथा बोझ ढोनेके लिये होता था (१।१३८।२)।

समूचे ऋग्वेदमें इतने प्रकारके पशु-पक्षी आदिका उल्लेख देखा जाता है—गो, अश्व, मेष, महिष, उष्ट्र, छाग, गर्दभ, हस्ती, कुक्कुर, शृगाल, सिंह, वृष, गौर मृग (वन्य महिष या *bison*), हरिण, कस्तूरीमृग कृष्णसार मृग, वराह, उल्लूक, शुक, गृध्र, कृष्ण, शकुन (बड़ा कौआ), श्येन, वार्तिक (बत्तख), कपिञ्जल (तित्तिर), चक्रवाक, सर्प, मण्डूक, गोधा, वृश्चिक, मत्स्य इत्यादि। "अश्वतर" (खच्चर)का भी नाम ऋग्वेदमें आया है। किन्तु इसके सिवा ब्राह्मणग्रन्थ या अन्य वेदोंमें अश्वतर (*mule*)का बहुत उल्लेख है।

गृहस्थ पशुओंके मध्यमें ज्यादातर गौ पालते थे। मेष और छाग पालनेकी भी प्रथा काफी थी। बकरा आजकलकी अपेक्षा बड़ा होता था; क्योंकि पूषा देवका रथवहन बकरा द्वारा ही होता था (१।१३८)। कुत्ते भी आकार-प्रकारमें बड़े होते थे। ये बोझ ढोने और शिकारके काममें आते थे (८।४६।२)। गदहे रथमें जोते जाते थे और लदनीके काममें भी आते थे (१।३४।६)। जनैक ऋषि एक बार सौ गदहोंके लिये प्रार्थना करते हैं (८।५६।३)। घोड़े चढ़नेके, रथमें जोतनेके, हल खींचनेके तथा बोझ ढोनेके काममे आते थे। यज्ञमें गौ, अश्व, महिष, छाग आदिकी बलि दी जाती थी एव उनका मांस भी खाया जाता था। कालक्रमसे, ऋग्वेदीय युगमें ही, गौकी हिंसा रोक दी गयी। "अघन्या"—हननके अयोग्य—शब्द इनके लिये व्यवहृत होने लगा। गौके बारेमें लिखा [८।१०१।१६] है—

"जो रुद्रगणकी माता, वसुओंकी दुहिता, आदित्य-गणकी भगिनी और दुग्धरूप अमृतका उत्पत्तिस्थल है, वह निरपराधिनी अदिति-स्वरूपा गो देवी अवध्य है—मैं यह बात ज्ञानी मनुष्यको कहता हूँ।" दूसरे सूक्त [६।२८]

में गौकी तुलना इन्द्र, भग प्रभृति देवताओंसे की गयी है।

यजुर्वेद (३०।१८)में गो-घातकके लिये प्राणदण्डकी आज्ञा है। गो-हिंसाका निषेध है—"गा मा हिंसीरदितिं विराजम्" [१३।४३]। अदिति अर्थात् विशाल-स्वरूपिणी गौकी हिंसा मत करो।' गो-हिंसा क्यों रोकी गयी थी, यह भी देखें—"जो हजारों मनुष्योंकी जीवन-रक्षा करती है, जो दूध देती है, घी उत्पन्न करती है, वह अवध्या है। उसकी हिंसा नहीं करनी चाहिये (यजुर्वेद १३।४९)।"

अथर्ववेदमें गो हिंसा-निषेधक बहुत-से मन्त्र हैं। उनकी आलोचना करनेसे यह ज्ञात होता है कि, गो-हिंसा प्रचलित थी, परन्तु परवर्ती कालमें उसका एकबारगी ही निषेध हो गया।

अश्वके सम्बन्धमें पाश्चात्योंका विचार है कि, अश्व द्वारा आर्यगण सब कार्य करते थे, परन्तु उसपर सवारी नहीं करते थे—आर्योंके पास घुड़सवार सेना भी नहीं थी। लेकिन यह विचार नितान्त भ्रान्त है। ऋग्वेदके इन मन्त्रोंमें घुड़सवारीकी चर्चा है—१।११५।१, १४८।३, १६२।७, १६३।६, ५।२७।२२, ४।४२।५, ५।६१।११, ३४।३; ५२।३; ६।६१।२-३, ८।१।७, ८।६।३६।

हस्तीके सम्बन्धमें भी पाश्चात्योंका विचार ऐसा ही अद्भुत है कि, यह पशु सप्तसिन्धु-प्रदेशका नहीं है, बाहरसे लाया गया है, क्योंकि हाथीका नाम नहीं जानकर आर्योंने इसकी सूँड़को "हस्त" समझकर इसका नाम हस्ती रख दिया। किन्तु यह विचार निराधार है। ऋग्वेदमें ही (४।४।१, ८।३३।८, १०।४०।४)में हाथीके लिये "इभ" और "वारण" शब्द आये हैं। हिमालयके पादमूलस्थ वनमें पहले भी बहुत हाथी थे। मतङ्ग ऋषिने पहले-पहल हाथीको फँसानेका और पालतू बनानेका कौशल प्राप्त किया था, इसीसे हाथीका एक नाम मातङ्ग भी है।

पाश्चात्य पण्डित यह भी कहते हैं कि, ऋग्वेदमें मत्स्यका उल्लेख नहीं है, किन्तु १०।३८।८ मन्त्रमें मत्स्यका एवं ८।६७ सूक्तमें महामीनका उल्लेख पाया जाता है। शेषोक्त सूक्तमें जाल द्वारा मछली पकड़नेका भी जिक्र है। प्राचीन आर्यगण मछली खाते थे या नहीं, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, परन्तु मोहञ्जोदारोमें, सर जान मार्शलने, इसका प्रमाण पाया है कि, ईसासे ३००० वर्ष पूर्वमें वे मछली खाते थे। आधुनिक जयपुर प्रभृति राज्यसमूहको पूर्व कालमें "मत्स्य-प्रदेश" कहा जाता था, क्योंकि इसके निकट बहुत मत्स्यपूर्ण समुद्र विद्यमान था।

ऋग्वेदमें सर्पों, विषैले कीड़ों और बहुत प्रकारके सरीसृपोंका उल्लेख है। विषनाश करनेका मन्त्र भी है १।१९१, ७।५०)।

ऋग्वेदमें अश्वत्थ वृक्षका उल्लेख है; किन्तु न्यग्रोध या वटवृक्षकी चर्चा नहीं है। यह वृक्ष सम्भवतः दक्षिणापथमें होता था। वहींसे परवर्ती समयमें यह आर्यावर्तमें लाया गया। ऐतरेय ब्राह्मण (७।३०।४)में न्यग्रोध-वृक्षकी उत्पत्तिके विषयमें लिखा है कि, देवताओंने जिस भूमिपर यज्ञ किया था, अपने चमसको वहीं छोड़कर स्वर्ग चले गये थे। चमस "न्युब्ज" (अधोमुख) रखा था। वही चमस आगे चलकर वृक्ष हो गया; उसीका नाम पड़ा—न्यग्रोध। कुरुक्षेत्रमें ही सर्वप्रथम न्यग्रोध उत्पन्न हुआ था। जो हो, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है कि, कुरुक्षेत्र वा उत्तरापथमें न्यग्रोध पहले नहीं था।

ऋग्वेदमें शमी, पलाश, शाल्मली, खदिर, शिंशपा, शिमुल या शिम्बुल वृक्षका उल्लेख है, किन्तु शाल, आम्र या पनस वृक्षका उल्लेख नहीं है। इक्षुका नाम है (१।८६।१८), किन्तु इक्षुरस द्वारा गुड़ बनानेकी बात नहीं है। मधुकी बड़ी चलती थी। यज्ञमें मधु खूब खाया-पीया जाता था। यव और धान्य प्रधान शस्य था। धान्य

वर्षा-कालमें और यव शीत-कालमें उत्पन्न होता था। धान्यमें ज्यादा पानीकी जरूरत होती थी, इसलिये आर्य-गण सोम-याग किया करते थे। इन्द्र सोमरसका पान करके बलवान् होते थे और वृष्टिनिरोधक मेघरूपी वृत्रका वध किया करते थे। बारह दिनोंसे अधिक जब सोम-याग अनुष्ठित होता था, तब उसका नाम 'सत्र' होता था। राजगण सात महीने, नौ महीने, दस महीने या बारह महीनेका भी सत्र किया करते थे।

अगर आर्योंका प्रधान शस्य धान्य नहीं होता, तो दूसरी फसलके लिये वे बार-बार प्रार्थना कभी भी नहीं करते। जो (यव) शीत या वसन्तकालमें होता है; इसके लिये एक या दो पानी ही काफी है। अभी भी पंजाबमें अधिक वृष्टिका अभाव है, सुखपूर्वक धान्य नहीं होता है। इसलिये पाश्चात्य पण्डित कहते हैं कि, ऋग्वेदीय धान्यका अर्थ "यवादिशस्य" है। किन्तु मेरे विचारसे पाश्चात्योंकी धारणा भ्रान्त है। तिल, मुद्ग, सर्षप, व्रीहि प्रभृति शस्यका नाम वैदिक साहित्यमें देखा जाता है, परन्तु गोधूमका नाम नहीं। गेहूँके बारेमें मैं पहले लिख चुका हूँ।

सोम एक प्रकारकी लता थी। हिमगिरि, मूजवान् पर्वत, कीकट और सप्तसिन्धु-देशके शर्यणावत् सरोवरके तीरपर यह लता उगती थी। कीकटका अर्थ मगध नहीं था, सप्तसिन्धु-प्रदेशके निकटका एक पर्वतीय भूमि था। सोमके रसमें दूध और मीठा मिलाकर आर्य लोग उसे देवताको निवेदित करके पीते थे। सोमपान करनेसे देह और मनमें कुछ उत्तेजना होती थी।

ऋग्वेदमें स्वर्ण, रौप्य, ताम्र और लौहका उल्लेख है। "आयस्" शब्द ताम्र और लौह, दोनोंके अर्थमें आता है, किन्तु लोहा कृष्ण आयस् कहा जाता है। स्त्री, पुरुष, दोनों ही सोने-चाँदीके गहने पहनते थे। लोहा और ताँबेके नानाविध अस्त्र-शस्त्र बनते थे। हिमालय और बाह्लीक-प्रदेशमें बहुमूल्यवान् रत्न पाया जाता था। रत्नोंका साधारण नाम मणि था। मुक्तामालाका भी उल्लेख है। मुक्ता प्रचुर परिमाणमें होती थी, यहाँतक कि, धनी लोग घोड़ोंकी गर्दनमें भी मुक्तामाला लटका दिया करते थे। ऋग्वेदमें लवणका उल्लेख नहीं है, इसलिये बहुतेरे कहते हैं कि, वैदिक आर्य लोग लवणको व्यवहारमें नहीं लाते थे; किन्तु यह कहना ठीक नहीं। सप्तसिन्धु-प्रदेशकी चारों तरफ लवण-सिन्धु था एवम् पंजाबमें अभी भी *Salt-Range* (लवण-पर्वत) है। इतना नमक था, फिर भी वे नमक नहीं खाते थे! यह बात युक्ति-सङ्गत नहीं हो सकती। हाँ, दूर देशमें नमक महँगा था, यह परवर्ती वैदिक साहित्यसे पता चलता है।

पूर्वोक्त चतुःसीमाके मध्यमें आर्यनिवास था। आर्य-जाति वहाँ बहुत शाखाओंमें विभक्त होकर नाना स्थानोंमें बसती थी। यद्यपि वे सब-के-सब आर्यजाति और आर्य-भाषी ही थे, तथापि भाषा, आचार-व्यवहार और धर्म-विश्वासमें तारतम्य था। केवल पाँच शाखाओंमें (पञ्चजनाः) भाषा, आचार-व्यवहार और धर्म-विश्वास एक प्रकारके थे। ये ही वैदिक धर्म और वैदिक सभ्यताके जनक थे। भरतों और तृत्सुओंकी शाखाएँ पहले पृथक् थीं, पीछे मिलकर एक शाखा हो गयी। इनका वासस्थान सरस्वतीका तट और उसके निकटका प्रदेश था। यदुओं और तुर्वशोंकी शाखाएँ भी मिलकर एक शाखा हो गयी थीं। ये समुद्रके तटमें बसते थे। एक बार ये समुद्रके पार जाकर बस गये थे, जिससे ये आर्यधर्म और समाजसे भ्रष्ट हो गये थे। अनुगण, द्रुह्युगण, पुरुगण और पूर्वोक्त दोनों सम्मिलित शाखाएँ ही सम्भवतः "पञ्चजनाः" नामसे ख्यात थीं। इन शाखाओंके आर्योंने ही सर्वप्रथम कृषि-कार्य शुरू किया था, ग्राम, नगर, समाज और धर्मको स्थापित किया था, इसी कारण ये "पञ्च कृष्टयः", "पञ्चचर्षणयः" और "पञ्च क्षितयः"के नामसे परिचित

थे।* इनके अतिरिक्त चेदिगण, मनकगण, भलानसगण पक्थगण, शिवगण, पणिगण, विषाणिगण, कृष्णगण, दासगण, दस्युगण प्रभृति बहुतेरी आयशाखाएँ आर्य-निवासके बहुत स्थानोंमें बसती थीं॑ ।

असुरगण भी आर्योंकी ही एक शाखा थे किन्तु वे पञ्चजन वा वैदिक आर्यगणके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। इन दोनोंमें बहुत दिनोंतक, धर्मके लिये, युद्ध होता रहा, जिसके फलस्वरूप अगणित मनुष्योंकी मृत्यु हुई थी। पीछे असुरगण हारकर सप्तसिन्धु देशको छोड़ भागे। अनेक असुर अग्नि, द्यावा-पृथ्वी, मित्रा-वरुण, पूषा, सूर्य, पर्जन्य, इन्द्र, भग, अर्यमा, अदिति उषा प्रभृति देव-देवियोंकी अर्चना करते थे। कोई-कोई लिङ्ग पूजा करते थे, जिससे वे "लिङ्गदेवा " नामसे प्रसिद्ध थे। कोई सपकी भी पूजा करते थे। पणिगण देश-विदेश जाकर व्यवसाय-वाणिज्य किया करते थे, किन्तु वे अर्थगृध्नुता, दानविमुखता, जल्पकता और स्वतन्त्र धर्मवादिताके लिये वैदिक आर्यगणके निकट अतीव निन्दनीय थे। कालक्रमसे कितने ही आर्यशाखासमूहमें आकर मिल गये और वैदिक धर्मको ग्रहण कर लिया।

आधुनिक नृतत्त्ववित् पाश्चात्य पण्डितोंका मत है कि, वर्तमान पञ्जाब और गान्धार देश मानवजातिका उत्पत्ति-स्थल है। प्रसिद्ध नृतत्त्ववित् अध्यापक सर आर्थर कीथका मत है कि, भारतके उत्तर-पश्चिम, सीमान्त प्रदेशमें, मानवजातिकी उत्पत्ति हुई है। दूसरे नृतत्त्ववित् अध्यापक जे० बी० हाल्डेनने लंडनकी "*Royal Institution*" नामक सभामें, २१-२-१९३१ को, व्याख्यान दिया था कि, पृथ्वीके भिन्न-भिन्न चार केन्द्रोंमें मानवजातिकी उत्पत्ति हुई थी। उनमें पंजाब और अफगानिस्तानका मध्यवर्ती प्रदेश भी मानवजननका एक केन्द्र है। भिन्न-भिन्न केन्द्रोंमें (जैसे चीन और मिश्रमें) भिन्न भिन्न जातियोंके मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई है। + पञ्जाब और गान्धारमें जिस मानवजातिकी उत्पत्ति हुई थी, उसके वंशधरगण आज

* ऋग्वेद ३।७।९ ४।१।८, ८।३।१२, ६।६।५।१७, १०।४४।६ ५।८।६।२ ७।१।५।२ ६।१०।१९ २।१।१० ३।५।३।१६ ४।८।१० १०।६।५, ११।९।६, १।७।९, १७६।३ ५।३।५।२ ६।३६।७ ८।७।५।८, ७।९।१ इत्यादि।

दास और दस्युगण अनार्यजातिके थे, ऐसा बोध होता है किन्तु वे वास्तवमें अनार्य नहीं थे। इस सम्बन्धमें ऋग्वेदमें ही बहुत प्रमाण मिलते हैं।

+ "*In a recent lecture delivered by Prof Sir Arthur Keith at the Royal Institution, he has expressed his opinion, shared by many modern Anthropologists, that the cradle-land of humanity was situated near or within the Northern Frontiers of India, where the finds of fossil remains of extinct kinds of anthropoid apes have been numerous*" (*Rig vedic Culture P 116*)

Prof G-B Haldane, "one of the most famous of living British Scientists' declared on 21 2 31 in his address at the Royal Institution that ' the origin of civilisation occurred independently in different places one probably in Egypt and another somewhere between Afghanistan and the Punjab" He further said that "it was generally believed that the cradle of the human race was one particular place, namely the Garden of Eden and perhaps in Egypt, China or elsewhere It now seemed probable however that humanity began in four different places, with each race distinct from the others

—The "Statesman" of Calcutta, 22 2 31

कल कहाँ है? ऋग्वेदके अति प्राचीन मन्त्रोंकी आलोचना करनेसे मेरे विचारमें ऐसा जँचता है कि, पंजाब और गान्धारमें ही आर्योंकी उत्पत्ति हुई थी एवं यहां प्रदेश इनकी आदि-उत्पत्तिस्थल (*Cradle*) है। अपने सृष्टि-कालमे आर्यजाति यही बसती थी; पोछे भिन्न-भिन्न प्रदेशोंमें फैली।

कलचुरि राजा शंकरगणके समयका शिलालेख

राय बहादुर बा० हीरालाल बी० ए०

मध्यप्रदेशके नितान्त उत्तरका जिला सागर है, जिसका नाम उसके सदर मुकामपर रखा गया है। सागर इतना प्राचीन नगर है कि उसका जिक्र मिश्रदेशीय प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता टालमीने, ईसाकी द्वितीय शताब्दीमें, सगेड़ा नामसे किया है। इस जिलेमें महाप्रतापी महाराजा समुद्रगुप्तके समयके अर्थात् चतुर्थ शताब्दीके खंडहर एरन (प्राचीन ऐरिकिण)में अब भी विद्यमान है। मध्य एशियाके हूण लोग भी वहाँ तक आये थे और अपने राजा तोरमाणका नाम, वहाँके एक विशाल वराहके वक्षस्थलपर छोड़ गये है। इसी प्रकार अन्य कई राजघरानोंके स्मारक जिलेमें यत्र-तत्र पाये जाते है। उनमें से एक कलचुरि-वंशजोंका भी स्मारक उपलब्ध हुआ है। वह किस जगहसे लाया गया, यह तो विदित नहीं, परन्तु सागर नगरके दस बारह माल इर्दगिर्दमें ही उसके मूल स्थानकी सम्भावना जान पड़ती है। वर्तमान समयमें वह सागरके आर्टिलरी मेस (तोपखानेके भोजनगृह)के अहातेमें विद्यमान है। मेसके बँगलेका मालिक अब एक ब्राह्मण है। परन्तु आदिमें उसे एक फौजी अफसरने बनवाया था। जान पड़ता है, वह प्राचीन शिल्पका प्रेमी था। उसने बहुतसी मूर्त्तियाँ तथा खोदाईके अन्य पत्थर और दरवाजे इकट्ठे किये थे। पश्चात् उसने, अपने बँगलेकी शोभा बढ़ानेके लिये, अपने अहातेके चारों कोनोमें, चार चौपहल स्तम्भ, उसी सामग्रीसे, खड़े करवा दिये। इन स्तम्भोंमें बहुतसी सुन्दर मूर्त्तियाँ, चारों मुखोंमें, लगी हुई हैं। नैर्ऋत्य कोणके स्तम्भमें पश्चिमाभिमुख एक पाषाण लगा हुआ है जिसमें तीन-तीन फीट लम्बी पाँच पङ्क्तियोंका एक लेख है। उस लेखके नीचे एक पुरुष और एक स्त्रीका चित्र बना हुआ है। स्त्री अपनी दुहिताके सिरपर हाथ रखे हुए है। एक ओर साईस घोड़ा लिये खड़ा है। ये चित्र राजा, रानी राजकुमारी और राजवाजिके जान पड़ते हैं, परन्तु विचित्रता तो यह है कि, राजा साहब "गान्धी पोशाक" पहने हुए है—यद्यपि कमरमे एक कटार लटक रही है। इन चित्रोंका फोटो और लेखका हूबहू छापा देखनेसे हजार वर्ष पूर्वकी वेश-भूषाका परिचय हो जाता है। लेख सहस्र वर्षका होने के कारण अस्पष्ट हो गया है और कई अक्षर भी घिस गये हैं, इसलिये वह पूर्णरूपसे पढ़ा नहीं जा सकता, परन्तु जैसा अभीतक पढ़ा जा सका है, वह निम्नलिखित रूपमें है—

पङ्क्ति १—"ओं नमः शिवाय। स च परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीलक्ष्म (ण) राजदेव पादानु—

प० २—ध्यातो परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीशंकरगण देवस्य वर्द्धमान विजय-राज्ये का—

प० ३—न्हीपुर परमेश्वर कुलो इति प (र) जहि राज्ये ति सत्कृति राजायेनजयतु श्रीदेवकमस्य मा—

प० ४—र्या लोणिय वंश प्रेथू-भट्टारकजा देवी

येतौ माता पितृ पुण्यं क्षिति तले कीर्त्ति प्रविश्य पयतिः । तथा लोको सघा हित ॥''

इस लेखमें दो पङ्क्तियाँ तो ठीक पढ़ी गयी जान पड़ती हैं, परन्तु शेष तीन अत्यन्त सन्दिग्ध है । जैसे अक्षर जान पड़ते हैं, वैसी प्रतिलिपि कर दी गयी है । इसमें सन्देह नहीं कि, कुछ अक्षर अशुद्ध पढ़े गये है, इस कारण अर्थ ठीक नहीं जमता; केवल भाव मात्रका कुछ संकेत मिलता है । कुछ ऐसा जान पड़ता है कि, परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीलक्ष्मणराज देवके चरणोंका ध्यान करते हुए परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीशंकरगणदेवके बढ़ते हुए विजय-राज्यमें कान्हीपुरके स्वामी वंशज—श्रीकामदेवकी भार्या भट्टारका देवी मातापिताके पुण्यको पृथ्वीपर फैलाकर (सती हो गयी)।'

इस लेखको अंकित करनेका अवसर चाहे जो रहा हो, इतना तो स्पष्ट है कि, वह श्रीलक्ष्मणराजके पुत्र महाराज श्रीशंकरगणके राज्यकालमें लिखा गया था । ये दोनों नाम चेदिकी कलचुरि-वंशावलिमें मिलते हैं । इस वंशकी राजधानी त्रिपुरी, वर्त्तमान तेवर, में थी, जो जबलपुरसे ६ मीलकी दूरीपर है । यह वंश बड़ा प्रतापी था, जिसका संवत २४८ ई० में आरम्भ होकर प्रायः सहस्र वर्षतक चलता रहा । कलचुरि-वंशमें शंकरगण नामका पहला राजा सन् ४८० ई०के पूर्व हुआ, और, उसके ४०० वर्ष पश्चात् द्वितीय शंकरगण हुआ, जो महाराजा लक्ष्मणराजका पुत्र था । बिलहरीके शिला-लेखमें (देखो, एपीग्राफिया इंडिका, पृ० २५६ और २६०) इनके विषयमें यों लिखा है—

''श्रीलक्ष्मणराजो पि तस्मै सुतपसे स्वयम् ।
मठं श्रीवैद्यनाथस्य भक्तियुक्तः समार्प्पयत् ॥

* ❀ ❀ ❀

निमज्ज्य यो रत्ननिधौ श्रीमान्सोमेश्वरं शनैः ।
अभ्यर्च्च्य काञ्चनैः पद्मैरथान्यत्तु न्यवेदयत् ॥
जित्वा कोसलनाथोड्रनृपतेराप्तस्तु यः कालियो
रत्नस्वर्णमयः स येन विहितस्सोमेश्वराभ्यर्चनम् ॥

❀ ❀ ❀ ❀

श्रीशंकरगणस्तस्मादभूद्भूमीश्वरो महान् ।
यत्पादद्वन्द्वयद्वद्वि द्विषद्भिरपि सेवितम् ॥''

अर्थात् लक्ष्मणराजने एक बड़े तपस्वीको श्रीवैद्यनाथका मठ समर्पण कर दिया । उस राजाने समुद्रमें स्नान करके सुवर्णके कमलोंसे सोमनाथकी पूजा की । कोसल-देशको जीत कर उसने ओड्र (उड़ीसा)के राजासे रत्नसुवर्णमय कालियाकी मूर्ति छीनकर सोमनाथको अर्पण कर दी । इसका लड़का शंकरगण हुआ, जिसके चरण-कमलोंकी सेवा उसके शत्रु भी करते थे ।

शंकरगणने बहुत दिनोंतक राज्य नहीं किया, क्योंकि चार-पाँच वर्षोंके पश्चात् उसका भाई युवराजदेव द्वितीय गद्दीपर बैठ गया । शंकरगणका एक शिलालेख जबलपुर जिलेके दवरी मढ़ामें मिला है, जो अभीतक पूर्ण-रूपसे पढ़ा नहीं जा सका । इस लेखमें एक-एक फुट लम्बी दस पङ्क्तियाँ है । दसवींमें केवल दो ही अक्षर हैं । चौथी और पाँचवीं पङ्क्तियोंमें कलचुर और श्रीशंकरगणका नाम पढ़ा जाता है । शेष भागके अक्षर कुछ-कुछ पढ़े जाते हैं, परन्तु अर्थ ठीक नहीं जमता । जनरल कनिंघमने उसकी लिखावटपरसे उसे सातवीं शताब्दीका ठहराया था, परन्तु यह भ्रम था । उसके अक्षर सागर शिला-लेखसे मिलते खाते हैं, जो दसवीं शताब्दीके हैं ।

ग्रामीण बोलियोंके समुचित अध्ययनका महत्त्व

डा० बाबूराम सक्सेना एम० ए०, डी० लिट्

इस विशाल भारतभूमिमें, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित भाषा सर्वेके अनुसार, २२२ भाषाएँ बोली जाती हैं, और, यदि इनके अवान्तर भेदोकी ओर ध्यान दिया जाय, तो इनकी सख्या पाँच सौसे अधिक हो जाती है। इनमेंसे आर्य-भाषाएँ ही प्रमुख है। इन भाषाओके साहित्यिक रूपका अध्ययन सैकडो वर्षोंसे किया जा रहा है, पर इन साहित्यरहित बोलियोकी ओर विद्वानोका ध्यान अभी पचास-साठ वर्षोंसे ही गया है। इस विषयमें भी प्रमुख कार्यकर्ता विदेशी विद्वान् ग्रियर्सन आदि ही है। पर किसी भी भाषाका अध्ययन विदेशियो द्वारा उस सूक्ष्मता, पटुता तथा शुद्धताके साथ नही हो सकता, जो इनके अध्ययनके लिये आवश्यक है। यह काम इन भाषाओ और बोलियोके बोलने वालोका ही है और वे ही इसको सुचारु रूपसे कर सकते हैं।

प्रश्न उठता है कि, इन ग्रामीण बोलियोके अध्ययनसे क्या लाभ ? इनमें कोई साहित्य तो है नही, जिसके द्वारा जाति अथवा राष्ट्रकी उन्नति हो! परन्तु, तो भी इतिहासकी दृष्टिसे भाषाके अध्ययनकी परम आवश्यकता होती है। भाषाके शब्दोंमें जातिकी सभ्यताका इतिहास भरा रहता है; भाषा स्वयं ही सभ्यताका एक मुख्य अङ्ग है। इसलिये उसकी अवहेलना करना उचित नही। यदि ग्रामीण बोलियोंका सुव्यवस्थित अध्ययन किया जाय, तो बहुतसे ऐसे शब्द मिलेंगे, जिनका आज साहित्यिक भाषाओंमें प्रयोग नहीं मिलता, परन्तु जो प्राचीन भाषाओं—सस्कृत, प्राकृत आदि—में पाये जाते हैं।

ग्राम-गीतो और दन्त-कथाओंमें (जो प्रायः ग्रामीण बोलियोंमे ही पायी जाती है) अपनी सभ्यताके रहन-सहन, खान-पान, रीति-रवाजके वे ब्योरे मिलते हैं, जो किसी भी काव्यकथा आदिमें दुष्प्राप्य है। इस विचारसे ग्राम-गीतो, ग्राम-कथाओ तथा ग्रामीण बोलियोके अध्ययनसे इतिहासपर अच्छा प्रकाश पड सकता है।

भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे ग्राम्य बोलियोंके अध्ययन का बडा महत्त्व है। प्रसिद्ध फ्रासीसी विद्वान् प्रिजलुस्कीने अभी कुछ मुण्डा (कोल) जातियोके शब्द-समूहका अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि, सस्कृतके मातङ्ग (हाथी), महिषी (भैंस) शब्द मुण्डा भाषाओसे लिये गये मालूम पड़ते हैं।

भारतीय आर्य-बोलियोपर भारतीय विद्वानोंने अभीतक उपेक्षाकी ही दृष्टि रखी थी। इधर दस-पाँच सालसे बँगाली, काश्मीरी और अवधी बोलियों पर भारतीयों द्वारा कुछ काम हुआ है। इनसे कुछ बडी रोचक सामग्री प्राप्त हुई है। इस छोटेसे लेखमें उसका सकेत भर किया जा सकता है।

ध्वनि-परिवर्तनकी दृष्टिसे यह ज्ञान कि, अवधी-मे शब्दके अन्तमें कुछ ऐसे स्वर विद्यमान हैं, जिनका अस्तित्व केवल फुसफुसाहट (*whisper*) में है, बड़े महत्त्वका है। उदाहरणके लिये संस्कृत "अग्नि" का रूपान्तर प्राकृतोमें "अग्गी" और स्टैंडर्ड हिन्दीमें 'आग' मिलता है। पर पुरानी अवधी और ब्रजकी

बोलियोंमें 'आगि" दिखाई पड़ता है। आधुनिक अवधीमें यही आगि शब्द मिलता है; पर अन्तिम "इ" पूर्ण स्वर नहीं, केवल फुसफुसाहटका स्वर है अर्थात् "इ"के उच्चारणके लिये मुख जो आकृति धारण करता है वह तो होता है, पर घोष जो स्वरका मुख्य अङ्ग है, वह नहीं मिलता। इसलिये इसको फुसफुसाहट स्वर (*whispered vowel*) कहते हैं। इसी प्रकार संस्कृत 'पुत्र', प्राकृत "पुत्तो" स्टैंडर्ड हिन्दी "पूत" और प्राचीन अवधी "पूतु" है, पर आधुनिक अवधीमें 'पूतु"का अन्तिम स्वर केवल फुसफुसाहटका है। इस अन्वेषणसे यह पता चलता है कि, प्राचीन संस्कृतसे प्राकृतों द्वारा आये हुए शब्दोंमें, ध्वनियोंमें, जो परिवर्तन हुए हैं, वह बहुत शनैः-शनैः हुए होंगे। दीर्घ स्वर पहले कुछ छोटा हुआ, फिर, उससे छोटा, फिर सम्भवतः ह्रस्व स्वरके बराबर और तदनन्तर छोटा होता-होता बिलकुल लुप्त हो गया!

इसी प्रकार व्याकरण-सम्बन्धी बड़ी रोचक सामग्री, ग्रामीण बोलियोंके अध्ययनसे, प्राप्त हो सकती है। उदाहरणके लिये पश्चिमोत्तर प्रदेशमें, गिलगिटकी तराईमें, "इन" शब्द मिलता है, जिसकी सम्बन्ध-सूचक विभक्तिका रूप अब भी "इन्द्रस्' (संस्कृत "इन्द्रस्य") है।

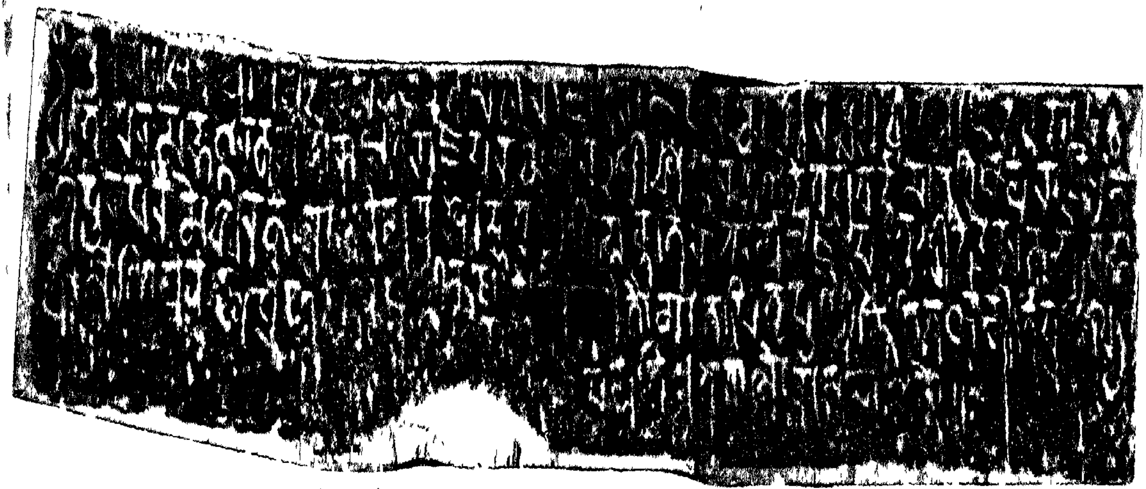
शब्द-समूहके अध्ययनसे ऐसी प्रचुर सामग्री प्राप्त हो सकती है, जिससे अपने पुराने साहित्यपर भी अच्छा प्रकाश पड़ सकता है। अथर्ववेदमें शिल्प-सम्बन्धी तथा अन्य बहुतसे ऐसे शब्द मिलते हैं, जिनके ठीक-ठीक अर्थका पता नहीं चलता। सूर, तुलसी आदि प्राचीन कवियोंकी कृतियोंमें बहुत शब्द ऐसे हैं, जिनका तात्पर्य अज्ञात है। यदि ग्रामीण बोलियोंका शब्द-संग्रह किया जाय, तो मेरी धारणा है कि, अधिकांश पुराने शब्दोंका अर्थ प्रकट हो जाय। उदाहरणके लिये कुछ शब्द नीचे दिये जाते हैं।

पाली-भाषामें "अमच्च" (संस्कृत अमात्य) शब्द संस्कृतकी तरह बहुधा "मन्त्री" अथवा "दरबारी"के अर्थमें नहीं प्रयुक्त हुआ है, "नौकर"के अर्थमें हुआ है। मैथिलीमें "अमात', शब्द अब भी कुछ शूद्र-जातिके मनुष्योंका बोधक है। यह लोग इधर-उधर पालकी ले जाया करते थे। ठीक इसी अर्थमें "जातक"की "निदान-कथामें"में "अमच्च"शब्दका प्रयोग हुआ है। पाली-महावंसमें "मुलाल" (संस्कृत "मृणाल")शब्द आया है। उत्तर भारतमें इस शब्दका अब पता नहीं चलता। इसके स्थानपर "भसीड" (संस्कृत "बिसकाण्ड")युक्त प्रान्तमें और"भे"पंजाबमें मिलता है। परन्तु मध्यभारतकी मालवी भाषामें 'मुरार' शब्द मिलता है, जो "मुलाल"का ही रूपान्तर है।' संस्कृतमें "द्रोण" और "नालिक" शब्द अन्न आदिके नापनेके लिये मिलते हैं। इनके रूपान्तर अब भी गढ़वाली भाषामें प्रयुक्त किये जाते हैं।

इस विवरणसे पता चलता है कि, अपने ग्रामोंमें कैसी सामग्री भरी पड़ी है। बहुतसी संस्थाएँ, पुरातत्त्व-विषयक अन्वेषणके लिये, पुराने स्थानोंकी खोदाई आदि कराती हैं। यदि एक-आध ही संस्था ऐसी हो, जो कुछ विद्वानोंका सहयोग प्राप्त करके भाषा-सम्बन्धी खोज करे, तो पुरातत्त्वकी प्रचुर सामग्री संगृहीत हो सकती है, जिससे राष्ट्रके इतिहासपर समुचित प्रकाश पड़ेगा और मनुष्यजातिके ज्ञानकी वृद्धि होगी।



१५५ –प० काशीनाथ दीक्षित एम० ए०
(सुपरिंटेंडेंट, आर्कियालाजिकल सर्वे, इस्टर्न सर्किल, कलकत्ता



१४८ कलचुरि-राजा शङ्करगणका शिलालेख



१४९—डा० लक्ष्मणस्वरूप एम० ए०, डी० फिल



१५० बा० कामताप्रसाद जैन



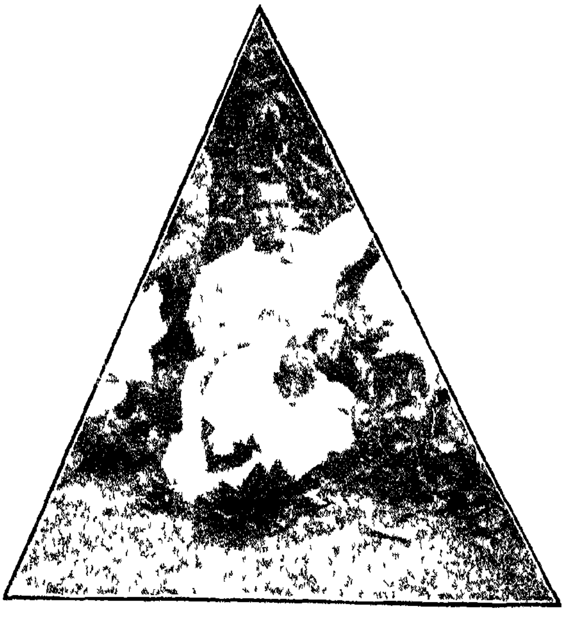
१५१—डा० सुविमलचन्द्र सरकार एम० ए० डी० फिल्



१५२ प० सर्वेश्वर शर्मा कटकी



१५३—श्रीयुत रणछोडलाल ज्ञानी एम० ए०
(बम्बई म्यूजियम)



१५४ प० लोचनप्रसाद पाण्डेय

राजा कर्क सुवर्णवर्षका ब्राह्मणपल्ली दानपत्र

डा० विनयतोष भट्टाचार्य एम० ए०, पी-एच० डी०

कर्क सुवर्णव के जिस ताम्रदान-पत्रकी चर्चा की जा रही है, वह तीन पट्टों (ताम्रपत्रों)में है। तीनों ताम्रपत्र एक गोल अँगूठीके द्वारा संयुक्त हैं, जिसपर एक मुहर लगी हुई है। यह ताम्रदान-पत्र बड़ौदेके ही एक निवासीसे, कुल ४०) रु० में ही, खरीदा गया था। आजकल यह बड़ौदेके ओरियंटल इंस्टीट्यूटकी लाइब्रेरीमें सुरक्षित है। गुजरातके कर्क सुवर्णवर्षके लेखोंमेंसे यही एक ताम्रपत्र अबतक अप्रकाशित रहा है। बम्बई-प्रान्तके लिये न सही, किन्तु बड़ौदा-राज्यके लिये तो निस्सन्देह यह, ऐतिहासिक दृष्टिसे, एक बहुमूल्य वस्तु है। वास्तवमें, इसी राजाके अन्यान्य दान-पत्रोंकी ही भाँति, इसमें जिन स्थानों तथा ग्रामोंका उल्लेख है, वे बड़ौदा-राज्यमें ही स्थित हैं। उल्लेख में आये हुए कुछ नाम आज भी विकृत-रूपमें मिलते हैं।

तीनों ताम्रपत्रोंकी लम्बाई ११ इञ्च, चौड़ाई ८ इञ्च तथा मोटाई चौथाई इञ्च है। सम्पूर्ण ताम्रपत्रकी चारों ओरके बार्डर कुछ उठे हुए और मोटे हैं। जान पड़ता है, लेखोंके रक्षार्थ ही ऐसा किया गया था। तीनों ताम्रपत्रोंके बीचसे होता हुआ—सिरेपर—एक छेद है; और, इस प्रकार तीनोंमें एक ठोस अँगूठीकी नत्थी लगी हुई है। अँगूठी अण्डाकार है। इसकी मोटाई ॥ इञ्च तथा व्यास ४॥ इञ्च है, जिससे तीनों ताम्रपत्र संयुक्त हो गये हैं। अँगूठीपर एक गोलाकार मुहर है, जिसका व्यास ३८ इञ्च है। मुहरमें गरुड़का एक चित्र भर ही है, लिखा कुछ भी नहीं। ताम्रपत्रका लेख * सुरक्षित तथा उसके अक्षर सुपाठ्य हैं। मुद्रण बड़ी कुशलतासे किया हुआ, स्पष्ट और सुपाठ्य है। इसलिये अक्षरोंको पहचानने, पढ़ने और समझनेमें कठिनाई नहीं होती। खोदाईमें एक विशेषता यह भी है कि, अशुद्धियाँ बहुत कम—नहींके बराबर—हैं। यह बात इस राजाकी और-और खोदाइयोंमें नहीं है। इस सम्पूर्ण खोदाईकी भाषा संस्कृत है। हाँ, भूमि-दानकी बातें पद्योंमें ही वर्णित हैं। दान-पत्र-लेखके अन्तमें राजा सुवर्णवर्ष और उसके स्वामी अमोघवर्षके हस्ताक्षर हैं। यह गद्यमें हैं; इनके वर्ण बिलकुल विभिन्न हैं, और, तुलनात्मक दृष्टिसे देखनेपर, उत्तरायकी अपेक्षा, ये दाक्षिणीय शिला-लेखोंके वर्णोंसे कहीं अधिक मिलते-जुलते हैं। ऐसे तो इस दान-पत्रके पद्य अन्यान्य दानपत्रोंमें भी मिलते हैं, किन्तु विशेषत गुजरातके राष्ट्रकूट-राजकुमार कर्क प्रथमके नौसारी-ताम्रपत्रपर लिखित शासन-पत्रमें (*Charter*) तथा गुजरातके राष्ट्रकूट-राजकुमार गोविन्दके कवि-पत्रों (*Kavi Plates*)में अधिकांश आये हैं। इस ताम्र-पत्र-लेखकी वजन साढ़े चार सेर (९ पौंड) है।

वर्ण-विन्यासके सम्बन्धमें जो कुछ मेरे माननीय प्रोफेसर डा० देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर महोदय,※ उपर्युक्त नौसारी-ताम्रपत्रोंकी समीक्षा करते समय, लिख चुके हैं, उसके अतिरिक्त मुझे कुछ कहना नहीं है। वर्ण-विन्यास-सम्बन्धी निम्नाङ्कित बातें महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय हैं.—

---

* फ्लीट महाशय लेखकी भाषाको प्राचीन कनाड़ी शिला-लेखकी भाषा बतलाते है (*I A XII, P 156*) तथा इस सम्पूर्ण ताम्रपत्रके प्रथम ताम्रपट्टका मुख भाग तथा तीसरेका पृष्ठ-भाग बिलकुल खाली है, कुछ लिखा नहीं। बीचके ताम्रपट्टपर दोनों तरफ, लिखा हुआ है।—लेखक।

※ *JBBRAS XX, P 131*

(१) अनुस्वारके स्थानमें कराठ्य सानुनासिकका प्रयोग।

(२) 'प'के बाद आये हुए विसर्गके स्थानमें 'स'।

(३) 'व' और 'द'के साथ 'द' और 'ध'का द्वित्व।

(४) 'क'के बाद, सभी स्थानोंमें, जिह्वामूलीयका उपकल्पन (*Substitution*)।

यह दानपत्र राजा कर्क सुवर्णवर्षके शासनसे सम्बन्ध रखता है, जो गुजरात शाखाके राष्ट्रकूट-राजवंश में उत्पन्न इन्द्रका पुत्र था। इस (वर्तमान दानपत्र) में जो वंश-क्रम-विवरण है, वह इस प्रकार कहा जा सकता है —(१) गोविन्दराज, (२) उसका पुत्र कर्कराज, (३) उसका पुत्र इन्द्रराज, (४) उसका पुत्र दन्तिदुर्ग, (५) कृष्णराज (कर्कराजका पुत्र), (६) उसका पुत्र गोविन्दराज (उपनाम वल्लभ), (७) ध्रुवराज (गोविन्दराजका छोटा भाई), (८) गोविन्दराज (ध्रुवराजका पुत्र), (९) शर्व, × उपनाम अमोघवर्ष (गोविन्दराजका पुत्र) (१०) इन्द्रराज (शर्वका मामा), (११) कर्कराज (इन्द्रराजका पुत्र और वर्तमान शासक)।

इस वंशावलीमें यह ध्यान देने योग्य बात है कि, प्रारम्भिक कालमें मूल राष्ट्रकूट-वंशके राजाओंका उल्लेख है, और, यह वंश गोविन्दराज तृतीयतक आकर समाप्त हो गया है। गोविन्दको एक अनुज था, जिसका नाम इन्द्र तृतीय था। इसी (इन्द्र तृतीय)के द्वारा राष्ट्रकूट-राजवंशकी गुजरात-शाखाकी उत्पत्ति हुई। कहते हैं, इन्द्रराज लाट प्रदेशका अधिपति हुआ था, जो गोविन्द तृतीयके द्वारा उसे प्राप्त हुआ था। बुह्लरके मतानुसार यह लाट-प्रदेश वर्तमान मध्य और दक्षिण गुजरात—माही और कोंकणके बीचका प्रदेश—है, किन्तु कवि तथा बड़ौदेके शिला-लेखोंमें वर्णित स्थानोंके आधारपर उसकी यह धारणा थी कि, नवीं शताब्दीमें लाट एक बहुत छोटा-सा प्रदेश था। इस लेखमें आगे यह सिद्ध किया जायगा कि, गुजरातके राष्ट्रकूटोंने जिस भू-खण्डपर शासन किया, उसकी उत्तरीय सीमा माही नदी तथा दक्षिणी सीमा नर्मदा नदी थी, इसके अतिरिक्त कुछ ग्राम भी थे, जिन्हें इन राजाओंने, दानमें, दे डाला था, विशेषत कर्क सुवर्णवर्ष बड़ोदा-राज्यमें हो सकता है, जो इन सीमाओंके अन्तर्गत है। यह बहुत सम्भव जान पड़ता है कि, मूल राष्ट्रकूट-राजवंशीय गोविन्द तृतीयने, शकाब्द ७२८ और ७३४ के मध्य, गुर्जरों या चपोत्कटों या अनहिलवाड़के चावड़ोंको जीता था, और, उनके लाट[@] सीमान्त प्रदेशोंको अपने राज्यमें मिला लिया था। बड़ौदेके शिला-लेखमें लिखा है कि, इन्द्रने गुर्जर-राजको पराजित किया था। गुर्जरों द्वारा, अपने विजित प्रदेशोंपर पुनरधिकार प्राप्त करनेके निमित्त, किये गये पश्चात्कालीन प्रयत्नपर ही ऐसा हुआ होगा। यह भी लिखा है कि, मूल राष्ट्रकूट-राजवंशीय श्रीवल्लभ या गोविन्द तृतीयके विरुद्ध इन्द्रराजने दक्षिणके महासामन्तोंसे सन्धि कर ली थी। इससे यह ज्ञात होता है कि, इन्द्रराजके हृदयमें, अपने बड़े भाईके प्रति, कृतज्ञताका कुछ भी भाव नहीं था, जिसने उसे (इन्द्रराजको) गुजरातका राज्य, दान-स्वरूप, दे डाला था। इसका यह भी लक्षण हो सकता है कि, जब गोविन्दराज, अपने शेष जीवनकी गो-धूलिमें, पारिवारिक कलहमें फँसा हुआ होगा, तब—अवसर पाकर—इन्द्रराजने, मूल राजवंशसे सम्बन्ध विच्छेद कर गुजरातमें एक स्वाधीन राज्यकी स्थापना कर डाली होगी।*

× I A Vol, P 145　　@ I A XII, P 158　　= Ibid　　* See Infra

इन्द्रराजके दो पुत्र थे, कर्कराज और गोविन्दराज। अपने शासन-कालमें कर्कराजने कई बार भूमि-दान किया था, जिसमें इस वर्त्तमान दानको लेकर तीनका पता चलता है। इन तीनोंके नाम हैं—बड़ौदा-दानपत्र,+ नौसारी-दानपत्र* और तीसरेको, सुभीतेके लिये, ब्राह्मणपल्ली-दानपत्र कह सकते हैं। बड़ौदा-दानपत्रका समय शकाब्द ७३४, नौसारीका ७३८ और ब्राह्मणपल्लीका ७४६ है। इससे प्रकट होता है कि, कर्क शकाब्द ७३४ के कुछ दिनों पहले ही सिंहासनारूढ़ हुआ था, और, शकाब्द ७४६ पर्यन्त या इससे कुछ दिनों बादतक उसने राज्य किया था। किन्तु उपर्युक्त कारणोंसे यह नहीं माना जा सकता कि, कर्कराजका शासन शान्तिपूर्ण और अविच्छिन्न हुआ था, क्योंकि हम देखते हैं कि, शकाब्द ७३५में, उसके छोटे भाई† गोविन्दराजने, यह जतानेके अभिप्रायसे कि, उसी साल वह मध्य गुजरातका शासनकर्त्ता था, बड़ोदेके समीपका एक गाँव, "नरेन्द्र"के रूपमें, दान कर डाला था। इसके चौदह वर्षों बादका, शकाब्द ७४९ का, उसका एक दूसरा दानपत्र × है। अब, इससे काल-निर्णय सम्बन्धी उलझन खड़ी होती है, जिसे किसी भी गुजराती ऐतिहासिकने आजतक नहीं सुलझाया है। वर्तमान ताम्रपत्रकी खोजने, जो सम्भवतः कर्कका अन्तिम दान-पत्र है, इस सामग्रीका पूर्ण रूपसे अनुसन्धान करना अनिवार्य कर दिया है।

इस अपूर्व स्थितिके दो विवरण दिये जा सकते हैं, दो प्रकारसे इसकी व्याख्या की जा सकती है। तीसरी व्याख्या यह है कि कर्क दोनों भाइयोंने एक ही साथ राज्य किया, उतनी उपयुक्त और ग्राह्य नहीं हो सकती; क्योंकि यदि यह बात होती तो निश्चय ही दोनोंके दिये गये दानके ताम्रपत्रमें इसका उल्लेख होता। दोनों भाइयोंने बड़ौदेकी आसपासकी भूमिको दान स्वरूप दिया था, और, दोनोंके शासन-पत्रों (*Charters*)में दतप्रदत्त या तो मुख्य ग्राम या पड़ोसका ग्राम बतलाया गया है। फिर, यह सम्भव नहीं है कि, गुजरातका राज्य इस प्रकार विभक्त हो गया हो कि, दोनों भाई, दो विभिन्न भू-भागोंमें, एक ही समय, शासन करते रहे हों।

ध्रुवराज❀ [राष्ट्रकूटोंकी गुजरात-शाखाका एक पश्चात्कालीन राजा]के एक शिला-लेखमें लिखा है कि, कर्कने विपत्ती शत्रुओंके हाथसे मान्यखेतके राष्ट्रकूटोंके राज्यका उद्धार किया था और इसके न्यायतः अधिकारी मूल राजवंशीय राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्षको सिंहासनारूढ़ कराया था ÷। यह घटना निश्चय ही शकाब्द ७३५ में घटी होगी, क्योंकि अमोघवर्षका नाम, शकाब्द ७३८ के+ शासन-पत्रों (*Charters*)में मिलता है, जो उसके शासनकालका सम्भवतः प्रथम उल्लेख है। कर्कराज उन दिनों गुजरातपर शासन कर रहा था। स्वभावतः उसे, मूल राष्ट्रकूट राजवंशीय अमोघवर्षके

+ *J. F. Fleet* द्वारा *I. A, Vol XII, pp 156 ff* मे प्रकाशित। * *D. R. Bhandarkar* द्वारा *JBBRAS, Vol. XX, PP 131 ff* में प्रकाशित। † तोरखेद-दानपत्र (*Torkhede Grant*) *J. F. Fleet* द्वारा *Epi Ind. III, pp. 53 ff* में प्रकाशित। × गोविन्दराजका कवि-दानपत्र (*Kavi Grant*) *G. Buhler* द्वारा *I. A. Vol V pp 144 ff* में प्रकाशित।

❀ शकाब्द ७५७ *I. A. Vol XIV pp 199 ff* में प्रकाशित।

÷ *Ibid* निजबाहुबलेन जित्वा योऽमोघवर्षमचिरात्स्वपदे व्यधत्त।

+ नौसारी-ताम्रपट, *JBBRAS, Vol XX P. 135*

सहायतार्थ, अपने राज्यको छोड़ना पड़ा था, और, शायद उसने, अपनी अनुपस्थितिमें, राज्यकी देख-रेख करनेका भार अपने छोटे भाईके हाथोंमें सौंपा था। वह शीघ्र ही अपनी राजधानीको लौटा होगा और सम्भवत लौटने पर ही उसने शकाब्द ७३८ * में एक दूसरे शासन-पत्र (*Charter*) की घोषणा की उसके छोटे भाई गोविन्दराजके शकाब्द ७३५ और ७४६ के शिला-लेखों-से पता चलता है कि, उस (गोविन्दराज)के हृदयम अपने बड़े भाई [कर्कराज]के प्रति गम्भीर श्रद्धा एवम् राज-भक्ति थी।

उपर्युक्त काल-निर्णयकी गड़बड़ीको दूर करनेके निमित्त दूसरी धारणा यह हो सकती है कि, शकाब्द ७३५मे छोटा भाई, जिस समय उसके पाँव पूरी तरह नहीं जमे थे, अपने भाईके प्रति कट्टर शत्रु बन गया, और, साहसी पुरुषोंकी सहायतासे, धोखा देकर, अपने भाईको हरा दिया। इस प्रकार पराजित होकर आश्रय-हीन कर्कको, मान्यखेतके मुख्य राजवंशीय राष्ट्रकूटोंकी सहायता लेनेके निमित्त, दक्षिणको लौट जाना पड़ा। वहाँ, उसने अपने सम्बन्धियोंमेसे जायज दवादार—न्यायत अधिकारी अमोघवर्षके हाथोंसे राजगद्दीका अधिकार छीन लेनेके लिये रचे गये किसी भयङ्कर षड्यन्त्रका अवश्य ही भण्डाफोड़ किया होगा। स्वभावतः उसने अपने पौरुषसे उसे राजगद्दीपर बैठाया। अमोघ-वर्षने कृतज्ञता-ज्ञापनके रूपमें कर्कराजको, अपने छोटे भाई गोविन्दराजको कुचल डालनेके निमित्त, [जिसने धोकेसे उसके राज्य (गुजरात)पर अपना अधिकार जमा लिया था] आवश्यक सहायता दी। यह भी सम्भव जान पड़ता है, क्योंकि शकाब्द ७३५ † के शिला-लेख का एक सेनापतिको दिये गये भूमि-दानसे सम्बन्ध है, जिसने सम्भवतः गोविन्दराजके ही अपने शत्रुओंको विध्वस्त करते समय अद्वितीय पुरुषार्थ प्रदर्शित किया था। यदि कर्कराजने भाईको साधारण प्रतिनिधि (*Deputy*)के रूपमे नियुक्त किया था, तब तो न तो युद्ध करनेका ही अवसर आता और न एक सेनापति को, अपूर्व पौरुष-प्रदर्शनके लिये, विशेष-पारितोषिक-प्राप्ति का ही, जब कि, वह पौरुष उसके अपने बड़े भाई कर्कराजके विरुद्ध प्रचलित नहीं हुआ होगा। चूँकि इस सम्बन्धमे इस शिला-लेखमे और कुछ नहीं लिखा है—निश्चयात्मक रूपमे कुछ निर्णय करना व्यर्थ-सा है। ऐतिहासिकोंपर ही इसकी विवेचना—इसका निर्णय छोड़ा जाता है कि, उपर्युक्त दोनों बातोंमे कौन माननीय और तथ्यपूर्ण है, क्योंकि यह बात विचारणीय है कि, जिस समय गोविन्दराज अपने बड़े भाईके यहाँ प्रतिनिधि (*Deputy*) का कार्य कर रहा था, उस समय, सेना-पतिको इसी लिये पारितोषिक दिया गया था कि, उसने पड़ोसी शक्तियोंमेसे विरोधी शत्रुओंको पराजित किया था।

दूसरी बात, जिस ओर ऐतिहासिकोंका ध्यान विशेष-रूपमे आकर्षित किया जाना चाहिये, इन दोनों राजाओं—कर्क और उसके स्वामी—के चिह्न या व्यञ्जन-सम्बन्धी पुष्पिकाओं (हस्तकृतियों)का अर्थ या उद्बोधन है, क्योंकि इसका सीधा लगाव गुजरात-शाखाके राष्ट्रकूटों और मान्यखेतस्थ मुख्य राज-परिवारके राष्ट्रकूटोंके पारस्परिक सम्बन्धमे है। इस सम्बन्धमें यह बात ध्यान देने योग्य है कि, गुजरातके राष्ट्रकूट अपनेको महासामन्ताधिपति और कभी-कभी लाटेश्वर ‡ कहा करते हैं,

* नौसारी-ताम्रपट।

† *Epic Ind Vol III, P 53 ff*

‡ *I A XII, pp 157*

और, ऐसी बात कर्कके अन्यान्य शिला-लेखोंमेंसे एक ही शिला-लेखमें है। यह वर्तमान ब्राह्मणपल्ली ही ऐसा दान-पत्र (ताम्र-पत्र) है, जिसमें हमें सामन्त-राज और उसके अधीश्वरके संयुक्त हस्ताक्षरोंके प्रचलनका सर्वप्रथम उदाहरण मिलता है। अब इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि, जहाँतक इस ब्राह्मणपल्ली दान-पत्रका सम्बन्ध है, कर्कने मुख्य राजवंशी राजा अमोघवर्षका अधिपतित्व स्वीकार कर लिया था, जैसा कि, इस ताम्र-पत्रमें दोनोंके विभिन्न हस्ताक्षरोंसे प्रकट होता है। कर्कके सर्वपूर्व शिलालेखमें, जो शकाब्द ७३४ का है, कर्क या उसके अधिपति—चाहे गोविन्दराज तृतीय हो अथवा अमोघवर्ष—किसीका भी हस्ताक्षर नहीं है। दूसरे वंशक्रमिक रूपमें लिखे हुए शकाब्द ७३८ के शिलालेखमे भी केवल कर्कका ही हस्ताक्षर है, उसके अधिपतिका नहीं, जैसा कि, इस ब्राह्मणपल्ली दान-पत्रमें अमोघवर्षका है।

शकाब्द ७३५ के तोरखेद-दानपत्रमे ❀, उसके भाई गोविन्दराजने अपनेको 'नरेन्द्र' घोषित किया है और बुद्धवर्षको अपना महासामन्त कहा है, जिसे उसने "सिहरक्खी बारह" नामक जागिर दी थी। इस दान-पत्रमें न तो गोविन्द या कर्कका ही हस्ताक्षर है और न अधिपति अमोघवर्षका ही।

गुजरात-शाखाके प्रथम राजा इन्द्रराजको, गुजरातका राज्य, कृपा-स्वरूप दान मिला था। चूँकि उसके एक भी लेखका पता नहीं मिलता, इसलिये यह जानना कठिन है कि, अपने अधिपतिके प्रति उसका व्यवहार अथवा विचार कैसा था। परन्तु अपने अधिपतिसे तो वह शत्रुताका भाव रखता था, यह बात इसीसे साफ़ प्रकट होती है कि, अपने बड़े भाई और अधिपति गोविन्द तृतीयके विरुद्ध दक्षिणके कुछ महासामन्तोंसे वह मिल गया था। + ऐसी दशामें यह आशा नहीं की जा सकती कि, इन्द्रराज राष्ट्रकूटोंके मुख्य राजवंश का अधिपतित्व स्वीकार करेगा। इन्द्रराजका राज्य कर्कराजको मिला और उसके सम्बन्धमें भी यही बात कही जा सकती है। शकाब्द ७३४ में उसने अपनेको "महासामन्त" और "लाटेश्वर" × (लाट-देशाधिपति) घोषित किया था। फिर, उसका भाई गोविन्दराज अपनेको "नरेन्द्र" और अपने एक अधीनस्थको "महासामन्ताधिपति" ⁂ कहता था और यह मान लेनेके लिये ऐसा कोई कारण नहीं है कि, उसने मुख्य राजवंशका अधिपतित्व कभी स्वीकार किया था।

कर्कके वर्तमान ब्राह्मणपल्ली ताम्रपत्रमें यह प्रवृत्ति हम बिलकुल बदली हुई पाते है, क्योंकि इसमें उसने राजा अमोघवर्षसे हस्ताक्षर कराकर उसका अधिपतित्व स्वीकार किया है। इससे यह विश्वास होता है कि, कर्कने गुजरातके राज्यपर पुनरधिकार-प्राप्तिके लिये राजा अमोघवर्षकी सहायता, इसी शर्तपर, ली कि, वह उसका अधिपतित्व स्वीकार करेगा। कर्कके उत्तराधिकारियोंने इस नीतिका सदैव पालन किया अथवा नहीं, यह कहना सम्भव नहीं है।

गुजरात-शाखाके राष्ट्रकूटोंके सभी लेख (ताम्र-पत्रादि) बड़ौदा-राज्यके लिये बड़े महत्त्वके हैं, क्योंकि उन राजाओं द्वारा दान किये गये अधिकांश ग्राम तथा भूमि आदि इसी राज्यके अन्तर्गत हैं। गुजरात-शाखाके राष्ट्रकूटोंके सभी लेखों [दानपत्रों]में वर्णित समस्त ग्रामोंकी व्याख्या इस छोटे-से लेखमें, स्थानाभावके कारण, नहीं हो सकती। अब कर्कके इस

❀ *Epi Ind* III, *pp* 53 *ff*
+ *I A* XII *pp* 158

× I. A Vol XII pp 158
⁂ तोरखेद-दानपत्रमें।

ताम्र-पत्रमें उल्लिखित ग्रामोंकी ही संक्षिप्त व्याख्या यहाँ की जायगी, और, यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की जायगी कि, उसका राज्य, उत्तरमें माही और दक्षिणमें नर्मदा नदीतक ही सीमित था।

गुजरातके कर्क सुवर्णवर्षके शासनकालके जो तीन ताम्रपत्र-लेख हैं, वे ये हैं—

(१) बड़ौदा-दानपत्र (शकाब्द ७३४)—"*Indian Antiquary*" *XII P 156f* में प्रकाशित यह दान-पत्र केन्द्र-स्थान सिद्धसमीमें लिखा गया था।

(२) नौसारी-दानपत्र (शकाब्द ७३८)—रायल एशियाटिक सोसाइटीकी बम्बई-शाखाके जर्नल (*XX, P 132*) में प्रकाशित यह दान-पत्र केन्द्र-स्थान खेतक (कैरा अथवा सम्भवतः खेड़)मे लिखा गया था।

(३) ब्राह्मणपल्ली दानपत्र (शकाब्द ७४६) – वर्तमान दानपत्र, जो अबतक अप्रकाशित है।

प्रथम दानपत्रमें वतपद्रक (जिसे वतपुर भी कहा गया है) नामक एक ग्रामका उल्लेख है। यह ग्राम अंकोट्टक-केन्द्रमें सम्मिलित था, जिसमें ८४ ग्राम थे। मुख्य ग्रामकी सीमा यह थी– उत्तरमें वग्गाच्छ ग्राम, दक्षिणमें महासेनक नामक तालाब, पूर्वमें जम्बुववीक और पश्चिममें अंकोट्टक।⊛

बड़ौदेके इतिहासके लिये उपर्युक्त दानपत्र बहुमूल्य है, क्योंकि इसमें वतपद्रक नामक ग्रामका उल्लेख है, जिसे अब गायकवाड़-वंशकी राजधानी बड़ौदा कहते हैं। फ्लीट महोदय कहते हैं कि, अंकोट्टक और जम्बुववीक नामक ग्राम वर्तमान कालके अंकुट और जम्बुव नामक ग्राम हैं। यह बात, स्थान-विवरण-सम्बन्धी कुछ विभेद रहते हुए भी, ठीक जँचती है। अल्टेकर * महोदयका कहना है कि, वग्गाच्छ नामक ग्राम आजकलका वघोदिया है, जो बड़ौदेसे कुछ मील उत्तरकी † ओर है। परन्तु दानपत्रमें उल्लिखित महासेनक नामक तालाबका पता नहीं चलता है।

नौसारी-दानपत्र एक ब्राह्मणको दान किये गये दो विभिन्न ग्रामोंके विषयमें है। यह भी खेतक नामक स्थानसे ही लिखा गया था। प्रथम ग्राम समीपद्रक माही और नर्मदाके बीचकी राज्यभूमिमें स्थित है। इसके उत्तरमें धहड़, दक्षिणमें कोलन्द्रक, पूर्वमें गोलिक और पश्चिममें भर्थनक नामक ग्राम हैं।

कोलन्द्रक आजकलका कोलन्द, भर्थनक वर्तमान भर्थना [या भथीना] और धहड़ अबका धवट [धवत] है। यह सभी ग्राम बड़ौदा-राज्यान्तर्गत कर्जन तालुकेमें हैं। + यदि इन तीनों स्थानोंको तीन ओरकी सरहद मान लिया जाय, तो इसके अन्तर्गत ऐसा कोई भी ग्राम या स्थान नहीं मिलता, जिसे पूर्वका समीपद्रक या गोलिक नामक ग्राम कहा जा सके। अतः डाक्टर भाण्डारकरने, समीपद्रकको "सोन्दर्न" सिद्ध करनेके पक्षमें, जो प्रमाण दिया है, वह अपर्याप्त और अमाननीय है।

इसी [नौसारी-दानपत्र]में एक और भूमि-दानकी चर्चा है, जो मनकनिका जिलेमें बतलाया गया है। ग्रामका नाम लिखा है "सम्बन्धी" और इसका सीमा-

⊛ *I A XII, P 164*

* Ancient Towns and Cities in Gujrat and Kathiawad P 37

† JBBRAS, XX P 147

+ धहड़ और गोलिक ग्रामोंका उल्लेख गुर्जर राजकुमार जयभट्टके नौसारी-ताम्रपत्रमें भी है, जिसमें किसी समीपद्रक नामक ग्रामकी भूमि-दानका विवरण है। उपर्युक्त ताम्रपत्र *Charter* के सम्पादक पं० भगवानलाल इन्द्रजीने, पच महालोंमें, दोहड [द] बतलाया है। इनके मतका डा० भाण्डारकरने खण्डन किया है। I. A XIII, P 80 और JBBRAS, XX, P 149.

विवरण (चौहद्दी) इस प्रकार दिया हुआ है—उत्तरमें काष्ठ-मण्डप, दक्षिणमें ब्राह्मणपल्लीक, पूर्वमें सजोदक और पश्चिममें करजावसाहिक। डा० भाण्डारकरके मतानुसार प्राचीन सजोदक अर्वाचीन सजोद तथा काष्ठमण्डप वर्त्तमान-कालीन मावडवा है। किन्तु दोनों ही ठीक नहीं हैं।

मनकनिका (या मकनिक)को वर्तमान मकनी ग्राम कह सकते हैं, जो बड़ौदा-राज्यके सांखेद-तालुकेमे है। प्राचीन "सम्बन्धी" आजकलका सामधी (समाधि या समधी?), काष्ठमण्डप वर्त्तमान काठमाण्डव् और प्राचीन ब्राह्मणपल्लीक ब्रगोली नामक ग्राम है। यह तीनो ग्राम भी सांखेद-तालुकेमें ही है।

ब्राह्मणपल्ली दानपत्रमें ब्राह्मणपल्लीकको महिसक-विषय (केन्द्र)के अन्तर्गत बतलाया गया है, जिसमें ४२ ग्राम सम्मिलित थे। इस ग्राम (ब्राह्मणपल्लीक)के उत्तरमे कवळौक, दक्षिणमे लिकावल्ली, पूर्वमें नवादा और पश्चिममे घडीयप्पा नामक ग्राम बतलाया गया है। ब्राह्मणपल्लीक नामक एक ग्राम मकनिक जिलेमें भी है। अब इन दोनोंमें, यह दानपत्र-सम्बन्धी ग्राम कौन है, इसका पता लगाना चाहिये। कवळौकका स्वाभाविक अपभ्रंश—विकृत नाम कोहली ही हो सकता है, और, इस नाम (कोहली)का एक ग्राम बड़ौदा-तालुकेमें है। कोहली ग्रामको आरम्भिक स्थान मानकर ठीक दक्षिणकी ओर चलनेपर हम बावनगाँव नामक ग्राममें पहुँचते हैं; और, यही ग्राम प्राचीन ब्राह्मणपल्ली जान पड़ता है, जो महिसक-केन्द्र [जिला]के अन्तर्गत है। अन्यान्य नामोंकी खोज करनेपर भी मुझे बड़ौदा-राज्यके भू-मापक-विभाग [*Survey and Settlement Department*] द्वारा प्रकाशित तालुकोंके नकशेमें कुछ पता नहीं चलता।

इस लेखके लिखने तथा इस दानपत्रमें आये हुए विभिन्न ग्रामोंकी खोज और एकरूपता प्रकट करनेमें मुझे अपने परम प्रिय मित्र मि० वी० पाइ० कशल्करसे बड़ी सहायता मिली है, जो इस समय बड़ौदा-राज्यके भू-मापक विभागके सुपरिंटेंडट हैं।

वेद-कालीन शिरोभूषण और पदत्राण

डा० सुविमलचन्द्र सरकार एम० ए०, डी० फिल (आक्सन)

वेद-कालीन समाज और सभ्यताके अनेक-रूपत्व—इसके परम्परागत होने अथवा प्रारम्भिक पूर्व-आर्य-कालीन संस्कृतिका उन्नत रूप होने—का विशद वर्णन मैंने अपनी "*Some Aspects of the Earliest Social History of India*" नामक पुस्तकमें किया है, जिसे मैंने मोहञ्जोदारो और हरप्पाकी खोदाईके तीन वर्ष पूर्व ही लिखा था। जिन बातोंकी चर्चा, मैंने साहित्यिक प्रमाणोंके आधारपर, की थी—जिनसे वेद-कालीन और प्राक्-वेद-कालीन सभ्यताके यथार्थ रूपका चित्र सम्मुख रखा गया था - दस वर्षोंके बाद, पुरातत्त्व द्वारा, वे प्रमाणित हो गयी हैं। आजसे बारह वर्ष पूर्व, वैदिक ग्रन्थोके अध्ययनसे, शिरोभूषण और पद-त्राणके सम्बन्धमें मैंने जो-कुछ जाना था, उसीका सारांश यहाँ मैं लिखता हूँ। जो पाठक भारतीय पुरातत्त्व-विभागकी सर्वे रिपोर्टोंसे परिचित हैं और

जो जान मार्शल महाशय द्वारा, सिन्धु-घाटीकी सभ्यतापर, हालकी लिखी पुस्तक पढ़ रहे होंगे, उन्हें निम्नाङ्कित पङ्क्तियाँ अधिक रोचक, महत्त्व-पूर्ण और विचारणीय जँचेंगी।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि, "उष्णीष" (पगड़ी) प्राचीन वैदिक ग्रन्थोंमें नहीं मिलता। हाँ, अथर्वण अथवा आङ्गिरस-वेदमे, व्रात्योंके सम्बन्धमे, यह शब्द आया है—जहाँ व्रात्य-सम्राटोंकी विशेषता प्रकट की गयी है। यजुर्वेद-संहिता और ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें भी कहीं-कहीं इसकी चर्चा की गयी है; परन्तु वह भी व्रात्यो और राजाओंके ही सम्बन्धमे। इस प्रकार "उष्णीष" व्रात्योंके "धन" अथवा "आधान"—सूचक विशेष चिह्नोंमेंसे है। "क्षत्र"-धारी सरदार इसे बलि या यज्ञके अवसरपर धारण किया करते थे। राजा "सोम" (वैदिक चन्द्रदेव)को भी "उष्णीष" धारण करने वाला कहा गया है। राजा इसे यज्ञके अवसरपर धारण करता था; और, वह इसीमें रखकर यज्ञके शुल्क-स्वरूप स्वर्ण दान किया करता था। देवता-ओंकी सम्राज्ञीकी हैसियतसे इन्द्राणी भी इसे धारण किया करती थी। इससे यह अधिक सम्भव जान पड़ता है कि, प्रारम्भमें पश्चिमीय-भारतीय अथवा भारतीय-आर्योंमें पगड़ी बाँधनेका प्रचलन नहीं था। यह प्रासी-निवासी व्रात्योंके द्वारा ही प्रचारित हुआ। इन्हीं व्रात्योंमें -अथर्ववेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, श्रौत-सूत्र और सूत तथा मगध-प्रादेशिक (प्राच्यी या बङ्गाल और बिहार) पौराणिक गाथा-ओंके अनुसार—सर्वप्रथम राजत्वके भाव उदित हुए। मगध वा प्रासीके व्रात्य, वैदिक ग्रन्थोंमें, असुर, अब्राह्मण, महादेवोपासक तथा पत्थरके बने मृतक-स्मारकोंके पूजक कहे गये हैं। व्रात्योंके "उष्णीष" दिनकी भाँति उज्ज्वल तथा प्रकाशमान और केश रात्रिकी भाँति कृष्ण थे। यह स्पष्ट है कि, वंश-परम्परासे व्यवहृत मुसलमानी पगड़ीके जैसा यह रूईका ही बना होता था; और, सूत्रोंके अनुसार यह कपड़ेसे ढका और कसा रहता था। यह भी परम्परागत चाल थी। यज्ञके अवसरपर ही राजाओंका "उष्णीष", एक विशेष प्रकारसे, बाँधा जाता था और उसके दोनो छोर बँधी हुई पगड़ीके सामने खींचकर ऊपरसे इस प्रकार खोंस दिये जाते थे कि, पगड़ी पूरी तरहसे ढक जाती थी। यह चाल शतपथ-ब्राह्मणोंने ही निकाली थी और विशेषत यज्ञके ही अवसरपर ऐसा किया जाता था। दूसरी चाल यह थी कि, पगड़ीके दोनो छोरोंको, पीछेकी ओर, बाँध दिया जाता था और कन्धेपर "उपवीत"की तरह लटकते हुए फेंटेको काछ-नीमें खोंस दिया जाता था। यज्ञोंके अवसरपर बाँधी जानेवाली इस विशिष्ट प्रकारकी पगड़ीसे यह ज्ञात होता है कि, साधारणत उत्तर-भारतवर्ष-निवासी और विशेषत सैनिकों जैसी, ठीक पुरानी चालकी तरह, क्षत्री सरदार पूँछदार पगड़ी बाँधा करते थे; किन्तु इस तरहकी पगड़ी, विशेषत यज्ञोंके समयके लिये, असुविधाकारक एवम् विपत्तिजनक थी। × × × × ×

× ऐतरेय ब्राह्मणमें लिखा है कि, नाग ऋषि (द्रष्टा) "उष्णीष"की तरहके रूमालसे अपनी आधी आँख ढकी रखते थे। सम्भवतः सिरकी चारो ओर बँधा हुआ यह रूमाल प्रारम्भमें ब्राह्मण-कालीन "उष्णीष" ही था। अतः जब शासक-श्रेणीके राजकुमार अपने संस्कारोंमें सम्मिलित होते थे, तब यह व्रात्य और क्षत्री एक विशिष्ट प्रकारकी पगड़ी बाँधा करते थे। ऐसे अवसरोंपर राजसिंहासन







१६४—१६५—१६६—वेदकालीन शिरःसज्जा



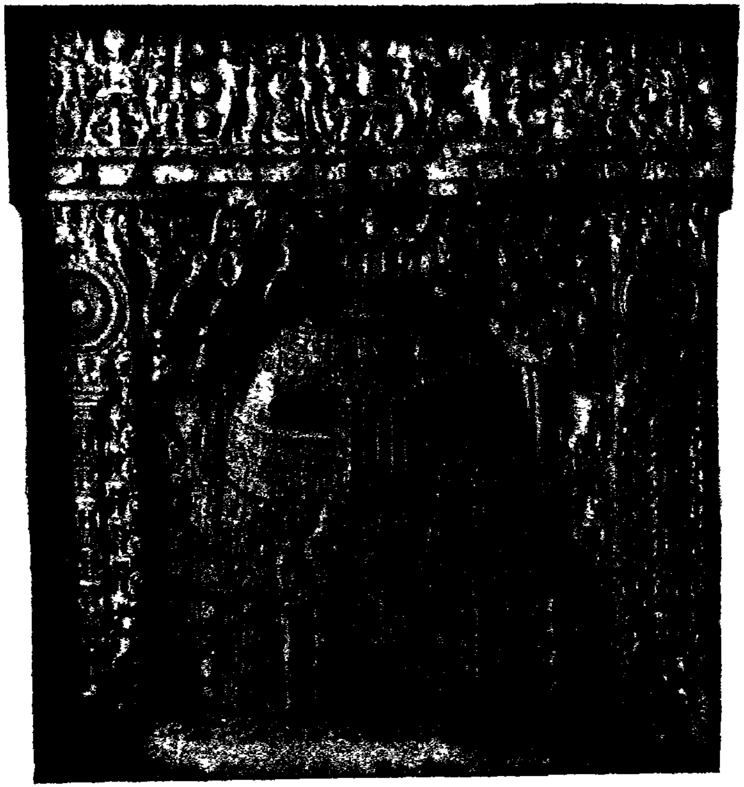
१६७—राजा लक्ष्मीनारायण हरिचन्दन जगदेव बहादुर



१६०—चोलकालीन (ई० दसवीं-ग्यारहवीं सदी) श्रीरामकी सर्वोत्तम प्रतिमा ।



१६१—चोलकालीन (ई० दसवीं-ग्यारहवीं सदी) नटराज शिवकी सर्वोत्तम प्रतिमा



१६२—धान्यकटक (अमरावती, जिला गुंटूर) के महाचैत्यका नमूना।
(मद्रास म्युजियम)



१६३—वेद-कालीन शिरःसज्जा

भी, पौरोहित्य-सम्बन्धी यज्ञादि संस्कारोंके अनुसार, नदी-तटको पवित्र सामग्रियोंसे, अवसरानुकूल निर्मित होते थे। पुरोहितोंकी तरह देवी-देवताओंके साथ भी यही बात थी। ब्रह्मदेशीय तथा कोलार-देशीय स्त्रियोकी-सी, इन्द्राणी भी, बहुरंगे चित्रोंसे सुशोभित, "उष्णोष" धारण करती थी। इससे स्पष्ट घोषित है कि, वह सिरपर बाँधनेका रंगीन रेशमी रूमाल ही था। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि, लंकाकी राक्षस-स्त्रियाँ भी, इन्द्रजित्‌के यज्ञके अवसरपर, अपने सिरपर लाल कपड़े बाँधा करती थी। शतपथ-ब्राह्मणमें एक दूसरी तरहकी पगडी बाँधनेका उल्लेख मिलता है जो दो या तीन इंच चौड़ फातेसे बँधा रहती थी। इससे यह सिद्ध होता है कि, उस समयमे भी, पगडी बाँधनेकी चाल थी, जैसा कि, आजकल लडकियों, विशेषत. दक्षिण-भारतकी स्त्रियो, में फीतेसे बाँधने, गूँथने या सजानेकी चाल है।

ऋग्वेदमें, किरीटकी भाँति, केवल एक ही प्रकारके शिर णका उल्लेख मिलता है, जिसे "शिप्रा" कहा जाता था, क्योकि इससे नाक और कनपटीतक ढक जाती थी। यह शिरस्त्राण युद्धमें ही व्यवहृत होता था। यह घूँघटदार और किसी धातुका ही बना हुआ होगा; जैसा कि, मध्यकालीन अँगरेज सैनिक पहना करते थे। भारतवर्षमें बाहरसे आनेवाले आर्योंका पहनावा भी निश्चय ही इंडो-यूरोपियन आक्रमणकारियोकी ही तरह—प्राचीन ईरानी, शक, कुषाण तथा गुर्जरोकी ही भाँति—होगा; उनका शिरस्त्राण नुकीले टोपकी तरह अवश्य होगा और वे "फेल्टकैप" या "हैट"कासा ही रहा होगा। आर्योंके विचित्र देवता अर्यमा भी स्तूपाकार—ऊँचा—शिरस्त्राण धारण करते थे, जो प्राकृतिक "टोपी" वा 'टूपी" अथवा परम्परागत "टोपर" (जो 'मौर'का-सा वर अथवा मूर्त्तिके लिये स्तूपाकार बनती थी)का ही प्रारम्भिक रूप रहा होगा।

पदत्राणका उल्लेख तो कहीं भी प्राचीन संहिताओमें—ऋग्वेद और अन्यवेदोमें—नहीं मिलता। प्राचीन पौराणिक परम्परागत कथाओसे "उपानह्" (और "छत्र") होनेकी बात सिद्ध होती है। कहते हैं कि, जमदग्नि भार्गवने (जो ऋग्वैदिक विश्वामित्रके समकालीन और सम्बन्धी थे) इसे इक्ष्वाकु-राजकुमारी, अपनी स्त्री रेणुकाके लिये, ही सर्वप्रथम आविष्कृत किया। अत या तो भृगुवंशियोसे जूते और छातेकी यह चाल इक्ष्वाकुओंमें आयी या जमदग्निके राजनीतिक विवाह रेणुकाके साथ, हैहयक विरुद्ध सहायता करनेके कारण, होनेके पश्चात् भृगुवंशियोंने कोशलके राज-दरबारसे इन दोनोंका व्यवहार सीखा। अथर्ववेदमें यह देखकर बड़ा कौतूहल-सा जान पड़ता है कि, जमदग्नि भार्गवने अपनो कन्याके लिये, एक मूल्यवान् केशतैल तैयार किया था। वह युवती अपनी माताके ही सदृश विलासिनी एवम् श‍ृङ्गार-प्रिया थी। यह सब बातें पौराणिक तथ्योसे मिलती हैं कि, भृगु-वंशवाले, अन्य ब्राह्मणोंकी अपेक्षा, क्षात्रधर्म-विशिष्ट थे। सम्भवत· अन्य ब्राह्मण-समुदायमें "उपानह्" (जूते) का व्यवहार नहीं था; और, यदि हुआ भी हो, तो बहुत दिनों बाद हुआ। यही कारण है कि, पौरोहित्य साहित्य (ब्राह्मण-ग्रन्थ) के प्रारम्भिक स्थलोपर इस विषयका उल्लेख नही मिलता। हाँ, साधारण-जनसमुदायमें व्यवहार करने योग्य पदत्राणकी बात तो नहीं; किन्तु सैनिकोंमें व्यवहृत पदत्राणकी बातें प्राचीन संहिताओंमें लिखी

हैं। ऋग्वेदके "पद्विष्" शब्दका अर्थ साधारणत युद्धार्थ अश्वकी पद रक्षाके लिये चर्म्मावरण किया गया है; और, अथर्ववेदमे इसे पैर बाँधनेकी जजीर बतलाया गया है। अश्वोके पद-रक्षावरणसे यहाँ तात्पर्य है सैनिकोके जानु-रक्षणसे। ऋग्वेदके "मन्त्र" अथवा भारी "वातुराणपदा"से युद्ध-क्षेत्रमें सेनानियो द्वारा व्यवहृत विशेष आवरणका बोध होता है, जिससे उनके पाँवसे जघातककी रक्षा होती है। इन्द्र इसी प्रकारके विशिष्ट पदत्राणोसे शत्रुओंका दमन किया करते थे। कुषाणोकी प्रस्तर मूर्त्तियो और मुद्राओमे चित्रित उपानहोंको इडो-सीथियनोके उपानहोंसे तुलना करनेमे बडा मनो-विनोद होता है। शक-कुषाण पश्चात्कालमें भारतपर आक्रमण करनेवाले इडो यूरोपियन ही थे और इसी कारण उनमे हम ऋग्वैदिक भारतीय-आर्य-सम्बन्धी विशेषताएं पाते है। अथर्ववेदमें भी लिखा है कि, इससे कुछ मिलती-जुलती, पैरमें बाँधनेके लिये, "पत-सङ्गिनी" होती थी, जो बहुत असुविधाजनक तथा कुरूप होती थी और जिसे सैनिक, दूर जाने तथा अनिवार्य आक्रमणके समय, पहना करते थे। "उपानह" शब्दका सर्व-प्रथम प्रयोग अथर्वणवेदके अन्तिम भागोमे और फिर, कही-कही यजुर्वेद सहिता और ब्राह्मण ग्रन्थो-में, सस्कारो और व्रात्योंके सम्बन्धमे, हुआ है। ब्राह्मण-कालीन चरण पादुका (खडाऊँ) तथा पद-त्राण (उपानह), जो सस्कारोंके अवसरपर व्यव-हृत होते थे, उत्तर-भारतकी नदियोंके किनारोंपर पाये जानेवाले जगली जानवरो—विशेषत. काले मृगों और सूअरो—की खालसे बने होते थे। मगध-के व्रात्योंके पदत्राण, सूत्रोके अनुसार, काले और लम्बी नोकवाले, चित्रकारी किये हुए रङ्गीन चमडेके बने तथा वरुणके समान धातविक ग्रन्थियोंसे सुशोभित होते थे। इस प्रकारके उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि, अधिकाश सुन्दर उपानह, जो उन दिनो व्यवहृत होते थे, (प्राची-निवासी) व्रात्यो और असुरोमे ही ठीक 'उष्णीष"की भाँति, प्रचलित थे। बहुत सम्भव है कि, प्रारम्भिक कालमें, पुरुष तथा स्त्री—दोनोंमे, पदत्राण साधारण-व्यव-हारकी वस्तु था, जैसा कि, ऋग्वैदिक कालमें "खादी" या 'नूपुर" थे।

"उष्णीष"की चाल, नये-नये तौरसे बाल सँवारने-के फैशनोंके कारण, जाती रही। समस्त गोत्रो अथवा वंशोमे, विभिन्न प्रकारसे, केश सँवारे-सजाये जाते थे। उनकी अपनी रुचिके अनुसार अलग-अलग तरीके थे। इस प्रकार, ऋग्वेदके अनुसार वाशिष्ठ (वशिष्ठ वशीय) सतके बने उज्ज्वल वस्त्र पहनते तथा सीगोंकी तरह "कपर्द" को सिरपर, दाईं ओर धारण करते थे। इनकी पहचान, इन्ही बातोसे, हुआ करती थी। इससे जान पडता है कि, वाशिष्ठोमें पगडी बाँधनेकी चाल नही थी, और, जैसा कि, पहले कहा जा चुका है, अति प्राचीन कालमें कोई भी ब्राह्मण पगडी नही बाँधता था। केश-कलापकी दूसरी विधि "पुलस्ति-कपर्द" थी, जिसमे "कपर्द" सामनेमें अथवा पुलस्त्य ब्राह्मणो-की तरह व्यवहार किया जाता था। इसलिये या तो यह ब्राह्मण-गोत्र इस तरह 'कपर्द" धारण करनेके कारण ही पौलस्त्य कहलाया या ऐसी चाल पौलस्त्योंमें ही थी, जो अगस्त्यों (और वाशिष्ठो) के सगोत्र और बहुत प्राचीन कुलके थे, और उनकी ही भाँति, यह भी राक्षसो अथवा दक्षिण-भारतके निवासियों और उत्तर-पूर्व-प्रदेशके भारतीय प्राक्-आर्यजातियोमें सम्मिलित हो गये थे। इस सम्बन्ध

में यह ध्यान देने योग्य बात है कि, प्राक्-आर्य-देवता रुद्रका "कपर्द" परम्परासे कुछ झुका हुआ--टेढ़ा-- रहता था अथवा पौलस्त्योंकी ही भाँति "पुलस्ति-कपर्दिन्" व्यवहृत था। भिन्न-भिन्न रूपोंमें, पौराणिक महाकाव्यकी कथाओंके अनुसार, रुद्रका सम्बन्ध विशेषत पौलस्त्यों और राक्षसोंके साथ था। पुलस्त्य, पुलह और अगस्त्य गोत्र-नामों (पौराणिक महाकाव्यकी कथाओंमें)से एक ही तात्पर्य्य है। उदाहरण-स्वरूप, इस देशके पूर्व-निवासी यूनानी कुलोंके नाम भी बहुत-कुछ इस प्रकार बल्कि येही थे, "पेलासजी" प्राचीन मेडिटरेनियन-जातिका द्योतक है, जिनके मध्य आर्य ग्रीक जाकर बस गये थे। मेडिटरेनियन और पश्चिमीय एशियाकी सभ्यता तथा प्राक् ग्रीकों (*Pre-Hellenic*)के इतिहासको, पुरातत्त्वकी दृष्टिसे, अध्ययन करनेपर यह बात, बहुत सम्भव जान पड़ती है कि, भारतीय ब्राह्मणों तथा प्राक-आर्यजातियोंके नाम--पुलस्त्य, पुलह और क्रतु आदि---प्रवासके कारण ही बदल गये हैं, जिन्हें पाश्चात्त्य देशवालोंने, प्रथम भारतीय-आर्य-आक्रमणोंके फलस्वरूप, अपनाया था, और, जो पुलस्ति या "फिलिस्टाइस" (बादमें पेलेस्टाइन), पूर्वीय मेडिटरेनियन भागके 'पेलासजी" (*Pelasgi*) तथा क्रीट (*Crete* के 'जनपद' अर्थमें) जैसे नामोंमें लक्षित होता है। सचमुच पौराणिक परम्परागत कथाओंसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि, इन लोगोंने भारतीय सभ्यताको, अति प्राचीन-कालमें ही, अपना लिया था; क्योंकि या तो ये बादके मानवों और ऐलाओं (आर्यों) आदिके साथ संघर्षण करते-करते इनमें मिल गये या बाध्य होकर समुद्र और पश्चिमकी ओर जाकर बस गये और फूलने-फलने लगे तथा इनकी संख्या बहुत बढ़ती गयी। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि, केश सँवारनेकी इस चालसे, परम्परागत प्राचीन पौराणिक कथाओंसे, पुलस्त्योंके 'शैत्रिति" (शैव) होनेकी बात सिद्ध हो जाती है। "कपर्द" की आकृति शिव-लिङ्ग जैसी थी, क्योंकि "कपर्द" के मूल शब्द "कपर्थ" का अर्थ "शिव-लिङ्ग" (*Phallus*) है। अब इसकी तुलना 'कपर्दीक" से कीजिये, जो व्यापार विनिमयका साधन तथा आरम्भमें धातुके डंडेके टुकड़े का बना होता था। इससे जान पड़ता है कि, पुलस्त्य, वाशिष्ठ अथवा अन्य ब्राह्मण-वंशवाले (आङ्गिरस आदिकी भाँति) आदिमें शिव-लिङ्ग-पूजक (शैव) पुरोहित ही थे।

अथर्ववेदके एक अशुद्ध वाक्य (५।१८।११)से, जिसमें, अधिकांश वेदज्ञोंके मतानुसार, संशोधन-की आवश्यकता है (जैसे, 'कर्मज्ञान' की जगह कर्म-ज्ञान और "केशर-प्राबन्धाया." की जगह केशर-प्राबन्धानाम आदि)। ज्ञात होता है कि, समस्त वैतहव्य (यादव) जिन्होंने "केशर-प्राबन्धा" भृगुओंके नवजात शिशुओंको मार डाला था --सपरिवार नष्ट हो गये। यह बात पौराणिक कथाओंमें भी मिलती है। इससे जान पड़ता है कि, भृगु-परिचारोंमें सिंहके अयालकी भाँति--आलङ्कारिक केश (केशर-प्राबन्धा) रखने की चाल थी, जो वैदिक ग्रन्थोंमें वर्णित ब्राह्मण-कालीन प्रशस्त केश-कलापसे बहुत मिलती-जुलती है।

कुछ ऐसे भी वैदिक देवी-देवता हैं, जिनके केश-कलापकी सजावट-बनावटमें विशेष विभिन्नता पायी जाती है। यद्यपि शिवको कहीं जटिल मस्तक-वाला और कहीं मुण्डित मस्तकवाला कहकर

सम्बोधित किया गया है; तथापि प्रधानतया उनके केश "कपर्द"की ही तरह सज-बने होते थे। पूषण "कपर्द" और इन्द्र गुम्बजदार "ओपश" धारण करते थे। देवी सिनीवालीकी ही भाँति अन्य देवी देवताओंके सम्बन्धमें भी यही बात थी, जिन्हें पौराणिक कथाओंके अनुसार आङ्गिरस तथा घरेलू देवी-देवता समझा जाता था। ब्राह्मणोंके आङ्गिरस वंशोमें, सिनीवालीकी भाँति, "कपर्द" ही धारण किया जाता था। इसी प्रकार ऋग्वेदमें भी हम देखते हैं कि, पाश्चात्य सरदार मुद्गल, जो पुरोहितके रूपमें आङ्गिरसोंमें मिल गये थे, "कपर्द" ही धारण करते और, साथ ही साथ, व्रात्य-राजकुमारकी भाँति, हाथमें अस्त्र (*Hunter*) लिये रहते थे। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस प्रकारसे अपने केशोंको सँवारने-सजानेके प्रेमी इन्द्र, रुद्र, पूषण और सिनीवाली आदि वैदिक देवी-देवताओंकी रहन-सहन तथा वेश-भूषा देशी (भारतीय) और अतिरिक्त आर्यों (*Extra-Aryans*) अथवा प्राक्-आर्यजातियों (*Pre-Aryans*)की ही भाँति था। प्रायः सभी वेदज्ञ इस बातको अब मानने लगे हैं कि, वेद कालीन धार्मिक, नैतिक तथा भौतिक सभ्यताका तीन-चौथाई अंश इंडो-यूरोपियन नहीं— बल्कि भारतीय और प्राक्-आर्योंका ही है। यह भी स्पष्ट है कि, इस प्रकारसे केश सँवानेकी चाल —पगड़ी आदिकी तरह शिरोवस्त्र छोड़कर— ब्राह्मण-वंशों और उनके देवी-देवताओंके बीच विभेद एवं विभिन्नता सूचित करती थी। ये अधिकांशतः प्राक्-आर्य-कालीन थे, ब्राह्मण-वंश भी इनके समकालीन ही रहे होंगे।

स्त्रियाँ भिन्न-भिन्न प्रकारसे अपने केशोंका शृङ्गार किया करती थीं। इसका अस्पष्ट भाव इन शब्दोंके द्वारा प्रकट होता है,—'स्तूका' (इसकी तुलना पूर्वीय भाषाके 'थोका' शब्दके साथ कीजिये, जिसका अर्थ 'समूह' होता है), 'कुरीर' और 'कुम्ब'। 'ओपश' और 'कपर्द'की चर्चा तो पहले ही की जा चुकी है। यह स्पष्ट मालूम होता है कि, 'ओपश' तथा 'कपर्द' पुरुष-श्रेणीमें ही व्यवहृत होते थे। स्त्रियोंमें इन्हें पहननेकी चाल नहीं थी। प्राचीनकालके लम्बे-लम्बे केशवाले पुरुष ही इसे धारण कर सकते थे। यही कारण है कि, लम्बे-लम्बे केशोंवाली कुमारी कन्याएँ, अपने-अपने बाल, चार-चार कपर्दोंसे सजाया करती थीं। पुरुष एक ही 'कपर्द' का व्यवहार करते थे। पुरुषोंके लिये 'कपर्द' किस प्रकारके होते थे—इसका स्पष्ट ज्ञान 'कपर्दिन' देवकी परम्परागत मूर्त्ति और उसके शिष्योंके केश कलापसे भली-भाँति हो सकता है। आज भी 'कपर्द' की झलक शिव-भक्तों तथा दक्षिण-पूर्वीय भारतके शैव गृहस्थोंमें [उन्नत जटाजूट बाँधनेकी चाल] पायी जाती है। 'कपर्द' की रचना शिव-लिङ्ग [कपर्थ]की ही तरह होती थी। पुरुष, इसी प्रकार, अपने-अपने लम्बे-घने केश—गुच्छको ऐंठ-गूँथकर जटाजूटके रूपमें बाँधा करते थे। स्त्रियाँ भी, इसी तरह, अपने-अपने केश बाँधा करती थीं। स्त्रियाँ अपने बालोंको चतुष्कोण वेदीकी तरह, चार "कपर्दों" से सजाया करती थीं; और, इस कारण इसका तात्पर्य "आलङ्कारिक पट्ट" नहीं हो सकता, जैसा मैकडानलने समझा है। देवी सिनीवालीके 'कपर्द'का तात्पर्य भी आलङ्कारिक पट्ट [*Braids*] नहीं हो सकता, क्योंकि कुरीर' और 'ओपश'की भाँति, यह उसके केशोंकी विभिन्न सजावटका नाम था। युवतियोंके उपर्युक्त चारों कपर्द, एक साथ मिलकर, अवश्य ही राज-मुकुटकी

आकृतिके बन जाते होंगे। पुरुषोंके "ओपश"के रूपके सम्बन्धमें इतना ही कहा जा सकता है कि, सब बालोंको इकट्ठाकर अन्तमें, सिरपर, छोटी-सी एक गाँठ दे दी जाती थी। ऐसा करनेसे बाल मुकुट या टोपकी तरह बन जाते थे। ऐसा करनेसे केश-बन्धनकी जैसी आकृति हो जाती थी, वही 'ओपश' या 'अव-पश' कहलाता था। 'ओपश की आकृति भी, 'कपर्द'की सी, शिव-लिङ्ग-स्वरूप होती थी। इस आनुमानिक रूपसे, 'ओपश'-शब्द-सम्बन्धी अनेक विवरणोंपर प्रकाश पडेगा। इन्द्र और सोमके 'ओपश मेघाच्छन्न विस्तृत नभोमण्डल है। किसी भी झोपडीका फूसका बना जालीदार छाजन (इसकी तुलना स्त्रीके साथ की गयी है) "विपुवत् पर फैले हुए 'ओपश' के समान है (यह ध्यान देने योग्य बात है कि, बिखरे हुए बालोंको सजाने या बाँधनेके लिये टोपीकी तरह ऐसा 'ओपश' सहज-साध्य है, जो घरके निकले हुए छाजनकी तरह (ओलती-ओरियानी) समस्त सिरको ढक लेता है)। एक जगह 'ओपश'को प्राचीन कालान गायकी गाँठदार दोनो सींगोंका रूप दिया गया है। इन उपमाओंसे यह प्रकट होता है कि, पुरुषोंका ही भाँति, स्त्रियोंके भी 'ओपश' होते थे, यदि 'सु'का अर्थ झोपड़ीका छाजन न लगाकर, सिनीवालीके वर्णनानुसार, भारी 'कपर्द' और अधिक फैला हुआ बड़ा 'ओपश' न किया जाय। परन्तु सोमका 'हरि', 'ओपश' सम्भवत रंगीन जालीदार छाजनसे मिलता-जुलता है, जो पुरुषो द्वारा ही व्यवहृत होता था। इसके साथ इन्द्राणी द्वारा पहने गये रंगीन तथा वृत्ताकार शिरोबन्धनकी तुलना कीजिये। मालूम होता है कि, कभी-कभी [एक ही अलङ्कारसे] 'ओपश'का अर्थ होता था केवल सिर ढकनेवाला जाल, जैसा कि, नववधूके केश 'कुरीर' और 'ओपश'के रूपमें सजे होते थे, और, यह दोनो एक ही सम्पूर्ण शिरोवेष्टन [शिरोबन्धन] के दो भागोंसे बन जाते थे। पुरुष और स्त्रीके 'ओपश' के स्वरूपका वर्णन अथर्ववेदके ऐन्द्रजालिक मन्त्रोंमें भी मिलता है। इस सम्बन्धमे लिखा है कि, प्रतिद्वन्द्वीकी निर्द्वन्द्विता तभी पूर्ण हुई समझी जाती थी, जब 'ओपश,' 'कुरीर' और 'कुम्ब' उसके सिरपर रखे जाते थे! इसलिये 'कुम्ब' और 'कुरीर' एक प्रकारसे स्त्री-शृंगार-विशेष थे। इसी प्रकार सूत्रोंमें भी देखा जाता है कि, 'कुम्ब और 'कुरीर' पत्नीके ही सिरपर रहते थे, और, यह उसी तरह, वैदिक ग्रन्थोमें, पुरुषोंके सम्बन्धमे, नही लिखे गये हैं। जैसा कि, पहले कहा जा चुका है, 'ओपश'का अर्थ शृङ्ग-स्वरूप शिरोवस्त्र नही हो सकता। यह तो बछडेकी छोटी सींगकी तरह गिरहदार होता था। परन्तु "कुरीरिन्" (जो वैदिक विवरणोंके अनुसार सींगकी तरह होता था) सींग-स्वरूप केशबन्धन था, और, केवल स्त्रियोंके लम्बे-लम्बे बालोंके साथ ही इसका सम्बन्ध बतलाया गया है। जाल या घूँघटके समान "ओपश" (जैसा कि, इसका पहले अर्थ लगाया जा चुका है, नववधूके शिरोवस्त्र (घूँघट ?) के समान), सींगके समान बने हुए शिरोबन्धनसे, मस्तकसे, निश्चय ही लटकता हुआ होगा। आज भी इस तरहकी चाल सतलज तथा गङ्गानदीके बीचकी उपत्यकाओंके निवासियों तथा उत्तर-भारतकी हिमालय-प्रदेशमें बसनेवाली जातियोंमे पायी जाती है। 'कुम्ब' निश्चय ही पूर्वीय 'खोँपा' है, जिसकी चाल विशेषतया स्त्रियोंमें, बहुत बादतक चली आयी थी;

जैसा कि, आज भी बंगाल और मालावारकी स्त्रियाँ बालोंको गूँथकर पीछेकी ओर [चौडा जूडा] बाँध लिया करती हैं। इस शब्दका रूप और अर्थ 'कुम्भ' और 'कम्बु' आदि जैसे समरूपात्मक शब्दोसे सम्बद्ध जान पडता है, जिनका तात्पर्य गोलाकारसे है। जिस प्रकार वैदिक नियमित निबद्ध ध्वनि अथवा वाक्को 'सामन' और 'गाथा' कहा जाता था, उसी प्रकार 'कुम्ब'या ऐंठ कर केश-गुच्छको लपेटकर बाँधनेका भी नाम पडा होगा या 'कुम्ब'का ही एक रूप समझा जाता होगा। कुम्ब'का सम्बन्ध तामिल भाषाके 'कुदुम' (केश-समूह-केशावेष्टन) और 'पा' (बुनना वा गूँथना)से भी हो सकता है। इसके साथ 'कदम' (ब) के फूल तथा 'कदमा' (गोल मण्डलाकार टोपी)की समता हो सकती है, जो सम्भवत 'कुम्ब'के विविध रूपोके नाम होगे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि, 'कुम्ब' केवल अथर्ववेद और अधिकाश बादमें रचे गये सूक्तोंमें ही मिलता है। इस कारण लोगोंकी यह धारणा होती है कि, पहले यह आङ्गिरस प्रचलन था, जिसका प्रचार आथर्वणों या आङ्गिरसोंमें ही था, जिनका निवास-स्थान, पौराणिक कथाओके अनुसार, अङ्ग देश था (जिसके अन्तर्गत, प्राचीन कालमे, वास्तविक अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र, वैशाली और मगध-प्रदेश थे और इसी अङ्गके नामपर वस्तुत अङ्गिरा या आगिरस-गोत्र नाम पडा)। अत हमलोग अबतक भी बंगाल, बिहार, उडीसा और मालावार वा केरल (वैदिक साहित्यके 'वङ्ग मगध चेरा.), कीप्राक-आर्यजातियो और दक्षिण-पूर्व भारतके निवासियोमे 'कुम्ब', 'खों पा' और 'कदम्ब'की चाले परस्परासे चली आ रही हैं।

वैदिक भूगोल

प्रो० शैलेशचन्द्र चट्टोपाध्याय एम० ए०

वेद पदसे मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्का ग्रहण होता है। अत वैदिक भूगोल जाननेके लिये हमें मन्त्रादिक वेदके चारो विभागोका उपयोग करना चाहिये। श्रौत्र सूत्र, गृह्य-सूत्र और धर्म-सूत्र स्मार्त्त-ग्रन्थ हैं, वेद नही हैं। इस कारण उनमे जो भौगोलिक बाते पायी जाती हैं उनका उपयोग यहाँ नही किया जायगा। परन्तु स्मार्त्त ग्रन्थ होनेपर भी यास्कके निरुक्तका उपयोग किया जायगा। इसका कारण यह है कि, वह वैदिक शब्दो और मन्त्रोका व्याख्यान है।

वेदमे जगत्का विभाग तीन लोकोमें किया गया है। वे तीन लोक पुराणादिकी पृथिवी, स्वर्ग और पाताल नही हैं, बल्कि (१) पृथिवी, (२) अन्तरिक्ष अर्थात् वायुलोक और (३) द्युलोक अथवा स्वर्ग हैं। मेघ, विद्युत् और वायु अन्तरिक्षमे हे और सूर्य हैं स्वर्गमे। 'स्वर' शब्द सूर्य और स्वर्ग, दोनोके लिये आता है। ब्राह्मणोंमें कही-कही इन तीना लोकोके लिये "भू.", "भुव" और "स्वः", ये तीन नाम ("महाव्याहृति") आये हैं। ऋक्संहिता में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक भी तीन-तीन

विभागोंमें विभक्त पाये जाते हैं। परन्तु कहीं-कहीं तो "तीन पृथिवी" या "तीन द्युलोक" पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकके लिये आया है। वैदिक शब्दकोश ("निघण्टु")में देवताओंके नाम तीन विभागोंमें दिये हुए हैं। प्रथममें पृथिवीमें रहनेवाले देवता है, द्वितीयमें अन्तरिक्षमें रहनेवाले और तृतीयमें स्वर्गवासी देवता हैं। यही लोकविभाग वैदिक साहित्यमें सर्वत्र पाया जाता है।

पृथिवीकी गतिके विषयमें कोई श्रौत प्रमाण नहीं है। पृथिवी चक्रकी तरह वृत्ताकार है, यह ऋक्संहिता (१०।८६।४) में कहा गया है कि, इन्द्रने पृथिवी और द्युलोकको दृढ किया है, जैसे कि, दो चक्र, अक्षके द्वारा, दृढ रूपसे धृत हैं। परन्तु पृथिवी गोलाकार भी है और उसकी दूसरी तरफ आकाश है, ऐसा प्रमाण वेदमें कहीं नहीं मिलता है। सूर्यका जब अस्तमन होता है, तब सूर्य कहाँ जाता है और कैसे पुनः पूर्व दिशामें आ जाता है, यह प्रश्न वेदमें कहीं-कहीं उठाया गया है (ऋ० स० १।३५।७)। परन्तु इस प्रश्नकी बड़ी विचित्र मीमांसा ऐतरेयब्राह्मण (३।४४) में की गयी है। वहाँ सूर्यके विषयमें कहा गया है कि, वह कभी अस्त नहीं होता है, न उदित होता है। लोग जो समझते हैं कि, सूर्य अस्त होता है, वह ऐसा है कि दिनके अन्तको पहुँचकर सूर्य अपनेको पलट लेता है और रात्रिको नीचे करके तथा दिनको ऊपर करके फिर लौट आता है, जो लोग समझते हैं कि, वह प्रातःकालमें उदित होता है, वह ऐसा है कि, सूर्य रात्रिके अन्तको पाकर अपनेको (फिर) घुमा लेता है और दिनको नीचे करके तथा रात्रिको ऊपर करके पश्चिमकी ओर चलता है। वास्तवमें वह कभी अस्त नहीं होता है। इसका अर्थ यह है कि, सूर्यके एक भागमें दिन या प्रकाश है और दूसरेमें रात्रि या अन्धकार है। सूर्य जब पूर्वसे पश्चिमकी ओर चलता है, तब प्रकाशवाला भाग हमारी तरफ रहता है और अन्धकारवाला भाग ऊपर। इससे हमें दिनको प्रकाश मिलता है। पश्चिमाकाशको पहुँचकर सूर्य अन्धकारवाला अंश हमारी तरफ और प्रकाशवाला अंश देवोंकी तरफ करके पूर्व दिशामें लौट आता है। इससे रात्रिको पृथिवी अन्धकारमें रहती है। ऋक्संहिता (१।११५।५, ५।८१।४, ६।६।१, ७।८०।१, १०।३७।३ प्रभृति) का यही तात्पर्य-सा विदित होता है। ऐतरेयब्राह्मण (८।२५) में कहा गया है कि, समुद्रसे पृथिवी घिरी हुई है, परन्तु पुराणकी तरह पृथिवीका द्वीपोंमें विभाग वेदमें नहीं पाया जाता।

इस पृथिवीका बहुत अल्प भाग वेदयुगमें आर्यों-को ज्ञात था। ऋक्संहितामें जितने भौगोलिक नाम पाये जाते हैं, वे सब पंजाब, काश्मीर और अफगानिस्तानके हैं। इससे सिद्ध होता है कि, आर्य लोग उस समय इन स्थानोंमें रहते थे और इनके बाहर किसी देशसे विशेष सम्बन्ध नहीं रखते थे। क्रमशः आर्य लोग मध्यदेशकी ओर बढ़े। ऋक्संहिता (३।३३ और ३।५३)से विदित होता है कि, पंजाबके दक्षिणकी ओर बढ़नेमें विश्वामित्र अग्रणी था। वह तृत्सु-भरतवंशके सुदास राजाको और उनके लोगोंको लेकर विपाश्-(व्यास) और शुतुद्री (सतलज) नदी पार होकर मध्यदेशकी ओर आया। आर्यजातिके और—और लोग बादको क्रमसे इधरको बढ़े। कुरुक्षेत्रके आस-पासमें सदियोंतक प्रधान-प्रधान आर्य-जातियाँ रहीं, और, यही यजुर्वेद और ब्राह्मणोंके युगकी सभ्यताका केन्द्र था। शतपथ-ब्राह्मणके प्रथम काण्डके चतुर्थ अध्यायके प्रथम काण्डमें इस देशसे

पूर्वकी ओर आर्योंके बढनेकी सूचना हमें मिलती है। सरस्वतीके तटपर विदेघ माथव नामका राजा था, जिसका पुरोहित था गोतम रहूगण। ये दोनों अग्नि वैश्वानरको अनुसरण करते हुए सदानीरा नदीके तटतक पहुँचे। अग्नि वहाँ रुक गया और राजा विदेह माथव सदानीराके उस पार जाकर रहने लगा। शतपथब्राह्मण कहता है कि, यह सदानीरा नीरा कोशल और विदेह राष्ट्रकी सीमा है। यद्यपि पहले ब्राह्मण लोग इस नदीके पूर्वमें नही रहते थे। शतपथ—ब्राह्मणके समय इसके पूर्व पारमें बहुतसे ब्राह्मण रहते थे और वहाँ यज्ञ करते थे (श० ब्रा० १।१।४।१४—१६)। ब्राह्मण-युगमें, पूर्व भारतमें, आर्य-निवास बहुत कम था। परन्तु क्रमशः ब्राह्मण्य सभ्यता सम्पूर्ण आर्यावर्तमें फैल गयी। शतपथ ब्राह्मणके चतुर्दश काण्डके अन्तर्गत बृहदारण्यक-उपनिषद्में हम देखते हैं कि, विदेहराज जनक ब्रह्मविद्याका एक बडा भारी भक्त था। विन्ध्यके दक्षिणमें वैदिक सभ्यताका प्रसार होनेमें काफी विलम्ब हुआ था।

स्वर्गत लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक महाशयके मतमें वैदिक आर्य लोग सुमेरु (*North Pole*)से आये थे और उनके प्राचीन ग्रन्थोंमें उस पुराने सुमेरु-निवासकी गन्ध मिलती है।* परन्तु विना पक्षपातके जब हम इस विषयपर विचार करते हैं, तब हमें मालूम होता है कि, इस मतके लिये कोई प्रमाण नहीं है। तिलक महाशयने अवश्य ही बहुतसे प्रमाणोंका उद्धार किया है, परन्तु वे सब प्रमाण न होकर प्रमाणाभास हैं। वेदके वचनोंसे अपने अनुकूल अर्थ करनेके लिये आपने बडी खींचातानीकी है। उनकी व्याख्यामें सबसे बडा दोष यह है कि, व्याख्या करनेके समय उपक्रम और उपसंहारके ऊपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। ऋक्संहिता प्रभृतिसे जिन अंशोंका उद्धार करके तिलक महाशयने सुमेरु-निवासकी पूर्व स्मृति सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है, उनका अर्थ वैसा नही है। वैदिक साहित्य भरमें केवल तैत्तिरीय आरण्यकमें मेरुका ज्ञान पाया जाता है और यह तैत्तिरीय आरण्यक बहुत ही अर्वाचीन ग्रन्थ है।† वैसे पारसी धर्म-ग्रन्थ अवेस्ताके जिस भागमें ("वेन्दिदाद") मेरुके विषयका कथन है, वह भी अवेस्ताका सबसे अर्वाचीन भाग है।‡ ऐसे अर्वाचीन ग्रन्थोंके प्रमाणसे चलना पुराणोंके आधारपर वेदका अर्थ करना एक ही समान है। पुराणोंमें तो सुमेरुका ज्ञान अति स्पष्ट है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि, वेदके पूर्व कालमें आर्य लोग सुमेरुमें रहते थे और वेदमें सुमेरु-निवासकी छाया है। इसी तरह जर्मन पण्डित हिलब्रान्त = या ब्रुन होफर × का यह दिखानेका प्रयत्न कि, ऋग्वेदके कुछ अंश भारतवर्षके बाहर ईरान या मध्य एशिया-में रचे गये, सर्वथा निष्फल है। वेदमें तिब्बत, मङ्गोलिया, चीन प्रभृतिके उल्लेख हैं, यह दिखानेके

* B G Tilak *Arctic Home in the Vedas*.

† तैत्तिरीय आरण्यक स्मृति तकका नाम लेता है,—"स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानश्चतुष्टयम् । एतैरादित्यमण्डलं सर्वैरेव विधास्यते" [१।२।१]। इस आरण्यककी भाषा भी बहुत अर्वाचीन है।

‡ वेन्दिदादका काल लगभग ईसासे पूर्व द्वितीय या तृतीय शताब्दीके इधर ही है।

= Alfred Hillebrandt, *Vedische Mythologie*

× Hermann Brunnhofer, *Urgeschichte der Arier in Vorder-und Central Aasien*

लिये पण्डित उमेशचन्द्र विद्यारत्नका प्रयत्न * भी विफल हुआ है। डाक्टर अविनाशचन्द्र दासने ऋग्वेदके समय पंजाबकी जैसी भौगोलिक परिस्थिति समझी है, यह भी सर्वथा निराधार है।†

पृथ्वीमे सबसे स्थिर वस्तु पर्वत है। नदी प्रभृति बदल जाती हैं, परन्तु पर्वत नहीं बदलता। ‡ सस्कृतमें पर्वतको भूधर (अर्थात् पृथ्वीको धारण करने वाला) भी कहते हैं। इस "पर्वत" या गिरि-का और अलग-अलग पहाडोके नाम वेदमें कई बार आये हैं। कही कही बादलोको रूपकके द्वारा पर्वत करके व्यपदेश किया गया है। वेदाङ्ग निघण्टु (१।१०)में तो "पर्वत" और "गिरि" शब्द साक्षात् मेघके पर्याय रूपसे दिये गये है। क्षितिजमें मेघ कुछ पर्वत-सा दीखता है। इससे वैदिक कवियोको मेघ-पर्वत रूपककी सामग्री मिल गयी। पुराणकी तरह कृष्ण यजुर्वेदकी काठक-संहिता (३६।७) और मैत्रायणीय सहिता (१।१०।१३) में यह आख्यायिका है कि, पूर्व कालमें पर्वतोके पक्ष थे, उनके बलसे वे उडकर जहाँ इच्छा होती थी, वहीं उतरते थे, इससे पृथ्वी बहुत ढीली रही; इन्द्रने उन पक्षोको काट दिया और पृथ्वीको दृढ किया। यह आख्यायिका वार्षिक इन्द्र-वृत्र-युद्ध(=वर्षा)के रूपकसे बनी हुई कवि-कल्पना मात्र है, भूगोलके अज्ञानसे उत्पन्न नही मालूम होती है। इन रूपकोसे यह बात सिद्ध होती है कि, वैदिक आर्य लोग पर्वतसे परिचित थे और पर्वतसे उनका प्रेम भी था। पर्वतोसे नदियोकी उत्पत्तिके उल्लेख कई जगह आये हैं। पर्वतोमें रहनेवाले भयकर जानवरो (सिंह ?) का भी उल्लेख है। परन्तु पर्वत-विशेषके नाम वेदमें बहुत ही कम हैं। "हिमालय" नाम नही है; परन्तु "हिमवत्" शब्द है। यह भी कई जगह पर्वत-सामान्यके अर्थमें आया है, परन्तु कई स्थानोपर अवश्य ही हिमालय-पर्वतश्रेणीके अर्थमें आया है। खेदकी बात यह है कि, हिमवत् पर्वतका विस्तार वैदिक आर्य लोग कहाँसे कहाँतक समझते थे, यह जाननेके लिये कोई उपाय नही है। वेदमें और एक पर्वतका नाम आया है, "मूजवत्"। "मूजवत्" शब्द एक जातिके अर्थमे भी आया है। 'मूजवत्'शब्दका पर्वत अर्थ करनेके लिये हमारे लिये प्रमाण हैं यास्क। ऋक्सहिता (१०।३४।१)में सोमको मौजवत (=मूजवत् वाला) कहा गया है। निरुक्त (६।८) में, इस मन्त्रकी व्याख्या करते समय, यास्कने कहा है कि, मौजवतका अर्थ है मूजवत् पर्वतमें जात। इस पर्वतसे वहाँके निवासियोंका नाम मूजवत् हुआ होगा। मूजवत् पर्वत कहाँ था, यह जाननेके लिये कोई उपाय नही है। परन्तु अथर्ववेद-सहिता (५।२२) तैत्तिरीय-संहिता (१।८।६।२) प्रभृतिके कथनसे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि, मूजवत् गन्धार या बाल्हीक देशकी ओर, उत्तराखण्डमे, कही दूर देशपर था। हिमालयमें एक त्रिककुद् या त्रिककुभ् नामके त्रिकूट पर्वतका, कई जगहोंपर, उल्लेख आया है। वहाँसे एक खास अंजन

* ऋग्वेदभाष्योपोद्घातप्रकरणम। Rigveda Samhita, part I

† Rigvedic India। आपके मतसे उस समय राजपूताना एक बड़ा भारी समुद्र था और सरस्वती नदी उस समुद्रमें आकर गिरती थी। इनके मतका खण्डन मैंने Calcutta Review, May 1922, पृष्ठ १९७-२२२में संक्षेपसे किया है।

‡ देखिये उत्तररामचरित [२।२७] "पहले जहाँ नदियोंका सोता था, वहाँ इस समय बालू है, जहाँ वृक्ष घने थे, इस समय कम हो गये, जहाँ कम थे, अब घने हो गये। बहुत दिनोंके बाद देखा हुआ वन 'वही है', यह पर्वतोंके अवस्थानसे हम दृढ़ रूपसे जान सकते हैं।"

आता था। शतपथब्राह्मण (१।८।१।६) में कहा गया है कि, महा-ओघ (*Flood*) के हट जानेपर मनुकी नाव उत्तर गिरि (= हिमालय ?) की जिस जगहपर उतरी, वह 'मनोरवसर्पण' (मनुका उतार)के नामसे प्रसिद्ध है। इसकी परिस्थिति हमें मालूम नहीं। तैत्तिरीय आरण्यक (१।३१)में हम और तीन पर्वतोंके नाम पाते हैं, सुदर्शन, क्रौञ्च और मैनाग। इनमेंसे क्रौञ्च और मैनाग (मैनाक इस आकारसे)के नाम पुराणमें पाये जाते हैं। सुदर्शन कौन पर्वत है, यह स्पष्ट नहीं है। परन्तु परवर्ती साहित्यमें, जब सुदर्शन मेरुके पर्याय-रूपसे आता है, तब यह असम्भव नहीं है कि, यहाँ सुदर्शनका अर्थ मेरु ही है। यह तैत्तिरीय आरण्यक बहुत ही अर्वाचीन ग्रन्थ है। इसमे पुराणसे या परवर्ती सस्कृत साहित्यके प्रयोगसे मेल खाना कुछ असम्भव नही है। तै० आ० (१।३१) मे कहा गया है कि, इन तीन पर्वतोंमें वैश्रवण (कुबेर या कुबेर पुत्र) का नगर है। तैत्तिरीय आरण्यक (१।७) में महामेरुका नाम स्पष्ट रूपसे लिया गया है, और, यह कहा गया है कि, कश्यप नामका अष्टम सूर्य उस पर्वतको छोडता नही है, उसकी चारों ओर घूमता है। इससे सिद्ध होता है कि, इस महामेरुसे सुमेरु (*North Pole*) को समझना चाहिये।

देशोंकी सीमाके निर्देशके लिये, पर्वतकी तरह, समुद्र भी बडा उपयोगी है। वेदमें समुद्रका नाम, कई जगह, आया है। यद्यपि वैदिक युगमें आर्य लोग समुद्रके तटपर नही रहते थे, तथापि साक्षात् या परम्परासे समुद्रका ज्ञान इन लोगोंको था। नदियोंके समुद्रमें पहुँचनेका उल्लेख ऋक्संहिता (१।७१।७, १।१६३।१, १।१६०।७, ३।३६।७, ३।४६।४, ४।२१।३, ५।५५।५, ५।८५।६, ६।३६।३, ७।४६।२, ७।६५।२, ८।४४।२५, ६।८८।६ और ६।१०८।१६) में है। ऋक्संहिता (१।४७।६) और अथर्वसंहिता (१६।३८।२)में समुद्रजात वस्तुओंका और अथर्व-संहिता (४।१०)में समुद्रमें उत्पन्न मुक्ता ("शङ्ख-कृशन")का उल्लेख है। कहीं-कहीं आकाशकी समुद्र-रूपसे कल्पना की गयी है, और, नीचे तथा ऊपर का, इन दो समुद्रोंका उल्लेख है (ऋ० सं० ७।६।७, १०।६८।५, अ० सं० ११।५।६ ?)। तुग्रके पुत्र भुज्युके विषयमें एक आख्यायिका, ऋक्संहिताकी कई जगहोंपर, आयी है (१।११२।६,१० इत्यादि), जिससे विदित होता है कि, समुद्र-यात्रामें भुज्यु बडी विपत्तिमें पडा और अश्विनीकुमारोंने उसे बचाकर किनारे पहुँचाया। किसी खास समुद्रका नाम वेदमें नही मिलता। केवल ऋक्संहिता (१०।१३६।५), शतपथ-ब्राह्मण (१।६।३।११) प्रभृतिके कुछ अल्प स्थलोंमें पूर्व और पश्चिम, इन दो समुद्रोंका उल्लेख आया है। यह उल्लेख बहुत ही अस्पष्ट है।

परन्तु नदियोंके विषयमे वेदमें हमें बहुत-कुछ सामग्री मिल जाती है। "सिन्धु" शब्द परवर्ती काल-के संस्कृतमें समुद्रके अर्थमे आया है, किन्तु ऋग्वेद-संहितामें इसका अर्थ है "नदी" या एक खास नदी, सिन्धु-नद या *Indus*। नदीके लिये वेदमें और कई शब्द आये है, "नदी", "स्रवत्" इत्यादि। ऋक्संहिता एवं अन्य वेदोंमें, जिस रूपसे नदियोंका उल्लेख आया है, उससे हमें विदित होता है कि, वैदिक आर्य लोग नदियोंके बडे भक्त थे और उनकी आबादी नदियोंके तटोंपर थी। इस नदीमातृक देशके निवासियोंके लिये यह बहुत ही उचित बात है। वेदोंमें, खास ऋक्संहितामें, बहुतसी नदियोंके नाम आये हैं। उनमें से कुछ नाम तो आजतक वैसे ही हैं और कुछमें परिवर्त्तन हो गया है। परन्तु जिन नदियोंके, वेदमें, आजकलकी तरह नाम हैं, उनमेंसे कुछ तो अवश्य

ही आजकल उन नामोंसे प्रसिद्ध नदियोंसे भिन्न थी। आर्य लोग ज्यों-ज्यो आगे बढे, त्यों-त्यो उनको नयी-नयी नदियाँ और नये-नये देश मिले। औपनिवेशिकोमें प्राय. यह प्रवृत्ति होती है कि, वे नये स्थान में पुराने देशके नामका उपयोग करते हैं। जैसे कि, अंग्रेजोंने अमरीका देशमें इंगलैंडके यार्क (*York*) शहरके नामके अनुसार, एक शहरका नाम रखा न्यू यार्क (*New York*); वेल्स (*Wales*)के अनुकरणसे आस्ट्रेलियामें एक देशका नाम रखा न्यू साउथ वेल्स (*New South Wales*)। इगलैंडके कैम्ब्रिज (*Cambridge*) की नकलमें अमरीका देशके मेसाचूसेटस (*Massachussets*) प्रदेशमें शहर है कैम्ब्रिज (*Cambridge*)। हमारे मथुरा या मथुरा शहरका नकलमे दक्षिणमे है मदुरा। पजाबकी इरावती (रावि) नदीके अनुकरणमें ब्रह्मदेशमें एक नदीका नाम हुआ 'इरावदा'। अंगदेशकी चम्पाके अनुकरणसे वृहत्तर भारतमे हिन्दू-औपनिवेशिकोंने अनामदेशका नाम रखा 'चम्पा'। इस प्रकार वेदमे आधुनिक सरस्वती, सरयू, गोमती और यमुना से भिन्न सरस्वती, सरयू, गोमती और यमुना नदी पायी जाती है। मैं आगे इसका विस्तार करूँगा।

नदियोंके विषयमें मैं एक बात पहले ही कह देना चाहता हूँ। लोग प्राचीन समयका नक्शा खींचते वक्त नदियोको स्थिति इस समयकी तरह समझ लेते है। परन्तु यह समझना बहुत ही भ्रमपूर्ण है। नदियोकी धारा अकसर बदलती रहती है। मध्य एशियाको वक्षु (*Oxus*) नदी इस समय अरल (*Aral*) सागरमें पहुँचती है, परन्तु ग्रीक भौगिलिक स्त्राबो (ईसाके पूर्व प्रथम शताब्दी)के समयमें काश्यप (कास्पियन=*Caspian*) सागरमें पहुँचती थी।* अरब लोगोंने जब पहले-पहल हिन्दुस्तानमें चढाई की, तब पंजाबके दक्षिणमें एक बड़ी भारी नदी थी, जिसका नाम था हकरा या वाहिन्दा। इस समय वह नदी बिलकुल सूख गयी है, उसका पुराना मार्ग अभीतक नजर आता है।† पंजाबकी नदियो की धारामें और कई परिवर्तन हो गये। वर्तमान कालमें भी भारतकी नदियोकी धारा प्रायः बदलती हुई दीखती है। हमारे प्रयागके सामने गङ्गाजीकी परिस्थिति हर साल कुछ-न-कुछ बदलती रहती है। मेरे श्रीमान गुरु महामहोपाध्याय डाक्टर गङ्गानाथ झाजीसे मालूम हुआ कि, उनके देश (दरभङ्गा) मे एक कमला नामकी नदी है, जो इसी सालमें कमला नामकी दूसरी एक नदीसे मिल गयी है, जिससे इसका पहले कोई सम्बन्ध नही था। सिन्ध के "मोहञ्जोदारो"मे जो प्राचीन सभ्यताके भग्नावशेष मिले हैं, उनका ध्यानसे निरीक्षण करनेसे पता चला है कि, सिन्धु नद उस समय शहरके किनारे ही पर था, परन्तु इस समय सिन्धु कई मील दूरको हट गया है।‡ सब देशोकी जलवायु धीरे-धीरे बदल जाती है। इससे वर्षामें परिवर्तन होता है और इस कारणसे भी नदियोकी धारा बदल जाती है।× इन

* MacCrindle, Ancient India as described by Classical Writers, pp.96-99.

† देखिये H. G. Raverty The Mihran of Sind and its Tributaries (J. A. S. B. 1892, पृष्ठ १५५-५०८]। इसमें कई नक्शे हैं, जिनपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

‡ देखिये Mohenjodaro and the Indus Civilization, Vol I, Chapter I और नक्शा।

× Ellsworth Huntingtonकी Pulse of Asia और Civilization and Climate देखिये। नदियोंकी धारामें परिवर्तन होनेमें और भी कारण होते है।

कारणोंसे वेदके समय कौन नदी कहाँसे बहती थी, यह हम स्पष्ट रूपसे नही जान सकते।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्यके भीतर ऋग्वेदसंहितामें सबसे अधिक नदियोंके नाम आते हैं। परन्तु "सब नदियाँ" इस अर्थमें, ऋक्संहितामें, "सप्त सिन्धव" या "सप्त स्रवत" या ऐसे शब्द आये हे, जिनका अर्थ है "सात नदियाँ"।* परन्तु नदियोकी संख्या वास्तवमे सातसे कही अधिक है। लोग समझते है कि, "सात" प्रधान-प्रधान नदियोकी संख्या है; परन्तु सात प्रधान नदियाँ कौन हैं, इसमे इतना मत-भेद है कि, हमें कोई व्यवस्था नही दीखती। सायण तो सप्तका अर्थ जब "सात" समझते है, तब 'गङ्गादि सात नदियाँ" ऐसा अर्थ करते है। गङ्गादि सात नदियोसे सायण गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरीको समझते होगे।† परन्तु गोदावरी, नर्मदा और कावेरी, इन दक्षिणकी नदियो के नाम ऋक्संहितामें कही भी नही आये हे और गंगाका नाम केवल एक बार आया है। इस कारण "सात नदियाँ" ये सात नदियाँ नही हो सकती हैं। पंजाबकी पाँच नदियाँ और पूरबकी सरस्वती और पश्चिमकी सिन्धु, इन नदियोसे भी संख्या पूरी नही की जा सकती। कारण यह है कि, पंजाबमें और भी नदियाँ हैं जिनका उल्लेख ऋषियोंने किया है। सिन्धुके पश्चिमकी सहायक नदियोके नाम कई बार आये हैं, उनको छोड़नेका हमे क्या अधिकार है? अतएव "सात नदियाँ" हमारे लिये एक बड़ी भारी समस्या है। शायद आर्य लोग पहले जहाँ रहते थे, वहाँ सात ही नदियाँ थी; इस कारण 'सब नदी"के अर्थमें इन लोगोंको "सात नदी" कहनेकी आदत पड़ गयी होगी।

वेदमें इन नदियोंके नाम आये हैं---अनितभा, असिक्नी, आपया, आर्जीकीया, कुभा, क्रुमु, गंगा, गोमती, त्रिष्टामा, दृषद्वती, परुष्णी, मरुद्वृधा, मेहत्नू, यमुना, यव्यावती रथस्या, रसा, वरणावती, वितस्ता विपाशृ, विबाली शुतुद्री, श्वेत्या, सदानीरा, सरयू, सरस्वती, सिन्धु, सुदामा, सुवास्तु, सुषोमा और सुसर्त्तु। इनके अतिरिक्त और दो नाम आये हैं---शिफा और हरियूपीया। कुछ लोगोंके मतसे ये नदीके नाम है, परन्तु इस विषयमे हम निःसशय नही हो सकते। शतपथ-ब्राह्मणमे दो जगह (१२।८।१।१७ और १२।९।३।१) एक मनुष्यका नाम आया है "रेवोत्तर", जिसका अर्थ जर्मन पण्डित वेबरने "रेवाके उत्तर तटपर रहने वाला" समझा है। उसके मतसे यहाँ हम रेवा या नर्मदा नदीका नाम पाते हैं। असिक्नी, कुभा, क्रुमु, गंगा, गोमती, परुष्णी, मरुद्वृधा, वितस्ता, विपाशृ, शुतुद्री, सरस्वती, सिन्धु, सुवास्तु और सुषोमा कौन नदियाँ हैं, इस विषयमे हम निःसशय है। यव्यावती, रथस्या, वरणावती, विबाली और सुदामा कौन नदियाँ हैं, यह हम जान नही सकते है। ऋक्संहिता

---

* 'सिन्धु' शब्दका अर्थ यहाँ नदी है समुद्र नहीं। ऋक्संहिताके केवल १।११।५ और शायद ८।२५।१४ में 'सिन्धु' का अर्थ समुद्र है। अन्यत्र जहाँ-जहाँ यह शब्द ऋक्संहितामें आया है, वहाँ अर्थ है नदी या सिन्धु-नद। पुराणोंके युगमें 'सिन्धु' शब्दका समुद्र अर्थ अधिक प्रचलित होनेसे "सप्त सिन्धु" ("सात नदियाँ") "सात समुद्र" यह अर्थ आया। पौराणिक भूगोलमें सात समुद्रोंकी कल्पनाका मूल यही वैदिक शब्दके अर्थ समझनेका भ्रम है।

† देखिये जलशुद्धिका मन्त्र—

"गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥"

(१०।७५।५) से भिन्न अन्य स्थानोंमें आयी हुई यमुना, रसा, श्वेत्या, सदानारी, सरयू और सुसर्तुके विषयमें कुछ सन्देह है। नीचे इनके विषयमें विशेष विवरण दिया जा रहा है। नदियोंमें सरस्वतीका नाम सबसे अधिक आता है। ऋक्-संहिताके १० म मण्डलका ७५ वाँ सूक्त नदी-स्तुति नामसे प्रसिद्ध है। इसमें सिन्धुके तटपर रहनेवाला किसी प्रैयमेधने सिन्धु और उसकी सहायक नदियोकी स्तुति की है। यहाँ, एक स्थानपर, बहुतसी नदियोंके नाम पाये जाते है। उसकी पाँचवी ऋचामें सिन्धुकी पूर्वतटवाली सहायक नदियोके नाम, क्रमसे, दिये हुए हैं और छठामे पश्चिम तटवाली सहायक नदियोंके और सिन्धुका नाम है।

अनितभा—ऋक्संहिता ५।५३।९। यह सिन्धुके पश्चिमकी कोई (सहायक नदी) होगी।

असिक्नी—ऋ० स० ८।२०।२५, १०।७५।५ में आया है। यास्कके निरुक्त (९।२६) से विदित होता है कि, यह चन्द्रभागा या वर्तमान चीनाब है। ग्रीक लोग इस नदीको अक्षर-विपर्यास करके "अकेसिनेस्"नामसे जानते थे।

आपया—केवल ऋक्संहिता ३।२३।४ में नाम आया है। इसके साथ सरस्वती और दृषद्वतीके भी नाम आये है। अत. यह सरस्वतीके साथ मिली हुई या उसके समीपकी कोई नदी होगी। महाभारत (३।८३।६८) में उल्लेख है कि, आपया कुरुक्षेत्रकी एक नदी है।

आर्जीकीया—ऋ० सं० १०।७५।५ में वितस्ता और सुषोमाके बीचमें सिन्धुकी एक पूरबी सहायक नदीके रूपमें इसका नाम आया है। वर्तमान कालकी किस नदीसे इसका मिलान करना चाहिये, यह निर्णय नहीं किया जा सकता। यास्कके मतसे (निरुक्त ९।२६) आर्जीकीया विपाश्=व्यास नदी है। परन्तु ऋ० सं० १०।७५।५ का क्रम इसका विरोध करता है।

कुभा—ऋ० स० ५।५३।९, १०।७५।६। सिन्धुकी एक पश्चिमवाली सहायक नदी--ग्रीकोकी "कोफेन," वर्तमान "काबुल" नदी।

क्रुमु—ऋ० स० ५।५३।९, १०।७५।६। वर्तमान कुर्रम

गङ्गा—ऋक्संहितामे, केवल १०।७५।५ में आया है। कुछ लोगोका विचार है कि, ऋ० स० ६।४५।३१ का "उरुकक्षो न गाङ्ग्य"में गंगाके तटपर रहनेवाले उरुकक्ष नामके पुरुष या गंगाके तटपर कोई विशाल वन, जो अर्थ हम समझें, गंगा नदीका नाम आता है। परन्तु इस स्थानमें गगा किसी नदीका नाम न होकर किसी स्त्रीका नाम भी हो सकता है। ऋ० सं० १०।७५।५ में अवश्य प्रसिद्ध गगा नदीका नाम लिया गया है। यह सूक्त ऋग्वेदका बहुत अर्वाचीन भागका है। आर्य लोगोको गगासे परिचय बहुत बादको हुआ था। शतपथ-ब्राह्मण १३।५।४।११, जैमिनीय ब्राह्मण ३।१८३ और तैत्तिरीय आरण्यक २।१० मे भी गगाका नाम आया है।

गोमती—ऋ० स० ८।२४।३० और १०।७५।६। ऋ० स० १०।७५।६ से स्पष्ट विदित होता है कि, यह सिन्धुकी एक पश्चिमी सहायक नदी है—अफगानिस्तान-देशकी वर्तमान गोमाल नदी। ऋ० सं० ८।२४।३०मे यही नदी होगी, मध्यदेशकी गोमती नही।

तृष्टामा—ऋ० स० १०।७५।६। सिन्धुकी कोई पश्चिमी सहायक नदी होगी।

दृषद्वती—ऋ० सं० ३।२३।४, ताण्ड्यमहाब्राह्मण २५।१०।१४ १५ और २५।१३।२, ४। सरस्वतीके

दक्षिणमें यह नदी है और सरस्वतीसे मिल जाती है। मनुके मतसे सरस्वती और दृषद्वतीके बीचका देश ब्रह्मावर्त्त है।

परुष्णी—ऋ० सं० ४।२२।२, ५।५२।६, ७।१८।८, ८।७४।१५ और १०।७५।५। निरुक्त (९।२६)से और ऋ० स० १०।७५।५ में दिये हुए क्रमसे हमें मालूम होता है कि, परुष्णी इरावती है अर्थात् वर्त्तमान रावी। ऋ० सं० ५।५२।९ का पुरिषिणी शब्द कदाचित् परुष्णीके लिये आया होगा * या यह शब्द सरयूके लिये विशेषण है।

मरुद्वृधा—ऋ० स० १०।७५।५ में असिक्नी (= चीनाब) और वितस्ता (= झेलम)के बीचमें आती है। सर अरल स्टाइनके मतसे यह वर्त्तमान कालमें मरुवर्दवन नामकी चीनावकी एक पश्चिमवाली सहायक नदी है।†

मेहत्नू—ऋ० स० १०।७५।६। सिन्धुकी कोई पश्चिमी सहायक नदी होगी।

यमुना—ऋ० स० ५।५२।१७, ७।१८।१९, १०।७५।५, अथर्वसंहिता ४।९।१०, ऐतरेयब्राह्मण ८।२३, शतपथब्राह्मण १३।५।४।११, ताण्ड्यमहाब्राह्मण ९।४।१०, २५।१०।२३, २५।१३।४, जैमिनीयब्राह्मण ३।२८३, आपस्तम्बीय एकाग्निकाण्ड २।११।१२ और ऋ० स० ५।५२।१७ वा ७।१८।१९ में यह परुष्णी = रावीके पासकी कोई नदीसी मालूम होती है। अध्यापक हाप्किन्सके मतसे यह परुष्णीसे अभिन्न है। मेरा अनुमान यह है कि, इन दो स्थानोंमें "यमुना" असिक्नी = झेलमका दूसरा नाम है।‡ ऋक्संहिता (१०।७५।५) और अथर्वसंहिता प्रभृतिमें यह अवश्य वर्तमान यमुना ही है।

यव्यावती—ऋ० स० ६।२७।६, ता० म० ब्रा० २५।७।२। यह कोई अज्ञात नदी है। सम्भव है कि, यह पंजाबकी कोई नदी हो।

रथस्या— जैमिनीयब्राह्मण ३।२३५ मे कोई अज्ञात नदी है।

रसा—ऋ० स० १।११२।१२, ५।५३।९, १०।७५।६ (और ५।४१।१५, १०।१०८।१, २), जैमिनीय ब्राह्मण २।४४०। ऋ० स० ५।५३।९ और १०।७५।६ से विदित होता है कि, यह सिन्धुके पश्चिम तटकी कोई सहायक नदी है। पारसियोंके धर्म ग्रन्थ अवेस्तामें रसा नदीका नाम "रहा" रूपसे पाया जाता है। परन्तु ऋ०स० ५।४१।१५ मे यह कोई (नदियोंका अभिमानी) देवता है और १०।१०८।१,२ मे पृथिवीके अन्तमें वर्तमान कोई काल्पनिक (*Mythical*) नदी है।

वरणावती—अथर्वसंहिता (४।७।१) में कोई अज्ञात नदी। सायणके मतसे यह एक औषधिका नाम है। कुछ लोगोंके मतसे यह काशीजीके पासकी वरणा नदी है।

वितस्ता—ऋ० सं० १०।७५।५। यास्कने (९।२६)मे इसका कोई स्पष्ट परिचय नही दिया है। परन्तु उल्लेखके क्रमसे विदित होता है कि, यह वर्तमान झेलम नदी है। यह नदी काश्मीरमे अभीतक व्यथ नामसे

* देखिये मेरा लेख "*The Identification of the Rigvedic River Saraswati and some Connected Problems*" Calcutta University Journal of the Department of Letters Vol. XV), पृष्ठ ८८।

† Sir M. Aurel Stein, *On Some River Names in the Rigveda* [Bhandarkar Commemoration Volume] पृष्ठ २२-२१।

‡ देखिये मेरा लेख "Identification of Sarasvati", पृ० ४१-४८।

प्रसिद्ध है। ग्रीक लोग इसे हीदास्पेस करके जानते थे।

विपाश्—ऋ० सं० ३।३३।१,३, ४।३०।११, गोपथ ब्राह्मण १।२।७)। यह वर्तमान व्यास नदी है। यह नदी अरब-अभियानके समय स्वतन्त्र धारासे हकरा पहुँचती थी।

विबाली—ऋ० स० ४।३०।१२। यह कोई अज्ञात नदी है।

शुतुद्री—ऋ० सं० ३।३३।१ रामायण प्रभृतिकी शतद्रु और वर्तमान सतलज। अरब-आक्रमणके समय यह नदी व्याससे न मिलकर सीधे हकराको जाती थी।

श्वेत्या—ऋ० सं० १०।७५।६। सिन्धुकी कोई पश्चिमी सहायक नदी।

सदानीरा शतपथब्राह्मण १।४।१।१४ इत्यादि। शतपथब्राहमणके कथनसे विदित होता है कि, उस समय यह नदी कोसलराष्ट्र और विदेहराष्ट्रका सीमाना थी। यह वर्तमानमे कौन नदी है, यह स्पष्ट नही ज्ञात होता है। बादके कोशकारोंके मतसे सदानीरा और करतोया एक ही है। करतोया तो उत्तर वङ्गकी एक नदी है, और, विदेह-देशके पूर्वमें है, पश्चिममें नही। इस कारण सदानीरा करतोया न होगी। जर्मन पण्डित वेबरके मतसे यह गण्डकी है।

सरयू—ऋ० सं० ४।३०।१८, ५।५३।९ और १०।६४।९। यह नदी कौनसी थी, यह जानना कठिन है। १०।६४।९ में इसका नाम सरस्वती और सिन्धुके साथ आया है। परन्तु ऋ० सं० ५।५३।९ में रसा, (अनतिभा), कुभा, क्रुमु और सिन्धु, इन पश्चिमी नदियोंके साथ आनेसे यह कोई पश्चिमीय नदीसी विदित होती है। अवेस्तामें हम सरयूसे अक्षरशः समान हरोयू नदीका नाम पाते हैं, जो कि, वर्तमान हरीरूद है। ऋक्सहिताकी सरयू भी शायद इस हरिरुद्से अभिन्न है। यह अवधकी सरयू तो नहीं हो सकती है; कारण, उस समय आर्योंका अवध तक पहुँचनेका कोई प्रमाण नही है और ऋक्संहिता में गगासे पूर्वकी किसी नदीका नाम नहीं है।

सरस्वती—ऋ० सं० १।८९।३, १।१६४।४९, २।३०।८, २।३२।८, २।४१।१८, ३।२३।४, ३।५४।१३, ५।४२।१२, ५।४३।११ ५।४६।२, ६।५०।१२, ६।५२।६, ६।६१।१-७, १०,११,१४, ७।९।५, ७।३५।११, ७।३६।६, ७।३९।५, ७।४०।३, ७।९५।१, २, ४–६, ८।२१।१७, १८, बालखिल्य ६।४, ९।६७।३२, ९।८१।४, १०।१७।७,९, १०।३०।१२, १०।६४।९, १०।६५।१, १३, १०।७५।५, १०।१३१।५ १०।१४१।५, तैत्तिरीयसंहिता ७।२।१।४, अथर्वसंहिता ६।३०।१ (तैत्तिरीयब्राह्मण २।४।८।७, मन्त्रब्राह्मण २।१।१६), ताण्ड्यमहाब्राह्मण २५।१०।१, १६, जैमिनीयब्राह्मण, २।२९७, ३।१२०, ऐतरेयब्राह्मण २।१९, शाङ्खायन-ब्राह्मण १२।३, शतपथब्राह्मण १।४।१।१४ इत्यादि। ऋक्संहिताके सब सूक्त एक समयके नही हैं। विद्वानोका यह अभिमत है कि, ऋक्सहितामे विभिन्न युगकी रचनाएँ है, उनमे सबसे अर्वाचीन मन्त्रोंके कालमें बहुत ही अन्तर है। ऋक्संहिताके प्राचीन अंशमें (२।३० , ५।४३।११, ६।४९।७, ६।५२।६, ६।६१, ७।३६।६, ७।३९।५, ७।९५, ७।९६) "सरस्वती" नदी कुरुक्षेत्र-देशकी वर्तमान 'सरस्वती' नही है; परन्तु सिन्धु–नद है। * ऋ० सं० ७।९५।३ और

* देखिये मेरा लेख—"The Indentification of the Rigveda River Sarasvati and some Connected Problems"। अवेस्तामें और प्राचीन ईरानी-शिलालेखमें सिन्धुके पूर्वे तटवाले एक प्रान्तके लिये हरह्वती [= Greek Arachosia], यह नाम आया है। ईरानी हरह्वती और सरस्वती, एक ही शब्द है।

७।९६।४-६ में सरस्वतीके साथ सरस्वान्‌की स्तुति की गयी है। मेरा अनुमान यह है कि, सरस्वान् सिन्धु-नदके ही दक्षिण भागका नाम है। सरस्वान्‌की स्तुति ऋ० सं० १।१६४।५२ और १०।६६।५ पर भी की गयी है। परन्तु ऋ० सं० ३।२३।४, १०।६४।६ और १०।७५।५ में और तैत्तिरीयसंहिता, ताण्ड्यमहाब्राह्मण प्रभृति ब्राह्मण तथा बादके साहित्यमें नदी-वाचक सरस्वती शब्द कुरुक्षेत्रकी वर्तमान सरस्वतीके लिये आया है। मेरा अनुमान यह है कि, विश्वामित्रके साथ शुतुद्री (सतलज)के दक्षिण पारमें आये हुए भरतोंने कुरुक्षेत्रकी इस नदीको सरस्वती नामसे पुकारा; और, बादको इनकी देखा-देखी और आर्यजातियोंने सरस्वती नामका प्रयोग वर्त्तमान सरस्वतीके लिये किया। तब सिन्धु-नदको, जो कि, सरस्वती और सिन्धुके दोनो नामोंसे प्रसिद्ध था, लोग केवल सिन्धु नामसे कहने लगे। कुरुक्षेत्रकी सरस्वती नदी आजकल पटियाला रियासतमें लुप्त हो गयी है। पौराणिकोंके मतसे उसकी धारा, जमीनके भीतरसे आकर, प्रयागमें गङ्गा और यमुनाके साथ सम्मिलित हुई है। परन्तु यह भ्रान्त मत है। ऋग्वेदके समय यह सरस्वती शायद सिन्धुसे सम्मिलित होकर पश्चिम समुद्रको पहुँचती थी। ब्राह्मण-युगमें, कुछ अंशके लिये, यह लुप्त होकर पुनः पश्चिमकी ओर चलती थी। ताण्ड्यमहाब्राह्मणमें सरस्वतीके लुप्त होनेके स्थानका और जैमिनीयब्राह्मणमें पुनः ऊपर निकल आनेके स्थानका उल्लेख है। जैमिनीय ब्राह्मणमें जिस जगह सरस्वती, क्षीण धारासे पहले पहल बहती है, उसका भी उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण प्रभृतिसे मालूम होता है कि, सरस्वतीसे कुछ दूरपर मरुदेश (*desert*) था। अध्यापक मैकडानल और कीथके मतसे ऋग्वेदमे सर्वत्र "सरस्वती" शब्द सरस्वतीके लिये आया है, सिन्धुके लिये नहीं।* अवश्य देवतावाची सरस्वती शब्द भी वेदमें आया है।

सिन्धु—ऋ० सं० १।१२६।१, ५।५३।९, ८।२०।२५, ८।२६।१८, १०।६४।९ और १०।७५।३,७,८,६, अथर्वसंहिता १४।१।४३ (?), १६।३८।२, माध्यन्दिन-संहिता ८।५६।१ (?), जैमिनीय ब्राह्मण ३।२३७। पहले कहा गया है कि, "सिन्धु" शब्द ऋक्‌संहितामें नदी-सामान्यके लिये और दो स्थानापर समुद्रके लिये आया है। अथर्वसंहितामें भी कई स्थानोंपर (६।२४।१, ७।४५।१, १२।१।३ इत्यादि) समुद्र या नदीके अर्थमें आया है। खास नदीके लिये भी सिन्धु शब्द कई बार आया है। ऊपर उन स्थानोंका उल्लेख किया गया है। सिन्धु वर्तमान सिन्धु-नद है। प्राचीन ईरानी लोग इसे "हिन्दु" कहते थे और ग्रीक लोग "इन्दस्"। हिन्दू नामसे वर्तमान हिन्दू और हिन्दुस्तान नाम बने हैं। हिन्दू नदीके पूरबमें रहनेवालोंके लिये ईरानी लोग हिन्दू शब्दका प्रयोग करते थे, इससे हम लोग हिन्दू कहलाने लगे। वास्तवमें हिन्दू देशका नाम है, धर्मका नहीं। अमरीका देशके लोग इस देशके हिन्दू मुसलमान, ईसाई, सबके लिये जो हिन्दू शब्दका प्रयोग करते हैं, वह ठीक ही है। ग्रीक इन्दस्‌से इन्दस् और इन्दिया नामक बने हैं। सिन्धु-नदके तटपर बहुत

* देखिये Macdonell & keith's Vedic Index, Vol II पृष्ठ ४३४—७। इस लेखके लिये मुझे इस पुस्तकसे और जर्मन पण्डित Zimmer की Altindisches Leben और Ludwig की Die Mantraliteratur [Rigveda, Bd. III] से बहुत सामग्री मिली है।

अच्छे घोड़े पाये जाते थे। इसीलिये संस्कृतमें अश्वके लिये सैन्धव शब्द आता है। ऋक्संहितामें भी सिन्धु-देशके अश्वोका उल्लेख है। नमकके लिये भी सैन्धव शब्द बृहदारण्यक उपनिषद् (२।४।१२ और ४।५।१३)में आया है। अथर्वसंहिता (१६।३८ २) में सैन्धव गुग्गुलुका नाम आया है।

सुदामा—ताण्ड्यमहाब्राह्मण (२२।१८।७) में सुदामन नदीके उत्तर तटपर एक यज्ञका उल्लेख आया है। यह कौन नदी है, इसका पता नहीं लग सकता।

सुवास्तु—ऋ० सं० ८।१६।३७। यह सिन्धुकी सहायक नदी कुभाकी सहायिका है। ग्रीकोंने इसे सोआस्तस कहा है और इसका वर्तमान नाम है स्वात्। यह अफगानिस्तानमें है।

सुषोमा—ऋ० स० १०।७५।५। यह सिन्धुकी एक पूर्वी सहायक नदी है। मेगास्थनीजने इसे सोयानस् (या सोआमस्) कहा है और वर्तमान नाम है सोहान।

सुसर्त्तु—ऋ० सं० १०।७५।६ में होनेसे यह सिन्धुकी कोई पश्चिमवाली सहायक नदी होगी।

पहले कहा गया है कि, कुछ लोगोके मतसे और दो नदियोके नाम वेदमें आये हैं, शिफा और हरियूपीया। ऋ० स० १।१०४।३ में प्रार्थना की गयी है कि, असुर कुयव (=दुर्भिक्ष ?) की दोनों स्त्रियाँ शिफाकी धारामें मारी जायँ। यह शिफा कोई नदी हो सकती है। दूरका कोई समुद्र होना भी असम्भव नही है। ऋक्सहिता (६।२७।५)में कहा गया है कि, इन्द्रने हरियूपीयापर अभ्यवर्त्ती चायमानके लिये वृचीवतोको मार डाला था; और, उसके बादकी ऋचामें कहा गया है कि, यह लड़ाई यव्यावतीमें हुई थी। यव्यावती एक नदीका नाम है, यह हम जानते हैं। सम्भव है कि, हरियूपीया भी यव्यावती-का दूसरा नाम हो, जैसा कि, सायणाचार्यने कहा है। जर्मन पण्डित लुड्विग्‌के मतसे हरियूपीया एक नगरीका नाम है। हिलब्रान्‌्के मतसे यह अफगानिस्तानमें कुर्रमकी सहायक नदी इर्याब या हलिआब है।

वैदिक साहित्यकी नदियोंके बारे जो परिचय ऊपर दिया गया है, उससे यह सिद्ध होता है कि, ऋक्संहिताके समयमें आर्यसभ्यता सम्पूर्ण पंजाब और अफगानिस्तानमें फैली हुई थी, मध्य देशकी ओर नहीं बढी थी। परन्तु ब्राह्मण-युगमें सरस्वती, यमुना, गंगा प्रभृतिकी ओर आर्य बढ़ आये थे, और, उनकी सभ्यताका केन्द्र था सरस्वती नदी और कुरुक्षेत्र-देश।

पर्वत, समुद्र और नदीके अतिरिक्त मरुदेश भी एक प्राकृतिक वस्तु है। सरस्वतीके निकट मरुदेश-का उल्लेख पहले किया गया है। ऋ० सं० (१।३५।८) में तीन मरु भूमियोंका उल्लेख है। वह ऋचा यह है, "अष्टौ व्यख्यत् ककुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून्। हिरण्याक्षः सविता देव आगाद्दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि।" (सुवर्णकी चक्षुवाले सवितृ-देवताने पृथिवीकी आठ ऊँची जमीनो, तीन जलहीन देशों, सब समतट भूमियों और सात नदियोंको अच्छी तरह देखे हैं। अपने पूजकोको अच्छे रत्न देता हुआ वह आया है।) यहाँ ककुभ् शब्दको सायणने दिशाके अर्थमें लिया है, कारण कि, संस्कृतमें ककुभ् शब्द दिशाके अर्थमें आता है, परन्तु ऋक्-संहिताकी भाषामें यह शब्द किसी ऊँची वस्तु—पहाड़ इत्यादि—के अर्थमें पाया जाता है। अतएव इस ऋचामें आठ पहाडों या पहाडियोंका उल्लेख समझना चाहिये। सायणने धन्वका अर्थ अन्तरिक्ष अर्थात् लोक किया है; कारण निघण्टु

(१।३) में धन्व शब्द अन्तरिक्षके पर्याय-रूपसे आया है। परन्तु ऐतरेयब्राह्मण (२।१६) प्रभृतिके प्रमाण से स्पष्ट जान पड़ता है कि, धन्व शब्दका अर्थ जलहीन देश अर्थात् मरुदेश है। निघण्टुके ऐक-पदिक (चतुर्थ अध्याय)के धन्व शब्दका यही अर्थ होगा। ऋ० सं० (१।३५।८)मे कहे हुए ये तीन मरुदेश कहाँ कहाँ थे, यह हम नहीं जान सकते।

प्राकृतिक वस्तुओंके बाद अब हम देखें कि, मनुष्यकृत देश या नगरके उल्लेख वेदमें कैसे आते हैं। वैदिक साहित्यमे खास देशोंके लिये शब्द बहुत कम आये हैं, अधिकतर जातिवाचक शब्द आये हैं, जिनसे जातिका और जातिके रहनेके देशका अर्थ एक ही साथ निकलता है। संस्कृतमें ऐसे शब्दोंको जनपदवाची कहते हैं। ये शब्द बहुवचनमें आते हैं। बादके संस्कृतमें भी देशके लिये अधिकतर ऐसे ही शब्द आते हैं। जब कोई जाति एक जगहसे हटकर दूसरे स्थानपर चली जाती थी, देशका नाम भी उसके साथ नये स्थानको पहुँच जाता था। इस कारण अङ्ग, विदेह, काशी प्रभृति बादके नामोंके साथ मिले हुए नाम यद्यपि वेदमें आते हैं, तो भी हम इस बातका निर्णय नहीं कर सकते हैं कि, वेदके समयमें वह जातियाँ कहाँ थीं और वे देश कौनसे रहे।

वेदमें पूर्वादिक देशमें रहनेवालोंके लिये सामान्य-रूपसे प्राच्य, उदीच्य प्रभृति शब्द आये हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (८।१४)में, ऐन्द्रमहाभिषेकके प्रसङ्गमे, प्राच्य प्रभृति देशोंमें राज्याभिषेकका उल्लेख है। वहाँ कहा गया है कि, प्राच्यों (पूरब देशमें रहनेवालो)के राजाका अभिषेक "साम्राज्य"के लिये होता है, दक्षिण देशमें सात्त्वतोंके राजाका अभिषेक होता है "भौज्य"के लिये, पश्चिममें नीच्य (तराईमें रहनेवाले ?) और अपाच्य (पश्चिमके रहनेवाले) लोगोंके राजाका अभिषेक होता है "स्वराज्य"के लिये, उत्तरमें हिम-वत्के उस पार जो उत्तरकुरु और उत्तरमद्र जनपद हैं, उनके राजाओंका अभिषेक होता है "वैराज्य"के लिये और "ध्रुवमध्यमदिशा"में जो कुरु-पञ्चालके राजा हैं, उनका अभिषेक होता है "राज्य"के लिये। उदीच्योंका (अर्थात् उत्तर दिशामें रहनेवालोंका) उल्लेख शतपथ-ब्राह्मण ३।२।३।१५, ११।४।१।१, शाङ्खायनब्राह्मण ७।६, गोपथब्राह्मण १।३।६में भी है। इन ब्राह्मणोंकी उक्तिसे हमें ज्ञात होता है कि, उदीच्योंकी बोली बहुत शुद्ध थी। संस्कृत-भाषाके सबसे बड़े वैयाकरण, पाणिनि, उदीच्य ही थे, क्योंकि वर्तमान अटकके पास उनका जन्म हुआ था। प्राच्योंका नाम शतपथ ब्रा० १।७।३।८, १३।८।१।५ और १३।८।२।१ में भी आता है। प्राच्य, उदीच्य प्रभृतिके अतिरिक्त ये (जाति या) जनपद-वाची नाम वेदमे आते हैं—अङ्ग, अन्ध्र, कम्बोज, काशी, कीकट, कुरु, उत्तरकुरु, कोसल, गन्धारि, चेदि, नैषिध, पञ्चाल, पारावत (?), पुण्ड्र, बल्हिक, बाहीक, भरत, मगध, मत्स्य, मद्र, उत्तरमद्र, महावृष, वग, विदेह, विदर्भ इत्यादि।

अग—अ० सं० (५।२२।१४)में गन्धारि और मगधों तथा गोपथब्राह्मण (२।६)मे मगधोंके साथ इनका नाम आता है। गोपथके समयतक अंग लोग शायद पश्चिम बिहारको पहुँच गये थे।

अन्ध्र ऐतरेयब्राह्मण (७।१८)मे कहा गया है कि, जब विश्वामित्रने अजीगर्त्तके पुत्र शुनःशेपको पुत्ररूपसे ग्रहण किया और उनको अपने पुत्रोंमें ज्येष्ठ करके स्वीकार किया, तब विश्वामित्रके कुछ पुत्रोंने इस व्यवस्थाको स्वीकार नहीं किया। तब ऋषिके शापसे वे लोग आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मूतिब, इन उपान्तवासी दस्युजातियोंमें परिणत हो गये। इससे

हम इतना ही जान सकते हैं कि, आन्ध्र लोग आर्य-निवासके बाहर, उपान्त देशमें, रहते थे। ऐतिहासिक कालमें ये लोग दक्षिणापथके उत्तर भागमें रहते थे और इस समय मद्रास प्रान्तका उत्तर भाग आन्ध्र देश कहलाता है।

कम्बोज—वंश-ब्राहमणमें किसी मद्रगार नामके आचार्यके शिष्य काम्बोज औपमन्यवका नाम आता है। इससे यों अनुमान किया जा सकता है, मद्र और कम्बोजके ये लोग उत्तर देशके (भारतवर्षके उत्तर-पश्चिमके) रहनेवाले थे।

काशी या काश्य—शतपथब्रा० १३।५।४।१९ २१, अथर्वसंहिता (पैप्पलाद शाखाकी) ५।२२।१४, जैमिनीयब्राहमण २।३।२६, बृहदारण्यक उपनिषद् २।१।१, ३।८।२, कौषीतकी उपनिषद् ४।१, गोपथ-ब्रा० १।२।६ इत्यादि। ब्राहमण-युगकी काशी वर्तमान काशीसे अभिन्न है, यह माननेके लिये कोई प्रमाण नही है, यद्यपि कोसलो और विदेहोके साथ काशियोका नाम आता है। मेरा अनुमान है कि, काशी लोग भरतवंशकी ही एक शाखा थे और धीरे-धीरे मध्यदेशकी पूरबी सीमातक पहुँच गये थे।

कीकट—ऋ० सं० ३।५३।१४। निरुक्त (६।३२)से और ऋग्वेदसंहिताके शब्दोसे पता चलता है कि, यह विपाश और शुतुद्रीके दक्षिण पारकी कोई अनार्योंकी भूमि थी, जहाँ बहुतसी गायें थीं। बादके कोशकारोंके मतसे कीकट और मगध पर्यायवाची शब्द है, परन्तु ऋक्संहिताका कीकट-देश वर्तमान बिहारसे बहुत दूरपर रहा होगा।

कुरु—कुरुओका नाम ब्राह्मणोंमे सर्वत्र आता है। यद्यपि ऋक्संहितामें साक्षात् कुरुनाम नही आया है, एक मनुष्यका नाम कुरुश्रवण (१०।३३।४), और पूरुजातिका, लिखित है। कुरु लोग भरतवंशीय, अतएव पूरुवंशी थे। मेरा अनुमान है कि, कुरु और पूरु (पुराणोंमें पुरु) एक ही शब्द हैं। ब्राह्मण-युगके कुरुओंका देश पुराणके कुरुक्षेत्रसे अभिन्न रहा होगा। कुरुओंके साथ प्रायः और एक जातिका नाम आता है पञ्चाल। ऐतरेयब्राह्मणसे ज्ञात होता है कि, हिमवत् (हिमालय)के उत्तरको लोग उत्तर-कुरु कहते थे (८।१४) और उनका देश देवक्षेत्र था (८।२३)।

कोसल—शतपथब्राहमण १।४।१।१७, १३।५।४।४, जैमिनीयब्राह्मण २।३२६, प्रश्नोपनिषद् ६।१। इनका नाम विदेहोके साथ-साथ आता है, इस कारण कोसलों और विदेहोके निवास वैदिक युगमें भी पास ही पास रहे होगे।

गन्धारि या गन्धार—ऋ० सं० १।१२६।७, अ० सं० ५।२२।१४, छान्दोग्य उपनिषद् ६।१४।१। गन्धारि और पुराणके गान्धार एक ही हैं। गान्धारकी तरह गन्धारियोका देश वर्तमान कन्दाहारसे अभिन्न रहा होगा। ऋक्संहितामे इस देशकी अच्छी पशमवाली भेडोका उल्लेख है। छान्दोग्य उपनिषद्की रचना जिस देशमे हुई थी, वहाँसे गन्धार-देश कुछ दूर पर था, ऐसा ज्ञात होता है।

चेदि—चेदिराज कशुके दानकी महिमा ऋ० सं० ८।५।३७-३९ मे गायी गयी है। चेदिराष्ट्र कहाँ था, यह हम जान नही सकते।

नैषिध—शतपथब्रा० २।३।२।१,२ में एक दक्षिणके राजा, नड नामके, नैषिध कहे गये हैं। इससे नैषिधोका निवास दक्षिणमे था, ऐसा जान पड़ता है। बादके युगमे नैषध-देश दक्षिणमे ही था।

पंचाल—ब्राह्मणोमें इनके नाम कई बार आये है। कुरुओंके पूरबकी ओर ये लोग शायद रहते थे।

पारावत—कुछ लोगोंके मतसे ऋक्संहिता, ताण्ड्यमहाब्राह्मण प्रभृतिमे आया हुआ यह शब्द एक जातिविशेषके लिये है। परन्तु मैं समझता हूँ कि, यह शब्द दूरके रहनेवालोंके लिये सामान्य रूपसे आया है।*

पुण्ड्र—ऐतरेयब्राह्मण (७।१८)मे अन्ध्र इत्यादि के साथ इनका नाम आया है। बादके साहित्यमें पुण्ड्र-देश बिहारसे अभिन्न-सा ज्ञात होता है। हम बिहारके लिये पौण्ड्रवर्धन नाम बादको पाते है।

बल्हिक—अ० सं० ५।२२।५, ७, ९ से ज्ञात होता है कि, ये उत्तरके रहनेवाले थे। श० ब्रा० १२।९।३ में बल्हिक प्रतीपीय करके एक पुरुषका नाम आता है। बल्हिक और बादके बाल्हीक (बाल्ख ?) एक ही है।

बाहीक—श० ब्रा० १।७।३।८। कोई उत्तर-पश्चिम की जाति। बादको पंजाबमें बाहीकोंकी स्थितिका प्रमाण हमें मिलता है।

भरत—ऋक्संहितासे लेकर भरतोका नाम वेदमें सर्वत्र आता है। ये भरत लोग पूरुओसे सम्बद्ध थे। वैदिक युगमें भरतोका कोई नियत निवास-स्थान नही था। ऋ० सं० ७।१८ प्रभृतिमे तृत्सु भरत सुदास राजाको परुष्णीके तटपर हम पाते है और ३।३३ तथा ३।५३ में विपाश और शुतुद्री पार करते हुए देखते है। ऋ० स० (३।२३) मे दो भारत राजपुत्रोंको हम सरस्वती, दृषद्वती प्रभृतिके पास देखते हैं और जैमिनीयब्राहमण (३।२३७) में भरतों को सिन्धके तटपर पाते है। ये भरत लोग आर्योंमे सबसे प्रथित थे। उनके नामसे इस देशका नाम बाद को भारतवर्ष हुआ है।

मगध—अ० सं० ५।२२।१४, वाजसनेयसंहिता ३०।५।२२, तैत्तिरीयब्राहमण ३।४।१।१ इत्यादि। वैदिक युगमे मगध लोग नाना कारणोंसे बदनाम थे। स्मृतियोके युगमे भी यही दशा थी। देखिये—"अग, वंग, कलिग, सुराष्ट्र और मगध-देशमें तीर्थ-यात्राके सिवा जानेसे फिरसे उपनयनादिक संस्कार करके शुद्ध होना पडता है"(अङ्ग-वङ्ग-कलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च। तीर्थयात्रां विना गच्छन् पुनः संस्कार-मर्हति।)। मगधोंका गाना, बजाना प्रभृति कामोंसे सम्बन्ध था। माध्यन्दिनसंहिता (३०।२२) मे वेश्या, जुआडी प्रभृतिके साथ मागधका नाम लिया गया है। वेदके समय मगधोका देश उत्तर बिहारमे ही था कि, उससे कुछ हटकर, यह हम नहीं जान सकते।

मत्स्य—शतपथब्राह्मण १३।५।४।९, कौषीतकी उपनिषद् ४।१, गोपथब्राह्मण १।२।९। कुछ लोगोंके मतसे ऋ० सं० ७।१८।६ मे इनका नाम आता है, परन्तु यह सत्य नहीं है। वेदके समयमे ये लोग कहाँ रहते थे, जयपुरकी ओर या अन्यत्र, यह दुर्ज्ञेय है।

मद्र—बृहदारण्यक उपनिषद् ३।३।१, ३।७।१।१। पहले कहा गया है कि, ऐ० ब्रा० मे हिमालयके उत्तर के रहनेवाले उत्तरमद्रोका नाम आता है।

महावृष—अ० सं० ५।२२।४,५,८, जैमिनीयब्राह्मण ३।२३४, जैमिनीय-उपनिषद्ब्राह्मण ३।४०।२, छान्दोग्य उपनिषद् ४।२।५ इत्यादि। कोई उत्तरकी ओर दूरमे रहनेवाली जाति।

वंग—ऐतरेय-आरण्यक २।१।१ में "वङ्गावगधा" शब्द आता है, जो कि, "वङ्गमगधा:"के लिये भ्रान्त पाठ-सा मालूम होता है। ऐतरेय आरण्यक बहुत अर्वाचीन पुस्तक है। उसमे मगधके पासमे वगका उल्लेख समुचित ही है।

विदेह—श० ब्रा० १।४।१।१० (विदेघ वा विदेह, दोनो आकृतियोमे) बृहदारण्यक उपनिषद्की कई

* देखिये मेरा लेख—"Identification of the Rigvedic River Sarasvati," पृष्ठ १०—३६।

जगहोंपर, कौषीतकी उप० ४।१, ताण्ड्यमहाब्रा० २५।१०।१७ इत्यादि। कोसलोंके साथ इनका नाम आता है। ऊपर देखिये।

विदर्भ—केवल जैमिनीय ब्राह्मण (२।४४२)में इनका नाम आता है। उस ब्राह्मणके समय ये लोग वर्तमान विदर्भ (बरार)से कितनी दूरीपर थे, यह दुर्ज्ञेय है।

इन जनपद्-वाची शब्दोंके अतिरिक्त और भी कई देश या नगर-वाची शब्द वैदिक साहित्यमें आये हैं। उनका विवरण मैं नीचे संक्षेपमें दे रहा हूँ।

काम्पिल—तैत्तिरीयसंहिता ७।४।१९।१, मैत्रायणीयसंहिता ३।१२।२०, काठकसंहिता (आश्वमेधिक) ४।८, माध्यन्दिनसंहिता २३।१८ तै० ब्राह्मण ३।९।६, श० ब्रा० १३।२।८।३। यह पञ्चाल देशकी राजधानी सी मालूम होती है।

कारपचव—ता० म० ब्रा० २५।१०।२३। यमुनाके तटपर कोई स्थान।

कारोटी—श० ब्रा० ६।५।२।१५। कोई स्थान या नदी, जहाँ (या जिसके तटपर) तुर कावषेयने अग्निचयन किया था।

कुरुक्षेत्र—कई जगह पुण्यभूमि करके इसका नाम आया है।

कौशाम्बी (?)—श० ब्रा० १२।२।२।१३ और गोपथ ब्रा० १।२।२४ मे एक पुरुषका "कौशाम्बेय" करके नाम आया है। हरिस्वामीके मतसे इसका अर्थ है, "कौशाम्बीमें रहनेवाला", परन्तु वास्तवमें "कुशाम्बका पुत्र" ही समीचीन अर्थ मालूम होता है (देखिये ता० म० ब्रा० ८।६।८)।

तूघ्न—तै० आरण्यक ५।१।१। कुरुक्षेत्रके उत्तरका भाग।

त्रिप्लक्ष—ता० म० ब्रा० २५।१३।४। यमुनाके पासका स्थान, जहाँ दृषद्वतीका अन्तर्धान होता है।

नाडपित्—श० ब्रा० १३।५।४।१३। "शकुन्तला नाडपित्यप्सरा भरत दधे" इत्यादिमें यह सन्दिग्ध है कि, द्वितीय और तृतीय शब्दोंकी सन्धिका कैसे छेद होगा। अगर 'नाडपिति+अप्सरा.' ऐसा छेद होगा, तो अर्थ यह है कि, नाडपित् नामके स्थानमें अप्सरा शकुन्तलाने भरतको प्रसव किया। परन्तु 'नाडपिती+अप्सरा.' ऐसे छेद होगा, तो नाडपिती शकुन्तलाका विशेषण है और यहाँ किसी देशका नाम नहीं है।

नैमिश या नैमिष—काठकसंहिता १०।६, ता० म० ब्रा० २५।६।४, जैमिनीयब्राह्मण १।३६३ कौषीतकि ब्राह्मण २६।५, २८।४, छान्दोग्य उपनिषद् १।२।१३। यह एक पवित्र स्थान था, जहाँ बडे-बडे ऋषि लोग रहते थे। इस नैमिष-वनमें महाभारतका प्रथम प्रचार हुआ था। इसका वर्त्तमान नाम है निमसार।

परीणाह—ता० म० ब्रा० २५।१३।१, जैमिनीय ब्राह्मण २।३० इत्यादि। कुरुक्षेत्रके पश्चिममें यह स्थान है।

प्लक्ष प्रास्रवण—ता० म० ब्रा० २५।१०।१६,२२ इत्यादि। यह विनशनसे ४४ दिनके रास्तेपर है।

रैक्कपर्ण—छा० उप० ४।२।५। यह महावृषोंके देशमें कोई स्थान है।

विनशन—ता० म० ब्रा० २५।१०।१, जै० उप० ब्रा० ४।२६ इत्यादि। यह सरस्वती-नदीके अन्तर्धानका स्थान है।

सार्चीगुण—ऐ० ब्रा० ८।२३। यह भरतोंके देशमें कोई स्थानसा मालूम होता है।

स्थूलामें —ता० म० ब्रा० २५।१०।१८। यह कोई स्थान है, जिसके उत्तरमे कोई हद्द है। सायण का मत है कि, यह सरस्वतीका हद्द है।

इनके अतिरिक्त और भी कई छोटे-मोटे या सन्दिग्ध नाम वेदमे आते हैं। लेखके बहुत बढ जानेसे मैंने उनका उल्लेख नही किया है। परन्तु अन्तमें एक शब्दका नाम मुझे अवश्य ही लेना है, जो कि, ऋक्संहितामे एक बार (८।२४।२७) पंजाबके लिये आया है—"सप्त सिन्धव" अर्थात् सात नदियोका देश। वेदमें कहीं पञ्चनद शब्द नहीं आया है। अवेस्तामे भी पंजाब या भारतवर्षके लिये "हप्त हिन्दव" शब्द आया है।*

बसाढ़की खोदाई

त्रिपिटिकाचार्य राहुल साङ्कृत्यायन

हाजीपुरसे १८ मील उत्तर, मुजफ्फरपुर जिलेमें, बसाढ़ (बनिया बसाढ) गाँव है। यहींके पासके गाँव बखरामें अशोक-स्तम्भ है। यहाँकी खोदाईमें ईस्वी सन्से पूर्वकी चीजें मिलती हैं। खोदाईके सम्बन्धमें कुछ लिखनेके पूर्व इस स्थानके बारेमें कुछ लिख देना उचित होगा।

वैशाली प्राचीन वज्जी-गण-तन्त्रकी† राजधानी थी। वज्जीदेशकी शासक क्षत्रियजातिका नाम लिच्छवि था। जैन-ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि, इसकी ६ उपजातियाँ थीं। इन्हींका एक भेद‡ ज्ञातृजाति था, जिसमे पैदा होनेके कारण जैनधर्म-प्रवर्तक वर्धमान (महावीर)को नातपुत्त या ज्ञातृपुत्र भी कहते हैं। पाणिनिने भी "मद्रवृज्योः कन्" [अष्टाध्यायी ४।२।३१] सूत्रमें इसी, वज्जीको वृज्जी कहकर स्मरण किया है। बुद्धके समय यह वज्जी गण राज्य उत्तरी भारतकी पाँच प्रधान राजशक्तियों—अवन्ती, वत्स, कोसल, मगध और वज्जी—मेसे एक था। इस गणराज्यका शासन कब स्थापित हुआ, यह निश्चय रूपसे नहीं कहा जा सकता। इनके न्याय, प्रबन्ध आदिके सम्बन्धमें पाली-ग्रन्थोंमें जहाँ-तहाँ वर्णन है। बुद्धनिर्वाणके तीन वर्ष बाद, प्राय ई० पू० ४८० में, वज्जी-गणतन्त्रको मगधराज अजातशत्रुने, बिना लड़े-भिड़े, जीता था। पीछे तो मगध-साम्राज्यके विस्तारमें लिच्छविजातिने बड़ा ही काम किया। लिच्छवियोंके प्रभाव और प्रभुत्वको हम गुप्त-काल तक पाते हैं, जब कि, गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्तका लिच्छवि-दौहित्र होनेको सम्मानकी बात देखते हैं। कितने ही विद्वानोंका मत है कि, गुमनाम गुप्तवंशको साम्राज्य-शक्ति प्रदान करनेमें सम्राट् चन्द्रगुप्तका लिच्छवि-राजकन्या कुमारदेवीके साथ विवाह होना भी एक प्रधान कारण था।

* "भूगोल"-सम्पादकके सौजन्यसे।— "गङ्गा"-सम्पादक।

† वज्जीदेशमें आजकलके चम्पारन और मुजफ्फरपुरके जिले, दरभंगेका अधिकांश तथा छपरा जिलेके मिर्जापुर, परसा, सोनपुरके थाने एवम् कुछ और भाग सम्मिलित थे।

‡ रत्ती परगने (जिसमें बसाढ़ गाँव है)में जिन जथरियोंकी सबसे अधिक बस्ती है, वह यही पुराने ज्ञातृ हैं, जो भूत कालमें इस बलशाली गणतन्त्रके सञ्चालक, और जैन तीर्थङ्कर महावीरके जन्मदाता थे।

इस विवाह-सम्बन्धके कारण चन्द्रगुप्तको वीर ‡ लिच्छ-विजातिका सैनिक बल हाथ लगा था। गुप्तवंशका सबसे प्रतापी सम्राट् समुद्रगुप्त उसी लिच्छविकुमारी कुमारदेवीका पुत्र था। कौन कह सकता है, उसको अपनी दिग्विजयोंमें अपने मामाके वंशसे कितनी सहायता मिली होगी। गुप्तवंशके बाद हम लिच्छवियोंके नाम नहीं पाते। युन्-च्वाङ्के समय वैशाली उजाड़-सी थी। बेतियाका राजवंश उक्त लिच्छविजातिके जथरिया-वंशके अन्तर्गत है, इसलिये सम्भव है, बेतिया-राजवंशके इतिहाससे पीछेकी कुछ बातोंपर प्रकाश पड़े।×

वैशाली नामके बारेमें पाली-ग्रन्थोंमें लिखा है कि, दीवारोंको तीन बार हटाकर इसे विशाल करना पड़ा, इसी लिये वैशाली नाम पड़ा। फलत वैशाली के ध्वंसावशेषका दूरतक होना स्वाभाविक है, यद्यपि वैशाली नगर कहाँतक था और कहाँ नगरके बाहरवाले गाँव थे, इसका अभीतक पता नहीं लगा है। अभीतक जो भी खोदाईका काम हुआ है, वह सिर्फ बसाढ़के गढ़में ही हुआ है। बसाढ़के आसपास कोसोंतक पुरानी बस्तियोंके निशान मिलते हैं। बसाढ़ और बनिया गाँव न सिर्फ स्वयं पुरानी बस्तियोंपर बसे हैं, बल्कि उनके आसपास भी ऐसी बहुत भूमि है, जिसके नीचे भूत कालके सन्देशवाहक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

वैसे तो बसाढ़के लोगोंको मालूम ही था कि, उनका गाँव राजा विशालकी राजधानी है; किन्तु मेशिये सेंट मार्टिन और जनरल कनिंघम प्रथम सज्जन थे, जिन्होंने बसाढ़के ध्वंसावशेषोंको पुरानी वैशाली होनेका संकेत किया। तो भी बसाढ़में सनियम खोदाईका काम सन् १६०३ ई० तक नहीं हुआ था। १९०३-४ ई० के जाड़ोंमें डा० ब्लाशके अधिनायकत्वमें वहाँकी खोदाई हुई। उसके बाद, १६१३-१४ ई०में, फिर डाक्टर स्पूनरने खोदाईका काम किया। यह दोनों ही खोदाइयाँ राजा विशालके ही गढ़पर हुईं। डाक्टर ब्लाश् (*Bloch*) अपनी खोदाईमें गुप्त-कालके आरम्भ (चौथी शताब्दीके आरम्भ) तक पहुँचे थे और डाक्टर स्पूनरका दावा मौर्य (ई० पू० तीसरी शताब्दी)तक पहुँचनेका था। यद्यपि जिस मुहरके बलपर उन्होंने ई० पू० तीसरी शताब्दी निश्चय किया, उसे १म० राखालदास बन्द्योपाध्याय जैसे पुरालिपिके विद्वान्ने ई० पू० प्रथम शताब्दीका बतलाया, जो अक्षरोंको देखनेसे ठीक जँचता है।

राजा विशालका गढ़ दक्खिनको छोड़कर तीन तरफ जलाशयोंसे घिरा है; और, वर्षा तथा शीतकालमें दक्खिनकी ओरसे—जिधर बसाढ़ गाँव है—ही गढ़पर जाया जा सकता है। डाक्टर ब्लाशके नापसे गढ़ उत्तर ओर ७६७ फीट, दक्षिण ओर ७८० फीट, पूर्व ओर १६.९ एवं पश्चिम

‡ आज भी जथरियाजाति लड़ने-भिड़नेमें मशहूर है।

× जिस प्रकार नन्द और मौर्य भारतके प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य-स्थापक थे, वैसे ही वज्जी ऐतिहासिक कालका एक महान् शक्तिशाली गणतन्त्र था। क्या यह अच्छा न होगा कि, मुजफ्फरपुरवाले उसकी स्मृतिमें प्रतिवर्ष एक लिच्छविगणतन्त्र-सप्ताह मनावें, जिसमें और बातोंके साथ योग्य विद्वानोंके गणतन्त्र-सम्बन्धी व्याख्यान कराये जाँय ? लिच्छवि-गणतन्त्र भारतीयोंके जनसत्तात्मक मनोभावका एक ज्वलन्त उदाहरण है, जो पाश्चात्योंके इस कथनका खण्डन करता है कि, भारतीय हमेशा एकाधिपत्यके नीचे रहनेवाले रहे हैं। लिच्छवि-गणतन्त्रपर सारे भारतका अभिमान होना स्वाभाविक है। एक लिच्छवि-जथरियाके नाते, आशा है, मौलाना शफी दाऊदी भी इसमें सहयोग देंगे।

और १६६० फीट विस्तृत है। सारी खोदाईमें सिर्फ एक छोटी-सी गणेशकी मूर्त्ति डा० ब्लाश्को मिली थी, जिससे सिद्ध होता है कि, गढ़पर धार्मिक स्थानोंके लिये जगह नहीं थी। गुप्त, कुषाण तथा प्राक्-कुषाण मुहरोंको देखनेसे तो साफ मालूम होता है कि, यह राज्याधिकारियोंका ही केन्द्र रहा है। वैसे गढ़को छोड़कर बसाढ़में दूसरी जगह भी अकसर पुरानी मूर्त्तियाँ मिलती हैं। गढ़से पश्चिम तरफ, बावन पोखरके उत्तरी भागपर, एक छोटा सा आधुनिक मन्दिर है, वहाँ जाकर आप मध्यकालीन खण्डित कितनी हा—बुद्ध, बोधि-सत्व, विष्णु, हर गौरी गणेश, सप्तमातृका एव जैनतीर्थङ्करोंकी—मूर्त्तियाँ पावेंगे।

गढ़की खोदाईमें जो सबसे अधिक और महत्त्वपूर्ण चीजें मिलीं, वह हैं महाराजो, महारानियों तथा दूसरे अधिकारियोंकी अङ्कित कई सौ मुहरें। डाक्टर ब्लाश अपनी खोदाईमें ऊपरी तलसे १० या १२ फीटतक नीचे पहुँचे थे। उनका सबसे निचला तल वह था, जहाँसे आरम्भिक गुप्तकालकी दीवारोंकी नींव शुरू होती है। ऊपरी तलसे १० फीट नीचे "महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त द्वितीय (३८०—४१३ ई०)-पत्नी महाराज श्रीगोविन्द-गुप्तमाता महादेवी श्रीध्रुवस्वामिनी"की मुहर मिली थी। जिस घरमें वह मिली थी, वह देखनेमें बहबचाघर-सा मालूम होता था, इसलिये उस समयका साधारण तल इससे कुछ फीट ऊपर ही रहा होगा। डा० स्पूनर और नीचेतक गये, जहाँ उन्हें ई० पू० प्रथम शताब्दी-की वेसालि-अनुसयानकवाली मुहर मिली। डा० ब्लाश्की सबसे बड़ी ईंट १६॥ × १० × २ इञ्च नापकी मिली थी। एक तरहके खपड़े भी मिले, जो बिहारमें आजकल पाये जानेवाले खपड़ोंसे भिन्न हैं। इस तरहके खपड़े लखनऊ म्यूजियममें भी रखे हैं, जो युक्तप्रान्तमें कहीं मिले थे। इनकी लम्बाई-चौड़ाई निम्न प्रकार है:—

८ × २॥	८। × २
९॥ × २॥	८। × २॥।
७॥ × २	११ × २

यद्यपि गढ़की खोदाईमें हाथी-दाँतका दीवट (चौपाधानी) तथा और भी कुछ चीजें मिली थीं, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण चीजें कई सौ मुहरें ही हैं। गुप्तकालसे पूर्वकी मुहरें बहुत थोड़ी मिली हैं, उनमेंसे एकपर निम्न प्रकारका लेख है:—

"वे सालि अनु
+ + + +
ट + + का रे
स या न क"

इसमें वेसालि अनुसयानकको वेसालीअनुसयानक बनाकर डाक्टर फ्लीटने "वैसालीका दौरा करनेवाला अफसर" अर्थ किया है, और, "टकारे"के लिये कहा है — यह एक स्थानके नामका अधिकरण (सप्तमी) में प्रयोग है। अशोकके लेखोंमें पाँच पाँच वर्षपर खास अफसरोंके अनुसयान या दौरा करनेकी बात लिखी है। उसीसे उपर्युक्त अर्थ निकाला गया है। किन्तु सिवा वेसालि शब्दके, जो कि, स्थानको बतलाता है, और अर्थ अनिश्चितसे ही हैं। दूसरी मुहरमें है—

" राज्ञो महाक्षत्रपस्य स्वामी रुद्रसिंहस्य दुहितु
राज्ञो महाक्षत्रपस्य स्वामी रुद्रसेनस्य
भगिन्या महादेव्या प्रभुदमाया "

'राजा महाक्षत्रप स्वामी रुद्रसिंहकी पुत्री, राजा महाक्षत्रप स्वामी रुद्रसेनकी बहन महादेवी प्रभुदमाकी।'

महाक्षत्रप रुद्रसिंह और उसके पुत्र रुद्रसेन चष्टन रुद्रदामवशीय पश्चिमीय क्षत्रपोंमेंसे थे, जिनकी राजधानी उज्जैन थी। रुद्रसिंह और रुद्रसेनका राज्यकाल

ईसाकी तीसरी शताब्दीका आरम्भ है। प्रभुदमाके साथका महादेवी शब्द बतलाता है कि, वह किसी राजाकी पटरानी थी। क्षत्रपों और शातवाहनवंशीय आन्ध्रोंका विवाह-सम्बन्ध तो मालूम ही है, किन्तु प्रभुदमा किसकी पटरानी थी, यह नहीं कहा जा सकता। "हरुदेवस्य" मुहर कुषाण-लिपिमें है।

गुप्तकालीन मुहरोंमें कुछ "भगवत आदित्यस्य", "जयत्यनन्तो भगवान् साम्बः", "नम पशुपते" आदि देवता-सम्बन्धी हैं, और, कुछ "नागशर्मणः", "बुद्धमित्रस्य", "त्रिपुरवर्षद्विदत्त.", "भद्ररक्षितस्य" आदि साधारण व्यक्तियोंकी। राज्याधिकारियोंकी मुहरोंके बारेमें लिखनेसे पूर्व गुप्तकालीन शासनाधिकारियोंके बारेमें कुछ लिखना चाहिये। गुप्त-साम्राज्य अनेक भुक्तियोंमें बँटा हुआ था। यह भुक्तियाँ आजकलकी कमिश्नरियोंसे बड़ी थीं। हर एक भुक्तिमें अनेक विषय हुआ करते थे, जो प्रायः आजकलके जिलोंके बराबर थे। विषय कहीं-कहीं अनेक पथकोंमें विभाजित था, जैसा कि, हर्षके बाँसखेड़ावाले ताम्रपत्रसे मालूम होता है। नवमी शताब्दीके पालवंशीय राजा धर्मपालके लेखसे मालूम होता है, उस समय भुक्तियोंको मण्डलोंमें विभक्त कर, फिर मण्डलको अनेक विषयोंमें बाँटा गया था। हो सकता है, साम्राज्यके आकारके अनुसार भुक्तियोंका आकार घटता-बढ़ता हो। यद्यपि विषयोंके नीचे पथकोंका होना प्रायः नहीं देखा जाता, तो भी यदि पथक थे, तो उन्हें आजकलके परगने एव ग्यारहवीं शताब्दीकी पत्तलाके समान जानना चाहिये। भुक्ति, विषय, ग्राम— इन तीन विभागोंमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। उस समय भुक्तिके शासकको उपरिक कहा जाता था, जिसे आजकलका गवर्नर समझना चाहिये। उपरिकको सम्राट् ही नियुक्त किया करता था। अपनी भुक्तिके भीतर उपरिक विषय-पतियोंको नियुक्त किया करता था, जिन्हें नियुक्तक या कुमारामात्य कहा जाता था। विषय-पति कुमारामात्यका निवास-नगर अधिष्ठान कहा जाता था; और, इस नगरके शासनमें निगम या नागरिक-परिषद्का बहुत हाथ रहता था। यह निगम वही संस्था है, जिसके प्रभावका उल्लेख नेगम (= नैगम)के नामसे बुद्धकालमें भी बहुत पाया जाता है। गुप्तकालमें श्रेष्ठी (= नगर-सेठ), सार्थवाह (बनजारोंका सरदार) और कुलिक (प्रतिष्ठित नागरिक) मिलकर निगम कहे जाते थे। यह और प्रथम कायस्थ (प्रधान लेखक) मिलकर विषय-पतिकी परामर्श-समिति-सी होती थी।

अब बसाढ़की खोदाईमें मिली ऐसी कुछ मुहरोंको देखिये—

उपरिक‡ {
(१)×तीरभुक्त्युपरिकाधिकरणस्य।
(२) तीरभुक्तौ विनयस्थितिस्थाप (क)ाधिकरण(स्य)।
}

* श्रावस्ती (सहट-महेट) गोंडा-बहराइच जिलोंकी सीमापर है, इसलिये गोंडा-बहराइच जिलोंको श्रावस्ती-भुक्तिमें मानना ही चाहिये। सातवीं शताब्दीके हर्षवर्द्धनके मधुवनवाले ताम्र-लेखसे मालूम होता है कि, आजमगढ़ श्रावस्ती-भुक्तिमें ही था। खिचवा दुबौली (जि० सारन)का ताम्रपत्र यदि अपने स्थान पर ही है, तो नवीं शताब्दीमें सारन भी श्रावस्ती-भुक्तिमें था। इस प्रकार गोंडा, बहराइच, बस्ती गोरखपुर, आजमगढ़ और सारन जिले कम-से-कम श्रावस्ती भुक्तिमें थे।

× तीरभुक्ति=तिरहुत, जिसमें सम्भवत गण्डक, गंगा, कोसी और हिमालयसे घिरा प्रदेश शामिल था।

‡ उपरिककी मुहरमें, दो हाथियोंके बीचमें, लक्ष्मी है, जिनके बायें हाथमें अष्टदल पुष्प है।

कुमारा०
(१) तीर कुमारामात्याधिकरणस्य ।
(२) कुमारामात्याधिकरणस्य ।
(३) (वै)शाल्यधिष्ठानाधिकरण ।
(४) (वै) शालविषय × ।

निगम
(१) श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक-निगम ।
(२) श्रेष्ठिकुलिक निगम ।
(३) श्रेष्ठिनिगमस्य ।

श्रेष्ठि
(१) गोमिपुत्रस्य श्रेष्ठिकुलोदस्य
(२) श्रेष्ठिश्रीदासस्य ।

सार्थवाह
सार्थवाह दोड्ड ····

प्रथम कुलिक+
(१) प्रथमकुलिकहरिः ।
(२) प्रथमकुलिकोग्रसिंहस्य ।

कुलिक
(१) कुलिक भगदत्तस्य ।
(२) कुलिक गोरिदासस्य ।
(४) कुलिक गोगडस्य ।
(३) कुलिक हरि ।
(५) कुलिक ओमभट्ट ।

इनके अतिरिक्त कुछ मुहरें राजा, युवराज तथा उनसे विशेष सम्बन्ध रखनेवालोंकी भी हैं । जैसे—

(१) महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तपत्नी महाराज श्रीगोविन्दगुप्तमाता महादेवी श्रीध्रुव स्वामिनी ।

(२) श्रीपर (म भट्टारक) पादीय कुमारामात्याधिकरण ।

(३) श्रीयुवराज भट्टारकपादीय कुमारामात्याधिकरण ।

(४) युवराजभट्टारकपादीय बलाधिकरणस्य ।

इनके अतिरिक्त रणभाण्डागाराधिकरण, दण्डपाशाधिकरण, दण्डनायक (न्याय मन्त्री) और भटाश्वपति (घोड़सवार, सेनापति आदि)की मुहरें मिली हैं —

(१) महादण्डनायकाग्निगुप्तस्य ।

(२) भटाश्वपति यशवत्सस्य (?)

युवराज भट्टारकपादीय-कुमारामात्याधिकरण देखकर तो मालूम होता है, तीर-भुक्तिके उपरिक भी स्वयं युवराज ही होते थे । द्वितीय गुप्त-सम्राट् अपनेको लिच्छवि-दौहित्र कहकर जिस प्रकार अभिमान प्रकट करता है, उससे वैशालीको यह सम्मान मिलना असम्भव भी नहीं मालूम होता ।❀

* मुहरमें दो हाथियोंके बीच लक्ष्मी है, जिनके हाथमें समदल पुष्प है । × सम्भवत विषय ।

\+ नगरमें श्रेष्ठी और सार्थवाह एक-एक हुआ करते थे । निगमसभाके बाकी सद्कुलिक कहे जाते थे, जिनमें प्रमुखको प्रथम कुलिक कहा जाता था । यही कारण है, जो मुहरोंमें सबसे अधिक कुलिकोंकी मुहरें हैं ।

❀ जैनधर्मके लिये वैशालीका कितना महत्त्व है, यह तो उसके प्रवर्त्तक वर्धमान महावीरके वहाँ जन्म लेनेसे ही स्पष्ट है । बौद्धधर्ममें भी वैशालीके लिये बड़ा गौरव है । वैशालीमें ही बुद्धने, सन ५२५-५२४ ई० पू०में, स्त्रियोको भिक्षुणी बननेका अधिकार दिया था । बुद्धने यहीं अपना अन्तिम वर्षावास किया था । बुद्धके निर्वाणके सौ वर्ष बाद सन् ३८३ ई० पू०में, यहीं, बुद्धके उपदेशोंकी छान-बीनके लिये, भिक्षुओंने द्वितीय संगीति (सभा) की थी । बुद्धने भिक्षु-संघके सामने लिच्छवि-गण तन्त्रको आदर्शकी तरह पेश किया था । भिक्षु-संघके छन्द [=वोट] दान तथा दूसरे प्रबन्धके ढंगोंमें लिच्छविगणतन्त्रका अनुकरण किया गया है ।

पहाड़पुरकी खोदाई

बा० मदनप्रसाद एम० ए०, बी० एल०

भारतके प्राचीन इतिहासकी सामग्री भारतमें प्रचुरतासे पाये जानेवाले प्राचीन भग्नावशेषोंमें निहित है। भारतवर्षका प्राचीन इतिहास लिखनेके लिये इतिहासकारको जितना पुरातत्त्व सम्बन्धी प्रमाणोंका आधार लेना पड़ता है, उतना और दूसरे प्रमाणोंका नहीं। यदि सच पूछा जाय, तो प्राचीन इतिहासका एक बहुत बड़ा अंग पुरातत्त्वके ही आधारपर लिखा गया है। साथ-साथ इसके द्वारा इतिहास-सम्बन्धी बहुत-सी भ्रमपूर्ण और मिथ्या बातोंका निराकरण भी हुआ है। इस क्षेत्रमें पाश्चात्य विद्वानोंने जो कार्य किये हैं, वे सर्वथा सराहनीय हैं। सौ वर्ष पूर्व हम अपने प्राचीन इतिहाससे पूर्ण रूपसे अनभिज्ञ थे। भारतीय इतिहासकी बहुतसी बातें अतीतके अन्धकारपूर्ण गर्भमें पड़ी थीं। इस देशके एक कोनेसे दूसरे कोनेतक पाये जानेवाले प्राचीन अवशेष केवल कौतूहलकी सामग्री समझे जाते थे। हमारे सौभाग्यसे पाश्चात्य विद्वानोंका ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ; और, उनके अनुकरणीय अध्यवसाय तथा मार्मिक गवेषणाके फलस्वरूप इन अवशेषोंका समुचित उपयोग होकर उनसे ऐतिहासिक तथ्योंका पता लगाया गया। भारतकी सरकारने एक पुरातत्त्व-विभाग (*Archaeological Survey Department*) कायम कर इस कार्यको और भी प्रगतिशील बना दिया। पुरातत्त्व-विभागने, ५० वर्षोंके अन्दर, जो खोज-सम्बन्धी कार्य किया है, वह सबको विदित है। कितने शिलालेखों, मुद्राओं और सिक्कोंका पता लगाया गया, उनपर अंकित, चिह्नोंका स्पष्टीकरण किया गया तथा इसके द्वारा भारतके प्राचीन इतिहासपर कितना प्रकाश पड़ा, इसको यहाँ दुहराना उचित नहीं, वह तो नवीन इतिहासका प्रत्येक पृष्ठ बतलाता है।

पुरातत्त्व-विभागके हालके कार्योंमें सबसे उल्लेखनीय मोहञ्जोदारो, हरप्पा, तक्षशिला, सारनाथ, नालन्दा और पहाड़पुर आदिकी खोदाइयाँ हैं। इस लेखमें हमारा अभिप्राय पहाड़पुरकी खोदाईसे है, जिसका विवरण संक्षिप्त रूपसे नीचे दिया जाता है।

प्राचीन कालमें गङ्गानदीके उत्तर मिथिलाके पूर्व भागसे लेकर कामरूपके पश्चिम भागतक विस्तृत भूभाग पौण्ड्रवर्धनभुक्तिके नामसे विख्यात था, जिसको ईसाके पूर्व तीसरी शताब्दीके ग्रीक लेखकोंने "*Prasoe*" नामसे अभिहित किया था। इसी पौण्ड्रवर्धनभुक्तिके मध्यमें वारेन्द्री नामक एक मण्डल अवस्थित था, जो आजकलके राजशाही, पावना, बाँकुड़ा, रंगपुर, दिनाजपुर और मालदह प्रभृति जिलोंके सम्पूर्ण अथवा आंशिक स्थानको अधिकृत करता है। यह मण्डल प्राचीन सभ्यता और कीर्तिकलापके असंख्य चिह्नोंसे परिपूर्ण था; किन्तु कालप्रभाव और आततायियोंके अत्याचारके कारण इनमेंसे बहुत तो लुप्तप्राय हो गये और जो बचे भी, वे वारेन्द्री मण्डलके भिन्न-भिन्न स्थानोंपर विक्षिप्त मृत्तिका-स्तूपोंके अन्तरालमें तिरोहित हैं। इन मृत्तिका-स्तूपोंमें पहाड़पुरका स्तूप अपेक्षाकृत उच्च और विशाल है तथा यह अद्यावधि उन्नत मस्तक किये खड़ा है। बंगालमें इससे बढ़कर दूसरा कोई ऐतिहासिक स्थान नहीं है, जो प्राचीनताके खयालसे इसकी समता कर सके अथवा पुरातत्त्वविदोंके अनुसन्धानका विषय हो सके। भारतके ६ शताब्दियों-

तबके इतिहाससे इसका सम्बन्ध रहा तथा इस देशके तीन या चार प्रधान मतों (*Cults*) से, जिनका जनतापर प्रचुर प्रभाव था, इसका कलेवर रँग गया।

पहाड़पुर राजशाही जिलेके अन्तर्गत ईस्टर्न बंगाल रेलवे (*E B R*) लाइनपर स्थित जमालगंज स्टेशनसे करीब तीन मीलकी दूरीपर है। यहाँकी भूमि अधिक उर्वरा है और आसपासका दृश्य भी बड़ा मनोरम तथा चित्ताकर्षक है। ऐसा प्रतीत होता है कि, प्राचीन कालमें स्तूपके निकट होकर एक नदी बहती थी, जो अब अन्त:सलिला हो गयी है। नदीके अस्तित्वके चिह्न अभीतक वर्तमान हैं। नदीका शुष्क सिकतापूर्ण गर्भमें, जो अबरख और स्वर्णकणोंसे परिपूर्ण है, उसमें प्राचीन सोपानके अवशिष्ट पाये गये हैं। किंवदन्ती भी इस बातकी पुष्टि करती है।

इस स्थानका नाम पहाड़पुर क्यों पड़ा, यह कहना कठिन है। खोदाईके पहले खँडहरकी आकृति छोटे-छोटे टीलोंकी शृंखलासे परिवेष्टित एक पहाड़ी जैसी थी; शायद इसी कारण इस स्थानका नाम पहाड़पुर पड़ा हो। ग्रामका प्राचीन नाम सोमपुर था, जैसा कि, खँडहरसे प्राप्त एक मुद्रासे, जिसपर "सोमपुर धर्मपाल विहार' शब्द अंकित हैं, जाहिर होता है। बिहार प्रान्तके बोधगया स्थानके अवशेषोंमें प्राप्त एक शिलालेख भी इस बातको सिद्ध करता है कि, बंगालमें इस नामका एक प्रख्यात विहार था। ओंपुर नामक एक निकटस्थ ग्राम इस विश्वासको और भी दृढ़ करता है।

पहाड़पुरकी खोदाईका इतिहास इस प्रकार है—कुछ वर्ष पूर्व पहाड़पुर-निवासी एक स्वर्णकार सीमा-प्राचीरके दक्षिण पश्चिम कोनेके ध्वंसावशेषको पुरानी ईंटोंके निमित्त खनन कर रहा था, उसी समय उसको लिपियुक्त प्रस्तर-स्तम्भके शीर्षभाग (*Capital*) का कुछ अंश प्राप्त हुआ। उसकी चारों ओर प्राचीन बंगाक्षर (*Proto-Bengali*) (मगधाक्षर)में संस्कृतके शब्द खुदे थे। अत: वह "वारेन्द्र-अनुसन्धान-समिति" [*Varendra Research Society*] के संग्रहालय (*Museum*] में लाकर सुरक्षित किया गया। समितिके अध्यक्ष परलोकगत बा० अक्षयकुमार मैत्रेयने इसका निम्नलिखित पाठोद्धार किया—

"रत्नत्रयो प्रमोदेना (न) सत्वाना हितकांक्षया
श्रीदशबलगर्भेण स्तम्भोऽय (ं) स्कारितो वर ।"

अर्थात् श्रीदशबलगर्भ नामक व्यक्ति द्वारा त्रिरत्न (बुद्धधर्म और संघ) को तुष्ट करनेके लिये एवम् समस्त जनसमाजके उपकारार्थ यह उत्कृष्ट स्तम्भ स्थापित किया गया।

सीमाप्राचीरके ध्वंसावशेषके जिस स्थानपर यह स्तम्भ वर्तमान था, उस स्थानका सम्बन्ध प्राचीन ध्वंसोंके ऊपर उत्तर कालमें निर्मित और प्राचीरसे संलग्न किसी मन्दिर [*Shrine*] के साथ होना जान पड़ता है। त्रिरत्नका उल्लेख और दाताका नाम दशबलगर्भ इस बातको स्पष्टतया सूचित करता है कि, यह अभिलेख एक बौद्ध अट्टालिकाके अंश-रूपसे उत्सर्गीकृत हुआ था। लिपिकी आकृति मुसलमानोंके पूर्व कालका परिचय देती है। इसकी छाप, छायाचित्र एवम् एक विवरणकी रिपोर्ट मैत्रेय महाशयने, सन् १९१७ में, सरकारी पुरातत्त्व-विभागके पास भेजी, और, इस स्थानके खननके लिये अनुरोध किया, जिसके फलस्वरूप यह स्थान सरकार द्वारा गृहीत होकर खोदाईके कार्यमें सम्मिलित किया गया। सर्वप्रथम १९२३ सालकी १ली मार्चको परलोकगत सर आशुतोष मुकर्जीके प्रोत्साहनसे वारेन्द्र-अनुसन्धान-समितिके प्रयत्न एवम् कुमार शरत्कुमार रायके अर्थ-

सहाय्यसे तथा पुरातत्वविभागकी अनुकूलतासे इस सुविस्तृत स्तूपकी खोदाई, कलकत्ता-विश्वविद्यालयके अध्यापक श्रीयुत् डी० आर० भण्डारकरकी परिचालनामें, आरम्भ हुई तथा श्रीयुत अक्षयकुमार बाबूने ही प्रथम कुदाली चलायी।

प्रथम वर्ष सीमाप्राचीरके दक्षिण-पश्चिमांशके उस स्थलसे ही, जहाँ लिपियुक्त प्रस्तरस्तम्भ उपलब्ध हुआ था, खोदाईका सूत्रपात किया गया। खोदाई जारी होने पर पश्चिम सीमा-प्राचीरके कियदंश और दक्षिण सीमा-प्राचीरका ८३ फीट पर्य्यन्त भाग उद्‌घाटित हुए। इसी वर्ष प्राचीन कूपका ध्वंसावशेष, भग्न मृत्तिकापात्रोंमें दग्ध तण्डुल और छोटे-छोटे बौद्ध-स्तूपोंके अस्तित्वका पता चला तथा मूलस्तूपके दक्षिण-पश्चिममें सीमा-प्राचीरसे संलग्न किसी नदीके स्मृतिचिह्नका भी निदर्शन हुआ, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

पीछे पहाड़पुर स्तूपके खननका कार्य पुरातत्व-विभागके पूर्व क्षेत्रके अध्यक्ष (*Superintendent of Eastern Circle*) परलोकगत बा० राखालदास बनर्जीके हाथमें आया। इनकी परिचालनामें स्तूपके उत्त रांश तथा उसकी उत्तर ओर स्थित तोरण द्वार (*Gate-way*)का समुद्‌घाटन हुआ एवम् अनेक अमूल्य प्रत्न-सम्पदों (*Antiquities*)की आविष्कृति हुई। मूल स्तूपके उत्तर भागकी खोदाई होनेपर स्तम्भयुक्त एक सुवृहत् प्रकोष्ठ (*Chamber*) दृष्टिगत हुआ। इसी स्थानमें एक सुन्दर और शिल्प-सुषमा-सुशोभित कुबेरकी प्रस्तर-मूर्त्ति एवम् शिलालेखयुक्त एक प्रस्तर स्तम्भकी प्राप्ति हुई। इस शिलालेखका पूर्ण रूपसे पाठोद्धार नहीं हुआ है, तथापि पुरातत्व-विभागके भूतपूर्व डाइरेक्टर सर जान मार्शलने इसकी तिथि आदिके निर्णय करनेका भरसक प्रयत्न किया। उनके विचारमें यह शिलालेख कन्नौजके गुर्जर-प्रतिहार राजा भोजतनय महेन्द्रपालके राजत्वकालमें उत्कीर्ण हुआ; और, इसी आधारपर उन्होंने पहाड़पुर-मन्दिरका निर्माण-काल ईसाकी सप्तम-अष्टम शताब्दियोंमें निश्चित किया, किन्तु यह कहना कठिन है कि, महेन्द्रपालसे गुर्जर-प्रतिहारवंशी नृपतिका बोध होता है अथवा बंगालके पालवंशी किसी राजाका। सम्भव है, पराक्रमी विहार महेन्द्रपालका लोहा बङ्गालने भी माना हो। शिलालेखका सम्पूर्ण पाठ अभीतक दुष्प्राप्य है, तथापि इतना अवश्य ज्ञात होता है कि, यह महेन्द्रपालके राजत्वकालके पञ्चम वर्षके श्रावणमासमें स्थविर जयगर्भ नामक एक बौद्ध-भिक्षु द्वारा, बुद्धदेवके उद्देशसे, उत्सर्गीकृत हुआ। इसकी आकृति-प्रकृतिसे यह ईसाकी अष्टम-नवम शताब्दियोंकी लिपिमें लिखा गया, ऐसा प्रतीत होता है।

सन् १९२७ की खोदाईमें उपलब्ध एक गुप्तकालीन ताम्रशासन (*Copper Plate*) पहाड़पुर-स्तूपकी तिथिपर बहुत कुछ प्रकाश डालता है। पुरातत्त्व-विभागके पूर्व क्षेत्रके श्रीयुत् पण्डित काशीनाथ दीक्षित एम० ए० महोदयने इस ताम्रशासनका पाठोद्धार कर इसको १५९ गुप्त-संवत् अर्थात् ४७९ ईस्वी सन्‌का होना निश्चित किया है। इस ताम्रशासनमें गुहनन्दी तथा उसके उपरान्त उसके उत्तराधिकारियोंकी अध्यक्षतामें स्थित निर्ग्रन्थों अर्थात् जैन-साधुओंके वटगोहली नामक ग्राममें स्थापित एक विहारके पूजोपकरणसंग्रहके निमित्त, किसी ब्राह्मण-दम्पत्ती द्वारा, भूमिदानका उल्लेख है। इसमें बुद्धगुप्तका नाम उल्लिखित हुआ है। अध्यापक आर० सी० मजुमदारके अनुसार यह बुद्धगुप्त, जिसका राजत्वकाल ईस्वी सन् ४७६ से ५०० पर्य्यन्त है, गुप्त-वंशीय अन्तिम नरेश था। इसका राज्य बंगालसे लेकर मालवातक विस्तृत था। उस समय तथा पालवंशी राजाओंके समयमें भी, उत्तरीय बंगाल पुण्ड्रवर्धनभुक्तिके नामसे अभिहित होता था एवम् भुक्तिका दक्षिण भाग कोटिवर्ष नामक विषय (*District*)से आक्रान्त

था। पुण्ड्रवर्धनका प्रधान नगर आजकल बोगरा जिलेका महिस्थान नामक स्थान है। ऐसा बोध होता है कि, सोमपुरधर्मपाल-विहार पुण्ड्रवर्धन-भुक्तिके कोटिवर्ष-विषयमें सम्मिलित था। हो सकता है कि, बुद्धगुप्त पाटलिपुत्रमें सिंहासनारूढ होनेके पूर्व पौण्ड्रवर्धनमें प्रान्तीय शासक (अर्थात् उपरिक महाराज) रहा हो, क्योंकि तत्कालीन प्रचलित प्रथाके अनुसार राजपुत्रदेव भट्टारकोंको प्रथम प्रान्तीय शासकोंकी हैसियतसे शासनवृत्ति सीखनी पड़ती थी। अतः बुद्धगुप्तका इस स्तूपके निर्माण और कलेवर-वृद्धिसे अवश्य घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा। स्तूपके गर्भमें पाये जानेवाले फलकों (*plaques*) की तक्षणशैली तथा उनके ऊपर हिन्दू-देव-देवियोंकी प्रतिकृतियाँ (*representations*) भी मूल मन्दिरके साथ गुप्तवंशका सम्बन्ध स्थापित करती हैं। पीछे पाल-नृपतियोंके समयमें यह मन्दिर बौद्धधर्म द्योतक विहारके रूपमें परिणत हो गया।

पहाड़पुर-स्तूपकी खोदाई अद्यावधि जारी है। अबतक जो अंश बाहर निकला है, उससे पता चलता है कि, इस सुवृहत् विहारका प्राङ्गण दस एकड़ भूमिमें था तथा यह सर्वतोभद्र (अर्थात् चतुर्मुख) आकृतिवाले मन्दिरके चतुर्दिक निर्मित किया गया था। बंगालमें पत्थरका अभाव होनेके कारण सम्पूर्ण इमारतें ईंटोंकी बनायी गयी थीं, केवल स्तम्भों और प्रधान कोणोंमें पत्थरका उपयोग किया गया था। हिन्दू-विश्वासके अनुसार मन्दिरके निःसरण (*front*)की ओर बस्ती होनी चाहिये एवम् शेष तीन ओरोंका स्थान निर्जन। अतएव मूल मन्दिरके प्रत्येक अनुदिक् एक-एक मन्दिर और भी प्रलम्बित किया गया था। मूल मन्दिरकी बनावट वर्गाकार ईंटोंसे निर्मित बुर्ज जैसी थी, जिसकी ऊँचाई करीब ७५ फीट होगी और जिसका अवशिष्टाधार (*reliquary*) स्तूपाकृति था। ऊपरसे मिट्टी हटाकर प्रवेश हुआ है। किन्तु कोई भी स्मृति-चिह्न-मञ्जूषा (*relic casket*) उसके तलमें उपलब्ध नहीं हुई है, यद्यपि इसके रखनेका स्थान बना है। प्रत्येक मन्दिरमें गर्भ-गृह (*inner sanctuary*) है और उसमें प्रतिमापीठ (*pedestal*) वर्तमान है; किन्तु किसी भी अधिष्ठात्री देव-देवीकी मूर्तिका पता नहीं। सम्भव है कि, आततायियों या लुण्ठनकारियोंकी लुब्ध दृष्टि ही उनके उच्छेदका कारण हो। गर्भ-गृहके अग्रभागमें पत्थरके स्तम्भोंपर निर्मित मण्डप था मण्डपके चारों ओर होकर प्रदक्षिणापथ बना था, जो एक मन्दिरसे दूसरे मन्दिरतक चला गया था। दीवारोंकी सजावटके निमित्त उनके निम्न भागका परिसर (*dado*), मृत्तिका-फलकों (*terra cotta plaques*) से जड़ित था। पथके किनारे-किनारे ईंटोंके बने आसन (*benches*) थे। विहारमें प्रवेश करनेका प्रधान मार्ग उत्तरकी ओर से था और साधारण जमीन से कतिपय सीढ़ियाँ तै कर विहारके अन्दर जाना होता था। प्रधान तोरण-द्वार (*main gateway*), जो सुवृहत् और बहुस्तम्भयुक्त था, एक सीधी-चौड़ी वीथि द्वारा, जिसका चढाव क्रमशः प्रदक्षिणापथकी ओर था, मन्दिरके साथ सम्बद्ध था। इस तोरणद्वारके दक्षिण और वाम भाग में ५९ प्रकोष्ठ (*cloisters*) प्रत्येक ओर एक सीधी कतार में बने थे और उनके सामने एक प्रस्तरस्तम्भावलम्बित तथा वेष्टनी-युक्त आयताकार दालान (*corridor*) था, जिसके द्वारा एक प्रकोष्ठसे दूसरे प्रकोष्ठमें मनुष्य जा सकता था। दो-एक क्षुद्र प्रकोष्ठोंमें आश्रमवासियोंके निमित्त ये उपयोगी चीजें मिली हैं—जपमालाके दाने, एक क्षुद्र प्रस्तरमूर्ति, धातु-मुद्राएँ। सबसे विशेष उल्लेखनीय "श्री धर्मपालसोमपुरीय विहार" शब्दांकित मृण्मय मुद्रा (*seal*) है, जिसका जिक्र ऊपर हो चुका है।

केवल प्राकारमूल (*plinth*) और आँगनके अतिरिक्त और कुछ नहीं शेष रहा है, जिससे यह कहा जा

सके कि, विहार प्रारम्भमें एकतल्ला ही था अथवा उसमें दो-तीन तल्ले भी थे। मन्दिर और प्रकोष्ठ-समूहके मध्यमें सहन, मन्दिर-बाह्यकोष्ठ और कूपके भग्नावशेष पाये गये हैं। देखनेसे विदित होता है कि, विहारमें स्वास्थ्य-सम्बन्धी विधानोंकी भी गुंजायश की गयी थी। एक कमरेसे दूसरे कमरेमें, एक आँगनसे दूसरे आँगनमें, केवल जलप्रणाली ही नहीं, वरन् मल-पथ (*sewers*) भी बने थे। दक्षिण ओर, एक खाँईके ऊपर, पाखानोंकी कतार बनी थी, जिसकी ढालू नालियाँ इस समय भी अच्छी अवस्थामें वर्तमान हैं। चतुष्कोण (*quadrangle*) से बाहर, नदीके तटपर, कमसे-कम एक मकानका चिह्न अभीतक दृष्टिगोचर होता है। मूलकी नींव बहुत अंशोंमें ध्वस्त हो गयी है। परिणाम यह कि, निम्नतल (*basement*), जिसकी शिल्प-सुषमा अभीतक काल-प्रभावसे अक्षुण्ण है, अधिकतर जल-निमग्न रहता। भवनमें चारो तरफ प्राकारमूलके ऊपर और कारनिशके ठीक नीचे मृत्तिका-फलकोंकी एक सुदीर्घ श्रेणी है, जिसमें बंगालमें अधिकतासे पाये जानेवाले पशु, पक्षी, मत्स्य, कूर्म, सर्प, शिला, पौधे, लतिका और फूलोंकी आकृतियाँ बनी हैं। प्राकारमूलके निम्नभागमें ताखो (*niches*)में जड़े अनेक शिलापट्ट (*tablets*) हैं, जो हिन्दू-देवताओं-सम्बन्धी बहुतसी वार्ता और रामायण तथा महाभारतके वीर पुरुषो और नारियोंकी चरित्रगाथाओंका नीरव आख्यान करते हैं। इन चित्रोंमें बहुतोंका समीचीन समीकरण नहीं हो सका है; किन्तु थोड़ेसे बौद्ध भिक्षुओंके भी चित्र मालूम पड़ते हैं। एक पट्ट तो श्वेताम्बर जैन-साधुके सब चिह्नोंसे विभूषित है, जैसा कि, वृक्षके ऊपर जैन-स्वस्तिकका चिह्न स्पष्टतया सूचित करता है। इनकी तक्षणशैली पिछले गुप्तकालका स्मरण कराती है। हिन्दू-मूर्त्तियोंमें हम शिव, दुर्गा, गणपति, कार्त्तिकेय, श्रीकृष्ण, बलराम, अग्नि प्रभृति देवताओंके चित्र पाते हैं। केवल भेद इतना ही है कि, दुर्गा दशभुजावाली नहीं हैं। मृत्तिका-फलकोंमें अनेक दृश्य हैं, जिनका विशद वर्णन कठिन है। उनमें कुछपर तो केवल एक ही मनुष्य—पुरुष या नारीका आकार बना है, जो या तो नृत्य कर रहा है या योद्धाकी तरह तीर-तरकश बाँधे खड़ा है। कुछ चित्र युगलभाव-प्रदर्शक है, जैसे माता और पुत्रका या विलास-युक्त दम्पतीका। दूसरे चित्ताकर्षक विषयोंमें एक मनुष्यका सिंह द्वारा हनन होना, पूर्ण त्रिभंग भावमें एक वेश्या, धोती पहने एक सभ्य पुरुष इत्यादि हैं। इनके अतिरिक्त नाना प्रकारके पशु-पक्षियोंका चित्र पाया जाता है, जैसा कि, ऊपर कहा जा चुका है।

जहाँतक पता चलता है, उपासनाका प्रधान विषय था लिङ्गचिह्न, स्मृति-मञ्जूषा, बौद्धधर्मचक्र तथा सद्धर्म-पुण्डरीक। लकड़ी, पत्थर या किसी धातुकी बनी एक भी प्रतिमा उपलब्ध नहीं हुई है, यद्यपि अनेक प्रतिमा-पीठ वर्तमान हैं। इससे यही अनुमान होता है कि, या तो मूर्त्तियाँ मिट्टीकी बनी थीं, जो कालप्रभावसे नष्ट हो गयीं अथवा वे स्थानान्तरित की गयीं। केवल हालमें बोधि-सत्वकी एक क्षुद्र मूर्त्ति, चतुष्कोणके दक्षिण-पूर्व भागमें, पायी गयी है। सन् १९२९ की खोदाईमें कतिपय प्रस्तर और काँसेकी क्षुद्र मूर्त्तियाँ मिली है।

पहाड़पुर-मन्दिरका स्थापत्य और भास्कर्य बंगालकी शिल्प-कलाके वैशिष्ठ्य, अलङ्कार और परिच्छेदोत्कर्ष तथा तत्कालीन लोगोंकी उन्नत सभ्यताके परिचायक हैं। स्तूपका चतुष्पार्श्व उच्चभूमि द्वारा वेष्टित होनेके कारण ऐसा अनुमान होता है कि, मूल मन्दिर सीमा-प्राचीरसे आवेष्टित था। ईसाकी सप्तम शताब्दीमें चीन परिव्राजक हुयनत्सङ्ग जिस समय इस प्रदेशमें आया था, उस समय प्रसंगवश पुण्ड्रवर्द्धनमें २० सघारामों और असंख्य जैन-निर्ग्रन्थियोंके अस्तित्वका उल्लेख किया था। उसके भ्रमण-वृत्तान्तसे यह भी पता चलता है कि, वारेन्द्र-भूमिमें,

एक सुबृहत् सवाराममें, सप्तशताधिक महायान बौद्ध सन्यासी रहते थे। चतुर्दिक् उच्च सीमा-प्राचीरसे संलग्न प्रकोष्ठसमुदयका उद्घाटन ह्वेनत्सङ्ग-कथित सात शत संन्यासियोंसे अध्युषित स्थानका होना प्रमाणित करता है।

पहाड़पुर-स्तूपके सम्बन्धमें विशेषोल्लेखनीय बात यह है कि, यह एक बार ही हिन्दू, बौद्ध और जैन-धर्मोंके मिलन-क्षेत्रका निदर्शन कराता है। गणेश, दुर्गा, श्रीकृष्ण, बलराम प्रभृति देव-देवियोंकी मूर्तियाँ एक ओर हिन्दू-कीर्त्ति कलापका सलाप कराती हैं, तो दूसरी ओर बौद्ध-भिक्षुओंकी मूर्तियाँ और शिलालेखमें बुद्ध और त्रिरत्नका उल्लेख बौद्ध-धर्मावलम्बियोंका तीर्थ-स्थान कहकर इस स्थानका परिचय देता है। इसी प्रकार गुहनन्दी ताम्रशासनमें जैन-निर्ग्रन्थियोंके उद्देशसे भूमिदानका वर्णन जैन धर्मोत्कर्षका परिचायक है। अतः एक ही स्थानमें हिन्दू, बौद्ध, जैन, तीनों धर्मोंका विकास होनेके कारण पहाड़पुरका स्तूप बंगालमें एक आदर्श तीर्थ-क्षेत्र कहा जाकर ख्याति लाभ कर रहा है। हालमें एक और भी शिला लेखका पता, खँडहरोंमें, लगा है, जिसका पाठोद्धार सम्भवतः इस विहार के इतिहासपर बहुत-कुछ प्रकाश डालेगा।

अन्तमें यह निःसंकोच भावसे कहा जा सकता है कि, यदि पहाड़पुरकी खोदाईका कार्य सुचारु रूपसे सम्पादित किया गया, तो बहुत-सी ऐसी बातोंका पता लगेगा, जिनके द्वारा भारतवर्षके इतिहास—विशेषतः बंगालके इतिहासपर एक नूतन ही प्रकाश पड़ेगा।*

पहाड़पुरके विचित्र मन्दिरकी खोदाई

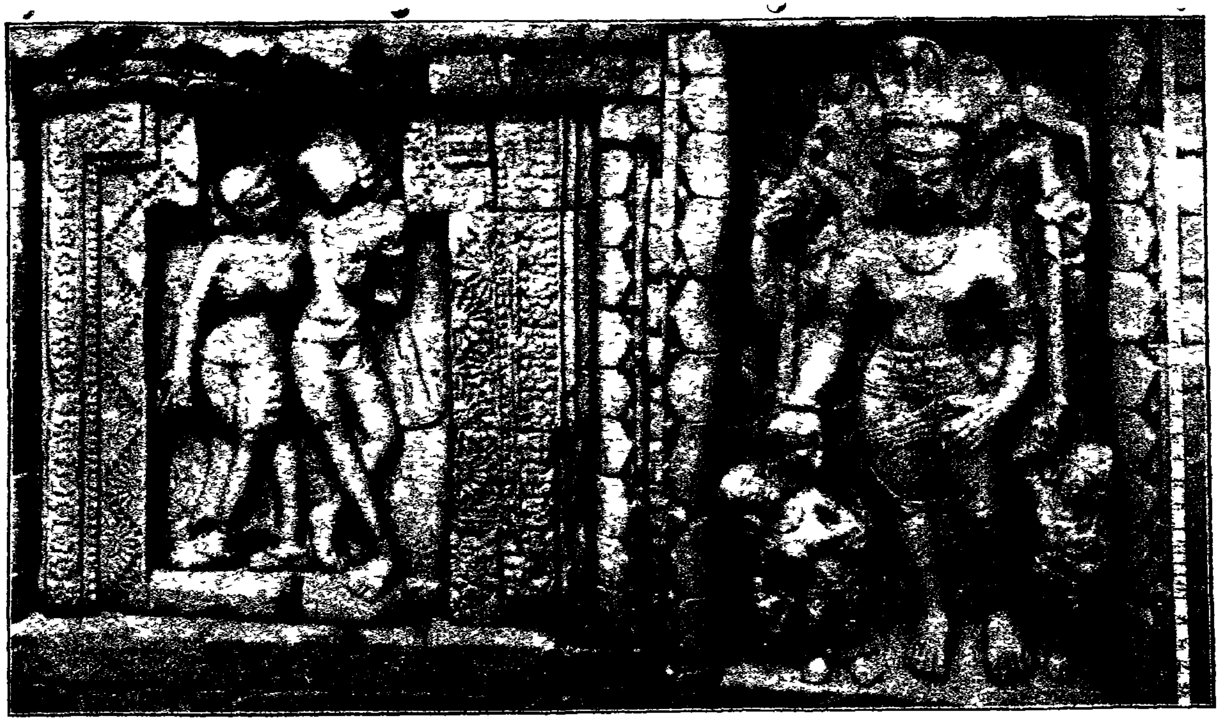
पं० काशीनाथ दीक्षित एम० ए०

गत ३० वर्षोंमें, भारतवर्षके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें, पुरातत्त्व-विभागकी तरफसे जो खोदाइयाँ हुई हैं, उनमें बौद्ध-ग्रन्थोंमें ये विश्रुत स्थान हैं,—सारनाथ, राजगृह, नालन्दा, कुसीनगर (कसया), श्रावस्ती (आधुनिक सहेट-महेट) इत्यादि, कुछ तक्षशिला, पाटलिपुत्र जैसी प्राचीन नगरियाँ हैं और कई जगहें, (जैसे मोहञ्जोदारो) बौद्ध-युगके खँडहर समझे जानेवाली, एवं आखिरमें अति प्राचीन सभ्यताके निशानोंवाली निकल आयीं। इन सब स्थानोंसे पहाड़पुरमें विशेष बात यह है कि, मध्यदेश—जो बौद्धधर्मकी पवित्र भूमि है—से इतनी दूर इतना महत्त्वपूर्ण बौद्धधर्मका वह एक बड़ा स्थान होनेपर भी एकदम अज्ञात था। केवल यही नहीं; किन्तु वंगभूमिकी सभ्यता, जिसको कई विद्वान् गुप्त-

* पहाड़पुरका पुराना नाम सोमपुरी विहार था। तिब्बतीय ग्रन्थोंमें यह एक बहुत प्रसिद्ध स्थान है। इसके संस्थापक वही महाराज धर्मपाल (७६६-८०६ ई०) थे, जिन्होंने गंगाके किनारे विक्रमशिला-महाविहारकी स्थापना की थी। ८४ सिद्धोंमें एक अत्यन्त प्रधान सिद्ध कण्हपा (सिद्ध १७), जो महाराज देवपाल (८०६-४६ ई०)के समकालीन थे, भिक्षु होकर बहुत वर्षोंतक इस विहारमें रहे। १० वीं शताब्दीके एक दूसरे महाकवि दार्शनिक सिद्ध शान्तिपा या रत्नाकरशान्ति [सिद्ध २१], जो कि, तिब्बतमें जाकर बौद्धधर्मका सुधार करनेवाले आचार्य दीपङ्कर श्रीज्ञान [९८२-१०५४ ई०] के अध्यापक और विक्रमशिलाके प्रधानाध्यक्ष थे, पहले कितने ही समयतक सोमपुर-विहारके प्रधान रह चुके थे [भोटियामें अनूदित ग्रन्थ चतुरशीतिसिद्धप्रवृत्ति एवम् भोटिया ग्रन्थ रिन्-छेन्-ब्युङ्-खुङ्स-ग्तम्, पृष्ठ ४५ क]। —राहुल सांकृत्यायन।



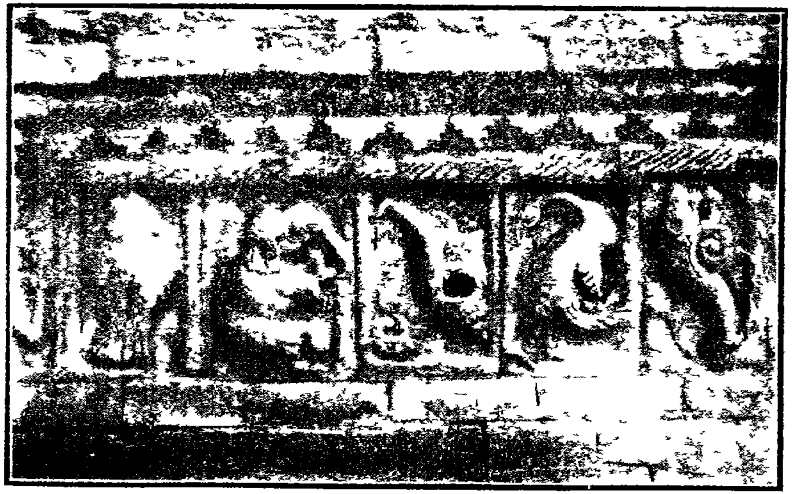
११६—इन्द्र और धेनुकासुर-बध (पहाड़पुर)



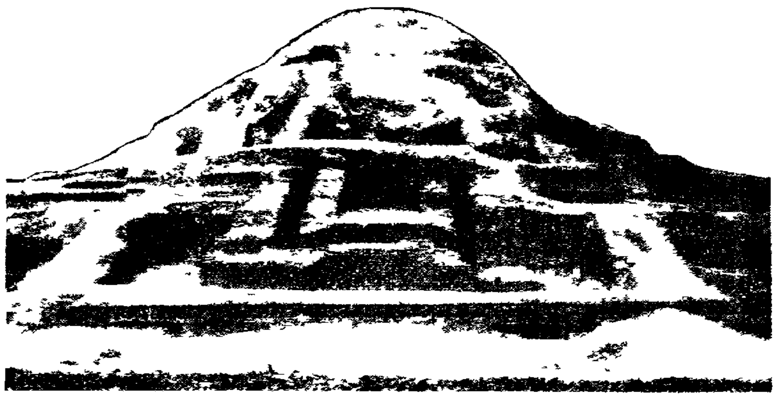
११७—राधाकृष्ण और बलराम (पहाड़पुर)



११०—खोदाईसे पहले पहाड़पुर



१११—मृत्तिका-फलक विभूषित प्राकारमूल (पहाड़पुर)



११२—खोदाईके अनन्तर पहाड़पुर



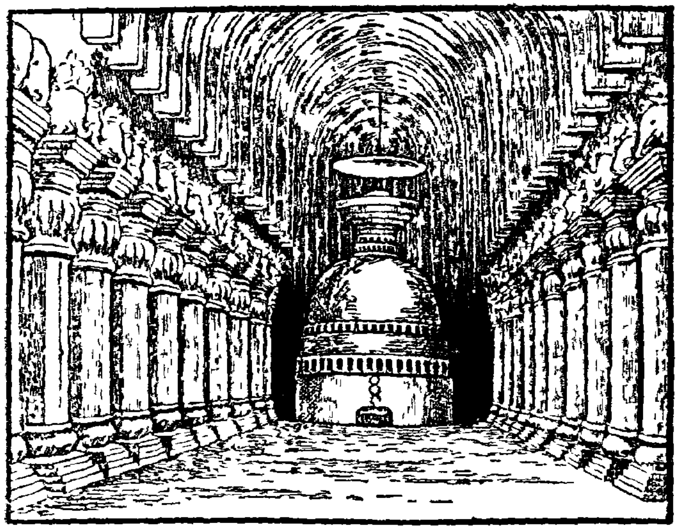
१०८—ऊपर बायीं ओर लैमूर, ऊपर दाहिनी ओर मारमोसेट, नीचे बायीं ओर सीबियन, नीचे दाहिनी ओर श्वानमुख सरकापिथिकस, बीचमें मानव-रूप चिम्पाजी ।



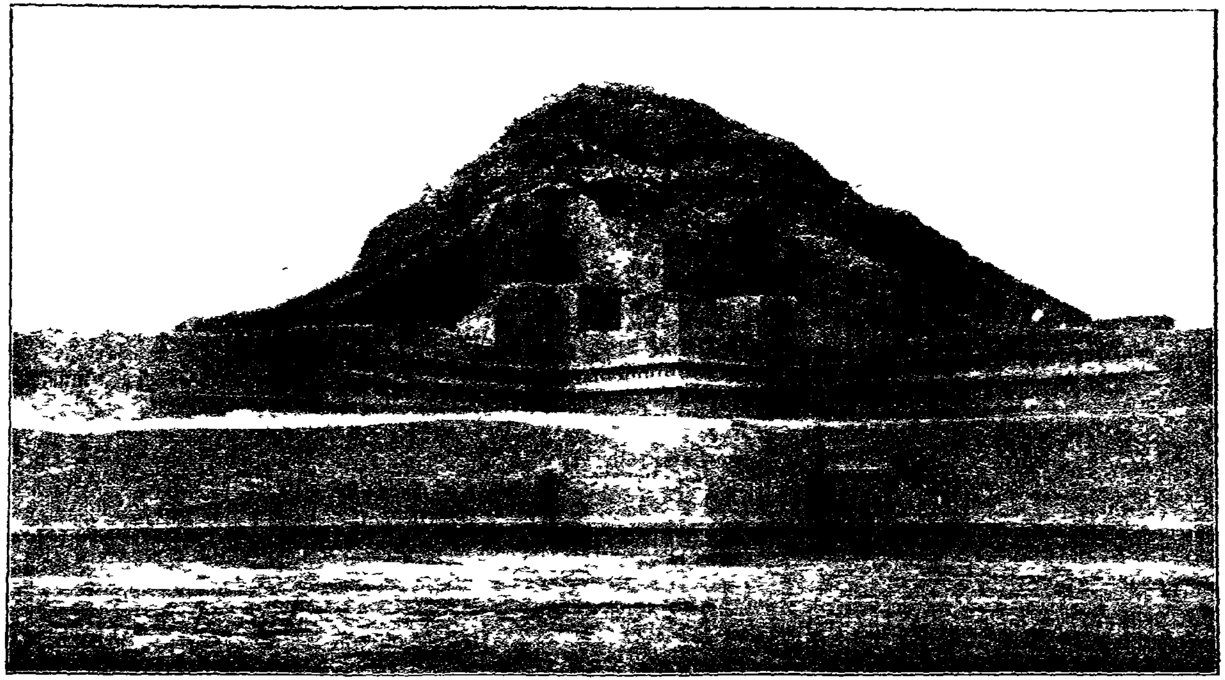
१०९—पहाड़पुरकी खोदाईमें प्राप्त श्रीकृष्ण



११४—परेल (बम्बई) की अद्वितीय शैव-प्रतिमा



११५—कार्लाकी चैत्य-गुहा



११३—खोदाईके अनन्तर पहाड़पुर

समयके पहले ले जाना नहीं चाहते थे, प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे अब वह शुंग-समयतक पहुँच जाती है।

ईस्टर्न बंगाल रेलवेकी मुख्य लाइन (जो कलकत्तेसे दार्जिलिंग जाती है) पर, सांताहार जक्शनके उत्तरमें, तीसरा स्टेशन जमालगंज है, जहाँसे तीन मील पश्चिम पहाडपुर है। इस नरम मिट्टीकी नितान्त समतल भूमिपर एक छोटासा टीला है, तो भी उसकी ओर ध्यान जरूर आकृष्ट होता है। उसमें एक वक्त १०० फूटतक (अब भी ७० फूटतक) ऊँचे टीलेका नाम "पहाड" पडनेमें कोई आश्चर्य नहीं। इसी "पहाड"के पास जिस गाँवकी बस्ती है, उसे "पहाडपुर" कहते हैं। खोदाईमें मिली कई मिट्टीकी मुहरोंसे इस गाँवका नाम "सोमपुर" प्रतीत होता है, और, इस ग्रामका तथा यहाँके "महाविहार"का नाम तिब्बतके लामा तारानाथके ग्रन्थमें तथा 'पग्-सम्-छोन-जुङ्'में एवम् बुद्धगया और नालन्दाके शिलालेखोंमें उल्लिखित है। मुसलमानी आक्रमणके बाद (ईसाकी तेरहवीं सदीमें) यहाँका उतुंग मन्दिर और उसको चारों ओर भिक्षुओंका निवासस्थान एवम् छोटे-छोटे मन्दिर इत्यादि उजाड होकर खंडहरके रूपमें परिणत हो गये। १२० वर्ष पहले डा० बुकनन हैमिल्टन (जिन्हें उत्तर बंगालमें ईस्ट इण्डिया कम्पनीने सब किस्मकी शास्त्रीय जाँच करनेके लिये नियुक्त किया था) की आँख इस अत्युच्च "पहाड"पर पडी। लगभग ८० वर्षके पहले पुरातत्त्व-विभागके प्रथम नेता जनरल सर अलेक्जेंडर कनिंघम साहबने यहाँ आकर खोदाई करनेकी कोशिश की; किन्तु यहाँके जमींदारोंकी अनुमति न मिलनेके कारण उन्हें सफलता न मिली। उस समय उस टीलेके बड़े-बड़े वृक्षोंके जंगलमें तेंदुओंका शिकार होता था। बारह वर्ष पूर्व, जब पुरातत्त्व-विभागका पूर्वीय केन्द्र (*Circle*) स्थापित हुआ, तब इस जगहकी रक्षा "संरक्षित कीर्ति" (*protected monument*) के तौरपर होने लगी। क्रमशः यहाँका जंगल साफ किया गया। १९२२-२३में कलकत्ता-विश्वविद्यालय और राजशाहीकी "वारेन्द्र-अनुसन्धान-समिति"की ओरसे यहाँ कुछ खोदाई हुई, किन्तु १९२५-२६ सालतक बिचले ऊँचे टीलेपर हाथ न लगाया गया। उस वर्षसे भारत सरकारने, खोदाईके कामके लिये, अधिक रुपया मंजूर किया और हर साल १०-१५ हजारतक रुपये इस काममें खर्च होते आ रहे है। अब पहाडपुरका काम तो समाप्तप्राय है, किन्तु महास्थान (प्राचीन पुण्ड्रवर्धन), बाणगढ (प्राचीन कोटिवर्ष) जैसी विख्यात प्राचीन नगरियाँ, जिनसे अवश्य ही प्राचीन बंगालकी सभ्यताकी निशानियाँ प्राप्त हो सकती है, द्रव्याभावसे मिट्टीके अन्दर ही दबी हुई हैं।

लगभग ११०० फूट लम्बे और उतने ही चौड़े चतुष्कोणाकृति टीलोंसे परिवेष्टित इस "पहाड"का दृश्य कुछ और ही है। इतस्ततः ईंटोंके टुकडे, प्रचुर परिमाणमें, पाये जाते हैं, जिनसे देखनेवालेको प्रतीत होता है कि, यहाँ चारों ओर भिक्षुओंकी कोठरियाँ और बीचके "पहाड"में उनके पूजा-स्थानपर कोई स्तूप रहा होगा। किन्तु जैसे नमूनेपर यह चतुस्तल मन्दिर बना है, वैसा कोई दूसरा नमूना भारतवर्षमें नहीं रहनेके कारण इसका अन्दाज नहीं हो सकता। इस मन्दिरका वर्तमान दृश्य देखते ही इसकी कारीगरीकी अपूर्वता प्रतीत होगी। इस मन्दिरका वस्तुशिल्प-प्रकार (*Style of architecture*) उत्तर भारत एवम् दक्षिण भारत--दोनोंके ही मन्दिरोंके ढंग--से सर्वथा भिन्न है; और, जो शिल्प-रीति ब्रह्मदेश, जावा और पौरस्त्य द्वीप-

समूहके प्राचीन मन्दिरोंमें दृष्टिगोचर होती है, उसकी नींव, मालूम होता है, इस पहाडपुरके मन्दिरमें डाली गयी थी। इस शिल्प-रीतिके बहुतल्ल मन्दिर, पहाडपुरसे, चौतल्ले हैं और जावाका "बोरोबुदुर" दसतल्ला है। प्रत्येक तल्लेका फर्श (*ground plan*) सब तरफ समान—यानी सर्वतोभद्र है। पहाडपुरके मन्दिरकी लम्बाई-चौडाई ३२६ फीट है और मन्दिरकी हरएक ओर तीन तीन कोने हैं, जहाँ दीवार मुडी हुई है। सिर्फ उत्तरकी तरफ ऊपर चढनेकी मुख्य सीढी थी; इसलिये वहाँ एक निकला हुआ कोना है; और, इस तरफ लम्बाई २५ फीट अधिक है। ऊपरके तल्लेमें कोनेकी सख्या कम होती गयी है। दीवारोंके भाग, चित्र-विचित्र पत्थर या ईंटोंके कामसे, सुशोभित हैं। बोरोबुदुरकी दीवारोंमे, भगवान् बुद्धका सारा जीवन-चरित्र, पत्थरमें, पाया जाता है। पहाडपुरमें, सबसे निचले तल्लेकी दीवारोंमें, अनेक सुन्दर प्रस्तर-मूर्त्तियाँ लगायी हुई हैं, जिनमे कृष्णचरित, रामायण, महाभारतकी कई कथाएं और अन्यान्य देवताओंकी मूर्त्तियाँ हैं। दीवारोंमें चारों ओर कारुकार्य-शोभित ईंटें और आयताकार दग्धमृण्मय पट्ट (*Oblong terra cotta plaques*) हैं, जिनकी सख्या कई हजार है। पहाडपुरके मन्दिरकी विशेष कारीगरी इन बातोंमें भारतीय उपनिवेशोंसे समानता रखती है। इसका कारण जाँचनेसे यही प्रतीत होता है कि, भारतीय सभ्यता गुप्त-समयमे पूर्वोल्लिखित बृहत्तर भारतमें फैली हुई थी, जो बंगालके प्राचीन बन्दर-ताम्रलिप्ति (आधुनिक तामलुक) से बाहर गयी होगी। यह स्वाभाविक ही था कि, जिस प्रान्तसे वह सभ्यता बाहर गयी, वहाँकी विद्या, धर्म, शिल्प आदिका अधिक असर उपनिवेशोंपर पडा। जावा आदिमें उपलब्ध शिल्पके नमूनोंका आदि मूल संशोधकोंको वहाँ या भारतमें नहीं मिलता था। वह अब खोदाईमें, इस मन्दिरके निकल आनेसे प्राप्त हो गया।

ऊपर उल्लिखित प्रस्तर-मूर्त्तियाँ, जो मन्दिरकी बाहरी दीवारके निचले हिस्सेमें लगी हैं, बंगालके प्रस्तर-शिल्पके सबसे अच्छे और सबसे पुराने नमूने हैं। इन सब मूर्तियोंके अखण्डित रहनेका कारण यही है कि, इनके सामनेकी भूमि क्रमश ऊँची होती गयी तथा बौद्धधर्मके भावमें हिन्दू-देवताओंके प्रतिकूल होनेसे इन मूर्तियोंके ऊपर दो फूट मिट्टी चढ जाने दी गयी। पीछे मुसलमान-युगके आक्रमणसे बौद्ध-विहारोंको जैसी हानि पहुंची, वैसी इस नीचो दबे भागको न हो पायी। इन मूर्त्तियोंमे अधिकांश मूर्त्तियाँ वैष्णव और शैव-सम्प्रदायोंसे सम्बन्ध रखती हैं। इनका समय ईसाकी छठी शताब्दीके लगभग होनेसे या तो किसी पुराने मन्दिरसे यह लायी गयी या मन्दिर ही उसी समय बनाया गया। इस बातमे तो कोई सन्देह नहीं कि, जब यह मन्दिर बनाया गया, तब दीवारोंमे जगह-जगह मध्य या कोनेमे इन मूर्त्तियोंको लगा दिया गया। कई मूर्त्तियोंमें एक तरफका कारीगरी पत्थरमे है और दूसरी ओरको ईंटोंमे है। कारण, पत्थर कुछ दूरसे लाना पडता था और मिट्टीका काम वहीं बन सकता था। सभी मूर्त्तियोंमे प्रथम श्रेणीकी मूर्त्तियाँ हैं श्रीकृष्णकी बाल लीलाकी। इनमे भी एक युग्ममूर्त्ति, जो कि श्रीकृष्ण और राधाकी कही जा सकती है, सबसे विशेष महत्त्वकी है। श्रीकृष्णकी बाललीलाको अनेक स्थानोंके शिल्पियोंने बनाया है (जैसे मथुरा, बदामी, मंडोर, जोधपुर आदिमें), किन्तु राधाकृष्णकी मूर्त्ति आजतक किसी भी पुराने स्थान या खोदाईमें नहीं

प्राप्त हुई थी। एक ही दीवारमें राधाकृष्ण, यमुना और बलरामकी मूर्त्तियाँ, थोड़े-थोड़े अन्तरसे, लगी हुई हैं। इससे राधाकृष्णकी मूर्त्ति स्थिर करनेमें कोई सन्देह नहीं रहता। जयदेव कविके सुप्रसिद्ध "गीत-गोविन्द"में श्रीराधाकृष्णकी लीलाका वर्णन पाया जाता है। उससे कई सदियों पूर्व बंगभूमिमें राधा-कृष्णकी पूजा होती थी इसका प्रमाण अब मिलता है। दोनों मूर्त्तियोंके वेश, अलङ्कार और मुद्रा सीधी सादी और गौरवपूर्ण हैं। इस मूर्त्तिके पास ही लगायी हुई यमुनाकी मूर्त्ति बड़ी सुन्दर है। इस मूर्त्तिपर सब यथोचित अलङ्कार दिखाये गये है, और, इसके वस्त्रकी लहरें बड़ी चतुरतासे बनायी गयी है। यमुना अपने वाहन कछुवेके ऊपर बैठी हैं, एक अनुचर उनके सिरपर छत्र धारण किये हुए है। एक और दासी हाथमें करण्ड या पिटारा लेकर खड़ी है। पीछे कमलनालपर दो फूल खिले हैं जिनपर हंस युग्म बैठे हैं। यमुनाके पास ही बलरामकी मूर्त्ति है। ऊपर शेषका फने है, एक हाथमें सुरापात्र, दूसरेमें हल है। इनसे बलराम का परिचय शीघ्र ही हो जाता है। छातीपर यज्ञो-पवीत, कटिपर कटिबन्ध, उदरमें उदरबन्ध आदि गुप्त-समयकी मूर्त्तियोंमें पाये-जानेवाले भूषण इस मूर्त्तिमें है। पासमें खड़ी दासी है, उसके हाथमें सुरापात्र विशेष ध्यान योग्य है। आगे जाकर, कुछ फासलेपर, दीवारमें बड़ी सुन्दर मूर्त्ति है, उसमें बलरामका धेनुकासुरके साथ युद्ध दिखाया गया है। कुछ सिंहका और कुछ गधेके रूपका राक्षस बलरामका हाथ पकड़े खड़ा है, और, बलराम बायें पैरको राक्षसकी गर्दनपर रखकर दाहिने हाथमें राक्षसको मारना चाहते हैं। यह घटना तालवनमें हुई थी, इसे पीछेके तालवृक्ष दिखला रहे हैं।

बलरामकी किशोर-अवस्थाको, उनके सिरपर बालों-की तीन लम्बी चोटियाँ और गलेमें पदक तथा कम रकी शृङ्खला, सूचित कर रहे हैं। कालिदासने रघु-वंशके ११ वे सर्गके प्रथम श्लोकमें ("कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये। काक-पक्षधरमेत्य याचित ॥") रामके "काक-पक्ष"का उल्लेख किया है। गोरे मुँहके दोनो ओर काले लम्बे बाल ठीक कौवेके पक्षके समान दिखायी देते हैं। इस मूर्त्तिमें तथा अन्यान्य मूर्त्तियोमें बालककी छवि इन काकपक्षोंसे पहचानी जाती है (बनारसके भारत-कला-भवनमें एक कार्तिकेय कुमारकी मूर्त्ति है, उसमे भी पदक और काक पक्ष हैं)। चाणूर और मुष्टिकसे, कृष्ण और बलरामका, एक मूर्त्तिमें मल्ल-युद्ध दिखाया गया है, और, एकमें श्रीकृष्णका यम-लार्जुन-भेद—यानी, दो अर्जुनवृक्षो (जिनमें दो असुर नष्ट हो गये थे) को तोड़कर असुरोंको मुक्ति-दान दिखाया गया है। इन दोनो मूर्त्तियोंमें भी काकपक्ष इत्यादि चिह्नोंसे बाल-मूर्त्तिकी पहचान होती है। एक मूर्त्तिमें कृष्णका गोवर्धन उद्धरण भी है। श्रीकृष्णका जन्म, वसुदेवका उन्हें गोकुल ले जाना इत्यादि मूर्त्तियाँ सन्दिग्ध हैं। इस बातमें कोई सन्देह नहीं कि, विशेषतया कृष्णलीलाको माननेवाले लोग यहाँ बसे थे। एक इन्द्रकी भी अति सुन्दर मूर्त्ति है, जिसमें इन्द्रकी पहचान उसके पीछे खड़ा ऐरावत है। एक चित्रमें अग्निकी मूर्त्ति है, जिसमें सिर्फ पीछे ज्वाला है, परन्तु सात हाथ, चार सींग, दो मस्तक इत्यादि पुराणोक्त चिह्न कोई नहीं है। यमकी मूर्त्तिमें उसका वाहन भैंसा नहीं है, किन्तु उसके तथा उसके अनुचरोंके हाथमें गोलसा पाश (रस्सी) दिखाया गया है। मन्दिर की पूर्व दिशामें इन्द्र, आग्नेय कोणमें अग्नि और

दक्षिणमें यम—इस तरह उस-उस दिशाके स्वामी, ठीक स्थानपर, लगे हुए हैं, किन्तु बाकी दिक्पाल नहीं मिलते। शिवकी तीन चार भिन्न-भिन्न स्वरूपोंकी मूर्त्तियाँ मिलती हैं। एक चित्रमें, एक हाथमें, त्रिशूल है, दूसरेमें वरद मुद्रा और गलेमे नाग है। दूसरेमें, कानमें सर्प कुण्डल, हाथमें रुद्राक्षमाला कमण्डलु धारण किये शिवजीका भिक्षाटन दिखलाया गया है। एकमें केवल नन्दी और हाथमें त्रिशूल ही है। एकमें, सिरके ऊपर, खाली चन्द्रकला है। इन सभी मूर्त्तियोंमें शिवजीको दिगम्बर, ऊर्ध्वलिङ्ग, त्रिनेत्र, और, प्राय सर्वत्र कमण्डलु तथा अक्षमालाका धारक दिखलाया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि, शिवजीके तपस्वी रूपको, यहाँके लोग, अधिक मानते थे। एक मूर्त्ति, जो और कहीं अबतक नहीं पायी गयी है, पूर्व की दीवारमें लगा है। इसमें शिवजीको, एक स्त्री, एक पात्रमें, कुछ दे रही है, और, उसके पीछे दूसरी स्त्री, अपना हाथ सिरपर रखे, दुःख प्रकट कर रही है। उसका बालक उसे पकडे हुए है। यह दृश्य उस समयका हो सकता है, जब पृथ्वी देवीने जगत्‌के रक्षार्थ शिवकी, समुद्र-मन्थनसे निकले विषको पान करनेको, प्रार्थना की थी। इस दृश्यको देखकर पार्वती दुःखित हो रही है और कार्तिकेय भयसे उन्हें लपेटे हुए है। शैव और वैष्णव मूर्त्तियोंके साथ आकाशमें उडते हुए गन्धर्व, त्रिभंगी अप्सरा, डंडेपर सिर टेके द्वार-रक्षक आदि की मूर्त्तियाँ भी पायी जाती है। एक चित्रमें रामायणकी बालि और सुग्रीवके युद्धकी कहानी है। रामके कहनेके अनुसार सुग्रीवने, युद्धके समय, गलेमें फूलोंकी माला पहनी थी, जिससे पहचान कर रामने बालिको बाणसे मारा था। मूर्त्तिमें झगडते हुए वानरोमेंसे एकके गलेमें माला है। पास ही एक स्त्री-मूर्त्ति (तारा) और एक बालक (अङ्गद) है। एक दूसरे चित्रमें, एक हाथ सिरपर और एक हाथमें दो बडे पत्थर लिये, वानर दिखाया है, जो सेतु-बन्धनके उपक्रमकी सामग्री बतला रहा है। महाभारतकी कथाओमेंसे एक ही, इन मूर्त्तियोंमें, पायी जाती है। वह श्रीकृष्ण और अर्जुनका युद्ध है। एक रथमें अर्जुन और पासमें मुख नीचे किये हुए स्त्री-मूर्त्ति सुभद्रा है। सामने गरुडारूढ श्रीकृष्ण है। और मूर्त्तियोंकी अपेक्षा इस मूर्त्तिकी कारीगरी सामान्य है। सब मूर्त्तियोंमें बौद्धधर्मसे निश्चित सम्बन्ध रखनेवाली एक ही मूर्त्ति है, जो पद्मपाणि बोधिसत्वकी है। इस मूर्त्ति तथा इसकी बगलके पारिपार्श्वकोंके मुख तोड दिये गये हैं, जिससे यह मालूम होता है कि, यह मूर्त्ति भञ्जकोंके हाथमें पडी थी। सब पत्थरकी मूर्त्तियोंकी संख्या ६३ है।

पत्थरकी मूर्त्तियोंके ऊपर दीवारमें ईंटोंकी चित्र-पट्टिकाएँ लगी है। ७००-८०० पट्टिकाओंके टुकडे दीवारोंसे निकलकर बाहर पडे पाये गये और १५०० के ऊपर दीवारमें लगे मिले जिन्हें फिर चूनेकी पक्की बँधाईमें जोड दिया गया। इनमें हर प्रकारके जानवर, पशु-पक्षी, देवी-देवता, आदमी, फल-फूल, घर-द्वार इत्यादि चित्रित है। पञ्चतन्त्रकी विख्यात कथाएँ कई जगह दिखायी गयी हैं। तीन-चार पट्टिकाओमें "कीलोत्पाटी" बन्दरकी कहानी दिखायी गयी है। लकडीका तिरछा टुकडा, उसपर सवार हाथमें कील लिये, बन्दर, पञ्चतन्त्रकी उक्त कथाको याद दिलाता है। ईसपकी कहानियोंमें कृतज्ञ चूहेने, दाँतसे रस्सी काटकर जालमें फसे सिंहको कैसे बचाया, यह किस्सा मशहूर है। भारतवर्षमें एक वैसा किस्सा, सिंहके स्थानमें हाथी रखकर, प्रच-

लित था, क्योंकि पहाड़पुरमें एक पट्टिकापर हाथी और उसके शरीरपर तीन चूहे है, जिनमें एक गले की रस्सीको और दूसरे गले और पिछले पैरोमे लगी हुई रस्सीको दाँतोसे काट रहे हैं। दो-एक चित्रोंमें कूपके अन्दर देखते हुए सिहका दृश्य है। यह भी उस पञ्चतन्त्रकी कहानीसे सम्बन्ध रखता है, जिसमें, अरण्यमे, दूसरे सिहके पास ले जानेके बहाने, खरगोश ने सिहको कूपपर ले जाकर उसीकी प्रतिध्वनि और प्रतिबिम्बके द्वारा उसका विनाश किया। इन सभी कहानियोंसे, जो अबतक किसी पुराने मन्दिरमे नही पायी गयी है, पञ्चतन्त्रकी प्राचीनता और उसका भारतीयोंके मनपर प्रभाव मालूम होता है। वङ्ग-देशमे रहनेवाली जगली जातियों (शबर, भिल्ल) को —जो वस्त्रकी जगह पत्ते पहनती थी और जिनका प्रधान व्यापार तीर कमानसे वन्य पशुओंका शिकार करना था—बहुत-सी प्रतिमाएँ पहाडपुरके शिल्पियोंने, लोगोंके मनोरञ्जनार्थ, बनाया है। इन चित्रोंमे बौद्ध और ब्राह्मण धर्मके देवी-देवता —जैसे, बुद्ध पद्मपाणि, मजुश्री, तारा इत्यादि तथा शङ्खचक्र-धारी चतुर्हस्त विष्णु, गोपाल, कृष्ण (एक पुरुष सिरपर दहीका मटका लिये हुए है, इसके सिरपर दूसरा मनुष्य छत्र धारण किये है, जिससे उसका राजन्य प्रकट होता है), गरुड, शिव (इनकी एक शभुजमूर्त्ति भी इनमे है), ब्रह्मा, गणेश इत्यादि पाये जाते है। ऐसा कोई मन्दिर या बौद्धस्तूप नही पाया जाता, जिसमे दोनो धर्मो के पूज्य देवी-देवता पास पास स्थापित हो। इससे यह मालूम होता है कि, कन्नौजके राजा हर्षवर्द्धनके प्रयागके पञ्चवार्षिक उत्सवके वर्णनमे, जो एक दिन ब्राह्मणोको दान, दूसरे दिन बौद्ध यतियोका सम्मान कर सब धर्मोके प्रति समभाव दिखानेकी बात पायी जाती है, उसका अनुगमन, प्राय उसी समय, इधर पूर्व भारतकी जनता भी कर रही थी। प्रायः पाल-वशके अन्तिम शासनकालमें (११-१२ सदियोंमें) इस मत सहिष्णुताका लोप हो गया था। उस समय बौद्ध मतके वज्रयान-पंथका प्रचार अधिक था, जिसकी अनेक देवी-देवताओंकी मूर्त्तियोमें ब्राह्मण-धर्मके देवताओसे द्वेष प्रकट किया गया है (जैसे "यमान्तक" यमको मारनेवाला, कई देवताओं के साधनोंमें "ब्रह्मादि दुष्ट देवता," इस तरहका उल्लेख है। एक अवलोकितेश्वरके वाहन हरि अर्थात् विष्णु बनाये गये है।)।

पहाडपुरकी मृच्चित्र-पट्टिकाओमें प्राणियोको कितनी ही मूर्त्तियोंमें बहुत अच्छी कारीगरी की गयी है। एक भैंसेका चित्र, चरते हुए एक हरिणका चित्र, परस्पर लिपटे तीन वानरोका चित्र, हाथियोके अनेक लीलाओंवाले चित्र, हस, मयूर, कोकिल, शुक इत्यादि पक्षियोकी विविध गति दिखानेवाले चित्र विशेष उल्लेखयोग्य है। बंगालके विशेष वृक्ष-वनस्पति, ताल और कदम्ब, चम्पक और कदली, पाये जाते है। वन्य पशुओमे बाघ, तेँदुआ, सूअर, गीदड इत्यादि हैं; किन्तु इनके चित्रोंमे स्वाभाविकता कम है। मनुष्योंमें, ढाल और खड्ग लिये हुए योद्धा, रथमें तथा घोडेपर सवार सैनिक, हर प्रकारका शरीर विन्यास करनेवाले नट, ढोल, करताल, शहनाई तथा वाद्य बजानेवाले वादक, ध्यानमे निमग्न तथा कंकाल-शेष योगिजन, गवाक्षमे देखती ललनाएँ इत्यादि, विविध प्रकारके चित्र है। गङ्गा और सिन्धु की उपत्यकाओ अर्थात् पजाबसे बगालतकके उत्तर भारतीय प्रदेशमे, अति प्राचीन समयसे आज तक, नाना प्रकारके मिट्टीके वर्तन और खिलौने पाये जाते है, किन्तु मिट्टीके चित्रोके इतने अधिक प्रकार

और कहीं नहीं पाये जाते।

इन सब प्रस्तरमूर्त्तियोंको और मृच्चित्रोंको देखकर दर्शनाभिलाषी उत्तरकी तरफ बने हुए सोपान-मार्ग (सीढ़ी)से पहले तल्लेकी प्रदक्षिणा कर, उस की दीवारोंपर लगी मिट्टीकी मूर्त्तियोंको देखता हुआ, दूसरे तल्लेपर पहुंचता था। वहाँ वह चारों ओर बने मण्डपोंमें पूजा करता होगा। इन मण्डपोंमें एक अन्दरका तथा एक बाहरकी ओर दो कमरे हैं। बाहरके कमरेकी छत पत्थरके खम्भोंपर खड़ी थी। इन पत्थरोंमेंसे एकपर लगभग दसवीं सदीके आरम्भके गुर्जर-प्रतिहार-वंशीय राजा महेन्द्रपालके समयका स्तम्भ-दान उल्लिखित है। कई वर्षों तक पालोंका प्रदेश इस राजाके हस्तगत था इसका यह प्रमाण है। मण्डपके बाहर प्रदक्षिणा-मार्गमें, एक ताम्रपत्र पाया गया है, जिसमें गुप्त-वर्ष १५९ (सन् ४७८-९)में एक ब्राह्मण नाथ शर्मा और उसकी भार्या रामीके, वट-गोहाली ग्राममें, निर्ग्रन्थ (जैन) साधु गुहनन्दीके विहारमें, अर्हतों (जैन-तीर्थङ्करों) की पूजा-सामग्री (गन्ध, धूप आदि) के लिये पुण्ड्र-वर्धन विषय (आधुनिक उत्तर बंग)में, तीन ग्रामोंमें, जमीन, अशर्फी देनेका उल्लेख है। यह विहार प्राय इसी स्थानपर है। गोहाली ग्राम प्राय पहाड़पुरके वायव्य कोणका गोआल भीटा ग्राम होगा। उस समयकी धर्म सहिष्णुतापर ध्यान देनेसे, ब्राह्मणका जैन-मन्दिरको दान देना, कोई असम्भव नहीं। छठी-सातवीं शताब्दियोंमें यहाँ जैन-धर्म लुप्त हो गया था तथा सब लोग बौद्ध और ब्राह्मणधर्मके अनुयायी बन गये थे, जिससे उस समयके चित्रोंमें जैनियोंकी कोई मूर्त्ति नहीं मिलती। आठवीं सदीके अन्तमें पालवंशके राजा धर्मपालने इस मन्दिरका जीर्णोद्धार किया, चारों ओर कोठरियाँ बनवायीं और यहाँ एक बौद्ध-महा-विहार भी बनवाया। तबसे जैन या ब्राह्मणधर्मके निशान कम होते गये। इस समयकी भी अनेक बौद्ध-मूर्त्तियाँ, मध्यस्थित मन्दिर और विहारोंमें, पायी गयी हैं।

सबसे ऊपर जो मन्दिरका गर्भगृह था, उसका ईंटोंका फर्श, जमीनसे कोई ६५ फीट ऊँचाईपर, पाया गया है। यह कमरा कोई १३॥ फीट लम्बा और उतना ही चौड़ा है। इसकी दीवारें बहुत मोटी हैं और नीचेसे वहाँ पहुंचनेको, दक्षिण तरफसे, एक ईंटोंकी ऊँची सीढ़ी है। ऊपरसे दीवारोंके साथ-साथ खोदते हुए मालूम हुआ कि, दीवारें ४५ फीटतक गहरी हैं। मुख्य मन्दिरकी दीवारें इतनी मजबूत थीं, इसी लिये इसकी छत और दीवारोंके ऊपरी भागके नाश हो जानेपर भी वह खंडहरके रूपमें रह गया। जब यह पूर्ण था, तब चारों तरफ, कई कोसोंसे, दिखायी पड़ता था! मण्डपोंके ऊपरकी दीवारोंमें तीन तरफ गवाक्ष हैं, जिनमें उत्सव आदिके समय रोशनी की जाती होगी जो दूरतक दिखायी पड़ती होगी।

मुख्य मन्दिरकी चारों ओर और विहारकी चतुःशालाके अन्दर पाकशाला, भोजनगृह, छोटे-मोटे स्तूप इत्यादि अनेक इमारतोंके अवशेष हैं। बाहर भी, नदीके किनारे, एक ईंट पत्थरोंसे बना पक्का घाट और एक चबूतरा है, जिसपर स्नान और धोनेका प्रबन्ध था। विहारके कमरे कोई १३ फीट लम्बे और चौड़े हैं। इन कमरोंके फर्श तीन बार बनाये गये थे, सबसे पहले प्रथम पाल-युग (८-९ सदियोंमें), फिर मध्य-पाल-युग (१० वीं सदीमें), और, आखिरमें अन्त्य पाल युग (११-१२ वीं सदियों-में)। किन्तु ये सब मुख्य मन्दिर छठी और सातवीं शताब्दियोंके पुराने मन्दिरके पीछेके हैं।

सिवा बौद्ध-मूर्त्तियोंके इनमें और मूर्त्तियाँ कम पायी गयी है। पाल-समयके कई सिक्के, धर्मपाल-विहारकी मुहरे, ताँबेके बर्तन, चित्र-विचित्र मणि, ताड की लकडीके कोयले आदि चीजे, उत्तरके विहार में, मुख्य प्रवेश-गृहके पासके कमरेमें, पायी गयी हैं। इससे मालूम होता है कि, यहाँ विहारका भण्डार था। अन्तमें यहाँके भिक्षु, जिनका ४०० ४५० वर्षोंतक इस विशाल विहारमें निवास रहा होगा, अपनी सभी वस्तुओंको लेते गये होंगे, जिससे यहाँ छूटी हुई बहुत कम चीजे (अन्य जगहोंकी अपेक्षा) पायी गयी है। जो मिट्टी-पत्थरकी वस्तुएँ बच गयी हैं, वह वग-भूमि ही क्यो, सारे भारतवर्षकी सभ्यता, शिल्प और धर्मपर वास्तविक प्रकाश डाल कर भारतीयोंके मुखको उज्वल कर रही है।

अश्वपति-वंशके सूर्य्यवर्म्माका एक शिला-लेख

पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय

जब मैं "सरस्वती" पत्रिका, खण्ड १७, भाग १ का अवलोकन कर रहा था, मुझे "सूर्य्यवर्म्माका शिला लेख" शीर्षक एक लेख दृष्टिगोचर हुआ। "सूर्य्यवर्म्मा" शब्दसे मैं परिचित था। मुझे यह सूझी कि, यह शिला-लेख, सूर्य्यवर्म्माको जाननेमें, सहायक हो सकता है, जो महाकोसलके हर्षगुप्तका श्वशुर था। राजा सूर्य्यवर्म्माका उल्लेख मगधवर्म्माके वशसे सम्बद्ध था, यह लक्ष्मण-मन्दिरके शिला-लेखमे मिलता है (यह शिला लेख अभी रायपुरके अजायबघरमे सुरक्षित है)। यह लेख प्राचीन श्रीपुरमे मिला है, जो महानदीके किनारे है। सूर्य्यवर्म्माकी पुत्री वासटा हर्षगुप्तके साथ ब्याही गयी थी। इसका पुत्र महाशिवगुप्त था, जिसका दूसरा नाम बालार्जुन भी था। वासटाके पुत्र (महाशिवगुप्त)के राज्यकालमे, रानी वासटाने एक सुन्दर मन्दिर, अपने योग्य पतिके स्मरणार्थ, बनवाया। इसी मन्दिरमे वह लेख निहित हुआ। श्रीपुरके शिला-लखके अक्षर सूर्य्यवर्म्माके शिला-लेखके अक्षरसे बहुत अधिक मिलते-जुलते है, जिनका कुछ अंश "सरस्वती"मे प्रकाशित हुआ है। सूर्य्यवर्म्माका मूल शिला-लेख लखनऊके अजायबघरमे रखा है। यह अवधमे, बाराबंकी जिलेके अन्तर्गत, हडहा ताल्लुकेके एक गाँवमे मिला था। यह संस्कृतमे, २३ श्लोकोंमे, है। इसके प्रशस्तिकार कविका नाम रविकान्ति है। यह मिहिरवर्म्मा द्वारा खुदाया गया था। इसका वर्ष विक्रम-संवत्का ६११ वाँ वर्ष अथवा ५५४ ई० है। यह समय हमारे कामका है, क्योंकि, इससे हम हर्षगुप्त और उसके पुत्र महाशिवगुप्तके कालका निर्णय, निश्चित रूपसे, कर पावेगे। राजा सूर्य्यवर्म्माका परिचय देनेके लिये, इस शिला-लेखके साथ, एक छोटी भूमिकाकी आवश्यकता होगी। लेखका प्रारम्भ शिवकी स्तुतिके साथ होता है, जो दो श्लोकोमे है। तृतीय श्लोक इस प्रकार प्रारम्भ हुआ है—

"सुत-शत लेभे नृपोश्वपतिर्व्वैवस्वताद्यद्गुणोदितम्।
तत्प्रसूता दुरिहवृत्तिरुधो मुखरा. क्षितीशाः क्षतरयः॥"

अश्वपतिसे मुखर अथवा मौखरी वंशका प्रारम्भ

होता है। वंशावली हरिवर्म्मासे शुरू होती है। इसने अपना नाम ज्वालामुख रखा। इसके पुत्र आदित्यवर्म्माने यज्ञ करनेमे प्रसिद्धि पायी (श्लोक ८,६ और १०)। इसका पुत्र ईशानवर्म्मा हुआ (श्लोक ११-१६), जिसने आन्ध्र राजाको पराजित किया, जिसके पास एक हजार हाथी थे। उसने मुलिकाओंको भी हराया, जिनके पास दस हजार घोडे थे। उसने गौडोको जीता, जो समुद्र-तटपर रहते थे। उसकी सेना असख्य थी। वह सदाचारी और धार्म्मिक था। उस शक्तिशाली राजाका पुत्र सूर्य्य-वर्म्मा था। एक दिन, जब राजकुमार सूर्य्यवर्म्मा शिकारके लिये बाहर गया हुआ था, उसी समय उसने एक प्राचीन शिवमन्दिर देखा, जो बहुत ही सुन्दर था। उसका आज्ञासे उस प्राचीन मन्दिरका जीर्णोद्धार हुआ। उसका पुन निर्माण हुआ और शिला-लेखकी स्थापना, उस राजकुमारके महत्त्व-पूर्ण कार्य्यके स्मरणार्थ, की गयी। मन्दिरका जीर्णोद्धार विक्रम-सवत् ६११ में किया गया, जिस समय राजा ईशानवर्म्मा अपने शत्रुओंको पराजित कर राज्य कर रहा था।

इस लेखसे एक विशेष महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक रहस्यका उद्घाटन यह होता है कि, मुखरराजाकी उत्पत्तिका पता चलता है। हमे इस बातका पता नही था कि, मुखर-राजाकी उत्पत्ति कहाँसे हुई। हमारा यह शिला-लेख इस विषयमे एकदम स्पष्ट है। इस वशके मूल-पुरुष अश्वपति थे, जो सती सावित्रीके पिता थे—वही पौराणिक सावित्री देवी, जिसका नाम प्रत्येक हिन्दूके घर-घरमे ख्यात है।

महाभारतके वाणपर्वको पढनेसे मालूम होता है कि, सावित्री, अपने पातिव्रत्य धर्म्मके प्रभावसे, सत्यवान्के प्रति अनन्य स्वामि-भक्तिके कारण, न केवल अपने पतिको पुनर्जीवित कर सकी, अपितु, अपने पिताके लिये १०० पुत्र प्राप्तिका वरदान भी पाया और उनकी अन्धता भी दूर कर सकी। मैं यहाँ महाभारतसे कुछ अश उद्धृत करता हूँ—

सावित्रीने यमसे कहा—

"हे मानदाता, चूँकि आपने मेरी दूसरी इच्छाकी पूर्त्ति की, मेरा सौभाग्य, जो पवित्र और पुण्य कर्म्म द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, उसी प्रकार इस बार भी आप मनोवाञ्छित फल देनेको प्रस्तुत है। इस हेतु मेरी यह अभिलाषा है कि, सत्यवान् जीवन लाभ करे, क्योकि मैं उनके विना मृतक-तुल्य हूँ। मैं उनके विना सुखी बननेकी इच्छा नही रखती, स्वर्ग जानेकी भी कामना नही करती। मैं धन-ऐश्वर्य्यका उपभोग नही चाहती, मै तो अपने स्वामीके विना जीवित भी नही रहना चाहती। आप पहले ही यह वरदान दे चुके है कि, मुझे एक सौ पुत्र हो, पर तो भी आप मेरे पतिको लिये जा रहे है! इस हेतु मेरी यह प्रार्थना है कि, सत्यवान् फिरसे जीवन लाभ करे, जिससे आपकी बात भी सत्य निकले।"

मार्कण्डेयने कहा—

"तब, सूर्य्यके पुत्र यम बहुत प्रसन्न हुए और बोले, एवमस्तु!" सत्यवान्को उन्मुक्त करते हुए उन्होने सावित्रीसे कहा—"अयि सुभगे, देखो, मैं तुम्हारे पतिको उन्मुक्त करता हूँ। सद्वशोद्भव कन्ये, तुम अपने साथ उन्हे ले जा सकती हो। वह नीरोग हो जायँगे और सर्वदा विजयी बने रहेगे। + + + + + तुम्हारे पिताको भी तुम्हारी मातासे सौ पुत्र उत्पन्न होगे, और, तुम्हारे देव-तुल्य भ्रातृ-गण पुत्र-पौत्रोके साथ मालवके नामसे ख्यात होगे।" *

* "पिता च ते पुत्रशत भविता तव मातरि। मालव्या मालवा नाम शाश्वताः पुत्रपौत्रिणः॥"

सावित्रीके पिता मद्र-देशाधिपति थे। सत्यवान्के पिता, द्युमत्सेन, शाल्व-देशके राजा थे।

मद्रदेशके राजा अश्वपति सज्जन, उदार और चतुर थे। इन्ही अश्वपतिसे, मुखर-वंशवाले, अपनेको सम्भूत बतलाते हैं।

सूर्य्यवर्म्माकी वंशावली इस प्रकार है--

अश्वपतिके वंशमे एक हरिवर्म्मा नामक राजा हुआ, जिसका पुत्र अदित्यवर्म्मा था। आदित्यवर्म्माका पुत्र ईश्वरवर्म्मा हुआ, जिससे ईशानवर्म्माका जन्म हुआ। ईशानवर्म्माका पुत्र सूर्य्यवर्म्मा हुआ, जिसका उल्लेख शिला-लेखमें मिलता है।

ये 'वर्म्मा' राजागण मालवाके अधिकाश भागापर और असीर-गढपर (जि० नेवाड, (C P) अधिकार जमाये हुए थे। मुद्राएँ इस सिद्धान्तके पक्षमे है। ये मुद्राएँ सर्ववर्म्माके समयकी है, जो ईशानवर्म्माका पुत्र और आदित्यवर्म्माका पौत्र तथा महाराज हरिवर्म्माका प्रपौत्र था।

यह प्रतीत होता है कि, मुखरवशकी अनेक शाखाएँ थी, जो एक ही समयमें मगध, कान्यकुब्ज और मालव देशोपर शासन कर रही थीं। ईशानवर्म्माने, जो मुखर राजाओमें एक शक्तिशाली अधिप गिने जाते थे, आन्ध्र देशाधिपतिको पराजित किया था, इनके १००० गज-दलकी सेना थी, इन्होंने मूलिकाओको विजित किया, जिनके पास १०००० घुडसवार थे, इन्होने गौडोको इस प्रकार वशीभूत किया कि, वे समुद्रतटके देशको छोड देनेपर बाध्य हुए, जा नीचे लिखे श्लोकसे स्पष्ट ज्ञात होता है--

''जित्वान्ध्राधिपति सहस्रगणितत्रेधाक्षरद्वारणाम्
व्यावल्गन्नियुतानि सम्पतुरगान् भङ्क्त्वा रणे(मू)लिकान्
कृत्वा चायतिमोचितस्थलभुवो गौड़ान्समुद्राश्रया-
नध्यासिष्ट नहक्षितीशचरणः सिहासन यो जिती।।''

(--१३वॉ श्लोक)

ईशानवर्म्माके राज्य कालमें एवम् इस समयके कुछ पूर्व वा पश्चात् महाकोसल-देश अत्यन्त शक्तिशाली जान पडता था। कोसलके अधिपति "प्राक् परमेश्वर"की उपाधिसे विभूषित होते थे, इसका अर्थ है पूर्वीय प्रान्तका स्वामी।

लक्ष्मण-मन्दिरके शिला लेखसे, जो बालार्जुन शिवगुप्तके समयका है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि, सूर्य्यवर्म्माकी राजधानी और राज्य कोसलसे पश्चिम किसी स्थानमे था--यही महाकोसल राज्य है।

राजा सूर्य्यवर्म्मा, जो कोसलके राजा हर्षगुप्तका श्वशुर और रानी वासटाका पिता था, और, जिसके विषयमे यह कहा जाता है कि, श्रीपुरका, (जिला रायपुर, सी० पी०) विशाल ईंटोसे निर्मित, मन्दिर इसीने बनवाया था, सम्भवत वही सूर्य्यवर्म्मा था, जो मुखरवश ईशानवर्म्माका पुत्र था जैसा कि, वर्तमान शिलालेखसे जान पडता है।

मैं अब इस लेखको, लक्ष्मण-मन्दिरके शिला--लेखसे कतिपय श्लोकोको उद्धृत कर, समाप्त करता हूँ, जिसकी चर्चा पूर्वमे की जा चुकी है--

''स्थान चिराद्रुचितमेतदभून्ममेति
लक्ष्मी. प्रसूतिसमये यमुवाह हर्षम् ।
तेनावृत सततमेव शुचामगम्य·
श्रीहर्षगुप्त इति नाम ततो [य ऊहे]
तस्मादजायत महाशिवगुप्तराजो
धर्म्मावतार इति निश्चितथ प्रतीत. ।
भीमेन य. सुत इव प्रथमः पृथाया·
पृथ्वीं जिगाय रणकेसरिणानुजेन ।।१२।।'

× × ×

तस्येह जन्यजयिना जननी जनानाम्
ईशास्य शैलतनयेव मयूरकेतो. ।
विस्मापनी विबुधलोकधिया बभूव
श्रीवासटेति नरसिंहतनोः सटेव ॥१५॥

निष्पके मगधाधिपत्यमहता जातः कुले वर्मणा पुरायाभि कृतिभि. कृतीकतमनःकम्पासुधो मोजिनाम यामासाद्य सुता हिमाचल इव श्रीसूर्य्यवर्म्मा नृपः प्रायप्राक्परमेश्वरश्वशुरता गर्वानिखर्वं पदम् ॥१६॥"

"विख्यात वर्म्मा-वंशमें उत्पन्न, मगधपर शासन करनेके हेतु प्रभावशाली, प्रसिद्ध (और) पुण्यशील राजा सूर्य्यवर्म्मा, जिसने अपने धर्म्म-कार्य्यों से देवताओंके हृदयमें आतङ्क उत्पन्न कर दिया था, इस कन्या (वासटा) को प्राप्त कर "प्राक् परमेश्वर" के अत्यन्त गौरवपूर्ण श्वशुर-पदको प्राप्त किया, जिस प्रकार हिमाचलने अपनी कन्या पार्वतीका विवाह परमेश्वर शिवके साथ करके प्राप्त किया था ।"×

"प्राक् परमेश्वर से यह ज्ञात होता है कि, इनका राज्य सुविशाल था, जो पूर्वमें कोसलके नाम से ख्यात है। महाकोसल अथवा दक्षिण कोसलकी प्रसिद्धि इसीसे स्पष्ट है कि, यह कोसलके अतिरिक्त इन दो नामोंसे अधिक विश्रुत है।

देवगढ़

बा० कामताप्रसाद जैन

देवगढ़ जिला झाँसीमें एक प्राचीन स्थान है। ललितपुरसे १६ मील और जाखलौन रेलवे स्टेशनसे सिर्फ सात मीलपर है। जैन-सम्प्रदायका यह एक मान्य तीर्थ है और सैकड़ों यात्री अज्ञात कालसे इसकी वन्दना करते आये हैं। देवगढ़का महत्त्व, पुरातत्त्वकी दृष्टिसे, विशेष है। यह गुप्तकालसे लेकर १५-१६वीं शताब्दियोंतक हिन्दी लखनकलाके विकास-क्रमके अध्ययनके लिये अच्छे साधन उपस्थित करता है। इसके साथ ही इसका शिल्पनैपुण्य भारतीय-कलाका एक खास नमूना है, और, इसके लगभग २०० शिला-लेख, भारतीय इतिहासके लिये, कामकी चीजें हैं।

देवगढ़ एक छोटी-सी रमणीक पहाड़ी है। सारी पहाड़ीको पुराने जमानेमें तीन परकोटोंने घेर रखा है। पहला परकोटा प्रायः भग्नावशेष है। इसकी मोटाई लगभग २१ फीट है और यह ६०० फीट दूरतक पहाड़ीके किनारे-किनारे चला गया है। एक द्वारके मार्गसे इस किलेके अन्दर पहुँचनेपर उत्तर-पूर्वकी ओर सोलह जैनमन्दिरोंका समूह मिलता है। उनमेंसे कुछ सुरक्षित हैं और उनकी कारीगरी बड़ी ही सुन्दर है। यहाँपर एक गुफा भी है, जिसे "सिद्धगुफा" कहते हैं। उसमें, एक छोटा-सा लेख गुप्तकालका है। वहीं एक दूसरा लेख है, जिसमें यह कथन है कि, राजा वीरने संवत् १३४५ में कुरारको जीता था।

देवगढ़में जाखलौनके बुन्देले राजा धर्मनगढ़सिंहका एक समय राज्य था। अपने जीवनके अन्तिम समयमें यह राजा राज-पाट त्यागकर इस पहाड़ीपर आ गया था और सन् १२९४ ई० में स्वर्गवासी हुआ था।

देवगढ़के जैनमन्दिर प्रायः भिन्न-भिन्न समयके बने हुए हैं। स्थानीय जनतामें यह प्रसिद्धि है कि इन जैनमन्दिरोंको धनाढ्य जैन-व्यापारी पाराशाह और उसके दो भाई देवपत और खेवपतने बनवाया था। इस समय कुल बड़े मन्दिर ३१ हैं। छोटे मोटे मन्दिर और भी बहुतसे हैं। जैनमूर्त्ति

× *Epi Ind Vol XI No 19*

योंमें ३० फीट ऊँचाई तककी मूर्तियाँ हैं, जो अपनी शान्तिमय सौम्यमुद्रासे दर्शकके हृदयको मोह लेती हैं। मानस्थम्भ आदिका भास्करकार्य भी देखते ही बनता है। दुःख है कि, किसी मुसलमान बादशाहने इस प्राचीन स्थानको बहुत-कुछ तहस-नहस कर डाला है और तबसे इस स्थानकी सँभाल भी कुछ न थी। किलेके अन्दर घना जङ्गल हो गया था और मन्दिर शेर-चीतोंके रहनेके स्थान बन गये थे। किन्तु सन् १९१७ और १९१८ में सरकारने श्रीयुत दयारामजी साहनीको भेजकर इस स्थानका उद्धार कराया और अब यह स्थान जैन समाजके अधीन है जो इसके उद्धारके लिये प्रयत्नशील है।

राजघाटावाले लेखसे प्रकट है कि देवगढ़ दुर्गको राजा कीर्त्तिवर्माके मन्त्री वत्सराजने बनवाया था। इसी कारण यह किला "कीर्त्तिगिरिदुर्ग" कहलाता है। किन्तु जैनधर्मका यह स्थान प्राचीन कालसे केन्द्र रहा है, यह बात इसके पुरातत्त्वसे स्पष्ट है।

चौबीस तीर्थङ्करोंमेंसे बीसकी शासनदेवतारूप यक्षिणियोंकी जो मूर्त्तियाँ यहाँ मिला है, वह अन्यत्र कहीं देखनेको नहीं मिलतीं। यही बात यहाँकी "ज्ञानशिला"के विषयमें कही जा सकती है। नं० १ वाले मन्दिरके दालानमें यह विचित्र शिला अङ्कित है। इस शिलापर १८ भाषाओं और १८ लिपियोंके नमूने लिखे हुए हैं, जिन्हें माखानामदी नामक व्यक्तिने लिखाया था।

संक्षेपमें देवगढ़का यह परिचय है और इससे इसका महत्त्व स्पष्ट है।

पालोंके शिलालेख

बा० विनोदविहारी राय, वेदरत्न

पालवंशीय राजाओंके जो अबतक शिलालेख मिल चुके हैं, वे ये हैं—

(१) खलीमपुरका ताम्र-लेख (धर्मपाल), (२) मुँगेरका ताम्रलेख (देवपाल), (३) नालन्दाका ताम्रलेख (देवपाल), (४) भागलपुरका ताम्रलेख (नारायणपाल), (५) बनगढ़का ताम्रलेख (महीपाल प्रथम), (६) सारनाथका शिलालेख (महीपाल प्रथम), (७) आमगाछीका ताम्रलेख (विग्रहपाल तृतीय), (८) मनहली या मानहालीका ताम्रलेख (मदनपाल)।

इस वंशके सम्बन्धके अन्यान्य शिलालेख—

(क) महाबोधि-शिलालेख (केशवभास्कर), (ख) बोदल-शिलालेख (बोरदब), (ग, गरुड़ शिलालेख (गुरव या गौरव मिश्र), (घ) वागीश्वरी शिलालेख, (च) शत्रुसेन-शिलालेख, (छ) नालन्दा शिलालेख (बालादित्य), (ज) कृष्ण-द्वारका-शिलालेख (विश्वादित्य), (झ) कमौली-शिलालेख (वद्यदेव), (ट) मिजुमका नालन्दा-शिलालेख, (गोपाल तृतीय), (ठ) भिन्न-भिन्न मूर्त्तियोंमें, पैरोंके नीचे, खुदे हुए शिलालेख एवम् इस सम्बन्धमें प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकोंके लेख आदि।

खलीमपुर-शिलालेखसे हमें मालूम हुआ है कि, दयितविष्णु नामके कोई विद्वान् सभी शास्त्रोंमें पारगत पण्डित थे। वे पालवंशियोंके पूर्वज थे। उनका पुत्र वाप्यट, अपने शत्रुओंके लिये, काल-समान था। सम्भवतः वह किसी राजाके यहा सेनापति था। उसके पुत्र गोपालको सर्व-साधारणने, देशको "मत्स्य-न्याय"के पंजेसे छुड़ानेके अभिप्रायसे, राजा बनाया। "मत्स्य-न्याय" से तात्पर्य है, सबलों द्वारा निर्बलोंका सर्वस्वापहरण। वास्तवमें हम देखते हैं कि, गुप्तोंके बाद और पालोंके पहले, बङ्गालमें, किसी भी राजाके लिये, निरुपद्रव राज्य करना सर्वथा कठिन था।

सत्रहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें तारानाथ नामक एक तिब्बतीय ऐतिहासिक हो चुके हैं। उनके इतिहासमें लिखा है कि, गोपाल बङ्गालके राजा मनोनीत हुए थे। उन्होंने, बङ्गालका शासन-सूत्र हाथोंमें लेनेके बाद, मगध-

सिंहासनको अधिकृत किया था। किन्तु उस इतिहास-ग्रन्थकी यह बातें प्रामाणिक नहीं जँचतीं। कारण, देवपालके शिलालेखोंसे पता चलता है कि, उन्होंने समुद्रतकके सभी देशोंको जीत लिया था (शिलालेख, तीसरा पद्य)। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि, इस समुद्रसे तात्पर्य बङ्गालकी खाड़ीसे ही है। मेरा तो विचार है कि, गोपाल मगधके ही राजा मनोनीत हुए थे, और, कुछ दिनोंके बाद, उन्होंने समुद्रतट (बङ्गालकी खाड़ी) तकके सभी देशों बङ्गाल)को जीता था। गोपालके पुत्र राजा धर्मपालने, अपनी राजधानी पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) से इस खलीमपुर शिलालेखके खोदे जानेकी आज्ञा दी थी।

इसी शिलालेखसे ज्ञात होता है कि, धर्मपालने भोज, मत्स्य, मद्र, कुरु, यदु, यवन, अवन्ती, गान्धार, किरा (किरात ?) और कन्नौजके राजाओंपर विजय पायी थी तथा फिर उन्हें लौटा भी दिया था। देवपालके नालन्दा और मुँगेरमें स्थित शिलालेखोंसे यह घटना और भी प्रमाणित हो जाती है।

राजशेखरके प्रभावकचरित और प्रबन्धकोष नामक ग्रन्थोंसे पता चलता है कि, बप्पभट्टि (सरपाल) वि० सं० ८०७ या ई० स० ७५१ में वर्तमान थे। उन दिनों राजा यशोवर्मा कन्नौजका शासक था। यशोवर्माकी मृत्युके बाद उसका पुत्र आमराज (चक्रायुध) कन्नौजका शासक मनोनीत हुआ। बप्पभट्टि इसी आमराजके दरबारमें राजपण्डित थे। सम्भवतः धर्मपालने आमराजको उसके सिंहासनपर पुनरारूढ़ कर—जैसा कि, उपर्युक्त वर्णनसे प्रकट होता है—बप्पभट्टिको अपने यहां बुला लिया। किन्तु, कुछ ही दिनोंके बाद, आमराजने किसी प्रकार बप्पभट्टिको अपने यहाँ बुला लिया। धर्मपाल आमराजकी इस कार्यवाहीसे बहुत अप्रसन्न हुआ, और, उसने उसे (आमराजको) कहला भेजा कि, तुम अपने किसी भी राजपण्डितको—जिसे तुम सर्वश्रेष्ठ विद्वान् समझते हो—हमारे राजपण्डित वर्धनकुञ्जरके साथ शास्त्रार्थ करनेके लिये भेज दो, शर्त यह होगी कि, जिसके राजपण्डितकी, इस शास्त्रार्थमें हार हो जायगी, उसका सारा राज्य विजेताका हो जायगा। आमराज भी सहमत हो गया। बप्पभट्टि और वर्धनकुञ्जरमें शास्त्रार्थ छिड़ा, वर्धन-कुञ्जरकी हार हो गयी। धर्मपालने अपना सारा राज्य आमराजको दे दिया, किन्तु उसने (यह समझकर कि, मुझे इसने पराजित कर मेरा राज्य लौटा दिया था) राज्य लौटा दिया—उसे फिरसे राज्यसिंहासनपर बैठा दिया। इस कथाकी पुष्टि खलीमपुर शिलालेख (के बारहवें पद्य) से होती है। लिखा है कि, धर्मपालने कन्नौजको जीतकर फिर उसीके राजाको वहाँकी गद्दीपर बैठा दिया था।

जिन-हरिवंशमें लिखा है कि, स० स० ७१५ या स० ७८३ ई० में उत्तरमें इन्द्रायुध, दक्षिणमें कृष्णराजका पुत्र श्रीवल्लभ [राष्ट्रकूटोंका ध्रुवराजा], पूर्वमें अवन्ती राज और पश्चिममें वत्सराज राज्य करते थे।

भागलपुर-शिलालेखसे ज्ञात होता है कि, धर्मराजने कन्नौजके इन्द्रराजको पराजित किया था और वहाँके सिंहासनपर चक्रायुधको बैठाया था। यह चक्रायुध (आमराज) इन्द्रराज [इन्द्रायुध]का पिता था। इससे हम कह सकते हैं कि, उपर्युक्त राजपण्डितोंके घोर शास्त्रार्थके बाद इन्द्रायुध अपने पिताको सिंहासन-च्युत कर, आप उसकी जगहपर, राजा बन बैठा था। इसलिये वह जिन-हरिवंशके अनुसार, स० ७८३ ई० में, कन्नौज-का शासक था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि, राजपण्डितोंका शास्त्रार्थ स० ७८० ई० में हुआ था और उसके पहले, सम्भवतः लगभग स० ७८६ ई० में, धर्मपाल अपने पिताके सिंहासनपर बैठाया जा चुका था। इससे गोपालका सन् ७८६ ई०तक राज्य करना सिद्ध होता है।

राष्ट्रकूटोंके राजा गोविन्द तृतीयके खुदवाये हुए राधनपुरके ताम्रलेखसे हमें पता चलता है कि, पश्चिमकी ओर (गुर्जर) के किसी वत्सराज नामक राजाने गौड़-देशपर विजय पायी थी। गोविन्द तृतीयके पिता राजा ध्रुवने उससे दो छत्र [*Parasols*] ले लिये थे, जो उन्हें गौड़-विजयमें मिले थे। गोविन्द तृतीयके छोटे भाई इन्द्रराजके पुत्र कर्कराजके स० स० ७३४ या सन् ८१२ ई० के ताम्रपत्रमें लखा है कि, 'दो छत्रोमेंसे एक गौड़ा-धिपतिका और एक वङ्गाधिपतिका था।' किन्तु चूँकि, धर्मपालके सिंहासन-च्युत होनेका कोई भी प्रमाण नहीं मिलता, इसलिये इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि, धर्मपाल वत्सराजसे युद्ध करनेके निमित्त बङ्गालमें आये थे और यहीं उन्होंने अपने दोनों छत्रोंकी वैजयन्तियाँ खोयी थीं।

खलीमपुर-ताम्रपत्रमें लिखा है कि, 'धर्मपालने, बिना युद्ध किये ही, अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त कर लिया था [ग्यारहवाँ पद्य], उनकी शक्तिशाली सेनाको देखते ही इन्द्र [इन्द्रराज या महेन्द्र] भाग गया था।' यह घटना सन् ८१२ ई० के बाद —सम्भवत. ८१३ ई० की है, जिस समयतक गोविन्द तृतीयने राज्य किया था।

देवपालके शिलालेखोंसे पता चलता है कि, धर्मपालने राष्ट्रकूट राजा श्रीपारावलकी लड़की रन्ना या राणा देवीके साथ विवाह किया था। पथारीके स्तम्भ लेखसे ज्ञात होता है कि, सवत् ६१७ या ईस्वी सन् ८६१ ई० में राष्ट्रकूटा-धिपति पारावलके मन्त्रीने इस स्तम्भका निर्माण कराया था। इससे यह प्रकट होता है कि, पाल उच्च कुलके क्षत्रिय थे।

अवन्तीवर्माके ताम्रलेख सवत् ६८६ या सन् ८६६ ई० मे लिखा है कि, 'बहुकधवलने धर्मका सर्वनाश किया था।' सम्भवत इसका यही अर्थ हो सकता है कि, बहुकधवलने धर्मपालको पराजित किया था। कीलहर्न महाशयका विचार है कि, यह बहुक धवल मिहिरभोजका एक सामन्त था। हो सकता है कि उस युद्धमे, जिसमे लगभग सन् ८४३ ई० में मिहिरभोजने धर्मपालसे कनौज ले लिया था, बहुक धवल भी रहा हो। इन घटनाओंके संघटन कालपर विचार करनेपर हम कह सकते है कि, सन् ८४३ ई० मे धर्मपाल एक उजड़े हुए राज्यके शासक थे।

किन्तु, धर्मपालके शिलालेखमे लिखा है कि, वे अपने पिताके निर्ध्वस्त राज्यके सिंहासनपर बैठे। इससे यह कहना अयुक्तियुक्त नहीं होगा कि, धर्म-पाल सन् ८४३ मे वर्तमान थे, और, अपने राज्यमें शान्ति-स्थापना करने तथा उसमे जान डालनेमें वे सफल हुए थे। तारानाथका मत है कि, धर्मपालने ६४ वर्षोंतक राज्य किया था। सम्भवत. लगभग ७८६ मे उनका राज्याभिषेक हुआ था। इसमें ६४ जोड़ देनेसे ८५० होता है। सन् ८५० ई० में धर्मपालके शासनकालका अन्तिम वर्ष समाप्त हुआ था। यदि बहुकधवलने धर्मपालको लगभग सन् ८४३ ई० में पराजित किया होगा, तो शेष सात वर्षोंका समय, धर्मपालके लिये, अपने राज्यमें शान्ति स्थापित करनेके लिये काफी था। अत यह विचार स्थिर करना अनुचित नहीं होगा कि, धर्मपालने ६४ वर्षों— लगभग सन् ७८६ ई० से ८५० ई०—तक राज्य किया था।

अपने शासनकालके ३२ वे वर्षमें उन्होंने महा सामन्त नारायणवर्माके पक्षमें खलीमपुर-शिलालेखको खुदवाया था। इस शिलालेखमें, लाट-देशके ब्राह्मणो द्वारा नन्न नारायण नामक देवताकी पूजाके निमित्त, पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्तिमेंसे चार गाँव दिये जानेकी बात लिखी है। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि, धर्मपाल-ने मालदाके समीपस्थ पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्तिके कुछ भागको,

जहाँ यह शिलालेख मिला है, अपने पुत्र त्रिभुवन-पालके द्वारा, अधिकृत कर लिया था, जो सम्भवतः अपने पिताके ही जीते जी मर गया था।

वारेन्द्र-पत्नीमें लिखा है कि, धर्मपालने, राधाके भट्टनारायणके पुत्र आदिज्ञान ओझाको, (*Adi Gyan Ojha*) धमसारा नामक गाँव, दान कर दिया था, जो सम्भवतः शाण्डिल्य-गोत्रज सन्तानहीन नारायणकी मृत्यु हो जानेके बाद ही वारेन्द्रमें आये थे। वे (आदिज्ञान) वारेन्द्रके शाण्डिल्य-गोत्रजोंके मुख्य पूर्वज थे। इसप देवपालके शिलालेखोंसे इन बातोंकी अच्छी पुष्टि होती है कि, धर्मपाल वर्णाश्रम धर्मका अनन्य सहायक था (पाचवाँ पद्य)। राखालदास बनर्जीने अपने "*The History of Bengal*" में लिखा है कि, धर्मपालने स्वर्णरेख नामक किसी ब्राह्मण को करज नामक एक गाँव दे डाला था। किन्तु यह स्वर्णरेख सुमेनकी दसवीं पीढ़ीमें उत्पन्न हुआ था, जो धमसारावाले आदिज्ञान ओझाके समकालीन था। दान लेनेवाले इन दोनों ब्राह्मणोंमें दो सौसे भी अधिक वर्षोंका अन्तर पड़ता है।

केशवभास्करने अपने शासनकालके २६वें वर्षमें एक शिव-मूर्त्तिकी स्थापना की थी तथा साधु-सन्तोंके लिए एक तालाब भी खुदवाया था। इसका एक शिलालेख "बोधगया"में मिला है।

धर्मपालकी मृत्युके बाद देवपाल उसकी गद्दीपर बैठा। अपने शिलालेखोंमें उसने स्पष्ट रूपसे खुदवा दिया है कि, 'उत्तरमें केदार (बदरी या बद्री), पूर्वमें गङ्गा-सागर-सङ्गम और पश्चिममें गोकर्णके बीचकी भूमिमें धर्मपालका अविध्वस्त (*unravaged*) एवं शान्तिमय राज्य था, जिस पैत्रिक सम्पत्तिका अब वह मालिक था।' धर्मपालके राज्यकी दक्षिण-सीमामें विन्ध्यपर्वत-श्रेणियाँ पायी गयी हैं। गरुड़-स्तम्भ-शिलालेखमें लिखा है कि, देवपालके शासनकालमें धर्मपाणि नामक व्यक्तिके मन्त्रित्वके समयतक इस राज्यका विस्तार इसी प्रकार था (पाँचवा पद्य)। धर्मपाणिके पोते केदार मिश्रके मन्त्रित्वमें देवपालने समुद्रतक दक्षिण भारतवर्ष (*Deccan*) को जीत लिया था। उसने हूणों, द्राविड़ों तथा उत्कल और गुर्जर-देशके राजाओंको बुरी तरह परास्त किया था।

नारायणपालके शिलालेखसे ज्ञात होता है कि, 'धर्मपालको वाकपाल नामक एक सहोदर छोटा भाई था। इस वाकपालके जयपाल नामक एक पुत्र था। देवपालकी आज्ञासे उसने उत्कल और प्राग्ज्योतिषपुरको जीत लिया था।'

अपने शासनकालके ३९ वें वर्षमें देवपालने नालन्दा-शिलालेखको खुदवाया था। उससे यह बात पक्की हो जाती है कि, देवपालने ४० वर्षों—लगभग सन ८५० से ८९० ई०—तक राज्य किया था।

देवपालके राज्य विस्तारकी उत्तरी सीमामें हिमालय पर्वत-श्रेणियाँ दक्षिणी सीमामें सेतुबन्ध, पश्चिमी सीमामें समुद्र और पूर्वी सीमामें क्षीरोद-समुद्र अर्थात् बङ्गालकी खाड़ी थी (मुंगेर-शिलालेखका पाँचवा पद्य)।

मुंगेर-स्थित ताम्रपत्रको उसने अपने शासनकालके ३३वें वर्षमें खुदवाया था। नालन्दा-शिलालेख उसके शासनकालके ३९वें वर्षका है। इस शिलालेखमें लिखा है कि, उसने अपने बनवाये हुए नालन्दा-मठके भगवान् बुद्धभट्टारककी पूजाके निमित्त, जावाके राजा बलपुत्रदेवको पाँच गाँव —अजपुरनयमें नन्दीवानक नदी (?) और मोणवलक, पालिपकानय (पुनपुन ?)में नाटिका, अचलनयनमें हस्तिग्राम (राजगृह-विषयान्तर्गत) और गया-विषयान्तर्गत कुमुद सुत्र-वीथीमें पलामक -दिये थे। वह बलपुत्रदेव समराग्र-वीरका पुत्र और राजा वीरवैरीमथनका प्रपौत्र था।

घोसवारा-शिलालेखमें लिखा है कि, वीरदेव नामक किसी बौद्ध-भिक्षुने देवपालके समय दो मन्दिर बनवाये थे; एक इन्द्रशिलापर्वतपर तथा दूसरा वज्रासनपर। उसकी राजधानी मुँगेरमें थी।

देवपालके इसी मुँगेर-स्थित शिलालेखसे हमें ज्ञात होता है कि, उसे (देवपालके) राज्यपाल नामक एक पुत्र था, जो सम्भवत. अपने पिताके जीते जी ही मर गया था। इस कारण जयपालका पुत्र विग्रहपाल ही, देवपालके बाद, राजा हुआ था। यह विग्रहपाल बड़ा प्रतापी राजा था। नारायणपालके शिलालेखके आधारपर यह कहा जा सकता है कि, इसने एक सुव्यवस्थित एवं शान्तिपूर्ण राज्य (*unravaged kingdom*)का शासन किया था (सातवाँ और आठवाँ पद्य)। किन्तु, इसके राजत्व-कालमे एक घनघोर युद्ध हुआ था, जिसमें यह विजयी हुआ था।

इसकी स्त्री लज्जादेवी हैहयवंशीय क्षत्राणी—सम्भवत कलचुरिके राजा कोकल्लकी कन्या—थी। राजा कोकल्लकी एक कन्या राष्ट्रकूटाधिपति कृष्ण द्वितीयको ब्याही गयी थी। राष्ट्रकूट-राज कृष्ण तृतीयके ताम्रपत्रमे लिखा है कि, कृष्ण द्वितीय गौड़ोंकी वश्यताका प्रचारक या उपदेशक था इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि, विग्रहपालका विवाह राजा कोकल्लकी दूसरी कन्याके साथ हुआ था, और, यही कारण था कि, वह अपने साढ़ू कृष्ण द्वितीयकी वश्यताका पक्षपाती था। सम्भव है, इसी कारण उस (विग्रहपाल)का राज्य बाहरी आक्रमणकारियोंकी लूट-पाटसे बचा था। कृष्ण द्वितीयने सन् ८७७ से ९१३ ई० तक राज्य किया था। कुछ चाँदीके सिक्के, घोसवाराके वज्रासन विहारमें, मिले थे, जिनमें एक राजाके मस्तकके ऊपर "श्री" और नीचे "विग्रह" नाम पढ़ा गया है। सिक्कोंकी पीठपर एक यज्ञकी वेदी है तथा उसके दोनों ओर होता और अध्वर्युके दो चिह्न अंकित हैं। *Epigraphia Indica* के खण्ड १, पृष्ठ १६७, में लिखा है कि, शिवदोनी (पश्चिमोत्तर प्रदेशका एक गाँव)से मालूम हुआ है कि, सन् ९०८ ई० में वहाँ विग्रहपालके सिक्के चलते थे। कनिंघम साहबका भी कथन है कि, वे सिक्के विग्रहपालके ही हैं और "श्री" शब्द "मगध"का द्योतक है। किन्तु मुझे विश्वास नहीं होता कि, वे सिक्के विग्रहपालके ही हैं। कारण, वह बौद्ध था। इसके अतिरिक्त, कृष्ण द्वितीयने सन् ९१३ तक राज्य किया था, जिससे साफ प्रकट होता है कि, विग्रहपालने सन् ९०२ ई० तक राज्य किया था। इसमे कोई सन्देह नहीं कि, अपने बुढ़ापेमें अपना सारा राज्य अपने पुत्र नारायणपालको सौंपकर आप उसने वानप्रस्थाश्रम ग्रहण किया था, इसलिये उसका १२ वर्षोंतक राज्य करना असम्भव प्रतीत नहीं होता। गरुड़स्तम्भ-लेखमें देवपालके बाद किसी सुरपालका नाम मिला है। ऐतिहासिकोंका विचार है कि, विग्रहपालका ही दूसरा नाम सुरपाल था।

अपने पिताकी मृत्युके बाद नारायणपाल मगधके सिंहासनपर बैठा। गरुड़स्तम्भ-लेखके गुरव या गौरव मिश्र एवं नारायणपालके शिलालेखके भट्टगौरव उसके राजमन्त्री थे, जिनकी तुलना परशुरामसे की गयी है। वे बड़े शूरवीर थे। किन्तु नारायणपालके शिलालेखके "विभक्तश्रीय" शब्दसे प्रकट होता है कि, जिस तरह परशुरामने क्षत्रियोंका सर्वनाश किया था और तब भी कुछ क्षत्रिय बच गये थे, उसी प्रकार सम्भवत नारायणपालके कुछ राज्यहितैषी उससे अलग हो गये थे। "विभक्तश्री" शब्द महीपाल प्रथमके अठगढ़-शिलालेखमें भी आया है। कलचुरि-राजा सोमदेव (सन् १०७९ ई०) के एक शिलालेखमें लिखा है कि, 'उस (सोमदेव)से पूर्वकी ६ ठी पीढ़ीके राजा गुणाम्भोधिने गौड़पर विजय पायी।' इससे जान पड़ता है कि, गुणाम्भोधिने सम्भवत. नारायणपालसे मिथिला-प्रदेशको छीन लिया था। एक

बात और है। वनगढ़में किसी कम्बोज-वंशीय राजाका सन् ९६६ ई० (शक संवत् ८८८)का एक स्तम्भ-लेख मिला है, जो इन दिनों महाराजा दिनाजपुरके बागीचेमें है। इसमें लिखा है कि, वह गौड़-देशका अधिपति (गौड़पति) था। इससे यह मालूम होता है कि, गौड़-राज्यके इस भागको कम्बोज-राजने जीत लिया था, जिसने इस शिलालेखको, सन ९६६ ई०के पूर्व, नारायणपालके शासनकालमें, खुदवाया था। हो सकता है, इन्हीं कारणोंसे शिलालेखोंमें 'विभक्त-श्री' खुदा मिलता हो।

नारायणपालने अपने शासनकालके १७ वें वर्षमें, अपनी राजधानी मुँगेरसे, इस शिलालेखको खुदवाया था, किन्तु शासनकालके ५४वें वर्षमें, उद्दण्डपुरीके एक व्यापारीने पार्वती देवीकी एक पीतलकी मूर्तिकी स्थापना की। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि, उसने ५४ वर्षों—सन् ९०२ से ९५६ ई०तक राज्य किया था। शिलालेख-सहित गरुड़-स्तम्भ उसके मन्त्री भट्टगुरु द्वारा संस्थापित था। वारेन्द्रके राजवंशी, कोच, मेच और पालीय, कम्बोज-वंशकी ही शाखाएँ थे।

अपने पिता नारायणपालके बाद राजपाल सिंहासनपर बैठा। वनगढ़ शिलालेखको देखकर मुझे तो जान पड़ता है कि, नारायणपालके बाद जिस राज्यपर उसने अधिकार जमाया था, वह उसके हाथमें बहुत सुरक्षित था और उसने बहुतसे तालाब और मन्दिर खुदवाये तथा बनवाये थे। उस (राजपाल)के शासनकालके २४वें वर्षका एक शिलालेख नालन्दाके ध्वंसावशेषोंमें मिला है। इसी कारण मेरी यह धारणा होती है कि, उसने सन् ९७० ई० तक राज्य किया था। उसने राष्ट्रकूटाधिपति तुङ्गदेव जगत्तुङ्ग द्वितीयकी कन्या भाग्यदेवीके साथ विवाह किया था।

उसके बाद उसका पुत्र गोपाल द्वितीय गद्दीपर बैठा। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिताकी एक प्रति, उसके शासनकालके १५वें वर्षमें, विक्रमशिला--विहारमें, लिखी गयी थी। अतः उसने सन् ९९५ ई०तक राज्य किया था।

उसके शासनकालके प्रथम वर्षमें ही, नालन्दामें, वागीश्वरीकी एक मूर्त्ति स्थापित की गयी थी। उसीके शासनकालमें शक्रसेन नामक किसी व्यक्तिने बोधगयामें बुद्ध भगवानकी एक मूर्तिकी स्थापना की थी।

गोपाल द्वितीयकी मृत्युके बाद उसका पुत्र विग्रहपाल द्वितीय राजा हुआ। 'पञ्चरक्षा' ग्रन्थकी एक प्रति उसके राज्य-कालके २६वें वर्षमें लिखी गयी थी। इससे उसका सन् १०२१ ई०तक राज्य करना प्रमाणित होता है। वनगढ़-शिलालेखमें उसे 'गतिशील चन्द्र' कहा गया है, जिसका यही अर्थ लगाया जा सकता है कि, उसका राज्य चन्द्रमाकी भाँति घटता गया। उसकी सेना सह्याद्रिसे हिमालय तक घूमती-फिरती थी। संवत् १०७५ अर्थात् सन् १०१९ ई० की 'तीरभुक्ति' में लिखित रामायणकी एक प्रतिसे विदित होता है कि, कलचुरि या चेदि-वंशका गांगेयदेव —जो कर्णदेवका पिता था,—उस समय गौड़ध्वज (गौड़ाधिपति) कहलाता था। अतः सम्भव है, सन १०१९ ई० के पहले उसने तीरभुक्ति या मिथिलाको विग्रहपाल द्वितीयके हाथोंसे छीन लिया था। उन राज्योंका उद्धार, उसके पुत्र महीपाल प्रथमने, पीछे किया।

विग्रहपाल द्वितीयकी मृत्युके बाद महीपाल द्वितीय अपने पिताके ध्वस्त राज्यका स्वामी बना। सम्भवतः उत्तर-राढ़में, जहाँ वह रहता था—वंगका राजा मनोनीत हुआ था। उन दिनों सम्पूर्ण वंग कई छोटे-छोटे राज्योंमें बँटा हुआ था। रणशूर दक्षिण-राढ़का, धर्मपाल दण्डभुक्तिका तथा गोविन्दचन्द्र वंगाल (गंगा नदीके मुहाने परकी भूमि)का राजा था। राजेन्द्र चोलके तिरुमालय शिलालेखमें लिखा है कि, 'धर्मपालको युद्धमें मार कर उसने दण्डभुक्ति अधिकृत कर ली; दक्षिण राढ़को रण-

शूरने और बंगालको गोविन्दचन्द्रसे छीन लिया। गोविन्दचन्द्र युद्ध-क्षेत्रसे भाग खड़ा हुआ। उत्तरराढ़को महीपालसे, उसके हाथियोंने और स्त्रियोंसहित, ले लिया।' इस शिलालेखकी खोदाई राजेन्द्रचोलके शासनकालके १२वें वर्षमें हुई थी। इससे हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि, जिस राजधानीमें महीपालका राज्याभिषेक हुआ था, वह उत्तरराढ़में ही कहीं थी। विग्रहपाल द्वितीय इतना कायर और शक्तिहीन था कि, वह सम्पूर्ण बंगको अपनी छत्रच्छायामें सुरक्षित न रख सका। महीपाल अपनी स्त्रिया (राजपरिवारकी महिलाओं)की रक्षा करनेमें असमर्थ रहा। इस प्रकार महीपाल सन् १०२३ ई० में—लगभग अपने राज्यकालके तीसरे और राजेन्द्रचोलके १२वें वर्षमें—पराजित हुआ था। उसने पूर्वीय बंगालके समतट नामक स्थानमें—जो उसके अधीन था—भाग कर शरण ली थी। वहीं—उसके शासनकालके उसी वर्ष, लोकदत्त नामक किसी सौदागरने नारायणकी मूर्तिकी स्थापना की थी। शासनकालके इसी पाँचवें वर्ष "अष्टसहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता" नामक पुस्तककी एक प्रति लिखी गयी थी। छठे वर्षमें नालन्दाके कल्याणचिन्तामणि नामक एक व्यक्तिने इसी पुस्तककी एक प्रतिकी नकल की थी। इससे जान पड़ता है कि सम्भवत इस समयतक महीपालने मगधका पुनरुद्धार कर लिया था। ११वें वर्षमें, बोधगयामें, भगवान् बुद्धकी मूर्त्ति सस्थापित हुई थी। बालादित्यके नालन्दा-शिला-लेखसे विदित होता है कि, इसी साल बालादित्य नामक किसी व्यक्ति द्वारा नालन्दा-महाविहार की मरम्मत की गयी थी।

आर्य खेमीश्वर (क्षेमीश्वर ?) द्वारा लिखित चण्डकौशिक नामक नाटकमें लिखा है कि, कर्णाटकके किसी राजाने गौड़पर आक्रमण किया था, किन्तु महीपाल द्वारा पराजित हो गया। जान पड़ता है, कर्णाटकका वह राजा राजेन्द्रचोल प्रथम था। किन्तु, वह महीपाल द्वारा पराजित नहीं हुआ था—उसने तो जीते हुए प्रदेशोंको छोड़ दिया था। राजेन्द्रचोल द्वारा पराजित होकर महीपाल समतट चला गया था, और, कुछ दिनों बाद, उसने उत्तरराढ़ और बंगके अन्यान्य राज्योंका पुनरुद्धार किया था। सम्भवतः यह घटना भी उपर्युक्त नाटकमें वर्णित है, क्योंकि वह इसी विजयके अवसरपर लिखा गया था। उसके बनगढ़ शिलालेखसे पता चलता है कि, महीपालने, अपनी राजधानी विलासपुर (?)से, पुण्ड्रवर्द्धनभुक्ति-अन्तर्गत कुरतपल्लिक नामक एक गाँव, एक ब्राह्मणको, दान-स्वरूप दे डाला था। दानपत्रका सवत् कट गया है, उस जगहका पत्थर टूट गया है। अत सवत्का पता नहीं चलता।

बौद्धोंके मुख्य तीर्थ-स्थान सारनाथमें एक शिलालेख मिला है, जो सवत् १०८३ या सन् १०२६ ई० में लिखा गया जान पड़ता है। उसमें लिखा है कि, स्थिरपाल और वसन्तपालने, इसी वर्ष, सारनाथमें गन्धकुटी बनवायी थी। गौड़ाधिपति महीपालका नाम तो उपर्युक्त शिलालेखमें अवश्य मिलता है; किन्तु उसके नामके पूर्वमे "श्री" शब्द नहीं है। सम्भवतः इसीके आधारपर ऐतिहासिकोंका मत है कि, उसकी मृत्यु सन १०२६के पूर्व ही हुई थी। हो सकता है, इसी समय वह उत्तरराढ़से भागकर समतट चला गया हो। अत. तब वह गौड़-सिंहासनपर आसीन नहीं था, और, इसी कारण, उसके नामके पहले "श्री" शब्द नहीं लगाया गया था। जो हो, इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं कि, वह कहीं-न-कहीं, सन् १०२६ ई० में, अवश्य राज्य करता रहा होगा।

मुजफ्फरपुर जिलेके इमादपुर नामक स्थान (गाँव) में कुछ पीतलकी मूर्त्तियाँ मिली हैं। यह मूर्त्तियाँ उस महीपालके शासनकालके ४८ वें वर्षमें सकल्पित की गयी

था। अत कहा जा सकता है कि, उसने ४८ वर्षों—सन् १०२१ से १०६९ ई०—तक राज्य किया था। बनगढ़-शिलालेखसे पता चलता है कि, उसने अपने पिताके सभी विजित प्रदेशोंको पुनरधिकृत किया था।

महीपालकी मृत्युके बाद उसका पुत्र नयपाल गौड़का राजा हुआ। विग्रहपाल तृतीयके आमगाँछी-शिलालेख में लिखा है कि, "अपने महासामन्तोंके मस्तकपर पैर रखकर नयपालने, उदयाचल (पूर्व-स्थित पर्वत, जिसके पृष्ठ भागसे सूर्यका उदय होना माना जाता है) से प्रकटीभूत, सूर्यकी भाँति, जन्म लिया।" इससे यह कहा जा सकता है कि, नयपालके जन्मके पहले ही राज्यके सभी विजित प्रदेश पुनरधिकृत कर लिये गये थे; और, उसने सम्पूर्ण एवं अविभाजित गौड-राज्यको, अपने पिताके बाद, प्राप्त किया था।

कृष्णद्वारिका-शिलालेखमें, जो गयामें मिला है, कहा गया है कि, नयपालके शासनकालके १५ वें वर्षमें, विश्वादित्यने, गयामें, एक मन्दिर बनवाया था और उसमें जनार्दनकी मूर्त्ति स्थापित की थी। अत मेरा विचार है कि, उसने १५ वर्षों—सन १०६९ से १०८४ ई०—तक राज्य किया था।※

चक्रपाणिदत्तके पिता नारायण, जिसने "चक्रदत्त" नामक एक आयुर्वेदिक ग्रन्थ लिखा था, नयपाल (चक्रदत्त) के भोजनालयका प्रधान कार्य करता था।

नयपालके बाद विग्रहपाल तृतीय सिंहासनारूढ़ हुआ था। उसने शासनकालमें चेदिवंशीय राजा कर्णदेवने गौड-राज्यपर आक्रमण किया था; किन्तु पराजित होनेपर अपनी कन्याका विवाह उसके साथ कर दिया था। उसके शासनकालके पाँचवें वर्षमें विश्वादित्यने दो मन्दिर बनवाये और उनमें वटेश और महेश्वरकी मूर्तियाँ स्थापित कीं। शासनकालके १३ वें वर्षमें उसने पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्तिके एक दरिद्र ब्राह्मणके नाम एक दानपत्र भी खुदवाया था। उसमें लिखा है कि, वह वर्णाश्रम धर्मका समर्थक था। इसी १३ वें सालमें, साहा नामक एक लोहारके पुत्र देहेक [*Dehela*] ने विहारमें भगवान् बुद्धकी एक मूर्त्ति प्रतिष्ठित की थी। इससे प्रकट होता है कि, उसने १३ वर्षों—सन् १०८४ से १०९७ ई०—तक राज्य किया था।

विग्रहपाल तृतीयके तीन पुत्र थे—महीपाल द्वितीय, शूरपाल और रामपाल। रामपालके सबसे छोटे पुत्र मदनपालने अपने शिलालेखमें—जो मनहली नामक स्थानमें मिला है—कहा है कि, विग्रहपालका लब्धप्रतिष्ठ पुत्र महीपाल द्वितीय, अपने पिताकी मृत्युके पहले ही, मर गया था, किन्तु मदनपालके शासनकालमें सन्ध्याकर नन्दीकृत "रामचरित" नामक काव्यग्रन्थमें लिखा है कि, "अपने पिताके सिंहासनपर उसका राज्याभिषेक हुआ था। उसने अपने दोनों भाइयों—शूरपाल और रामपाल—को कैद कर लिया था। अपनी प्रजाके प्रति वह बड़ा ही निर्दयतापूर्ण व्यवहार किया करता था। इसके फलस्वरूप कैवर्त-जातीय दिव्य या दिव्वकके अधिनायकत्वमें जनताने राज-विद्रोह मचाया और महीपाल द्वितीयको मारकर, उसके भाई रुद्रकके पुत्र भीमको, वारेन्द्रका राजा मनोनीत किया।" "रामचरित" के इस कथानकपर वर्तमान ऐतिहासिक विश्वास भी करते हैं। इस पद्यमय ग्रन्थकी रचना, मदनपालको प्रसन्न करनेके अभिप्रायसे, की गयी थी, जिसके शिलालेखमें लिखा है कि, महीपाल अपने पिताके जीते जी ही मर चुका था (त्रयोदश पद्य)। अपने पिताके

※ विक्रमशिला-विहारके बौद्ध पण्डित दीपङ्कर श्रीज्ञान, तिब्बत जाते वक्त, नेपालसे १०४१ ई० में, राजा नयपालको पत्र लिखा था, जो अब भी तिब्बतीय भाषामें वर्तमान है। इसलिये १०४१ ई० नयपालका राज्य करना निश्चित है।—राहुल सांकृत्यायन

बाद शूरपाल और शूरपालके बाद रामपाल राजा हुआ था। महाली-शिलालेखके १४ वें पद्यसे पता चलता है कि, जिस प्रकार देवोंके अधिपति इन्द्रको असुरोंने आमन्त्रित किया था, उसी प्रकार राजा रामपाल भी दिव्य द्वारा, युद्धमें लड़नेके निमित्त, आमन्त्रित किया गया था, और, जिस तरह इन्द्रने असुरों द्वारा पराजित या सिंहासनच्युत हो जानेपर भी, अपना राज्य प्राप्त किया था, उसी तरह रामपाल भी दिव्य द्वारा राज्यच्युत कर दिया गया था, किन्तु, कुछ दिनों बाद, उसने अपना राज्य प्राप्त कर लिया था। विख्यात मन्त्री और तत्पश्चात् कामरूपके राजा वैद्यदेवने, अपने कमौली शिलालेखमें, कहा है कि, "विग्रहपालको चन्द्रमाके जैसा रामपाल" नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार रामचन्द्रने समुद्र लाँघकर रावणको मारा और जनकात्मजाका उद्धार किया, उसी प्रकार युद्ध-रूप समुद्रको पार कर उसने भीमको मारा और अपनी जन्मभूमि वारेन्द्रका उद्धार किया।" इससे तो साफ मालूम होता है कि, जिस प्रकार रामसे जानकीको रावणने अपहृत कर लिया था, उसी प्रकार दिव्यने, रामपालके राज्यको अधिकृत कर लिया था; जिस प्रकार रामचन्द्रने रावणको मारकर जनक-तनयाका उद्धार किया था, उसी प्रकार रामपालने भीमको मारकर अपनी जन्मभूमि (जनक-भूमि) का उद्धार किया था। इन दो शिलालेखोंसे यह सहजमें ही जाना जा सकता है कि, वारेन्द्रपर दिव्यने कब्जा कर लिया था, किन्तु रामपालने फिर स्वयं उसे अधिकृत कर लिया था। पालवंशीय राजाके एक प्रधान अमात्य और पुत्रके इन दो शिलालेखोंको अचिन्त्य समझ कर हम "रामचरित"की इस कथापर विश्वास नहीं कर सकते। वर्तमान ऐतिहासिकोंका कथन है कि, ग्रन्थकर्त्ता पालराजाके एक मन्त्रीका पुत्र था; किन्तु ऐसा समझना भारी भूल है। सन्ध्याकर नन्दीने लिखा है कि, उसका पिता एक मन्त्री (सन्धिविग्रहिक] था, किन्तु उसने यह स्पष्ट नहीं किया है कि, वह किसका मन्त्री था। "रामचरित"से साफ मालूम होता है कि, सम्भवतः वह भीमका ही मन्त्री था। ग्रन्थ मदनपालकी प्रशंसामें रचा गया था। यही कारण है कि, कविको मदनपालके शत्रुके सम्बन्धकी बातें लिखनेका साहस नहीं हुआ। अतः ऐसी दशामें "रामचरित"की बातें विश्वसनीय नहीं हो सकतीं। अब, इसलिये, यही निश्चय करना युक्तिसंगत जान पड़ता है कि, महीपाल द्वितीयकी मृत्यु, उसके पिताकी मृत्युके पूर्वमें ही, हुई थी। उसके भतीजे मदनपालके शिलालेखके अवशेष पद्यसे पता चलता है कि, वह [महीपाल द्वितीय] अपने साधु-स्वभाव एवं सदाचारिताके लिये आदर्श पुरुष समझा जाता था—इस दृष्टिसे उसकी बड़ी ख्याति थी।

इस प्रकार विग्रहपाल तृतीयके बाद उसका द्वितीय पुत्र शूरपाल राजा हुआ था, जिसने, मेरे विचारसे, एक वर्षसे अधिक दिनोंतक राज्य नहीं किया था। मदनपालके शिलालेखके अनुसार शूरपालके शासनकालमें अकाल नहीं पड़ा—रामपालके समयसे वारेन्द्रपर दिव्य या दिव्वकका अधिकार हो गया था, किन्तु पड़ोसी राजाओंकी सहायतासे उसने इसे पुनः प्राप्त कर लिया था।

रामपालने अधिक दिनोंतक राज्य किया था। उसके शासनकालके ४२ वें वर्षमें स्थापित एक मूर्त्ति मिली है। इसलिये उसका ४२ वर्षों—सन् १०६८ से ११४० ई०—तक राज्य करना निर्धारित होता है।

रामपालके बाद उसका पुत्र कुमारपाल राज्यका अधिकारी हुआ। उसके मन्त्री—कामरूपके तत्कालीन राजा—वैद्यदेवके कमौली-शिलालेखमें लिखा है कि, कुमारपालके शासनकालमें, वह अपने राजाकी आज्ञासे, जलसेना (*naval power*)के साथ, दक्षिण वंगके

एक युद्धमें लड़नेके लिये, भेजा गया था। किन्तु उसे सफलता नहीं मिली--वह निष्प्रभ चन्द्रमाकी भाँति हो गया। कामरूपमें, वहाँके राजा तिग्मके साथ लड़नेके लिये, वैद्यदेव भेजा गया था। युद्धमें तिग्मके पराजित हो जानेपर कामरूपके सिंहासनपर वैद्यदेवका राज्याभिषेक हुआ था। कुमारपाल बहुत थोड़े दिनों—लगभग दो वर्षों (सन् ११४० से ११४२ ई०) —तक ही राज्य कर पाया था।

अपने पिता कुमारपालके बाद गोपाल तृतीय राजा हुआ। मनहाली-शिलालेखसे विदित होता है कि, गोपालकी मृत्यु तभी हो गयी थी, जब वह अपनी धायकी ही गोदमें था। "रामचरित"के अनुसार वह अपने किसी शत्रुके हाथों वध कर डाला गया था। उसके प्रियभाग सैनिकोंमेंसे मिजुम नामक एक सैनिकके शिलालेखमें लिखा है कि, उसकी स्वाभाविक मृत्यु हुई थी। सम्भवतः अपने राज्याभिषेकके कुछ दिनोंके बाद उसकी मृत्यु हो गयी थी। इससे तो यही सिद्ध होता है कि, उस (गोपाल तृतीय) ने सन् ११४२ ई० के कुछ ही महीनोंतक राज्य किया था।

गोपाल तृतीयकी मृत्युके बाद उसका चाचा मदनपाल सिंहासनपर बैठा। उसके शासनकालके तीसरे वर्षमें, षष्ठी देवीकी एक प्रतिमा, विहारमें, स्थापित की गयी थी। आठवें साल उसने अपनी राजधानी रामावतीमें एक ताम्रलेख दान किया था, जो मनहालीमें मिला है। लोगोंका अनुमान है कि, रामावतीको रामपालने ही बनवाया था। इन दिनों उसका नाम बदलकर "अमृती" हो गया है। उन्नीसवें वर्षमें उसने एक दूसरी मूर्त्तिकी स्थापना की थी, जो मुँगेर जिलेके जयनगर नामक गाँवमें मिली है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं रह गया कि, उसने उन्नीस वर्षों—सन् ११४२ से ११६१ ई०—तक राज्य किया था।

मदनपालके बाद उसका पुत्र गोविन्दपाल गद्दीपर बैठा। गयाके पाषाण-शिलालेखसे उसके राज्याभिषेकके समयका ठीक ठीक पता चलता है। कारण, उसके शासनकालके चौथे वर्ष—सं० १२३२ या सन् ११६५ ई० में—यह शिलालेख लिखा गया था। यदि इस सन् ११६५ ई० को उसके शासनकालका चौथा साल मान लिया जाय, तो पहला साल सन् ११६१ ई० होता है। गयास्थित गदाधरके मन्दिरमें खुदे हुए एक पाषाण-शिलालेखसे पता चलता है कि, उसके (गोविन्दपाल) के शासनकालके चौदहवें वर्ष--सन् ११७५ ई० में गया उसके राज्यान्तर्गत था। अठारहवें वर्षमें "अष्टसहस्रिका प्रज्ञापारमिता" नामक ग्रन्थकी एक प्रति लिखी गयी थी, जो इन दिनों एशियाटिक सोसायटीकी लाइब्रेरीमें सुरक्षित है। चौबीसवें वर्षमें "अमरकोष" लिखा गया था। सैंतीसवें वर्षमें "गुह्यवली"की एक प्रति और अड़तीसवें वर्षके ज्येष्ठ मासमें "पंचकर"की एक प्रति लिखी गयी थी। उनतालीसवें वर्षके भाद्रपदमें "योगरत्नमाला"की एक प्रति लिखी गयी थी। यह सभी प्राचीन ग्रन्थ कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटीकी लाइब्रेरीमें रखे हुए हैं। इन तिथियोंसे हमें मालूम होता है कि, उसके शासनकालके उनतालीसवें वर्षतक गया उसके राज्यमें था। अड़तीसवें वर्ष अर्थात् सन् ११९९ ई० के ज्येष्ठ मासमें सम्भवतः गयापर बख्तियार खिलजीका अधिकार हो गया। इस घटनाके बाद ही वह ग्रन्थ समाप्त हुआ था। यही कारण है कि, गोविन्दपालके खोये हुए राज्यका उल्लेख इस ग्रन्थमें आया। किन्तु सम्भवतः अपने शासनकालके ३९ वें वर्षमें गयाको, कुछ दिनोंके लिये, उसने पुनरधिकृत कर लिया हो और भाद्रतक इसपर अधिकार जमाये रहा हो। इसी लिये ग्रन्थमें उसके राज्यका उल्लेख पाया जाता है। इन प्रमाणों और घटनाओंके बलपर कहा जा सकता है कि, उसने ३९ वर्षों—सन् ११६१ से १२०० ई०—

कम-से-कम भाद्र—तक राज्य किया था। सम्भवत: वह इसी साल (सन् १२०० ई० में) उद्दण्डपुर-संग्राममें जूझ मरा था। इन्हीं दिनों बोधगयामें राजा लक्ष्मण-सेनका आधिपत्य हो गया था। सन् १२०० ई० से गौड़ और वंग प्रदेशोंपर मुसलमानोंका आधिपत्य हो गया।

पालोंका वंशवृक्ष—

	वर्ष	सन् ई० तक
१ गोपाल प्रथम		सन् ७८६ ई० तक
२ धर्मपाल	६४ वर्ष	,, ८५० ,,
३ देवपाल	४० ,,	,, ८९० ,,
४ विग्रहपाल प्रथम	११ ,,	,, ९०२ ,,
५ नारायणपाल	५४ ,,	,, ९५६ ,,
६ राजपाल	२४ ,,	,, ९८० ,,
७ गोपाल द्वितीय	१५ ,,	,, ९९५ ,,
८ विग्रहपाल द्वितीय	२६ ,,	,, १०२१ ,,
९ महीपाल प्रथम	४८ ,,	,, १०६९ ,,
१० नयपाल	१५ ,,	,, १०८४ ,,
११ विग्रहपाल तृतीय	१३ ,,	,, १०९७ ,,
१२ शूरपाल	१ ,,	,, १०९८ ,,
१३ रामपाल	४२ ,,	,, ११४० ,,
१४ कुमारपाल	२ ,,	,, ११४२ ,,
१५ गोपाल तृतीय	कुछ महीनोंतक	,, ११४२ ,,
१६ मदनपाल	१९ वर्ष	,, ११६१ ,,
१७ गोविन्दपाल	३९ ,,	,, १२०० ,,

कार्लाकी गुफाएँ

पं० आनन्दराव जोशी

संसारके इतिहासमें आजतक अनेक राष्ट्रोंका उत्थान और पतन हुआ है। प्राचीन कालसे आज-तक अनेक संस्कृतियाँ इस संसारमें पैदा हुईं; और, कुछ समयके बाद वे सर्वभक्षक कालके विशाल उदरमें विलीन हो गयीं—यहाँतक कि, सदियोंसे उनका नामो-निशान भी मिट गया है। संसारके इतिहासमें ऐसे इने-गिने ही राष्ट्र और संस्कृतियाँ हैं, जिन्होंने अपना अस्तित्व, प्राचीन कालसे इस समयतक, अक्षुण्ण बना रखा है। हमारा भारत उन्हीं इने गिने राष्ट्रोंमेंसे है, जिसने किसी समय तमाम ज्ञात संसारपर अपना प्रभाव डाला था। भारतीय संस्कृतिके ध्येय—उसके उच्च आदर्श—आधिभौतिक न होकर आध्यात्मिक है, यह सर्व-विश्रुत है। भारतके प्राचीन इतिहासको हृदयङ्गम करते समय उसकी यह सांस्कृतिक विशेषता अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये; क्योंकि, यह सांस्कृतिक विशेषता, भारतीयोंके जीवनमें, अनेक रूपोंसे प्रकट हुई है। प्राचीन भारतीय शिल्पकलाका इस आ-ध्यात्मिक विशेषतासे अटूट सम्बन्ध रहा है, जिसकी झलक हमें तत्कालीन मन्दिरों, गुफाओं आदि स्मृति-चिह्नोंके रूपमें इस समय दिखायी देती है। प्राचीन कालमें भारतीय शिल्पकला तथा खोदाईकी कारीगरी बहुत ही ऊँचे दर्जेको पहुँची हुई थी, यह बात अनेक सुप्रसिद्ध यूरोपियन स्थापत्य-विशारदों (इंजिनियरों) तथा पुरातत्त्व-वेत्ताओंने मुक्त कंठसे स्वीकार कर ली है। भारतमें जो

बुद्धकालीन गुफाएँ इस समय मौजूद हैं, उनमें 'कार्लाकी गुफाएँ' अति उत्कृष्ट, दर्शनीय तथा अच्छी हालतमें हैं। इस लेखमें इन्हीं गुफाओंके विषयमें कुछ ज्ञातव्य बातें, संक्षेपमें, दी जाती हैं।

पश्चिमी भारतकी ये सुप्रसिद्ध गुफाएँ "कार्ला" (मराठी नाम 'कार्ले") नामक एक छोटेसे ग्रामके निकट, एक ऊँचा चट्टानपर, खोदी गयी हैं, और, इसी ग्रामके सान्निध्यके कारण "कार्लाकी गुफाएँ" नामसे * मशहूर हैं। यह ग्राम पूना जिलेकी "मावल" तहसीलमें, बम्बई-पूना-मार्गपर १८°४५' उत्तर-अक्षांश और ७३°२६' पूर्व रेखांशपर स्थित है। इसका दूसरा नाम 'विहार-गाँव' है। पूनेसे यह ग्राम ३४ मील दूर है। इन गुफाओंके दर्शकोंको जी० आई० पी० रेलवेके 'मलवली' नामक स्टेशनपर उतरना सुविधाजनक होता है। यह बम्बई पूना-रेलमार्गपर एक छोटासा स्टेशन है, जो बम्बईसे ८५ मील दूर है। रंगीन चित्रोंका जगद्विख्यात 'रविवर्मा प्रेस" भी इसी स्टेशनके पास है। यहाँसे "कार्ला" ग्राम दो मील तथा गुफाएँ २॥ मील हैं। कुछ वर्ष पूर्व यह स्टेशन "कार्ला" नामसे ही मशहूर था। किन्तु, सुना जाता है कि, जी० आई० पी० के "कुर्ला" तथा "कार्ला" इन दो स्टेशनोंके अंगरेजी हिज्जे लगभग समान होनेके कारण रेलवेके व्यवहारमें बड़ी गड़बड़ होने लगी, जिसके फल स्वरूप "कार्ला" स्टेशन के नाममें परिवर्तन होकर वह 'मलवली' (*Malvali*) रखा गया। 'मलवली'के पहले, बम्बईसे ८० मीलपर, "लोनावला" (*Lonavala*) नामक एक बड़ा स्टेशन है। यह स्थान स्वास्थ्यप्रद जलवायुके लिये प्रसिद्ध है। यहाँसे कार्लाकी गुफाएँ ५ मील हैं, और, कुछ लोग इसी स्टेशनपर उतरकर इन गुफाओंके दर्शन करते हैं। सम्प्रति बम्बईसे लोनावालाका, तीसरे दर्जेका रेल किराया १॥=) है। दक्षिण-भारतके दर्शकोंको पूना मार्गसे जानेमें सुभीता है। उत्तर तथा पूर्व भारतके लोगोंको प्रथम जी० आई० पी०के "कल्याण" जक्शनपर उतरकर बम्बई पूनाकी गाड़ीमें बैठना पड़ता है।

"मलवली"से कार्लाकी गुफाएँ २॥ मील दूर हैं, यह ऊपर बताया जा चुका है। स्टेशनसे ठेठ गुफाओंतक बैलगाड़ीका रास्ता बनाया गया है। स्टेशनपर किरायेकी बैलगाड़ियाँ मिलती हैं, जो सस्ते दाममें गुफाओंतक पहुँचा देती हैं। कार्लाकी ये गुफाएँ, सह्याद्रि-पर्वतश्रेणीकी एक विशाल चट्टानमें, ४०० फुटकी ऊँचाईपर खोदी गयी हैं। गुफाएँ अपने सौन्दर्य, भव्यता तथा विशालताके लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। "एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका"में उनका वर्णन निम्नलिखित शब्दोंमें किया गया है—

'The great cave of Karli, excavated at a time when the style was in its greatest purity and splendidly preserved, is the largest and finest Chaitya-cave in India."

"कार्लाकी प्रसिद्ध गुफा भारतकी एक अति विशाल एवं दर्शनीय चैत्य-गुहा है जो शिल्पकलाकी अति शुद्धावस्थामें खोदी गयी थी और अबतक

* मराठी-भाषा-भाषियोंमें ये गुफाएँ कार्ल्याची लेणी नामसे सम्बोधित होती हैं। 'लेणी' शब्द 'लेणे"का बहुवचन है। यह शब्द संस्कृतके "लयन (गृह)" शब्दसे व्युत्पन्न हुआ है, जिससे बादमें 'लेणे"का अर्थ "चट्टानमें खोदा हुआ घर" हुआ। —लेखक। सिंहलद्वीपमें भी "लेना" कहते हैं। —राहुल सांकृत्यायन।

बहुत ही अच्छी हालतमें मौजूद है।" फर्गुसन साहब अपने "पूर्वीय तथा भारतीय शिल्पकलाके इतिहास" (*History of Eastern and Indian Architecture*)में लिखते हैं—

"*It is certainly the largest as well as the most complete Chaitya-cave hitherto discovered in India and was excavated at a time when the style was in its greatest purity.*"

"भारतमें आजतक जितनी चैत्य गुहाएँ पायी गयी है, उनमे यह चैत्य-गुहा निस्सन्देह बहुत बडी एवम् सम्पूर्ण है, जो शिल्पकलाकी अति शुद्धावस्थामे खोदा गया थी।"

रचना-कौशलके सम्बन्धमे वे एक जगह लिखते है—

"*But the proportions of such parts as remain are so good and the effect of the whole so pleasing that there can be little hesitation in ascribing to such a design a tolerably high rank among architectural compositions.*"

'किन्तु उसके जिन हिस्सोंके आज हमे दर्शन होते है, उनका प्रमाणबद्धता इतनी उत्कृष्ट है तथा यह सब दृश्य इतना सुहावना है कि, उसे शिल्पकला की दृष्टिसे ऊँचे दर्जेका स्थान आसानीसे दिया जा सकता है।"

दर्शक जब चट्टानकी चढाईका रास्ता चलकर गुफाओंके निकट आता है, तब उसे सबसे पहले एक ३२ पहलूवाले सिंहस्तम्भका दर्शन होता है। यह स्तम्भ काले पत्थरसे बनाया गया है; और, इसके माथेपर चारो ओर सिंहकी चार मूर्त्तियाँ खोदी हुई हैं। इन मूर्त्तियोंकी खोदाईकी एक विशेषता यह है कि, उनके पिछले भाग अलग न होकर परस्पर मिले-जुले है। सिंहस्तम्भके आगे "एकवीरा" देवी (परशुरामकी माता रेणुका)का प्राचीन मन्दिर है। "एकवीरा" नामकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें यह अनुमान किया गया है कि, द्रविड-देशके "अक्का अवेयार" (पूजनीय माता) शब्दसे यह बना होगा। किन्तु कोई उसका सम्बन्ध परशुरामकी मातासे - यानी जिसने परशुराम जैसे एकमात्र वीरको पैदा किया, उस "एकवीरा"से लगाते हैं। समुद्रके किनारेके धीवरोकी वह कुलदेवता है और इस कारण वे लोग उसे वडी भक्तिसे पूजते हैं। यह मन्दिर, बौद्ध-धर्मियोंने, ध्यान-साधनाके लिये, बनाया था, और, इसमें देवीकी स्थापना बादमें हुई है। इस मन्दिरके घण्टेपर जो नाम खोदा हुआ है, उससे यह ज्ञात होता है कि, 'ठाना' (मराठी नाम 'ठाणे')के जीवन-पदभ" नामक धीवरने यह मन्दिर बनवाया था। साथ ही यहाँके शिलालेखसे यह प्रकट होता है कि, इस मन्दिरका जीर्णोद्धार सन १८६६ ईस्वीमे हुआ था। इस देवीका उत्सव चैत्र माममे, शुक्ल अष्टमीसे पूर्णिमातक, होता है। उस समय देवीके दर्शनार्थ यात्रियोंकी (विशेषकर 'कोकण'-प्रान्तके धीवरोंकी) यहाँ खासी भीड होती है।

इस मन्दिरको दाहिनी ओर छोडकर आगे चलने पर दर्शकको गुफाओंके मुख्य मन्दिर अथवा चैत्य-गुहाका दर्शन होता है। 'चैत्य-गुहा' शब्दका अर्थ है बौद्धधर्मियोंका प्रार्थना करनेका स्थान अथवा उपासना या चिन्तन करनेका मन्दिर। इस चैत्य-गुहामें, प्रवेशके पूर्व पहले द्वारमण्डप (*porch*) है। इसकी चौडाई ५२ फूट अर्थात् चैत्य गुहाकी चौडाईसे कुछ ज्यादा है, और, यह दो मोटे अठपहलू

पत्थरोंके स्तम्भोंपर स्थित है। इसके बाद चैत्यका महाद्वार है, जिसके ऊपर एक छज्जा (गैलरी) बनाया गया है। इस महाद्वारसे चैत्य गुहाकी भीतरी दीवारतककी लम्बाई १२६ फूट और चौड़ाई ४५ फूट, ७ इञ्च है। यह चैत्य गुहा तीन दालानोंमें विभाजित है। चैत्य गुहाके मध्यमे एक बड़ा सभामण्डप तथा उसीकी अगल-बगल दो छोटे दालान है। चैत्य-गुहाके समान महाद्वार भी तीन उपद्वारोंमें विभाजित है—एक सभामण्डपके और दो क्रमशः दो दालानोंके लिये। महाद्वारकी गैलरीके ऊपर सभामण्डपका जो अर्द्धगोलाकार हिस्सा है, वह प्रकाशके लिये खुला रखा गया है। सभामण्डपकी चौड़ाई २५ फूट, ७ इञ्च तथा बाजूके प्रत्येक दालानकी १० फूट है। सभामण्डपकी दोनो तरफ पन्द्रह मोटे अठपहलू स्तम्भ हैं, जिनपर गजारूढ स्त्री-पुरुषोंकी मूर्त्तियाँ हैं। कुछ स्तम्भोंपर स्त्री-पुरुषोंके नृत्य दिखाये गये हैं। स्तूपके पीछेके सात तथा महाद्वारके पासके चार स्तम्भ सादे हैं। अन्य स्तम्भोंसे उनकी रचना कुछ निराली है और उनपर खोदाईका काम भी थोड़ा है। स्थानाभावसे इन स्तम्भोंका यहाँ अधिक वर्णन नहीं किया जा सकता। इस चैत्य-गुहामे महात्मा बुद्धकी अनेक मूर्त्तियाँ है। छोटे दालानोंकी दीवारपर अश्वारोहियोंके चित्र हैं। इसके अलावा और कई मूर्त्तियाँ तथा कारीगरीके दर्शनीय काम हैं, जिन्हें देखकर तत्कालीन वेषभूषा, केशरचना, अलंकार इत्यादिकी कल्पना हो सकती है। सभामण्डपकी छत ४६ फूट ऊँची तथा अर्द्धगोलाकार है। इस छतकी एक अनूठी विशेषता यह है कि, इसमें लकड़ीकी बहुतसी कमानें लगायी गयी हैं जो आज भी ज्यों-की त्यों मौजूद हैं।* फर्गुसन साहब इन कमानोंके सम्बन्धमें लिखते हैं—

"It is ornamented even at this day by a series of wooden ribs probably coeval with excavation, which prove beyond the shadow of doubt that the roof is not a copy of a masonary arch, but of some sort of timber construction which we cannot now very well understand"

"लकड़ीकी कतिपय कमाने, जो आज भी इस चैत्यकी शोभा बढ़ा रही हैं, सम्भवतः खोदाईके समयसे ही वहाँ बैठायी गयी हैं। इससे यह निस्सन्देह प्रकट होता है कि, यह छत्र किसी प्रकारके मेहराबका प्रतिरूप न होकर, कोई ऐसी लकड़ीकी बनावट है, जिसके विषयमें हम इस समय ठीक तौरसे कल्पना नहीं कर सकते।"

छतमें ये लकड़ीकी कमानें किस उद्देश्यसे लगायी गयी हैं, यह भी बताना कठिन है। फर्गुसन साहब भी इसकी मीमांसा नहीं कर पाये हैं। सुप्रसिद्ध भारतीय लेखक श्रीमान् सेठ निहालसिंह जी अपनी 'अर्वाचीन और प्राचीन भारत' (*India New and Old*) नामक पुस्तकमें लिखते है—

"Whether it was put in merely to hide the stone, or for securing proper acoustic properties, or to facilitate hanging up banners and standards, or for all these objects, no one can tell"

"इन कमानोंका उद्देश्य केवल पत्थर ढाकने या ध्वनिशास्त्रकी दृष्टिसे कुछ सुभीते प्राप्त करने

* "The cave which dates from the begining of the Christain era or earlier, has a wooden roof in a remarkable state of preservation —ENCYCLO. BRITANICA.

या झंडियाँ आदि लगाने अथवा इन सभी बातोंके लिये था, यह नहीं बताया जा सकता।" भारतकी प्राचीन गुफाओमें यही एक ऐसी गुफा हैं, जिसकी छत इस प्रकार लकडीकी कमानोंसे मढी है।

सभामण्डपके आखिरी सिरेपर, उसके मध्यमें, पत्थरका एक प्रचण्ड स्तूप है। स्तूपोंमें प्राचीन कालके किसी धर्मप्रवर्तक या गुरुके केश, दाँत आदि अथवा उनके नित्य उपयोगकी कोई वस्तु रखी जाती है। स्तूपको "दागोबा" (*dagoba*) अथवा "धातुगर्भ" भी कहते हैं। यह स्तूप चट्टानमें ही गोलाकार खोदा हुआ है और इसपर कारीगरीका कोई काम नही है। माथेपर लकड़ीका एक बहुत पुराना छत्र है। स्तूपकी ऊँचाई लगभग ४५ फ़ुट और व्यास २० फ़ुट है। कहते हैं कि, इस स्तूपमे महात्मा गौतमबुद्धके शरीरका कुछ अवशिष्ट भाग रखा गया है। स्तूपसे वायव्यमें उसके माथेपर १० इंचका एक छेद है, और, सम्भवतः इसीके द्वारा बुद्धकी धातु अन्दर रखी गयी थी। इसके अलावा आठ छेद और हैं, जो अनुमानतः कोई वस्तु टाँगनेके लिये बनाये गये हैं। चैत्य-गुहाका अन्तर्भाग प्रकाशित करानेके लिये जिस सुन्दर तरीकेका अवलम्बन किया गया है, वह वास्तवमें आश्चर्यजनक है। महाद्वारके ऊपर गैलरीका जो अर्द्धगोलाकार भाग खुला रखा गया है, वह इस ढंगसे बनाया गया है कि, सम्पूर्ण प्रकाश इसी एक मात्र रास्तेसे भीतर आता है, और, यह ठेठ स्तूपके ऊपर पडकर तमाम अन्तर्भागको प्रकाशित करता है। आजकल इन गुफाओंको "पाण्डवकृत्य" या "पाण्डव लेणीं" (यानी पाण्डवा द्वारा अपने वनवासके समय खोदी गयी गुफाएं) कहते हैं। इस कल्पनाके अनुसार यह स्तूप "धर्मराजका "सिंहासन" या "धर्मराजका डेरा" कहलाता है। सभामण्डप और दालानोंमें कुल २२ शिलालेख हैं। इन शिलालेखोंमें गुफाओंकी रचना करनेवालों, उन्हें खोदनेवाले कारीगरो तथा दान देनेवाले दाताओंका नामोल्लेख पाया जाता है। इसके अलावा इन शिलालेखोसे इस बातका भी पता चलता है कि, ईसाके ७८ वर्ष पूर्व इस प्रदेशमें महाराज भूति या देवभूतिका राज्य था। चैत्य-गुहाके निकट बौद्ध भिक्षओंके विहार (मठ या निवासस्थानके कमरे) है। चैत्य-गुहाके समान ये विहार भी उसी चट्टानमें खोदे हुए हैं और उनमेंसे कछ दो मंजिले भी हैं। ये विहार बौद्धधर्मीय श्रमणो यानी भिक्षओंके निवास एवम् अध्ययनके लिये बनाये गये थे। प्रत्येक कमरे में एक मनुष्यके लिये काफी जगह है। विहारवासियों के उपयोगके लिये यहाँ पानीके बड़े-बडे हौज हैं। किन्तु इस समय उनमे अच्छा पानी नहीं रहता। गुफाओंके आसपास, इसी चट्टानमें, यत्र-तत्र खोदाईके कुछ अधूरे एवम् फुटकर काम पाये जाते हैं। इस प्रकारकी अधूरी एवम् फुटकर खोदाइयाँ "कार्ला" ग्रामके आसपासकी अन्य चट्टानोंमें भी अनेक जगह पायी जाती हैं।

पुराने तथा ऐतिहासिक महत्वके स्थलोंकी रक्षाके कानूनके अनुसार सम्प्रति इन गुफाओंकी देख-भाल सरकारके पुरातत्व-विभाग द्वारा होती है। कार्लाकी गुफाओका रचना-काल प्रायः ईसाके २०० वर्ष पूर्वका माना गया है। लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्वकी इन गुफाओंको देखकर तत्कालीन कारीगरोंकी बुद्धिमत्ता, हस्तलाघवता और कल्पकता का कायल होना पडता है। प्राचीन भारतीयोंकी भव्य कारीगरीके इस स्मृतिचिह्नको देखकर हृदय पुलकित हो उठता है और *"the style reached a perfection never afterwards surpassed."*

ये तत्कालीन कालाके अपूर्व विकासके प्रशंसोद्गार यथार्थ प्रतीत होने लगते हैं। पूर्वकालीन भारतीय इमारतोंकी पद्धति, भारतीय कारीगरोका कौशल, भारतीयोंकी निस्सीम श्रद्धा आदिकी जिनको कल्पना न हो, उन्हें यहाँके ये भव्य स्मारक अवश्य देखने चाहिये। इन पङ्क्तियोंके लेखकको ये गुफाएँ देखनेका सौभाग्य बारह वर्ष पूर्व—सन् १९२०में—प्राप्त हुआ था। आशा है, इन पङ्क्तियोंके पाठक भी अपने जीवनमें एक बार हमारे पूर्वजोंके इन प्राचीन स्मृति-चिह्नोंको देखनेका सुअवसर प्राप्त कर भारतीय संस्कृतिकी विशेषताओंको हृदयङ्गम करनेकी चेष्टा करेंगे।

दानार्णवके पुत्र महाराजा इन्द्रवर्माका टेक्कली-स्थित ताम्रपत्र

राजा लक्ष्मीनारायण हरिचन्दन जगदेव बहादुर

सन् १९२३ ई० में यह ताम्रपत्र, हमारे टेक्कली-राज्यके अक्कवरम् नामक गाँवमे, एक किसानके द्वारा, मिला था। सम्भवत इस अक्कवरम् गाँवका नाम, मुसलमानोके शासनकालमें, अकबरपुर था। यहाँ अब भी एक प्राचीन दुर्गका ध्वसावशेष पडा हुआ है। इस ध्वंसावशेषके बीच मुझे एक पाषाण-शिला-लेख भी मिला है। इस शिला-लेखमे लिखा है कि, अनन्तवर्मा चोडगङ्गदेवकी एक रानीने यहाँ पर एक वैष्णव-मन्दिर निर्माण कराया था, और, शकाब्द १०४२ अर्थात् सन् ११२० ई०में स्थायी प्रदीप (*Perpetual light*) दान किया था। इस सम्बन्धका मेरा लेख "*East Coast*" नामक एक अंग्रेजी साप्ताहिकके भाग १, खण्ड २८में प्रकाशित हुआ हैं।

उन दिनों समस्त भारतवर्षमें मुसलमानोंकी शक्ति बहुत बढी-चढी थी। उन्होंने हिन्दुओके मन्दिरों, ताम्र-दानपत्रों, समाधियो और पाषाण-शिलालेखोको बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। ऐसे-ऐसे प्राचीन चिह्नोंको वे अपने नये बनवाये हुए दुर्गोंमें रखा करते थे।

उपर्युक्त शिला-लेख और ताम्र-दानपत्र, दोनों उसी दुर्गके ध्वसावशेषमे मुझे मिले है। इस ताम्र-दानपत्रमे तीन पट्ट, एक साथ ही, ताँबेकी एक अँगूठीके द्वारा संयुक्त है। कड़ेके जोड़पर उस गंग-राजवंशकी मुहर लगी हुई है, जिसमें "वर्मा" उपाधि प्रचलित थी। इस कारण यह कहा जा सकता है कि, यह ताम्रपत्र गंग राजवशकी उस प्रथम शाखाका है, जो कलिङ्गपर शासन करती थी और जिसकी उपाधि "वर्मा" थी। प्रत्येक ताम्रपट्टकी लम्बाई ५$\frac{3}{4}$ इञ्च और चौडाई २$\frac{1}{4}$ इञ्च है। सूर्यग्रहणके अवसरपर गंग-राजवशीय दानार्णवके पुत्र महाराजा इन्द्रवर्माने कुछ भूमि दान की थी। उसी दानके सम्बन्धका यह ताम्रपत्र है। १५४ गग-संवत्में, महाराजा इन्द्रवर्माने, स्कन्ध शर्मा नामक एक व्यक्तिको, तत्कालीन रूपवर्तिनी-प्रदेशके अन्तर्गत तुङ्गक्षा नामक गाँवमें, विद्युदुगङ्गाकी तटवर्ती भूमि दान की थी। वह तुंगक्षा आजकलका तुङ्गम् नामक गाँव है और तबकी विद्युद्गंगा अबकी कोत्तुरु गेड्डा (*Kotturu Gedda*) हैं। इस दानपत्रके लेखक थे भोगीकरके पुत्र खण्डी-

चन्द्र और ताम्रपट्टपर खोदनेवाले थे धर्मचन्द्रके पुत्र शम्भुपुरोपाध्याय। धर्मचन्द्र राज्यके गजाध्यक्ष (*Superintendent of Elephants*) थे।

इस राजाका यही गंग-संवत् अबतक जाननेमे आया है। इसी राजाका एक ताम्रपत्र गंग-संवत् १४६ में भी लिखा गया था। * इस ताम्रपत्रके भी लेखक आदित्यभोगिकके पुत्र खण्डाचन्द्र ही है। प्रथम पत्र (पट्ट)का बहिर्मुख बिलकुल सादा है। द्वितीय और तृतीय पत्रके दोनो ओर लिखे हुए है। अक्षर सुस्पष्ट और खोदाई अच्छी दशामें हैं। दान-पत्र-लेख, इन तीनो ताम्रपत्रोमे, समाप्त हुआ है। तीनोमें बायी ओर आध इञ्चका एक छेद है और इसीमे तॉबेको एक अगूठा डाला हुई है। कड़ेका व्यास ३२ इञ्च है, और, इसपर जो सील (*seal*) लगी है, उसमें एक खड वृषभका चित्र है। कडके साथ पूरे ताम्रपत्रका वजन ५६ तोला है।

ऊपर कहा जा चुका है कि, तीनो पट्टोमे पूरा दान-पत्र समाप्त हुआ है। यह दानपत्र कुल ३२ पङ्क्तियोमें है, जिसका विवरण इस प्रकार है—पहलेका पीठपर ७ लाइने, दूसरे (सामने) मे ८ लाइने, दूसरेको पीठपर ८ लाइने, तीसरे (सामने) मे ८ लाइनें, तीसरेकी पीठपर १ लाइन, कुल ३२ लाइनें हैं।

इस दान-पत्रकी खोदाई तो ब्राह्मी-लिपिमें है; किन्तु भाषा संस्कृत है। अन्तमे व्यासगीताके दो श्लोक भी दिये हुए हैं। खोदाई शुद्ध और सुस्पष्ट है।

मूल लेख (पहले ताम्रपत्रकी पीठपर) यों है—

(१) "ॐ स्वस्ति सर्व्वर्तुसुखरमणीयाद्विजयश्रीनिवासात्कलिग न—

(२) गृहवासकान्महेन्द्राचलामलशिखरप्रतिष्ठितस्य चराचरगु-

(३) रोस्सकलभुवननिर्म्माणैकसूत्रधारस्य भगवतो गोकर्ण्ण—

(४) स्वामिनश्चरणकमलयुगलप्रणामाद्विगतकलिकल—

(५) ङ्को गागामलकुलतिलको नयविनय सम्पदाधार स्वासि—

(६) धारापरिस्पन्दाधिगतसकलकलिंगाधिराज्य प्रवितततचतुरुदधि—

(७) सलिलतरगमेखलावनीतलामलयशा अनेकसमर—

(दूसरेके सामनेमें)

(८) संघट्टविजयजनितजयशब्दप्रतापोपनतसमस्तसाम—

(९) न्तचूडामणिप्रभामञ्जरीपुञ्जरञ्जितचरण परममा—

(१०) हश्वरो मातापितृपदानुध्यातश्रीमद्दानार्णवसूनु श्रीमान्महा—

(११) राजेन्द्रवर्म्मा रूपवति विषये तुगन्नाग्रामे सर्वसमवेतान्कुटु—

(१२) म्बिनस्समाज्ञापयत्यस्ति विदितमस्तु वो यथास्मिन्ग्राम हल—

(१३) स्य भूमिर्ब्रह्मदेयदण्डमाननिमितासर्वकरभरै परिहृत्याच—

(१४) न्द्रार्कप्रतिष्ठाद् कृत्वा अस्य अच्चिपोडि भट्टारिकाया पुण्याभिवृ—

(१५) द्धये सुर्योपराग सलिलपूर्वक गृहवोन्नवास्तव्याय शाणिड—

(दूसरेकी पीठपर)

(१६) ल्यसगोत्राय वाजसनेयसब्रह्मचारिणे वेदवेदागपारगा—

(१७) य स्कन्दशर्मणे सम्प्रत्तावदेव विदित्वा स्वस्वकोषा भूमि भुञ्जानस्य न—

(१८) केनचिदाबाध कार्य्यो मोमालिगान्यप्यस्य क्षेत्रस्य प्रदक्षिणक—

(१९) मेण बोद्धव्यानि पूर्व्वेण विद्युद्गभा दक्षिणेन पुरुषन्ढा—

* इस सम्बन्धका एक लेख "शारदा" नामक तेलगू-पत्रिकाके भाग १, खण्ड ४, १९२३ वाले अङ्कमें प्रकाशित हुआ था।

(२०) यथा पाषाणपङ्क्ति पश्चिमेन शर्करवाटक सीमान्ताः उत्त—

(२१) रेणापि मैव विद्युदुगा तुगनतटाकोदकम- [७थे] त्रेत्रं कारा ख—

(२२) यडा ब्राह्मणपलान्धाश्च निर्गत्य प्रविशति याव-त्पच्यते भविष्य—

(२३) तश्च राज्ञ प्रज्ञापयति धर्मार्कमविक्रमाणा मान्यतम-

(तीसरेके सामनेमें)

(२४) आगात्वाण्य महीमतुला सदिभरचन्दानधर्मानुपा-लनीयो व्या—

(२५) सगराधात्र श्लाका भवन्ति बहुभिर्व्वसुधा दत्ता बहुभिश्चानुपालिता

(२६) यस्य यस्म यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फल स्वदत्ता परदत्ता वा—

(२७) यत्नाद्रक्षयुधिष्ठिरमहीमहिमता श्रेष्ठदानाच्छ्रेयोनु—

(२८) पालन षष्टिवर्षसहस्राणि स्वर्गे तिष्ठति भूमिद् श्रा—

(२९) चेत्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेदिति श्राज्ञा महामहत—

(३०) रहरिशर्मा प्रवर्द्धमानविजयराज्यसवत्सराल्लिखित—

(३१) मिद शासन हस्त्यदध्यक्षधर्मचन्द्रसूनुना सर्व्वा-धिकृतेन शम्बपुरा—

(तीसरेकी पीठपर)

(३२) पाध्यायेनोत्कीर्णामादित्यभागकसूनुना खण्ड-चन्द्रेणेति ”

मतलब कि, “जो गोकर्णेश्वरस्वामी इस निखिल विश्वके स्रष्टा और प्रतिपालक हैं, जिनकी स्थापना महेन्द्रगिरिके शिखरपर हुई है, उनके जो पूजक हैं, जिनके कलियुगके पाप धुल गये हैं, जो निष्कलङ्क गङ्ग राजवंशमे, उत्पन्न हुए हैं जो बडे सज्जन, विनम्र और सम्पत्तिशाली हैं, जिन्होंने अपने बाहुबलसे कलिङ्गपर विजय पायी, जिनकी कीर्त्ति देशके एक छोरसे दूसरे छोरतक फैली, जिन्होंने युद्धोंमें सदैव शत्रुओंको पराजित किया, जिनके चरणोंमें पराजित नृपति-योंके मणियुक्त-मुकुटधारी मस्तक झुके रहते हैं, जो अपने माता-पिताके सेवक हैं, वे—दानार्णवके पुत्र श्रीमहाराजा इन्द्रवर्मा कलिङ्गनगर (कलि-ङ्गपटनम्) से—जो सब ऋतुओंमें एक मनोरम स्थान है—रूपवति प्रान्तके तुङ्गन्न-निवासियोंको आज्ञा देते हैं कि, ब्रह्मदेयदण्डकी जोत (हलस्य भूमि), अश्विपोडि भट्टारिका देवीकी उपस्थितिमें, इस सूर्यग्रहणके अवसरपर, स्कन्द शर्माको—जो वेद-वेदाङ्गोमे पारङ्गत हैं और वाजसनेयी शाण्डिल्य-गोत्रमें उत्पन्न हुए हैं—सूर्य-चन्द्रकी अवधितक भूकर-विमुक्त [लाखिराज] दान कर दी जाती है। कोई भी राजा इस [दानपत्र] के नियम-को न तोडे। चौहद्दी—पूर्वमें विद्युदुगङ्गा, दक्षिणमे पाषाणपङ्क्ति, पश्चिममे गन्नेका खेत, उत्तरमे विद्युद्गङ्गा ।

“भावी नियमोके अनुसरणके लिये व्यास द्वारा गाये गये श्लोकोंका अवतरण दिया जाता है।

‘आज्ञाके मूललेखाधिकारी [*Executor of the Command*] —हरिशर्मा, विजयराज्य-संवत् १५४ लेखक—हस्त्यध्यक्ष धर्मचन्द्रके पुत्र शम्बपुरो-पाध्याय । पाषाण-शिलालेखक —आदित्यभोगकके पुत्र खण्डिचन्द्र ”

नीचे “वर्मा”-उपाधिधारी व्यक्तियोंके कुछ उपलब्ध ताम्रपत्रोंकी सूची दी जाती है—

राजाओंके नाम	गङ्ग-विजयसंवत्	विवरण
१ × × × ×	२८	थिरलङ्गी टेकली-ताम्रपत्र ।

राजाओंके नाम	गंग-विजय-संवत्	विवरण
२ हस्तिवर्मा	,, ८०	उर्लमके ताम्रपत्र।
३ इन्द्रवर्मा	,, ८७	लेखक द्वारा प्राप्त।
,,	,, ९१	अच्युतपुरम्‌का ताम्रपत्र।
४ राजेन्द्रवर्मा-का पुत्र देवेन्द्रवर्मा	,, ११०	लेखकके भाई द्वारा प्राप्त।
५ इन्द्रवर्मा	,, १२८	चिकाकोलका
,,	,, १३६	ताम्रपत्र।
६ दानार्णवका पुत्र इन्द्रवर्मा	,, १४९	पुर्लीपेट ,,
	,, १५४	लेखक द्वारा प्राप्त।
७ गुणार्णवका पुत्र देवेन्द्रवर्मा	,, १८३	चिकाकोल (*Chicacole*) में प्राप्त।
	,, १८४	अदावाका ताम्रपत्र लेखक द्वारा प्राप्त।
	,, १९५	सिद्धान्तम्‌में प्राप्त।
८ देवेन्द्रवर्माका पुत्र अनन्तवर्मा	,, २०४	एक वेदान्तीको "तलातेरु" नामक ग्राम दान किया था। ताम्रपत्रका लेख लेखकने हा पढा था।
९ अनन्तवर्माका पुत्र इन्द्रवर्मा	,, २२१	लेखक द्वारा प्राप्त।

राजाओंके नाम	गंग-विजय संवत्	विवरण
१० अनन्तवर्माका पुत्र देवेन्द्रवर्मा	,, २५१	कलिङ्ग-ताम्रपत्र।
*११ देवेन्द्रवर्माका पुत्र अनन्तवर्मा	,, २५४	विजगापटम्‌का ताम्र०
	,, ३००	लेखक द्वारा प्राप्त।
*१२ राजेन्द्रवर्माका पुत्र देवेन्द्रवर्मा	,, ३०८	सन् १९१८ "*South Indian Epig*"की वार्षिक रिपोर्टमे प्रकाशित
१३ इन्द्रवर्मा	,, ३०९	जारजङ्गी-ताम्रपत्र।
१४ देवेन्द्रवर्माका पुत्र राजेन्द्रवर्मा	,, ३४२	*B & O R S*के जर्नल (भा० १ ;, पृ० १०१)में प्रकाशित।
१५ देवेन्द्रवर्माका पुत्र सत्यवर्मा	,, ३५२	चिकाकोलमे मिला
१६ वज्रीके पुत्र इन्दवर्मा या वज्रीनारसिंह, उसका पुत्र भूपेन्द्रवर्मा, भूपेन्द्रवर्माका पुत्र देवेन्द्रवर्मा	,, ३९७	छडीवलसाका ताम्रपत्र
१७ देवेन्द्रवर्मा	१०३१ (शक०)	काम्बकाय-ताम्र०
१८ मधुकामन्ना	५२६ (शक०)	[*Vide C P No. 3 E P Report for 1918-19*]

* सम्भवतः दोनों भाई हो थे।



एक अद्वितीय प्रतिमा

श्रीयुत रणछोड़लाल ज्ञानी एम० ए०

गत अक्टूबर मासमें बम्बई-म्युनिसिपलिटीकी ओरसे परेलसे शिवरीतक नयी सड़क निकाली जा रही थी। उस समय परेलकी गोलंजी हिल नामक टेकरीका एक हिस्सा जब खोदा जा रहा था, तब एक बड़ी भारी शिला निकल आयी। ऊपरसे कुछ मिट्टी हटानेपर मालूम हुआ कि, वह कोई मूर्ति है। चण्डिकादेवीके मन्दिरके समीपमें ही होनेके कारण लोगोंने इसे देवी समझकर पूजना शुरू कर दिया! अभी मिट्टीसे बाहर निकलने भी नहीं पायी थी कि, उसपर गन्ध, पुष्प और पैसोंकी बौछार होने लग गयी! सारे शहरमें एक तहलका मच गया! भावुक लोग पूजा-सामग्री ले-लेकर आने लगे। उधर कई विद्वान् और अन्वेषक महानुभाव मूर्तिकी पहचान और उसकी शास्त्रीय छान-बीनमें लग गये। पुरातत्त्व-विभागके अधिकारी, स्थानीय रायल एशियाटिक सोसायटी और बम्बईकी हिस्टारिकल सोसायटी आदिने सरकारसे इस बातका आग्रह किया कि, वह ट्रेजर ट्रोव ऐक्टके मुताबिक उसे संरक्षित कर स्थानीय संग्रह-स्थान (*Prince of Wales Museum*)के लिये भेंट दे दे, जहाँ जनता, पुरातत्त्व-विद्याके प्रेमियों और अन्वेषकोंके लिये वह दर्शनीय रहेगी। दूसरी ओर परेलके हिन्दुओं और वहाँके कुछ प्रतिष्ठित सद्गृहस्थोंकी राय थी कि, यह स्थानीय जनताकी पूजाके लिये दे दी जाय, हम यहाँ मन्दिर बनाकर उसकी पूजा करेंगे। सरकारने विचार किया, और, अभी कुछ दिनोंकी बात है कि, बम्बईके कलक्टर साहबने उसका फैसला सुना दिया कि, मूर्ति परेलकी चण्डिकादेवीके मन्दिरके ट्रस्टियोंके हवाले कर दी जाय, जो उसे किसी मन्दिरमें रखें और वहाँ सर्वसाधारणको आने-जानेकी इजाजत रहे।

अब जरा इस प्रतिमाका अवलोकन कीजिये। यह मूर्तिवाली शिला कुछ सुर्खीमायल पीले रंगकी है। इसकी लम्बाई करीब १४ फीट और चौड़ाई करीब ६ फीट है। शिलाके मध्य भागमें जटामुकुटधारी एक मूर्त्ति दाहिने हाथमें सुमिरनी और बायें हाथमें जल-कमण्डलु लिये खड़ी है। इसकी जटामें ज्ञान चिह्न-रूपी चन्द्रमा, भालपट्टमें ज्ञान-शक्ति द्योतक एक नेत्र, कमरमें कटि-मेखला, हाथोंमें कङ्कण, भुजाओंपर बाजूबंद और गलेमें गुलूबंद शोभा दे रहे हैं। इस मूर्त्तिके पृष्ठ भागसे एक दूसरी ऐसी ही मूर्त्ति निकली हुई नजर आती है, जिसका कमरसे ऊपरका भाग ही दृष्टिगोचर होता है। इस मूर्त्तिके अलङ्कार और आयुधादि सब पहली मूर्त्तिकेसे ही हैं; फर्क केवल यही है कि, पहलीका दाहिना हाथ विस्मय-मुद्रामें है और बायेंसे कमण्डलु हथेलीमें दबा हुआ है तथा दूसरी मूर्त्तिका दाहिना हाथ ज्ञानमुद्रामें है और बायें हाथकी उँगलियोंमें कमण्डलु लटका हुआ है। इन दोनों मूर्त्तियोंके कन्धोंके नीचे, पीठकी ओरसे, दाहिने और बायें एक-एक मूर्त्ति और निकलती हुई दीख पड़ती है। इन चारोंका एक-एक पैर ऊपरकी ओर खिँचा हुआ है, मानो अभी उड़ा चाहती हैं। इन मूर्त्तियोंके भी जटामुकुट हैं और अलङ्कार तथा आयुधादि उक्त मूर्त्तियोंके सदृश ही हैं। कमण्डलु और माला तो वैसे ही हैं; परन्तु हाथकी मुद्रामें कुछ फर्क मालूम होता है।

मध्यकी दो मूर्त्तियोंके ऊपर दूसरीके पृष्ठ भागसे एक तीसरी मूर्त्ति निकली हुई है, जिसका कमरसे ऊपरका भाग नजर आता है। इस मूर्त्तिकी मुखाकृति और अलङ्कारादि अन्य मूर्त्तियोंके सदृश ही हैं; परन्तु इसके हाथ दस हैं। प्रत्येक तरफके पाँच हाथोंमें भिन्न-भिन्न आयुध हैं। दाहिनी तरफके एक हाथमें शृंग (सींग), दूसरेमें खड्ग, तीसरेमें शूल, चौथेमें डमरू और पाँचवेंमें अक्षमाला है। बायीं ओरके पहले हाथमें पाश, दूसरेमें खेटक (ढाल), तीसरेमें धनुष, चौथेमें खँजरी और पाँचवें हाथमें कमण्डलु है।

इस संयुक्त मूर्त्ति-समूहके नीचे अर्थात् मध्यकी पहली मूर्त्तिके पैरोंके दाहिने और बायें कुछ संगीत-शास्त्री भी बैठे हुए नजर आते हैं। बायीं तरफ एकके हाथोंमें एक ताश और करताल तथा दूसरेके हाथमें मोरचंग दीख पड़ती है। दाहिनी ओर तीन व्यक्ति हैं। एकके हाथमें वीणा है और दूसरा बाँसुरी बजा रहा है। तीसरा एक हाथमें तम्बूरा और दूसरे हाथमें करताल लिये बजा रहा है। मुखमण्डलको देखनेसे मालूम होता है कि, वह महानुभाव कोई राग भी अलाप रहे हैं!

अब यह देखें कि, यह मूर्त्ति है किस देवताकी? उस देवताके किस स्वरूपको व्यक्त करती है, और, मूर्त्तिशास्त्रके अनुसार, उसका क्या नाम हो सकता है? इस मूर्त्ति समूहके विषयमें अबतक जो छान-बीन की गयी है, उससे मालूम होता है कि, मूर्त्तिशास्त्रके किसी उपलब्ध ग्रन्थमें हूबहू ऐसी मूर्त्तिका वर्णन या चित्र नहीं है! बड़े-बड़े पुरातत्ववेत्ताओंकी भी राय ली गयी, परन्तु वे भी निश्चयात्मक रूपसे इसके विषयमें राय देनेमें असमर्थ हैं! वस्तुतः जैसे रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, प्राणिशास्त्र इत्यादि अनेक शास्त्रों (*Sciences*)में छान-बीन की जा रही है, वैसी ही छान-बीन और खोज करनेकी, मूर्त्तिशास्त्रमें भी, आवश्यकता है। खेद है कि, इस शास्त्रकी तरफ पुरातत्वान्वेषकोंका बहुत कम ध्यान है। कुछ इने-गिने व्यक्तियोंके सुप्रयत्नके कारण आज जो कुछ बच सका है, वह गनीमत है, वरना शायद हिन्दू-जनता अपनी प्राचीन मूर्त्तियोंके स्वरूपोंको पहचान भी नहीं सकती।

ऐसी परिस्थितिमें हम इस कठिन समस्याका पूर्ण-रूपसे हल तो नहीं कर सकते; परन्तु कुछ शास्त्रानुकूल कल्पनाएँ अवश्य कर सकते हैं, जिनसे और विद्वान् इसपर विचार कर कुछ निश्चयात्मक उल्लेख कर सकें।

प्रायः जितनी भी मूर्तियाँ (हिन्दू-धर्मानुकूल) हैं, वे ब्रह्मा, विष्णु और शिवके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंको व्यक्त करती हैं। कोई-कोई विद्वान् शक्ति अर्थात् देवीकी मूर्त्तियोंका एक चौथा विभाग करते हैं, परन्तु बहुधा इन शाक्त मूर्त्तियोंका, शैव मूर्त्तियोंमें, शुमार कर लिया जाता है। अब हमें इस मूर्त्तिको देखना चाहिये कि, यह किस विभागमें आ सकती है। इस मूर्त्ति-समूहमें, सब पुरुष-स्वरूप होनेसे, शक्तिके स्वरूपकी तो कल्पना ही नहीं हो सकती। अब रहे ब्रह्मा, विष्णु और शिव। इनके स्वरूपोंकी पहचानके लिये इनके विशेष लक्षणों और खास-खास अलङ्कारों एवम् आयुधोंपर विचार करना होता है। विष्णुके आयुध शङ्ख, चक्र, गदा इत्यादिका, इन मूर्त्तियोंके आयुधोंमें सर्वथा अभाव होनेके कारण (और विष्णुके सिरपर जटा-मुकुट नहीं हो सकते, इन कारणोंसे) यह कहा जा सकता है कि, यह विष्णुका कोई स्वरूप नहीं। ब्रह्मा और शिव दोनोंके मस्तकोंपर जटा-मुकुट होते हैं, दोनोंके हाथोंमें कमण्डलु और मालाएँ होती हैं, जो कि, इन तमाम मूर्त्तियोंमें हैं, परन्तु ब्रह्माके विशिष्ट लक्षण अर्थात् चतुर्मुख और वेद-पुस्तक इत्यादिके इसमें अभाव और शिवके विशिष्ट चिह्न अर्थात् जटा-मुकुटमें अर्द्धचन्द्र तथा ललाटमें तृतीय नेत्रके इसमें अस्तित्वके कारण यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि, यह ब्रह्माकी मूर्त्ति नहीं हो

सकती; हो सकता है, तो केवल शिवके किसी स्वरूपकी। अतः मूर्ति-शास्त्रमें वर्णित शिवके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंके साथ प्रस्तुत मूर्त्ति की तुलना करनेसे जो साम्य दृष्टिगोचर होता है, उसके आधारपर कुछ कल्पनाएँ, पाठकोंके समक्ष, रखी जाती हैं।

संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण-रूप शिवके स्वरूपको महेश मूर्ति* नाम दिया गया है। इस मूर्तिके पाँच मस्तक होने चाहिये, जिनमेंसे केवल चार ही देखे जा सकें। हर एक चेहरेकी नाक, कान, मुख आदि तो साधारणसे हों; परन्तु आँखें तीन हो। महेशके पैर दो; परन्तु हाथ दस हो, जिनमेंसे दो तो अभय और वरद मुद्राओंमें हो, बाकी दाहिनी ओरके चार हाथोंमें क्रमशः शूल, परशु, वज्र और खड्ग एवम् बायीँ तरफके चार हाथोंमें क्रमशः खेटक, अङ्कुश, पाश और घण्टा हों। इनके वस्त्रादि और यज्ञोपवीत शुद्ध श्वेत हों, इत्यादि।

इस लक्षणावलीके साथ प्रस्तुत मूर्तिकी तुलना करनेसे हाथोंकी संख्या और उनमेंके कुछ आयुधोंका साम्य दीख पड़ता है। इसके अतिरिक्त मध्यकी तीन मूर्त्तियोंको उत्पादक, रक्षक और संहारक, ऐसे तीन स्वरूपोंका द्योतक माना जा सकता है। परन्तु इसमें बगलसे निकली हुई चार मूर्त्तियोंके विषयमें कोई सन्तोषजनक कारण नहीं दीखनेसे इस कल्पनामें शङ्का होती है।§

दूसरी कल्पना सदाशिव-मूर्तिकी है।× सदाशिव शिवका वह स्वरूप है, जो पद्मासनपर विराजमान है। उनके जटा-मुकुटालङ्कृत पाँच मस्तक, मध्यमें तृतीय नेत्र और दस भुजाएँ हैं, जिनमें दाहिनी तरफ क्रमशः शक्ति, शूल, खट्वाङ्ग, अभय और प्रसाद तथा बायीँ तरफ क्रमशः भुजङ्ग, अक्षमाला, डमरू, नीलोत्पल और मातुलुंग (बिजौरा)की कल्पना की गयी है। जटामुकुटमें चन्द्र और अन्य आभूषणोंके साथ यज्ञोपवीत भी पहने हुए हैं।

इस वर्णनके साथ तुलना करनेसे हाथोंकी संख्या और कुछ आयुधोंके साथ-साथ जटामुकुट, चन्द्र और तृतीय नेत्रका साम्य दीख पड़ता है। इस मूर्त्तिके चित्रको देखनेसे एक और बातका साम्य दीखता है। वह है एक सिरपर दूसरे सिरका होना।‡ सदाशिव मूर्तिके आगे महासदाशिवमूर्त्तिके वर्णनमें हमें अधिक मस्तकोंकी सम्भावनाका भी पता चलता है। महासदाशिव-मूर्त्तिके* २५ मस्तकों, ५० हाथों और ७५ नेत्रोंवाले शिवस्वरूपका वर्णन और चित्र देखनेसे यह अनुमान हो सकता है कि, यह महासदाशिवकी मूर्त्ति है।

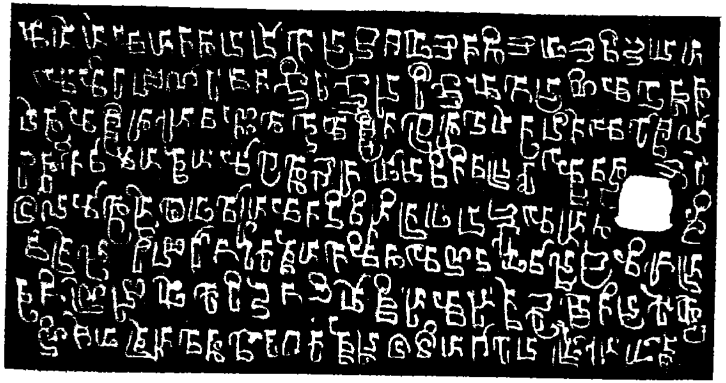
शुद्ध तन्तु, कर्म और भोगके कारण सकल मलोंका, शिवका संहारक शक्तिके प्रतापसे, नाश होनेके पश्चात् जो नीच योनि और अधम जीवोंके कर्मादिको सुधारकर उत्तम कक्षतक पहुँचाते हैं, वे शिवके अंश रूप

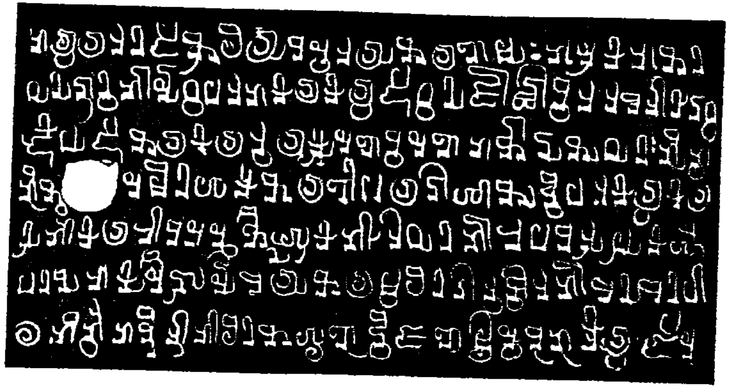
---

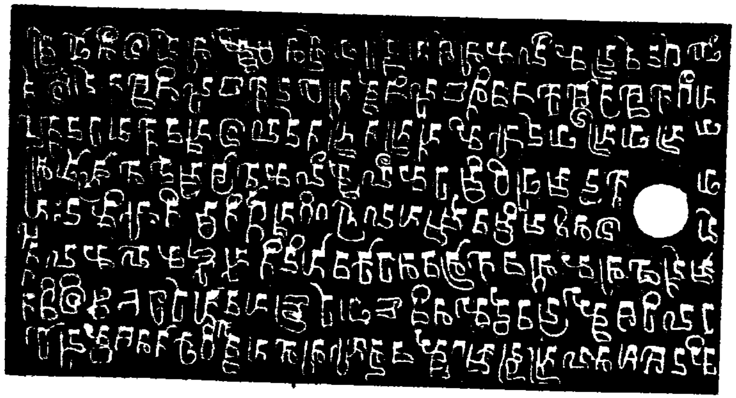
* देखिये *T A Gopinath Rao* कृत *Elements of Hindu Iconography Vol II, Part II,* पृष्ठ ३७६।

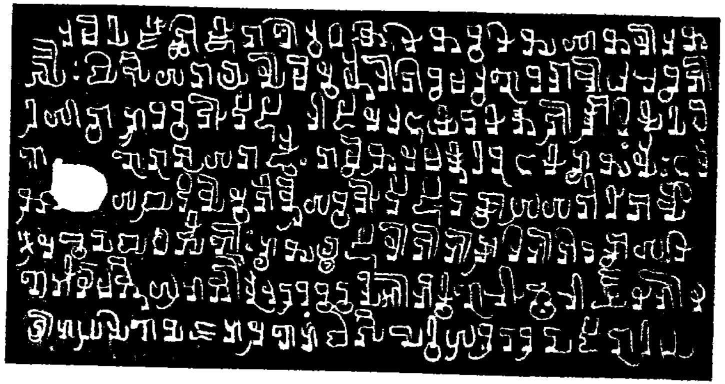
§ आयुधोंको पुरुष स्वरूप मानना आयुध-पुरुषोंकी प्रतिमाओंका मूर्त्ति शास्त्रमें आधार है। इसी प्रकार नीचेकी दो मूर्त्तियोंके चार-चार हाथोंकी कल्पना कर दो हाथोंके अभावमें दो-दो हस्तपुरुषोंके बनानेकी कल्पना यदि स्वीकृत हो सकती हो, तो फिर कोई शंका (इसे महेश-मूर्त्ति माननेमें) बाकी नहीं रहती।

× देखिये *T A Gopinath Rao* कृत *Elements of Hindu Iconography, Pt II, Vol II,* पृष्ठ ३७२। ‡ देखिये उक्त मूर्त्तिशास्त्र, प्लेट ११३। * देखिये उक्त मूर्त्तिशास्त्र, प्लेट ११४।





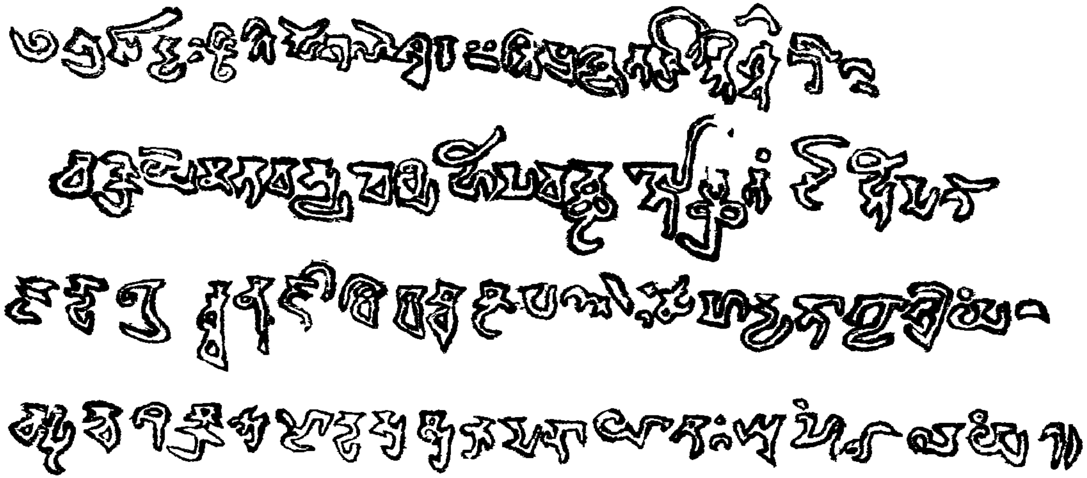




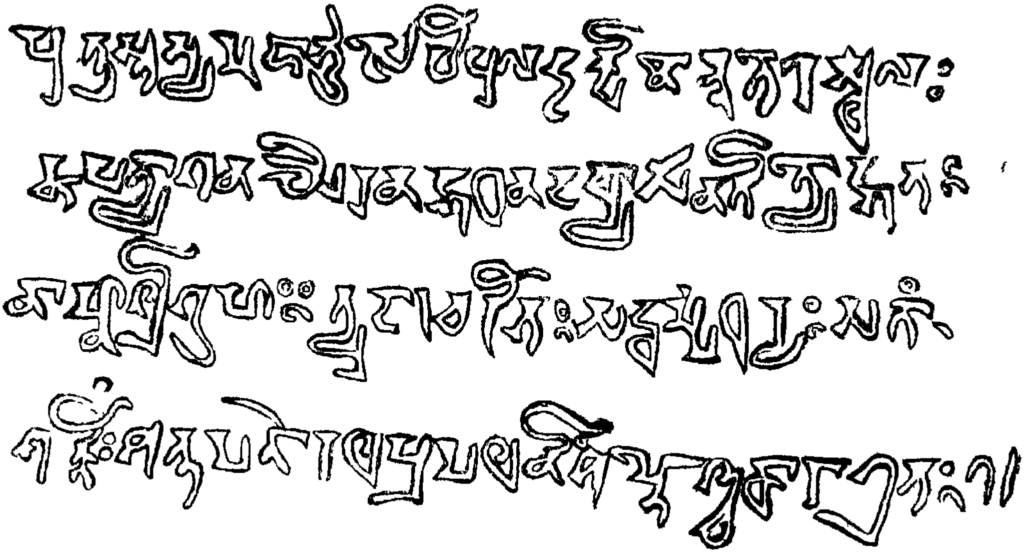
९८—१०१ महाराजा इन्द्रवर्माका टेकली (जि० गंजाम)-स्थित दानपत्र (अक्षर उलटे हैं)।

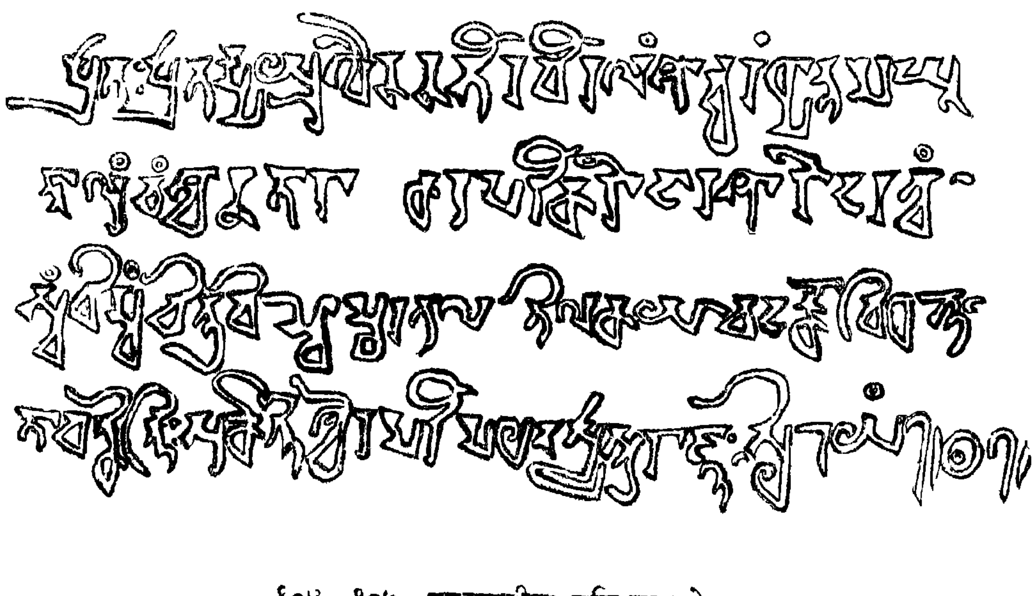


१०२—टेकली-दानपत्र

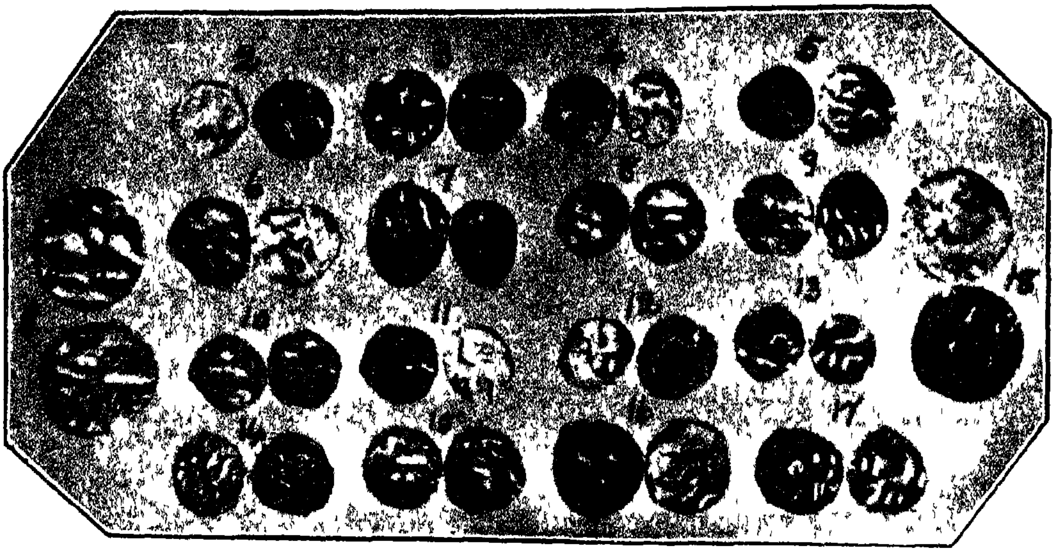


१०३—उत्तरकाशीका शक्ति-स्तम्भ-लेख





१०४—१०५—उत्तरकाशीका शक्ति-स्तम्भ-लेख





१०६—१०७—कलिङ्ग, गङ्ग और केसरी राज-वंशोकी सुवर्ण-मुद्राएँ

"विद्येश्वर" कहलाते हैं। विद्येश्वर ८ हैं—अनन्तेश, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्ति, श्रीकण्ठ और शिखण्डी। इनके जटा-मुकुट और तीन नेत्रवाला एक मुख होता है। यज्ञोपवीतधारी इन विद्येश्वरोंके चार हाथोंमेंसे पिछले दो हाथोंमें शूल और टङ्क होते हैं, और, अगले हाथ अभय और वरद मुद्राओंमें होते हैं। एक अन्य सिद्धान्तके अनुसार पिछले दो हाथोंमें वाण और त्रिशूल तथा अगलेमेंसे एक हाथका अञ्जलि मुद्रामें होना आवश्यक माना गया है। यह आठो विद्येश्वरोंके सामान्य लक्षण हैं; परन्तु हर एककी कुछ न कुछ विशेषता भी होती है, जिनका वर्णन यहाँ, विस्तार-भयसे, नहीं किया जाता। विद्येश्वरकी कल्पना हमारी मूर्त्तिके लिये करनेका कारण एक ही है; और, वह है एकपाद त्रिमूर्त्ति नामक विद्येश्वरकी जंघाओंमेंसे दाहिने और बायें, प्रस्तुत मूर्त्तिके समान ही, बगलसे निकलनेवाली प्रतिमाओंका साम्य। वे प्रतिमाएँ भी हमारी प्रतिमाओंकी तरह, एक पैर ऊँचा किये हुए, उड़नेकी कल्पना करती हैं। परन्तु एकपाद मूर्त्तिके शरीरसे निकलनेवाली मूर्त्तियाँ चतुर्भुजधारी ब्रह्मा और विष्णुकी हैं, जिनके हाथोंसे स्रुवा, वेद-पुस्तक, कमण्डलु, माला और शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म आदि, उक्त देवताओंके विशिष्ट आयुध भी पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य विद्येश्वर-मूर्त्तियोंके वर्णनसे प्रस्तुत मूर्त्तिके साथका साम्य नहीं दीख पड़ता। एक महानुभावने इसे सकल विद्येश्वरोंकी एक मूर्त्ति होनेका अनुमान किया है, परन्तु यह सरासर भूल है।

मेरे एक संगीतशास्त्र-विशारद मित्रकी कल्पना है कि, सम्भवतः यह संगीतेश्वर नामक शिवका स्वरूप हो। उनका कथन है कि, शिवजीके डमरूमेंसे समस्त रागों और रागिनियोंका उत्पत्ति मानी गयी है; इस कारण संगीतशास्त्रके उत्पादक देवता शिवकी हैं। इस मूर्त्ति-समूहके सात अंग सम्भवतः सात रागोंकी प्रतिमाएँ हों; और, मध्यकी तीन मूर्त्तियोंका एक दूसरेके ऊपर बनानेका भावार्थ शायद तीन ग्राम, ऋषभ, मध्यम और पञ्चम, हों, जो कि, क्रमशः एक दूसरेसे उच्च स्वरमें गाये जाते हैं। परन्तु इस कल्पनाका, मूर्त्तिशास्त्रमें समर्थन नहीं होनेसे, इस वक्त कुछ कहा नहीं जा सकता।

इसी प्रकार एक और कल्पनाको, विद्वानोंके विचारार्थ रखकर, कल्पनाओंकी परम्पराको समाप्त करता हूँ। यह तो निर्विवाद है कि, यह मूर्त्ति शिवकी है। चित्र देखनेसे पाठकोंको मालूम हो सकता है कि, मध्यकी तीन और बगलकी चार, इस प्रकार कुल सातों प्रतिमाओंके शारीरिक अवयव, अलङ्कार और मुखाकृति इत्यादि सर्वथा एक-से हैं; और, वे आपसमें ऐसे संयुक्त हैं कि, एक ही वृक्षकी शाखाओं या एक ही पुरुषके अङ्ग-से दीख पड़ते हैं। अतः इस प्रतिमाको यदि सप्ताङ्गी शिव कहा जाय, तो क्या आपत्ति है? मूर्त्तिशास्त्रमें ऐसी मूर्त्तिका या इस नामका उल्लेख नहीं है; परन्तु यह एक नयी खोज है। शर्त यह है कि, पुरातत्त्वशास्त्रविशारद पण्डित लोग इसे स्वीकार कर लें।

इस मूर्त्तिको शिवका स्वरूप माननेमें एक यह एतराज किया जा सकता है कि, यज्ञोपवीत-विहीन मूर्त्ति शास्त्रसिद्ध नहीं हो सकती। सम्भव है, यह कोई बौद्ध-मूर्त्ति हो, क्योंकि, हिन्दुओंके मुकाबिले बौद्ध-धर्ममें भी, पिछले कालमें, देवी, गणपति, शिव आदिके समान मंजुश्री, विघ्नान्तक और अवलोकितेश्वर आदिकी मूर्त्तियाँ प्रचलित की गयी थीं। उनके आभूषण और आयुध आदि भी करीब-करीब हिन्दू-मूर्त्तियोंके सदृश ही होते हैं। मध्य एशिया और तिब्बतकी असंख्य मूर्त्तियोंके सिर और अङ्ग एक दूसरेके ऊपर बने

हुए देखे गये हैं। वैसे ही बौद्ध-मूर्तियोंमें "हरि हरि हरि-वाहन"की प्रतिमामें भी लगातार तीन मूर्तियाँ एक-पर-एक बनी हुई दीख पड़ती हैं। यह सब कुछ सत्य है; परन्तु इस मूर्तिका बौद्ध होना ठीक नहीं जँचता, क्योंकि पहले तो इस मूर्तिके आयुध प्रायः सबके सब नाश-कारक हैं, जो बौद्धधर्मके अटल सिद्धान्त अहिंसासे विरुद्ध हैं। दूसरे शिव-प्रतिमाके सारेके सारे लक्षण इसमें मौजूद हैं। यज्ञोपवीतका अभाव साफ तौरसे कारीगरकी भूल मालूम होती है; और, शायद इस भूलके ही कारण, जिसका सुधारना असम्भव था—क्योंकि यज्ञो-पवीतकी रेखाएँ अङ्गकी सतहसे उठी हुई बनानेके लिये पहलेसे ही उसका खयाल रखना जरूरी था—(इस शिलाकी अन्य मूर्तियोंका काम खास तौरपर बाजे बजानेवाली मूर्तिको देखिये), अधूरा छोड़ दिया गया है। कारीगरकी न जाने किस उमंग और अरमानोंसे, न जाने किस आधारसे बनायी हुई मूर्ति अपूज्य ही रह गयी! यह कभी किसी मन्दिरमें रखी ही नहीं गयी, क्योंकि यह जहाँसे मिली है, उसके नीचे और आस-पास उसी प्रकारके पत्थरकी ज्यों-की-त्यों असमथ चीजें (जैसी कि, पत्थर तराशते वक्त निकलती हैं) फैली हुई मिली थीं। तो फिर यह प्रश्न होता है कि, क्या यह मूर्ति पूजने योग्य है? हिन्दुओंके तैंतीस कोटि देवता होते हुए भी वे चाहे जिसकी पूजाके लिये उद्ग्रीव हो जाते हैं। उनके लिये तो हर एक चीज पूजने योग्य है; परन्तु यदि सच पूछा जाय, तो प्रस्तुत प्रतिमा पूजने योग्य हरगिज नहीं है, क्योंकि पहले तो यज्ञो-पवीत न होनेसे यह शास्त्रानुकूल और शुद्ध नहीं है। दूसरे यह अपूर्ण और खण्डित है। ऐसी मूर्तियोंका पूजन करनेवालेको, धर्मशास्त्रके सिद्धान्तानुसार, प्राय-श्चित्तका भागी होना पड़ता है। तीसरे यह कि, अभी इसके स्वरूपके विषयमें कोई निश्चय नहीं हुआ है। चौथे यह कि, यदि यह मूर्ति पूजने योग्य ही होती, तो हमारे पूर्वज इतनी मेहनतको बरबाद ही क्यों होने देते! तथापि सरकारसे स्थानीय हिन्दुओंने मूर्त्ति माँग ही ली है। अब देखें, वे इसके लिये कैसा शानदार मन्दिर बनवाकर समय, धन, शक्ति और धार्म्मिक सिद्धान्तोंका व्यय करते हैं! धार्म्मिक दृष्टिसे यह मूर्त्ति चाहे जैसी हो, परन्तु पुरातत्वान्वेषकोंकी दृष्टिमें तो यह मूर्त्ति बिलकुल अद्वितीय और मूर्त्ति-शास्त्रमें एक नयी चीज है।

मथुराकी कला, संग्रहालय और पुरातत्व

वा० वासुदेवशरण गोभिल एम० ए०

शूरसेन-प्रदेशकी राजधानी मथुरा नगरी भारतकी सप्तमहापुरियोंमें है। यह प्रागैतिहा-सिक समयसे जगद्वन्द्य भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जन्मभूमिके रूपमें, अति पवित्र तीर्थकी भाँति, विख्यात रही है। ज्ञात होता है, इसी कारण बौद्ध-भिक्षुओंने भी मथुराको अपने धर्मका प्रसिद्ध केन्द्र कल्पित किया, क्योंकि यहाँ सुदूर भागोंसे प्रतिवर्ष एकत्र होनेवाले श्रद्धालु जन-समुदायकी धार्मिक भावनाओंके सम्पर्कमें आना बहुत सुलभ था। नारायणीय भागवत धर्मके प्रधान पुरुष

भगवान् वासुदेव हैं; अतएव क्या आश्चर्य, जो उन्हींके जन्मसे पवित्र हुए भू-प्रदेशमें सर्वप्रथम भक्ति-प्रधान महायान बौद्ध-सम्प्रदायके विशेष अंकुर प्रवृद्ध और पल्लवित हुए हों। पुरातत्त्व-प्रमाणोंसे [यथा बेसनगरमें प्राप्त हीलियोडोरस नामक भागवत यवनदूतका गरुडध्वज तथा उदयपुर रियासतके नगरी या प्राचीन मज्झमिका-स्थानमें भगवान् संकर्षण और वासुदेवके निमित्त भागवत पाराशरी-पुत्र गाजायन-निर्मित पूजाशिला-प्राकार] यह सिद्ध होता है कि, भक्तिसमाप्लुत भागवतधर्मका जन्म ईसासे पूर्व द्वितीय शताब्दीमें भली भाँति हो चुका था और एक विशाल भूप्रदेशमें उसका यथेष्ट प्रचार भी हो गया था। अवश्य ही इस भक्ति तरङ्गको अनुप्राणित करनेवाला हृत्स्थान मथुरा ही रहा होगा। मथुरामें यह प्रवाह ईस्वी प्रथम शताब्दी पूर्वके निकट बौद्ध धर्माचार्योंके द्वारा भी आत्मसात् किया गया, और, ईस्वी सन्के प्रारम्भ कालमें ही उस महायान सम्प्रदायका आविर्भाव हुआ, जिसमें भगवान् बुद्धके बोधि-सत्त्व-रूपकी प्रतिमाएँ कल्पित करके भावुक जनोंको भगवान्के साक्षात् तादात्म्यका शुभावसर प्रदान किया गया।

यह निश्चय है कि, मथुराने महायान-धर्मके आन्दोलनमें बहुत-कुछ हाथ बँटाया। यहाँके शिल्पियोंने बुद्धकी मूर्त्तिकी कल्पना करके मानसिक भावनाओंको मूर्त्तिमान् कर दिखाया और मथुरा नगरीके तक्षक उत्तरी भारतमें भास्कर-शिल्पके सर्वप्रथम गुरु बनकर बैठे।

मथुराकी कलाका प्रारम्भ प्रायः उतना ही प्राचीन है, जितना कि, भारतवर्षके अन्य स्थानों—बोधगया, भरहुत, साँची आदि—में उपलब्ध बौद्ध-कलाका आदिकाल। यहाँपर शुङ्ग-कालकी अनेक प्रतिमाएँ और वेदिका-स्तम्भ तथा सूची प्राप्त हो चुकी हैं। इनमें बहुत ही उत्कृष्ट कलाका एक नमूना मथुरा-संग्रहालयका नं० १३४१ सूचीखण्ड है, जो यहाँके गायत्री टीलेसे मिला था। इसके अतिरिक्त वेदिका-स्तम्भ (नं० जे० २) भी शुङ्ग-कलाका अच्छा उदाहरण है। इसकी रचना बहुत-कुछ भरहुतके वेदिका-स्तम्भोंसे मिलती है। पाठक जानते हैं कि, शुङ्ग तथा कुषाण-कालमें चैत्यों, स्तूपों या बोधिवृक्षोंकी चारों ओर, परिक्रमा-मार्गको घेरनेके लिये, एक चहारदीवारी बनायी जाती थी, जिसे संस्कृतमें वेदिकाशिला-प्राकार [*Railings*] कहते हैं। इस वेदिकाके चार भाग होते थे —(अ) स्तम्भ, जिन्हें पाली-लेखोंमें थम्भ कहा गया है। ये खम्भे प्राय चौकोर ही होते थे, पर कभी-कभी इनके कोनोंको कोराकर इन्हें अठपहलू भी बना देते थे। थम्भोंकी दोनों ओर तीन-तीन चूले होती थीं, जिनमें सूची या बेंड़े पत्थर लगाये जाते थे। (आ) सूचीमें बेंड़े पत्थर, जो कि, दो स्तम्भोंके बीच आड़े लगाये जाते थे। स्तम्भ और सूची, दोनोंपर ही बहुत सुन्दर कारीगरी रहती थी। इनपर उत्कीर्ण यक्षिणी भारतीय कलाका अति उत्कृष्ट उदाहरण है। (इ) मूर्धन्य सिरदल [*Coping stone*]। खड़े हुए स्तम्भोंको आपसमें जोड़कर स्थित रखनेके लिये उनके ऊपर अच्छी तरह तराशे हुए पत्थर लगाये जाते थे, जिनपर बहुत तरहके बेलबूटे और पशु-पक्षी बने रहते थे। (ई) पिण्डिका [*Base stone*]। प्रत्येक स्तम्भके नीचे एक आलम्बन-पिण्डिका रहती थी, जिसपर स्तम्भ खड़ा किया जाता था।

इस प्रकारके शिला-प्राकार [*Railings*] का

उल्लेख नगरीसे मिले हुए संस्कृत-शिलालेखमें है, जिसका समय, डा० डी० आर० भण्डारकरने, ईसासे तीसरी शताब्दी पूर्वका अनुमान किया है। [*A S Memoir, No 4*]। अशोकने अपने रुमिनिदेवी-स्तम्भ-लेखमें चहारदीवारीको सिला-विगड-भीचा अर्थात् शिला-विकट-भित्ति अथवा शिलामय प्राकार ही कहा है। मथुराके प्रासादोंकी चारों ओर, शुंग कालमें, तथा कुषाण-कालमें, इस प्रकारके शिला-प्राकार बहुत विशिष्ट रूपमें विद्यमान थे। शुंगकाल-के स्तम्भ और सूची तो थोड़ी ही संख्यामें प्राप्त हुई है पर कुषाण-युग [ईस्वी प्रथम शताब्दीसे ३०० ई० तक]के वेदिका स्तम्भोंकी संख्या अनगिनत है। इन स्तम्भोंपर यक्षों और यक्षिणियोंके अक्षय्य निधि-सम्पन्न शृङ्गारप्रधान जीवनका चित्रण है। कर्णिका-प्रसाधनमें प्रसक्त, केश-रचनामें तन्मय, दोहद-क्रीडामें संलग्न, पुष्प-भंजिकामें विभोर मुग्धा-ओंके विभिन्न हाव-भावोंको, दम्पतियोंके क्रीडा-चरित्रोंको, उत्कीर्ण करनेमें कुषाणकालीन तक्ष-कोंने अपने कौशलकी पराकाष्ठा दिखलायी है। पुष्पग्रथित केश-पाश, यवाङ्कुर, दन्तपत्र, ग्रैवेयक, मुक्तावली, प्रालम्ब, केयूर, अंगद, कटक, रत्न जटित मेखला तथा प्रलम्बमान दुकूलोंके मण्डन-सम्भारोंसे सन्नताङ्गी यक्षाङ्गनाओंके सफल चित्र-णसे वेदिकाके स्तम्भ एकदम जगमगा उठे है।

यह बात सर्वविदित है कि, कुषाण युगसे पहले भगवान् बुद्धकी प्रतिमा नहीं पायी जाती अर्थात् बोधगया, साँची और भरहुतकी विपुल कला-सामग्रीमें कहींपर भी भगवान् बुद्धकी मूर्त्तिका चित्रण नहीं मिलता। मूर्त्तिकी जगह बुद्धका चित्रण हाथी, बोधिवृक्ष, धर्मचक्र और स्तूप आदि चिह्नोंसे किया जाता था। ये चार चिह्न क्रमश. भगवान् बुद्धके जीवनकी चार घटनाओंसे सम्बन्ध रखते हैं— हाथी जन्मसे, बोधिवृक्ष-सम्बोधीसे, धर्म्मचक्र प्रथम उपदेशसे और स्तूप-परिनिर्वाणसे इनका सम्बन्ध लुम्बिनी, बोधगया, सारनाथ और कुशीनारासे है। शुंग-कालमें सभी जगह केवल इन चिह्नोंके द्वारा ही बुद्धका चित्रण किया जाता था। मथुरामें भी बोधिवृक्ष, धर्म्मचक्र और स्तूपके चिह्नोंकी पूजा पायी जाती थी। इसके अतिरिक्त बुद्धके भिक्षापात्र और उष्णीषकी पूजा भी मथुरा-कलामें दिखायी गयी है [मथुरा-संग्रहालय, न० आई० एक]।

शुंगकालकी एक अत्यन्त विशाल और उल्लेख-नीय प्रतिमा मथुरा-संग्रहालयमें स्थित परखम यक्ष-के नामसे प्रसिद्ध है। इसके विषयमें बहुत अधिक लिखा जा चुका है। अधिक विद्वानोंकी सम्मतिसे हम इसे यक्षकी विशाल मूर्त्ति माननेको बाध्य होते हैं। भारतवर्षमें अभीतक इस प्रकारकी दस विशाल प्रतिमाओंका पता चल सका है— १ मथुरामें उपलब्ध परखम यक्ष। २ मथुराके बरोदा-स्थानसे प्राप्त यक्ष। ३ मथुराके एक गाँवमें पूजी जाती हुई मनसादेवी यक्षी। ४ मथुराके एक गाँवमें अचिरप्राप्त विशाल यक्ष। ५ पटना-संग्रहालयकी दीदारगंजमें मिली चामरग्राहिणी यक्षी। ६ बेस-नगरसे मिली यक्षी, जो अब इंडियन म्युजियममें है। ७ पवायासे मिला हुआ मणिभद्र यक्ष, जो ग्वालि-यर म्युजियममें है। ८—९ पटनेसे मिले हुए दो विशाल यक्ष, जो कलकत्तेके म्युजियममें हैं। १० साँचीमें मेजर किन्केडको प्राप्त विशाल यक्षका खंड, जो विलायतके विक्टोरिया-अलबर्ट म्युजियममें है। इनके अतिरिक्त स्मिथकी पुस्तक (*History of Fine Art*, *P 64*) में बेसनगरमें पड़ी हुई एक विशाल स्त्री-मूर्त्तिका भी जिक्र है, जिसे वहाँके लोग

तेलिन कहकर पूजते थे। यह भारतवर्षकी बहुत प्राचीन कला थी, जिसके चार उदाहरण शूरसेन-देशमें ही मिले हैं। कुषाण-युगके विशाल-काय बोधिसत्त्वोंके तक्षणका भाव इन्हीं मानवी मूर्त्तियों-से ग्रहण किया गया मालूम होता है।

परन्तु मथुरा प्रदेश कुषाण-कालकी कलाके लिये भारतवर्षमें सबसे धनी स्थान था। यहाँके शिल्प-कारों द्वारा निर्मित ये मूर्त्तियाँ सारनाथ, श्रावस्ती तथा कुशीनारामें भी पायी गयी हैं—(१) कनिष्कके तीसरे वर्षमें भिक्षु बल द्वारा निर्मित बोधिसत्त्वकी सारनाथवाली मूर्त्ति। (२) उसी त्रिपिटक-पण्डित बलकी दी हुई श्रावस्तीमें प्राप्त विशाल बोधिसत्त्व-मूर्त्ति। (३) श्रावस्तीके जेतवनमें मिली हुई मथुरा के शिल्पकार शिवमित्र द्वारा निर्मित बोधिसत्त्वकी विशाल प्रतिमा। (४) मथुराके दिन्न नामक तक्षक-की बनायी हुई कुशीनाराकी विशाल निर्वाण-प्रतिमा। ये सब मूर्त्तियाँ मथुराके चकत्तेदार लाल पत्थरकी बनी हैं।

मथुराकी खोदाईमें अबतक सैकड़ोंकी तादादमें बोधिसत्त्व और बुद्धकी मूर्त्तियाँ मिल चुकी हैं। उनमेंसे बहुत-सी लखनऊ, कलकत्ता, म्यूनिक, बोस्टन तथा अन्य संग्रहालयोंमें पहुँच गयी हैं। मथुराके म्युजियमकी उत्कृष्ट प्रतिमाएँ निम्नलिखित हैं—ए १, ए २, ए ४० और ए ५। इस विषयमें यह ज्ञातव्य है कि, ए १ और ए २ मूर्त्तियाँ बिलकुल एकसी हैं। दोनों बुद्धकी हैं, परन्तु ए १ को शिलालेखमें बोधिसत्त्व और ए २ को बुद्ध कहा गया है। सारनाथकी बड़ी मूर्त्ति भी बुद्धकी है, पर लेखमें उसे बोधिसत्त्व कहा गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि, मथुरा-कलाके बिलकुल प्रारम्भमें बुद्ध और बोधिसत्त्वकी मूर्त्तियोंमें अन्तर नहीं था। कुछ कालके बाद लोग बुद्धको भिक्षु-रूपमें और बोधिसत्त्वको राजसी ठाटमें दिखाने लगे। सम्बोधीसे पहले शाक्यमुनिकी संज्ञा बोधिसत्त्व है और ज्ञानके बाद बुद्ध।

महायान बौद्ध-धर्ममें मैत्रेय और पद्मपाणि अव-लोकितेश्वर, दो प्रमुख बोधिसत्त्व हैं। मथुरामें ये दोनों पाये जाते हैं; यद्यपि पद्मपाणिका चित्रण अभी तक केवल एक ही मूर्त्तिमें मिला है। बुद्धकी मूर्त्तियों में मुद्राएँ जानने योग्य हैं। मथुरा-कलामें निम्न-लिखित मुद्राओंका पता लगता है—(१) अभय-मुद्रा, (२) ध्यान-मुद्रा, (३) भूमिस्पर्श-मुद्रा और (४) चौथी मुद्रा धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा है, जो अधिकतर सारनाथमें मिलती है; पर जिसके कुषा-णोत्तर युगके दो-एक उदाहरण मथुरामें भी मिले हैं।

साँची और भरहुत कालसे ही भारतीय कलामें यक्षोंका प्राधान्य रहा है। वक्र तथा कुपिण्डित वामनापर स्थित स्त्रियोंको सब विद्वानोंने यक्षिणी माना है। उन्हीं यक्ष-यक्षियोंके अधिपति कुबेर और उनकी स्त्री हारीतीके अनेक रूप, मथुराकी कुषाण-कलामें, पाये जाते हैं। भगवान् बुद्ध संयम-प्रधान जीवनके आदर्श हैं; यक्षाधिपति कुबेर भोग-प्रधान जीवनके आदर्श हैं। महायान बौद्ध-धर्मसे अनुप्रा-णित कला बुद्ध और कुबेरका सम्मिलन है। एकां गी कुबेर मृत्युका जीवन है, एकांगी बुद्ध केवल संघारामोंके लिये है। गृहस्थों और कुटुम्बिनियोंके लिये, जिनका सैकड़ों बार उल्लेख मथुराके शिला-लेखोंमें हैं, भगवान् बुद्ध और कुबेरका समन्वय ही जीवनका आनन्दमय विकास या मज्झिम मार्ग है। यही माध्यमिक सम्प्रदाय है, जिसे महायानधर्मके अश्वघोष और नागार्जुन आदि धुरन्धर आचार्योंने उद्घोषित किया।

जहाँ एक ओर पद्मासनमें विराजमान समाधिस्थ भगवान् गौतमकी मूर्त्तिके साक्षात् करनेकी लोगोंमें उत्कण्ठा थी, वहीं दूसरी ओर हारीती-समेत आसव-पायी, एक हाथमें मधुपात्र तथा दूसरेमें रत्नोंका प्रसव करनेवाली न्यौली लिये हुए, कैलासपर विराजमान यक्षराज कुबेरकी प्रतिमाका लालित्य भी कम भाव-ग्राहक न था। इसी कलाने धर्मको निर्जीव या एकांगी होनेसे बचाया। लोग, संसारको त्याग कर संघारामोंमें जानेकी अपेक्षा, अपने प्रासादोंको ही देवधाम बनानेका प्रयत्न अधिक श्रेयस्कर समझते थे। ससार और धर्मका बहुत ही स्पृहणीय समन्वय उन चैत्योंमें हुआ, जहाँ बाहर तो शत संख्यक वेदिका स्तम्भोंमें इन्द्रियोंके अनन्त विस्तृत जीवनका दर्शन होता था और भीतर मनोभावोंपर अंकुश रखनेवाले अरूपहार्य भगवान बुद्धकी प्रतिष्ठा थी। यह तप और शृङ्गारका मेल था। शृङ्गारका यह उद्दाम प्रदर्शन केवल तप.पूत होनेके लिये ही था। बुद्ध और कुबेरका ही एकनिष्ठ भाव मदन-दहन करनेवाले वृषाधिरूढ भगवान् शङ्करके रूपमें प्रकट हुआ। शङ्करके इसी भावको लेकर गुप्तकालके महाकविने कुमारसम्भवका गीत गाया।

मथुरा-संग्रहालयमें दो कुबेरोंके चित्र हैं। *C 31* कुषाण-समयका पिन्त्रिपिडल कुबेर है, उसके बाँये हाथमें उलटी न्यौलीसे रत्न बिखर रहे हैं। *C 5* कुबेर गुप्तकालीन है, जिसके पात्रमें द्राक्षासव अथवा मेघ-दूतवर्णित कल्पवृक्षप्रसूत रतिफल नामक आसवकी मधुधाराको उसकी स्त्री ढाल रही है। इसी सम्बन्धमें *C 2* संख्यक कुबेरका आपान दृश्य (*Bacchanalian scene*) भी उल्लेखयोग्य है।

अम्भाल या कुबेरकी पत्नीका नाम बौद्ध-ग्रन्थोंमें हारीती है। यह देवी प्रसवकी अधिष्ठात्री है। कलामें इसका प्रदर्शन बच्चोंके साथ किया जाता है। इसकी गोदमें, चरणोंके पास तथा कंधोंपर भी, कई बच्चे दिखाये जाते हैं।

कुषाण-समयमें बनी हुई नागदेवताओंकी भी अनेक मूर्त्तियाँ मिलती हैं। नाग पातालके स्वामी हैं, अतएव पुष्करिणी, उदपान, जलाशयके सन्निकट नागोंकी स्थापना की जाती थी। इनमें अति प्रसिद्ध छडगाँवका नाग है, जिसे महाराज राजातिराज हुविष्कके राज्यकालमें, सेनहस्ती और भोणुक नामके दो व्यक्तियोंने, अपनी पुष्करिणीमें, प्रतिष्ठापित किया [मथुरा म्यु० *C 13*]। बौद्धोंके अनुसार मुचुलिन्द नागने भगवान्‌के ऊपर छाया की थी और नन्द, उपनन्द नागोंने उन्हें स्नान कराया था। जैनोंके अनुसार सुपार्श्व और पार्श्वनाथ तीर्थकरोंकी निशानी नागोंका फणाटोप है। इनमेंसे सुपार्श्व नामक सातवें तीर्थंकरसे मथुराका घनिष्ठ सम्बन्ध बताया जाता है। हिन्दुओंमें भी भगवान कृष्णके बड़े भाई बलरामजी शेषनागके अवतार कहे जाते हैं। विष्णुके अवतारके साथ शेष [*Remainder*] का अवतार भी आवश्यक है। शेष अनन्त हैं, जिसके आधारसे प्रलयमें विष्णु रहते हैं। अतएव यह मालूम होता है कि, नागोंकी पूजा तीनों धर्मोंके अनुगामियोंको मान्य थी। शिलालेखोंसे ज्ञात हुआ है कि, नाग दधिकर्णका मन्दिर, मथुरामें, हुविष्क-विहारके समीप था। नाग दधिकर्णकी एक प्राचीन मूर्त्ति भी यमुनामेंसे मिल चुकी है, जो अब मथुराके संग्रहालयमें है।

मथुरामें एक स्थान कंकाली-टीला है। यहाँसे जैन, बौद्ध और हिन्दू, तीनों धर्मोंके देवताओंकी मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। फिर भी यह जैन-धर्मका ही सबसे महान् केन्द्र था। यहाँसे मिले हुए शिलालेखों-

के आधारपर डाक्टर बूलरका मत है कि, ईसाकी दूसरी शताब्दीके पूर्वमें, ककाली-टीलेमें, जैनोंका एक बहुत बड़ा प्रासाद या देवालय था (*Epi. Ind., Vol II P 319*]।

इसीके प्रायः सौ वर्ष बाद उसी स्थानपर एक दूसरा प्रासाद बनाया गया। शुङ्ग-कालमें देवस्थानको प्रासाद कहते थे, जैसा कि, बेसनगरसे मिले हुए शिलालेखमें भागवत-मन्दिरको प्रासादोत्तम कहा गया है [*A S R 1913--14, P 190*]। जैनधर्मो के तीर्थंकरोकी मूर्त्तियाँ ईसासे द्वितीय शताब्दी पूर्वमे ही बनने लगी थी। खारबेलके हाथी-गुम्फ लेख [ई० १६५ पू० के लगभग] में "देवायतन-सस्कार" तथा "जिन सन्निवेश"का वर्णन है। खारबेलने कलिंग देशके अधिष्ठाता जिनकी प्रतिमाका सन्निवेश या स्थापन कराया था। इसी लेखमें "चक्र"का भी वर्णन है, जो कि, बौद्धोके धम्मचक्रके समान हा धर्मका चिह्न था। मथुरामें जैनोकी बहुत-सी मूर्त्तियाँ ककाली-टीलेसे मिली हैं, पर निश्चय रूपसे यह कहना कठिन है कि, उसमेंसे कितनी कुषाण-कालसे पूर्व युगकी हैं। हाँ, प्रासादोके तोरण और उपान्त भागोके टूटे हुए खण्ड अवश्य ही शुङ्ग-काल तकके मिले हैं।

तीर्थङ्कर-मूर्त्तियोंको छोड़कर अन्य सब बातोंमें मथुरा-कला जैन और बौद्ध-मन्दिरो तथा विहारोके लिये बिलकुल एक-सी थी। जनसमाजके देवी-देवता यक्ष और नाग, कुबेर और यक्षी, दोनो धर्मोंमें ही समान रूपसे पूजे जाते थे। धर्मचक्र और त्रिरत्न-चिह्नोमें भी उभयत्र समानता है।

हिन्दुओंके देवी-देवताओंकी दृष्टिसे मथुराकी कला, भारतवर्षके अन्य सब स्थानोसे, अधिक महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि भागवत धर्मके प्राण कृष्णके जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओंका चित्रण कुषाण-समयकी कलामें नही पाया जाता [शायद नम्बर १३४४ शिलापट्ट इसका अपवाद है, जिसमें प० दयाराम साहनीके मतानुसार वसुदेवका नवजात कृष्णको लेकर यमुनापार करना दिखाया गया है, और, जो कुषाण-समयका कहा जा सकता] है, तथापि भक्तिधर्मके अनेक देवताओका श्रीगणेश मथुरा-कलामें ही पाया जाता है। हम केवल संक्षेपमें उनका नामोल्लेख यहाँ करना चाहते है—

(१) विष्णुकी चतुर्भुजी मूर्त्ति। इसका आदिम रूप कुषाणकालीन बोधिसत्त्वोंसे मिलता है। वैसी ही अभयमुद्रा और दुकूलग्रहण-मुद्रा तथा किरीट और अन्य परिधान दिखाये जाते हैं। प्रारम्भ में केवल गदा और चक्र, इन्ही दो आयुधोंकी कल्पना की गयी थी। क्रमशः चारो आयुध और फिर आयुध-पुरुष भी दृष्टिगोचर होने लगते हैं। यह विकास मथुरा सग्रहालयकी मूर्त्तियोंमें स्पष्टतया देखा जाता है। (२) वाराह और नृसिंह। विष्णुकी कुछ ऐसी मूर्त्तियाँ भी मिली है, जिनमें बीचका सिर विष्णुका है तथा एक ओर वाराहमुख और दूसरे कन्धेपर नृसिंह-मुख दिखाया जाता है। (३) सूर्य। सूर्यकी सबसे शुरूकी मूर्त्तियोंमें उन्हें कुषाण-सम्राटोकी तरह स्थित दिखाया गया है। पैरोंमें जूते, कंचुकी और प्राचरणका वेष, बायें हाथमें, घुटनोके बीचमें, एक छोटा खड्ग तथा दाहिने हाथमें कमल है। इसी रूपका उत्तरोत्तर विकास कुषाण, गुप्त तथा मध्ययुगकी कलाओमें देखा जाता है; और, इन सबके उदाहरण मथुरा-संग्रहालयमें उपलब्ध हैं। (४) शिव। शिवके एकमुखी तथा पञ्चमुखी शिवलिङ्ग बहुत मिलते हैं। एकमुखी शिवलिङ्गकी कल्पना ईस्वी सन् पूर्वकी है। वेम और कनिष्कके

सिक्कोंपर भी शिव और नन्दीकी मूर्त्तियाँ हैं। अतएव कुषाणकलामें भी शिव-पार्वती और नन्दीकी कोरकर बनायी हुई (*Carved in the round*) अनेक मूर्त्तियोंका मिलना स्वाभाविक है (५) सिंहवाहिनी दुर्गा या पार्वतीकी मूर्त्तियाँ भी मिली हैं। (६) महिषासुरमर्दिनी दुर्गा। यह आश्चर्यकी बात है कि, भक्ति-प्रधान शूरसेन प्रदेशमें भी इस शक्तिकी इतनी अधिक पूजा प्रचलित थी। कुषाण, गुप्त और मध्यकालमें इस देवीकी अनेक मूर्त्तियाँ मिली हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीयके गुप्त-सवत् ६१ [ई० ३८०– ८१] के लेखसे मालूम होता है कि, माहेश्वर उदिताचार्यसे पहले दस माहेश्वर आचार्य और हो चुके थे। अतएव यहाँकी शैव-परम्परा, जो भैरव-स्वरूपकी उपासिका थी, बहुत प्राचीन कालसे प्रचलित थी। (७) ब्रह्मा। मथुरा–कलामें वृद्धश्मश्रुल पितामह ब्रह्माकी चतुर्मुख मूर्त्तियाँ भी मिलती हैं। (८) इन्द्र। वज्रधर–रूपमें। (९) कार्त्तिकेय। मयूरवाहनपर आरूढ। (१०) सरस्वती। हंसवाहन सरस्वतीकी एक अति प्रसिद्ध कुषाणकालीन मूर्त्ति, कंकाली टीलेसे मिली थी, लखनऊ सग्रहालयमें है। एक दूसरी मथुरामें है। (११) सप्तमातृका। (१२) नवग्रह। (१३) गजलक्ष्मी।

इस प्रकार ब्राह्मणधर्मके पौराणिक देवताओंका प्रारम्भिक विकास मथुरा-कलामें ही पाया जाता है, अवश्य ही बौद्ध विहारोंके साथ साथ हिन्दुओंके भी अनेक देवालय मथुराकी शोभाको बढाते थे। महाराज अशोकने तृतीय शताब्दी पूर्वमें अपने आप को सब सम्प्रदायोंका सम्मान करनेवाला कहा था। द्वितीय शताब्दी पूर्वके खारवेलने भी अपने आपको "गुणविशेषकुशलः सर्वपाषण्डपूजक. सर्वदेवायतन-संस्कारकारकः" धर्मराज कहा है। यही इस देशकी सनातन दण्डनीति थी। इसीके अनुसार कुषाण-सम्राटोंने अपने राज्यमें सब धर्मोंका सम्वर्धन किया।

मथुरा-कलाका संक्षिप्त ज्ञान करानेके बाद यहाँके जगत्प्रसिद्ध संग्रहालयके विषयमें भी कुछ बता देना लाभदायक होगा। कुषाण-कलाके लिये इस सग्रहालयके समान समृद्ध संसारका और कोई भी अजायबघर नही है। हाँ, ककाली-टीलेसे १८८६, १८९० और १८९१ मे जो एक सहस्रके लगभग प्रतिमाएँ और लेख प्राप्त हुए थे, वे उस समय लखनऊके अजायबघरमे पहुँचा दिये गये थे और तबसे अबतक वहीं हैं। परन्तु फिर भी मथुराके अजायबघरमें कुषाण-सम्राट देवपुत्र कनिष्क और वेमकी मूर्त्तियाँ अति प्रसिद्ध हैं। महाक्षत्रप चष्टनकी मूर्त्ति भी, जो भाटमे मिली थी, यही है। इसके अतिरिक्त शुङ्ग कालकी तथा प्राचीन कलाकी सर्वाधिक प्रसिद्ध परखम यक्षकी मूर्त्ति भी इसी सग्रहालयकी शोभाको बढा रही है। यहीं भगवान् बुद्धकी पञ्चम शताब्दीमें बनी हुई मूर्त्ति है [*A. 5*], जो बुद्धकी उपलब्ध पाषाण प्रतिमाओंमें सबसे अधिक सुन्दर है। इस सग्रहालयमें लगभग चार सहस्र प्रतिमाएँ और मृण्मय प्रतिकृतियाँ [*terra cottas*] हैं। उनमें शुङ्ग–कालसे मध्य काल तककी भारतीय कलाका तथा भास्कर और वास्तु-शिल्पका विकास देखनेको मिलता है। प्रतिवर्ष यहाँ विदेशोंसे अनेक पुरातत्त्ववेत्ता और कला-प्रेमी लोग दर्शन और अध्ययनके लिये आते हैं। इस समय संग्रहालयका विशाल भवन यहाँ सबसे स्वच्छ और विस्तृत स्थान डैम्पीयर पार्कमें स्थित है। अभी तीन वर्ष हुए पुष्कल धनराशि व्यय

करके यह बनाया गया था। इस भवनमें मूर्तियोंकी सजावट जिस सुन्दर ढंगसे हुई है, उसकी प्रकामालोकनीयतापर हठात् मुग्ध हो जाना पड़ता है। इस संग्रहालयका पुराना इतिहास संक्षेपमें यह है —सन् १८७४ में मथुराके कलक्टर, तुलसीकृत-रामायणके प्रसिद्ध अँग्रेजी अनुवादक, ग्राउस साहबने कलक्टरी कचहरीके पास बनी हुई एक अत्यन्त सुन्दर इमारतमें सब उपलब्ध मूर्त्तियोंका संग्रह करके अजायबघरके पूर्व रूपका प्रारम्भ किया। ग्राउस साहबने स्वयं भी मथुराके अनेक टीलोंमें खोदायी करायी, और, जो सामग्री उन्हें मिली, वह उस इमारतमें इकट्ठी करते गये। सन १८८१ में अजायबघरके रूपमें वह संग्रह सार्वजनिक कर दिया गया, पर अभी और देख रेख नहीं थी। सन् १८८६ में म्युनिसिपलिटीने ३) मासिकपर एक फर्राश नियुक्त कर दिया और १९०८ तक यही दशा रही। सौभाग्यसे सन् १९०७ में डाक्टर वोगल साहबका ध्यान इस संग्रहकी ओर आकृष्ट हुआ, और, उनके उद्योगसे, जनवरी १९०८ में, राय बहादुर (पीछे १९१२ में उपाधिप्राप्त) प० राधाकृष्णने सहायक क्यूरेटरकी हैसियतसे, मथुरा-पुरातत्त्व और संग्रहालयके लिये, कार्य करना स्वीकार किया। यही इस संस्थाके वैभवका कारण हुआ। पण्डित राधाकृष्ण, पुरातत्त्वमें, श्रद्धेय गुरु अलेकजेंडर कनिंघमके शिष्य थे। वे इस विद्यामें जन्मसिद्ध थे। उनके समान दिग्गज पुरातत्त्व-शोधककी देख-रेखमें लगातार २३ वर्षों तक मथुराके अजायबघरने बहुत उन्नति की। परखम यक्ष, छड़गाँव नाग, कनिष्क, वेम, चष्टन आदि विख्यात मूर्त्तियोंको प्राप्त करना पण्डितजीका ही काम था। खेद है कि, इतने दीर्घ कालतक संग्रहालयकी सेवा करके राय बहादुर पण्डित राधाकृष्णजीका गत वर्ष स्वर्गवास हो गया! परन्तु यह सन्तोष है कि, वे अपने समस्त प्रयत्नोंके फलस्वरूप इस महार्घ संग्रहको विशाल नवीन भवनमें सुसज्जित देखनेका सौभाग्य प्राप्त कर सके!

हालैंडके प्रकाण्ड विद्वान् डाक्टर वोगलने, सन् १९१० में, मथुरा-संग्रहालयकी एक सर्वाङ्गपूर्ण सूची (*Catalogue*) तैयार की, जिसे संयुक्त प्रदेशकी सरकारने प्रयागसे प्रकाशित किया। उसका मूल्य ३॥) है। सूची प्रकाशित हो जानेके बादसे इन बाईस वर्षोंमें और अनेक महत्त्वपूर्ण शिलालेख और मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इस समय उस सूचीका नवीन और पूर्ण संस्करण तैयार किया जा रहा है, और, आशा है, उसके प्रकाशनसे निकट भविष्यमें इस संग्रहालयके विषयमें जनताका परिज्ञान और अधिक बढ़ेगा।

जिस प्रकार यूरोपमें एथेंस नगरी प्राचीन रत्नोंका भण्डार है, वैसे ही इस देशमें शूरसेन-प्रदेश और उसकी राजधानी मथुरा नगरीको प्रत्नतत्त्वकी एक अत्यन्त समृद्ध खान समझना चाहिये। यहाँ अभीतक जो कुछ मिल चुका है, उसे देखकर दाँतों-तले अंगुली दबानी पड़ती है। मथुराकी चारों ओर असंख्य टीले हैं। ये भरतपुर, कामवन, हाथरस, और अलीगढ़तक फैले हुए हैं। इन टीलोंमेंसे प्रायः हमेशा ही कुछ-न कुछ प्रत्न सामग्री उपलब्ध होती रहती है। भविष्यमें जब इन स्थानोंका पूरी तरह अनुसन्धान होगा, तब जो सामग्री मथुरा जिलेसे प्राप्त होगी, उसके विषयमें बहुत आशाएँ हैं। कितने ही टीले ऐसे हैं, जो केवल खुरचकर छोड़ दिये गये थे। उनमेंसे जो मूर्त्तियाँ और लेख मिलेंगे, उनसे भारतवर्षके इतिहासके अनेक संदिग्ध

प्रश्नोंपर नया प्रकाश पडनेकी आशा है। मथुराके टीलोंके पास जो कूएं हैं, उनमसे भी हमेशा चीजे मिलती रहती हैं। इसके अतिरिक्त यमुना-नदीकी तहमेंसे भी अबतक हजारो मूर्त्तियाँ मिल चुकी हैं। प्रसिद्ध ईसापुरका यूप यमुनामे ही मिला था।

सन् १८५३ मे कनिघम साहबने कटरामें कुछ खोदाई और खोज शुरू की, जिसमें उन्हे चन्द्रगुप्त द्वितीयका शिलालेख मिला, जो अब यहाँके सग्रहालयमें है। इस खोजका हाल, कनिघम साहबने, अपनी रिपोर्टकी पहली जिल्दमें दिया है। सन् १८६२ मे उन्होंने कटरामे फिर खोदाई की, जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण जो चीज उन्हें मिली वह भगवान बुद्धकी मूर्त्ति थी, जो कि, लेखके अनुसार गुप्त-सवत् २३० मे भिक्षुणी जयभट्टाके द्वारा यशविहारमे स्थापित की गयी थी। इस समय यह मूर्ति लखनऊके अजायबघरमे है। सन १८६० मे कलक्टरी कचहरीको बनानेके लिये शहरसे दक्षिणकी ओर एक टीला साफ किया गया, जो किसी समय हुविष्कका विहार था। इसमें हजारो प्रतिमाए, वेदिका-स्तम्भ, तोरण, सूची और खम्भे प्राप्त हुए, जो कि, पहले आगरे भेजे गये, फिर इलाहाबाद और बादमे लखनऊ और मथुराको भेज दिये गये। सन् १८७१ मे कनिघम साहबने कंकाली टीले और चौबारा-टीलोंको खोदाई करायी, जिसका विस्तृत विवरण, उन्होंने, अपनी रिपोर्टके तीसरे भागमे, प्रकाशित किया। इसके साथ अनेक महत्त्वपूर्ण चित्र और शिलालेख भी प्रकाशित किये गये। चौबारामें बौद्धोंके अनेक स्तूप थे। इनमेंसे एक ग्राउस साहबको सोनेकी एक पेटी मिली थी, जिसमे बुद्धके कुछ अवशेष थे। इसी तरहकी पत्थरकी एक मञ्जूषा, चौबाराके दूसरे स्तूपमें, कनिघम साहबको प्राप्त हुई, जो इस समय कलकत्तेमें है।

सबसे अन्तिम बार, सन् १८८२ में, कनिघम साहब मथुरा आये और सीतलाघाटी, अर्जुनपुर मुहल्ला तथा अन्य कई टीलोंका शोध करनेपर कितनी ही महत्त्वपूर्ण मूर्त्तियाँ प्राप्त की। डा० फ्युहररने १८८९ से १८९१ तक ककाली टीलेमें जो खोदाई की, उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। उस अवसरपर जो सामग्री प्राप्त हुई, वह इस समय लखनऊमे है। मथुरा कलाका दक्षिणपाद यदि मथुरामें है, तो वामपाद लखनऊके सग्रहालयमे समझना चाहिये।

उसके बाद सन् १९०८ तक विशेष उल्लेखनीय कार्य नही हुआ। उस वर्षमे राय बहादुर पण्डित राधाकृष्णके उत्साहके कारण मथुराके पुरातत्त्वविषयक काममे नयी जान पड गयी। सन् १९१० मे ईसापुरके पास यमुनामे दो यूप मिले, जिनमसे एकपर वासिष्कके राज्यकालका लेख है, जिसे छान्दोग्यशाखाध्यायी भारद्वाजगोत्रीय एक ब्राह्मणने द्वादशरात्र-यज्ञके अन्तमें प्रतिष्ठापित यूपपर उत्कीर्ण कराया था।

सन् १२ के फरवरी मासमें, पण्डित राधाकृष्णने सौभाग्यसे माट स्थानमे (मथुरासे ९ मील उत्तर एक गाँव), खोदाई आरम्भ की। यहाँ उन्हें महाराज राजातिराज देवपुत्र कनिष्क तथा महाराजराजातिराज देवपुत्र कुषाण पुत्र शाहि वेम और चष्टन (महाक्षत्रप)की जगत्प्रसिद्ध मूर्त्तियाँ प्राप्त हुईं। इनके कारण मथुरा-सग्रहालय और पण्डितजीकी कीर्ति एकदम समस्त विद्वन्मण्डलमें दिग्दिगन्ततक फैल गयी। इसी वर्ष अर्थात् १९११ की शीत ऋतुमें पण्डित राधाकृष्णने मोरा और गणेशरा नामक स्थानोंपर खोदाई करायी, जहाँ उन्हें उत्कीर्ण ईंटे प्राप्त हुईं। मोराकी ईंटोंपर निम्नलिखित लेख है—"जीवपुत्राये राजभर्याये बृहस्वातिमित्र धि तु यशमताये

कारितम् ।" अर्थात् 'बृहस्पतिमित्रकी दुहिता, राजभार्या और जीवित पुत्री यशोमतीके द्वारा बनवाया गया।' इस लेखके अक्षर ईसासे दूसरी शताब्दी पूर्वके हैं। प्रसिद्ध खारबेलने अपने हाथीगुम्फ-लेखमें, अपने आपको, बृहस्पतिमित्रका विजेता कहा है--

"मागध च राजान बहसतिमित पादे बन्दापयति" [*Ep Ind Jan, 1930, P. 80*]। बहुत सम्भव है कि, इसी मगधेश्वर बृहस्पतिमित्रकी दुहिता यशोमती मथुराके राजाकी भार्या रही हो। मथुरातक शुङ्ग-वंशका प्रभाव अवश्य था। पाञ्चाल देशकी राजधानी अहिच्छत्राके राजा आषाढसेनने अपने आपको इसी बृहस्पतिमित्रका मातुल कहा है [*Ep Ind Vol, II, P 242*]। इससे ज्ञात होता है कि, किसी समय, ईसाकी द्वितीय शताब्दी पूर्वमें, मगध, पाञ्चाल और शूरसेनके राजा पारस्परिक विवाह सम्बन्धसे बँधे हुए थे। मोरा स्थानकी ये ईंटें इस समय मथुराके संग्रहालयमें विद्यमान हैं और इस देशकी उत्कीर्ण ईंटोंमें सर्वप्राचीन हैं।

इसके बाद गोसना, महोली, पालीखेड़ा, सलेमपुर, जैसिंहपुरा, गिरधरपुर, गायत्री टीला, बाजना आदि अनेक स्थानोंपर पुरातत्त्व सम्बन्धी शोधका काम पण्डित राधाकृष्णने कराया, और, उनके त्याग तथा अनवरत परिश्रमके फलस्वरूप मथुरा-कलाके अति उत्कृष्ट रत्नोंका आविष्कार हुआ, जिससे मथुराके प्राचीन गौरवकी विशेष वृद्धि होनेके साथ ही भारतीय इतिहासका भी बहुत हित हुआ।

इस छोटेसे लेखमें मथुराकी कला, उसकी तीनों धर्मोंकी मूर्त्तियों तथा पुरातत्त्वका, अतीव संक्षेप से, जो दिग्दर्शन मात्र कराया गया है, आशा है, वह पाठकोंको रुचिकर होगा।

भारतकी चित्र-विद्या-सम्बन्धी खोज

बा० मोतीचन्द्र एम० ए० [लंडन]

सभ्यताकी उन्नतिके साथ ही कलाओंकी भी उन्नति होती आयी है। भारतवर्षमें मूर्त्तिशास्त्र तथा चित्र कलाका विकास कबसे हुआ, इसका कहना बड़ा ही कठिन है। वैदिक कालमें मूर्त्तियोंका होना सिद्ध नहीं होता। पर मोहनजोदारो तथा हरप्पामें जो मूर्त्तियाँ पायी गयी हैं, उनसे सिद्ध होता है कि, उस समय भारतवर्षमें मूर्त्ति-कला उन्नतिपर थी। अबतक यह ठीक तौरसे नहीं कहा जा सकता कि, उस सभ्यताके प्रवर्तक किस जातिके मनुष्य थे। परन्तु वह कला भारतीय थी, इसमें सन्देह नहीं। ईसाके ५०० वर्ष पहले भारतमें इन मूर्त्ति-चित्र-कलाओंकी बहुत बड़ी उन्नति हुई थी। बौद्धोंके धार्मिक ग्रन्थोंमें ऐसे बहुतसे वाक्य आये हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि, ये कलाएँ उस समय कितनी उन्नत थीं। पाणिनिने तो स्कन्द तथा शिवकी मूर्त्तियोंका क्रय विक्रय होना साफ-साफ लिखा है। डा० स्टन कोनोने "इंडियन एंटिक्वेरी' के किसी पिछले अङ्कमें इस विषयपर अच्छा प्रकाश डाला था। पारखम तथा पटनामें पायी गयी यक्ष-मूर्त्तियाँ ईसाकी चौथी शताब्दीमें बनी थीं। भरहुत, साँचीकी कला प्रौढ़ है। इतनी प्रौढ़ता आनेमें कई शताब्दियाँ लगी होंगी।

भारतीय चित्रकलाका सबसे अच्छा उदाहरण अजन्ताकी गुफाओंमें पाया जाता है। इसका समय ईसाके १०० वर्ष पहलेसे लेकर ६०० वर्ष बादतक है। इन चित्रोंका महत्व तब और भी बढ़ जाता है, जब कि,

हमें विदित है कि, इस कलाका प्रभाव सारे एशिया भरमें फैला था। खोतन्, मध्य एशिया, तुनहुवाङ्, बामियाँ, तिब्बत इत्यादि देशोंसे जितने चित्र प्राप्त हुए हैं, उनपर अजन्ताकी छाया साफ-साफ दीख पड़ती है। लेडी हेरिंघम द्वारा उतारे हुए इन चित्रोंका वर्णन लारेन्स बिनियनने तथा इंडिया सोसायटी द्वारा प्रकाशित *Ajanta Frescoes* नामकी पुस्तकमें, बहुत ही अच्छा, किया है। अजन्ताके भित्ति चित्रोंका महत्त्व एशियाकी सम्पूर्ण कलापर इतना ही है, जितना कि, असीसी, सियेना तथा फ्लोरेंसके चित्रोंका यूरोप तथा यूरोपीय कलाके इतिहासपर है। पूर्वीय एशियाकी कलाके मार्गका सम्बन्ध बौद्धधर्मके इतिहासके हर एक पहलूसे है। उस कलाका प्रत्येक विद्यार्थी सर्वदा अजन्तापर दृष्टिपात किया करता है, क्योंकि वह जानता है कि, अजन्ता ही बौद्ध चित्रकलाका एक उत्कृष्ट नमूना बच गया है, जिसकी सृष्टि बौद्धधर्मने अपने जन्मस्थान भारतवर्षमें, अपनी विशाल हार्दिक प्रेरणा द्वारा, की। मध्य एशिया, खोतन्, तुन्हुवाङ्, तुरफान तथा और-और स्थानोंमें जो इन पिछले वर्षोंमें भित्तिचित्र पाये गये हैं, उनसे अजन्ताके प्रति हम लोगोंका उत्साह और भी बढ़ जाता है, जैसे कि, बौद्धधर्मकी महायान शाखाने अपनी मध्य एशिया, चीन तथा जापानकी यात्रामें अपनेको नये रूपमें परिणत कर दिया तथा उन जातियों तथा धर्मोंकी बहुत-सी वस्तुएँ अपनेमें मिला लीं, उसी प्रकार बौद्धोंकी कलाने भी उन सुदूर देशोंमें अपना चोला बदलकर एक खास रूप धारण कर लिया। प्राचीन तथा बादकी कलाओंमें जो समान बात है, वे तो अवगत हो हैं। आधुनिक जापानी कलामें बिद्धों तथा मूर्तियोंकी शारीरिक बनावट इत्यादिका उद्गम-स्थान भारत है। चीन तथा जापानके चित्रोंकी तुलना अजन्तासे करनेपर भेद भी साफ प्रकट हो जाते हैं। यह बात सत्य है कि, अजन्ताके चित्र एक मनुष्यके परिश्रमके फल नहीं हैं, इनका विस्तार सदियोंतक होता रहा है और इनमें बहुत-सी रीतियों एवं भावनाओंका सम्मिश्रण है। फिर भी सुदूर पूर्वीय देशोंके चित्रोंमें, जिनका कि, हमको ज्ञान है, वे खास अङ्ग तथा गुण नहीं मिलते, जो कि, अजन्ताकी कलामें है। बौद्ध-चित्रकारोंकी सर्वोत्तम कृतियाँ चीन या जापानमें कलाके उस अङ्गसे सम्पर्क रखती हैं, जो सर्वदा विकार-रहित ध्यानमें विश्वास रखता है। उस ध्यानकी वस्तुएँ अमिताभ तथा उनके मानसिक पुत्र अवलोकितेश्वर हैं। ये श्यामभूमिपर चित्रित किये जाते हैं तथा अपनी अलौकिक प्रतिभासे जगमगाते रहते हैं। शाक्यमुनिके लौकिक जीवनका उल्लेख शायद ही कभी होता हो। पर अजन्तामें हम अपनेको ऐसी कलाके सम्मुख पाते हैं, जो उक्त कलासे प्रायः हर एक बातमें भिन्न है। अजन्ताके चित्रकार अलौकिक चमत्कारोंसे दूर दीख पड़ते हैं। उनका सम्बन्ध उस वातावरणसे नहीं जान पड़ता, जहाँ कि, देवता तथा अप्सराएँ आकाशमें विचर रही हों। उनका सम्बन्ध इस मर्त्यलोकके मनुष्यों, पशुओं, हरे-भरे पौधों, धूप तथा छायासे है। उनकी सबसे अच्छी कृतियोंके विषय जातक-कथाओंसे लिये गये हैं। यहाँ जीवनके गहन तत्त्वोंका सामना करनेका अच्छा अवसर था। इन चित्रकारोंने किसी खास सिद्धान्तका अनुकरण नहीं किया। इन लोगोंने भारतवर्षीय मनुष्योंके दैनिक जीवनको उसी तरह चित्रित किया, जैसा कि, उन्होंने उसे देखा। हम इन चित्रोंके पीछे धार्मिक भावनाएँ छिपी देखते अवश्य हैं, परन्तु हम इनको मनुष्यके अङ्गोंके प्राकृतिक सञ्चालनसे पूर्ण अवगत पाते हैं। *

* *Ajanta Frescoes*, P. 21

चित्रकलाको जनताके सम्मुख उपस्थित करनेका सर्वप्रथम श्रेय *Lt James Eduard Alexender* को है। आपने "*Transactoins of the Royal Asiatic Society* में, सन् १८३० ई० में, '*Notice of a visit to the Cave temples of Ajanta in the East Indies*" नामके लेखमें अजन्ता-सम्बन्धी कुछ बातें लिखीं, पर उस समय किसीका ध्यान उस तरफ नहीं गया। बङ्गालकी एशियाटिक सोसायटीके मुखपत्रमें भी इस सम्बन्धमें कुछ चर्चा चली, फिर भी इस ओर किसीका विशेष ध्यान नहीं गया। इस सम्बन्धमें कुछ सरकारने भी खबर ली तथा कुछ तस्वीरें खींचकर लन्दन भी भेजी गयीं, पर आग लग जानेसे ये सब भस्म हो गयीं! पहले पहल इस सम्बन्धमें कार्य करनेवालोंका विवरण लार्ड हेरिंघमने अपनी पुस्तकमें किया है। कुछ वर्षों बाद ग्रिफिथ साहबने अपने हाथों अजन्तासे चित्र उतारनेका भार लिया। सन् १८६७ ई० में लन्दनसे इस सम्बन्धकी सर्वप्रथम पुस्तक "*The Paintings in the Buddhist Cave temples of Ajanta*' नामकी पुस्तक प्रकाशित हुई। अभाग्यवश ग्रिफिथके द्वारा खींचे गये बहुतसे चित्र नुमायशमें जल गये। इससे बड़ा भारी नुकसान हुआ, क्योंकि अब वे चित्र उतारे नहीं जा सकते थे। ग्रिफिथने अजन्ताके बहुत चित्रोंपर वार्निश कर दी थी, किन्तु उसका असर उलटा ही पड़ा। बहुतसे चित्र तो पूर्णतया नष्ट तथा काले पड़ गये। रही-सही कोर-कसर अन्धभक्तोंने, चित्रोंपर फूल माला चढ़ाकर, पूरी कर दी! अभी बहुत दिन नहीं हुए, साधु लोग इन गुफाओंमें रोटी बनाया करते थे। एक अँग्रेज कप्तानको तो यहाँतक सूझी कि, आप अजन्ताकी एक तस्वीर ही काटकर अपने घर ले गये! आजकल यह तस्वीर बोस्टन म्युजियममें है। अभी हालमें ही यजदानी द्वारा सम्पादित "अजन्ता" नामकी पुस्तक *Hyderabad Archaeological Department* द्वारा प्रकाशित हुई है। यह अजन्ता-विषयक सबसे अच्छी पुस्तक कही जा सकती है। इसमें उस समयके वस्त्रों तथा आभूषणोंका अच्छा विवरण है, जो अजन्ता-विषयक और पुस्तकोंमें नहीं पाया जाता। अजन्ताके ही सिद्धान्तोंपर बागकी गुफाओंके चित्र भी हैं। इसपर सबसे अच्छी पुस्तक "*Bagh Caves*" नामकी पुस्तक *Gwalior Archaeological Department* द्वारा प्रकाशित हुई है। देने भी "*My pilgrimage to Ajanta and Bagh*" नामकी एक सुन्दर पुस्तक लिखी है। श्री एन० सी० मेहताने भी "स्टडीज इन इण्डियन पेंटिंग" में सित्तनावसाल में पाये गये भित्तिचित्रोंपर अच्छा प्रकाश डाला है। अजन्ताके सम्बन्धमें समय-समयपर अच्छे लेख "बरलिंगटन मेगजिन"में प्रकाशित होते रहे हैं।

अभी हालमें ही बहुतसे संस्कृतमें ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनसे चित्रशास्त्रपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सबसे अच्छा विवरण विष्णुधर्मोत्तरपुराणके तृतीय खण्डमें है। इसका अनुवाद भी डा० स्टेला क्रामरिश द्वारा कलकत्तेमें प्रकाशित हो चुका है। दूसरी उपादेय पुस्तक इस सम्बन्धमें "समराङ्गण सूत्रधार" है। गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज द्वारा इस पुस्तकका प्रकाशन हुआ है। अभाग्यवश इस पुस्तकका पाठ इतना अशुद्ध तथा अधूरा है कि, पढ़ने तथा समझनेमें बड़ी ही कठिनाई पड़ती है। श्रीरत्नने १७ वीं शताब्दीमें "शिल्परत्न" नामकी एक पुस्तक लिखी। पुस्तक अत्यन्त उपयोगी तथा सरल है। इसका प्रकाशन ट्रावनकोर संस्कृत सिरीजमें हुआ है। तिब्बती भाषासे जर्मन भाषामें अनुवादित होकर "चित्रलक्षण" नामकी एक पुस्तक भी छपी है।

जिन सज्जनोंको विशाल भारतके चित्रकलासे स्नेह हो, उनको सर आरेल स्टाइन द्वारा लिखी गयी पुस्तकोंका

अवश्य अध्ययन करना चाहिये। *Ancient Khotan, Ser India, Innermost Asia* आदि पुस्तकोंमें इस विषयपर बहुत-सी सामग्री मिलेगी। इस विषयपर फूशे, पेलियो, हेके, फान् लीकाक इत्यादि विद्वानोंने भी अच्छा कार्य किया है। तिब्बती चित्रोंके सम्बन्धमें सबसे अच्छी पुस्तक, जो मेरी निगाहोंमें आया है, वह रूरिच-की है। ग्रुनवेडेल वाइट इत्यादिके बहुतसे लेख इस सम्बन्धमें हैं।

सातवीं शताब्दीके बाद चित्र कलाका ह्रास हो चला। एलोराकी गुफाओंके चित्र इस बातके प्रमाण हैं। इन चित्रोंमें परम्परा तो अजन्ताकी कलाकी ही है, परन्तु चित्र निर्जीवसे हैं। इस सम्बन्धमें बहुत थोड़ा कार्य हुआ है। एलोराका सबसे अच्छा विवरण डाक्टर कुमारस्वामीका "*Frescoes at Elura*" नामक लेख *Ostasiatische Zeitschrift Heft 1/2, 1926* में छपा है।

११ वीं शताब्दीसे १४ वीं शताब्दीतकके चित्रोंके सम्बन्धमें श्री एन० सी० मेहता तथा डाक्टर कुमार स्वामीका नाम विशेष उल्लेखनीय है। डाक्टर कुमार स्वामीने "*Catalogue of Indian Collection in Boston Museum*"में इस कालके जैन-चित्रोंपर अच्छा प्रकाश डाला है। "वसन्तविलास" पर श्री एन० सी० मेहताका लेख भी पठनीय है। इस कालके बौद्ध-चित्रोंपर ई० ब्रेडेनबर्गने 'रूपम्'के जनवरी, सन् १९२०, के अङ्कमें, अच्छी विवेचना की है।

सोलहवीं शताब्दीसे भारतवर्षमें मुगलोंका राज्य आरम्भ होता है। तभीसे फारसकी चित्र-कलाका बहुत बड़ा असर भारतकी चित्र-कलापर पड़ा। बहुत दिनोंतक १९ वीं शताब्दीके बादके चित्र इंडो-पर्शियन चित्रोंके नामसे प्रसिद्ध थे। डाक्टर कुमारस्वामीने राजपूत पेंटिंग यानी राज-पुतानेके चित्रों और मुगल-चित्रोंको अलग अलग किया। सन् १९१२ में आपको "राजपूत पेंटिंग" प्रकाशित हुई।

आपकी देखा-देखी इस विषयपर अन्य विद्वानोंने भी अच्छा प्रकाश डाला। डा० स्मिथने भी इस सम्बन्धमें अपने मत "*History of fine arts in India and Ceylon*"में प्रकट किया। डाक्टर कुमारस्वामीने '*Catalogue of the Indian collection, Museum of fine arts Boston*' में राजपूत-चित्रकलाका बहुत ही विद्वत्ताके साथ विवेचन किया है। श्री ओ० सी० गाङ्गोली ने भी, इस विषयपर, समय-समयपर अनेक लेख प्रकाशित कराये हैं। मोगलोंकी चित्र-कलाके सम्बन्धमें मि० पर्सी ब्राउनने सबसे अच्छा कार्य किया है। आपकी पुस्तक "*Indian Paintings under the Moghals*" अपने विषयकी सबसे अच्छी पुस्तक है। "*Court Painters of the Grand Moghals*" नाम-की पुस्तक भी विद्वत्तापूर्ण है, चाहे हम उसमेंकी हर एक बातसे सहमत हों या न हों। यहाँ मैं इन पुस्तकों-की एक छोटीसी सूची दे देना चाहता हूँ, जो इस विषयके लिये अत्यन्त उपयोगी है—

1 *History of Indian and Indonesian art Koomarswamy*

2 *Smith's History of fine arts in India and Ceylon*

3 *Catalogue of the Indian Collections in the museum of fine arts, Boston Edited by C Swamy Vol IV-VI*

4 *Indian Book Painting Kuhnel and Goetz*

5 *Die Kunst Indien Diez*

6 *Indian art in the British Empire Exhibitions*

7 *Indian Sculpture and Painting, 1928 Havell*

8 Himalayan Art French.

9 Les peinture indienne dans laepoque Mughal Sethonkine

भारतीय चित्रकलाके हर एक प्रेमीको रायल एशियाटिक सोसायटीकी रिपोर्ट तथा मुखपत्र, "रूपम्" "रूपलेखा", इण्डियन सोसायटीके मुखपत्र Art and Letters, माडर्न रिव्यू, बर्लिंगटन मेगजिन, Revue des arts asiatique, Ostasiatische Zeitschrift, Jahrbuch der indesche Kunst इत्यादि पत्रों तथा Boston Museum of Fine Arts, बृटिश म्यूजियम मेगजिन इत्यादि द्वारा प्रकाशित कैटलग अत्यन्त उपयोगी हैं।

श्वे-डेगोन पगोडा *

बा० धर्मचन्द्र खेमका "चन्द्र"

पगोडाओंकी पवित्र भूमि ब्रह्मदेशमें पदार्पण करनेवाले प्रत्येक यात्रीकी दृष्टि सबसे पहले श्वे-डेगोन-पगोडाके मणि-मण्डित स्वर्ण-शिखरकी ओर जाती है, जिसकी शोभा सूर्य्य-रश्मियोंके संघर्षसे सौगुनी अधिक हो जाती है। रंगूनमें जहाज द्वारा प्रवेश और प्रस्थान करनेपर शहरका सर्वप्रथम और अन्तिम दृश्य जो दीख पड़ता है, वह यही पगोडाका स्वर्ण-शिखर है।

उस विशाल दिव्य देवालयकी ओर प्रतिष्ठा-पूर्ण नेत्रोंसे अवलोकन करने तथा इस बातपर ध्यान देनेसे कि, शताब्दियोंसे असंख्य तीर्थ-यात्रियों द्वारा किस श्रद्धा और भक्ति-भावसे यह देखा जाता है, प्रत्येक मनुष्यका हृदय अनायास ही अभूतपूर्व आनन्दानुभव करने लग जाता है। निस्सन्देह यह एक ऐसी अपूर्व और आश्चर्य्यजनक वस्तु है, जिसपर समस्त बर्मानिवासी गर्व कर सकते हैं।

जिस पर्वत शिखरपर पगोडा स्थित है, देखनेमें तो वह आसपासके स्थलसे बहुत ऊँचा दीख पड़ता है, किन्तु शहरसे उसकी ऊँचाई सिर्फ १६० फीट है। उसका ऊपरी भाग समतल करके ६०० फीट लम्बी और ६८५ फीट चौड़ी चौरस भूमि, पगोडा बनानेके लिये, बनायी गयी थी। इसकी नींव कब और किसने डाली, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता।

ईसासे पूर्व ५८५ में (चबूतरेके शिलालेख १४८५ ई०से पूर्वके नहीं मिलते) एक बार बंगालमें भयानक अकाल पड़ा। इस बातकी खबर तपस्सु और ल्लिक नामक बर्मी व्यवसायियोंको लगते ही वे दो बड़ी-बड़ी नावोंमें चावल भरकर, अकाल पीड़ितों के सहायतार्थ, बंगालको चल पड़े। वे अपना काम पूरा करके लौटनेवाले ही थे कि, एक नट (देवता) ने प्रकट होकर उनसे कहा—"तुम लोग यहाँसे बोधगया जाओ। वहाँ तुम्हें बुद्धदेवके दर्शन होंगे।" उसके कहनेपर वे दोनों सहृदय दानी बर्मी बोधगया चले गये। वहाँ भगवान् बुद्धको, बोधिवृक्षके नीचे, ध्यानावस्थ बैठे पाया। उन्होंने बुद्धदेवके पवित्र चरणोंमें मधु भेंट की। बदलेमें बुद्धदेवने अपने आठ बाल दिये

* "श्वे" =सोना, "डेगोन"-रंगून शहरका पुराना नाम, "पगोडा"-बौद्ध मन्दिर।

और उनको उस स्थानपर गाडकर एक पगोडा (बौद्ध-मन्दिर) बनानेकी आज्ञा दी, जहाँ दण्ड, जलका पात्र और उनके पूर्वजोंके वस्त्र पहलेसे गड़े पड़े हैं। बुद्धदेवकी आज्ञाके अनुसार जब ये रंगूनके "बोटाठाऊ" (अब यहाँ शहर बस गया है, उस समय जंगल था) नामक स्थानपर पहुँचे, तब एक देव (नट)ने प्रकट होकर इनको सूले नामके देवतासे भेंट करनेका आदेश दिया। बहुत खोजनेपर सूलेसे भेंट हुई। जिस जगह सूलेसे भेंट हुई थी, वहाँ इस समय "सूले पगोडा" स्थित है। उन्होंने उस नटकी सहायतासे उस स्थानको ढूंढ़ा, जहाँ बुद्धदेवने बालोंको गाडनेकी आज्ञा दी थी। एक पात्रमें उन पवित्र बालोंको रखकर उन्होंने वहाँ एक २७ फीट ऊँचा पगोडा बनवाया। इस पगोडाको सात बार निर्माण किया गया है। कहते हैं, समय-समयपर इस पगोडाके लिये ईंटोंको बनानेमें जो मिट्टी काममें लायी गयी थी, उसके फलरूप सुप्रसिद्ध "रायल लेक" बन गयी है। भारतवर्षमें ही नहीं, यूरोपमें भी इसकी सी सुन्दर और दर्शनीय लेक (झील) नहीं है। पगोडाकी निर्माण-सम्बन्धी कथाको उसके पूर्वी फाटकपर बहुत सुन्दर खोदे हुए अक्षरोंमें वर्णन किया गया है। चारों दिशाओंमें चार विशाल प्रवेश-द्वार हैं। अँगरेजोंके अधिकारमें आनेके बाद पश्चिमी भाग बन्द कर दिया गया। इस समय दक्षिणी भाग प्रधान तथा परमोपयोगी मार्ग है। दरवाजेकी दोनों ओर "छिन्दे" (एक प्रकारके कल्पित सिंह) की विशाल मूर्त्ति स्थित है।

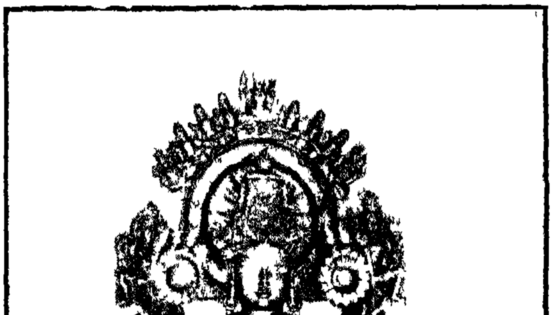
पगोडाके प्रवेशद्वारका सीढ़ियोंपर चढ़नेसे पहले जूते और मोजे हाथमें ले लेने पड़ते हैं। हाथमें लिये हुए पगोडापर घूम-फिर सकते हैं, किन्तु पहने हुए नहीं जा सकते। पगोडापर जानेके लिये जो सीढ़ियाँ बनी है, उनके किनारे-किनारे, नीचेसे ऊपरतक, जगह-जगह, छोटी-छोटी दूकानें, नवयुवती बर्मी स्त्रियाँ लगाये बैठी रहती हैं। उनकी सज-धज देखने लायक होती है। वे यात्रियोंसे बड़े ही मधुर शब्दोंमें पूजार्थ सुगन्धित पुष्प, ध्वजाएँ, पत्र छत्रक (कागजके छाते), मोमबत्तियाँ धूपबत्तियाँ और सोनेके पात्रादि खरीदनेके लिये आग्रह करती रहती हैं। बुद्धदेवकी मुख्य पूजाकी सामग्री यही है। वहाँ कोई रुपया-पैसा नहीं चढ़ाता। उसी रास्तेमें, दाहिनी ओर, एक छोटा-सा बाजार है, जहाँ दूसरी विविध वस्तुओंके अतिरिक्त खाने पीनेकी चीजें भी मिलती हैं। मांसादिसे पगोडाके भीतर भी किसी तरहका परहेज या घृणा नहीं है। वहाँ भी पकाया और खाया जाता है। उत्सवके अवसरपर नृत्य-वाद्यके साथ ही विशेष रूपसे खाद्य-वस्तुओंकी दूकानें भी लगायी जाती हैं। सीढ़ियोंकी अगल बगल बड़ी बड़ी बेंचें, विश्राम करनेके लिये, पड़ी हैं। सीढ़ियोंकी बायीं ओर कई एक "जयात" (विश्रामालय) हैं। ऐसे 'ज़यात" पगोडापर भी बहुतसे हैं, जो चारों ओरसे खुले हुए हैं। ये उन यात्रियोंके लिये हैं, जो सदैव आया करते हैं। दूर देशोंसे आनेवाले यात्री भी यहीं विश्राम और भोजन करते हैं। इनमें ठहरनेके लिये भाड़ा नहीं देना होता। जबतक यात्री चाहे, ठहर सकते हैं। ये 'जयात" अधिकतर उत्तम संगतराशी, शिल्प और काचकी पच्चीकारीसे, बड़े ही सुन्दर ढंगसे, सजे होते हैं। पगोडाके बाहर, दक्षिणी प्रवेश-द्वारके पास ही, कई बड़े-बड़े "जयात" हैं, जिनमें अधिकांश 'पुङ्गी" (बौद्ध भिक्षु) रहते हैं। सीढ़ियोंकी छतोंपर बहुत सुन्दर रंग-बिरंगी चित्रकारी और संगतराशी है। यहाँ गौतमबुद्धके पूर्व जीवनके



१३८—४थी सदीके बौद्धस्तूपोंसे प्राप्त मिट्टीके बर्तन
(मीरपुरखास, सिन्ध)



१३९—प्राचीन पाषाणमयी गृहस्थ-प्रतिमा



१४०—हाँसी (जि० हिसार) की सूर्यप्रतिमा
(मध्ययुगीन)



१४३—वर्माके राजा मीडून मीन, जिन्होंने श्वे-डेगोन पगोडापर स्वर्णचित्राच्छादित छत्र चढाया था



१४१—श्वे-डेगोन पगोडा, रंगून



१४२—श्वे-डेगोनके विभिन्न मन्दिर



१४४—श्वे डगोनका नया स्वर्णच्छत्र



१४५—श्वे डगोन पगोडाकी बौद्धमूर्त्तियाँ



१४६—श्वे-डेगोनका महाघंट, जो संसारमे तीसरा है



१४७—पूजाभिलाषिणी वर्मी-महिला

घटनाओंमेंसे एकका इतिहास (जिसमे उन्होंने दान-पुण्यके उत्तम गुणोंका सोदाहरण दिग्दर्शन कराया है) है। भिन्न-भिन्न नरकोंके दृश्य, इसके साथ ही बुद्ध, काश्यपके दो चित्र (जो गौतमकी मूर्त्तिके ऊपर गमनार्थ निषेधके भाव प्रकट करते हैं) हैं।

सीढियोंकी चढ़ाई समाप्त होते ही चबूतरेपर, सामने, एक विशाल मन्दिर दीख पडता है। उसमें बुद्धदेवकी छोटी-बडी बहुतसी मूर्त्तियाँ हैं। चबूतरेपर ऐसे-ऐसे कई मन्दिर है। मन्दिरोंमें मूर्त्तियोंके आगे सहस्रों मोमबत्तियाँ और अगरबत्तियाँ जलती रहती हैं। पूजार्थ लाये हुए पुष्प मूर्त्तियोंपर नहीं चढ़ाये जाते। वे सब गुलदस्तोंमें रख दिये जाते हैं। मन्दिरोंमें, भगवान् बुद्धकी मूर्त्तियोंके सामने, बर्मी स्त्री, पुरुष, बालक और बालिकाएँ, घुटनोंके बल बैठकर, करबद्ध 'फया! फया!!" (पगोडा) करते दीख पडते हैं। जिस श्रद्धा और भक्ति-भावसे वे प्रार्थना करनेमें तल्लीन नजर आते हैं, वह स्मरणीय है।

इस चबूतरेके बीचो-बीच एक और बहुत ऊँचा और गोल चबूतरा है। यह घंटेके आकारका है। ज्यों-ज्यो यह ऊँचा उठा है, क्रमशः पतला होता गया है। इसके ऊपरकी चोटी नुकीली और बहुत ऊँची है। वास्तवमें इसी मीनारको पगोडा कहते हैं। बर्मी भाषामें इसका नाम "ज़ेदी" (चैत्य) है, यद्यपि साधारणतः यह "फया" कहलाता है। इसकी ऊँचाई ३७० फीट और लम्बाई-चौडाई १,३५५ फीट है। यह ऊपरसे नीचे तक स्वर्ण-पत्राच्छादित है। इसपर प्रायः स्वर्ण-पत्र चढ़ते हैं। कहते हैं, इसकी नीँवमें बुद्धदेवके वे पवित्र आठो बाल गडे हैं।

पगोडा बारह खण्डोंमें विभक्त है—(१) फर्श, (२) तीन मंजिलें, (३) घंटा, (४) भिक्षा-पात्र, (५) बँधी हुई पगडी, (६) कमलका फूल, (७) केलेकी कली, (८) पीतलका पत्र—जिसपर छत्र टिका हुआ है, (९) छत्र, (१०) पुष्प, (११) तीरका पर, और (१२) हीरेकी कली। स्वर्णपत्राच्छादित छत्र जो चोटीपर लगा हुआ है, उसे माण्डलेके राजा मिण्डन मीनने, सन् १८७१ ई० में, चढ़ाया था। उसकी कीमत ६० हजार पौण्ड आँकी जाती है। व्यास १३ फीट ६ इंच; ऊँचाई ४७ फीट और वजन सवा टन है। इसके ऊपर पन्द्रह हजार घंटे लगे हुए हैं। उनमेंसे १०० घंटे सोनेके हैं और शेष सब चाँदीके हैं। तीरका पर और हीरेकी कली रत्नजटित है। उसमें ३६६४ लाल, ५४१ पन्ने और ४३३ हीरे हैं। यह छत्र पिछली बार, जब सन् १९३० में भूकम्प हुआ था, पगोडाकी चोटीसे चबूतरेपर गिर पड़ा था। बादमें जीर्णोद्धार करके, बडे समारोहके साथ, पुनः चढ़ाया गया था।

प्रवेश-द्वारसे दाहिने हाथकी ओर मुडनेपर पगोडाका ट्रस्टी-कार्यालय मिलता है। उसके अधिकारमें पगोडाकी सम्पूर्ण सम्पत्ति है। यह एक निर्वाचित समिति है। धनकी सन्दूक दोहरी संकिलोंसे जकडकर, ताला लगाकर, रखी हुई है। उसकी ओर, एक छोटी घंटीके द्वारा, दर्शकोंका ध्यान आकर्षित किया जाता है। उसमें पगोडाके जीर्णोद्धारके लिये द्रव्य एकत्र किया जाता है। पगोडाकी मरम्मतका काम कभी बन्द नहीं होता, कुछ-न कुछ सदैव चलता रहता है!

पगोडाके फर्शकी चारों ओर खम्भोंपर सप्ताहके दिनोंके नाम और पास ही जानवरोंके नाम दीख पडते हैं। ये सप्ताहके आठ दिनके सिवा

बुधवारके मध्याह्नोत्तर —अर्धरात्रिके समयतक, "याहू" (राहु) अधिक है। बर्मी लोगोंका विचार है कि, जब कभी ग्रहण पड़ता है, तब इस "याहू" नामक नूतन ग्रहसे सूर्य और चन्द्र ग्रसित होते हैं। प्रत्येक बर्मी लड़केका नाम, जिस दिनमें वह पैदा होता है, उसी दिनके आरम्भ होनेवाले अक्षरपर रखा जाता है। दिन सदा याद रखा जाता है भले ही तारीख भूल जाय। वह दिवस, जिसमें मनुष्य पैदा होता है, 'नैन" कहलाता है। इन "साइन-बोर्डों"से प्रकट होता है, वह अपनी "नैन-कैंडल" (बत्ती) लाल या पीले मोमकी, अनेक प्रकारके पशुओंके आकारकी बुद्धको, समर्पण करे। ग्रह, जिसका कोई-न कोई जानवर प्रतिनिधि होता है, सप्ताहके प्रत्येक दिनको अधिकृत करता है। स्थिति निम्न प्रकार है--

सोमवार	चन्द्र	व्याघ्र	पूर्व
मंगलवार	भौम	सिंह	आग्नेय
बुधवार (मध्याह्नतक) बुध		गजकर	दक्षिण
बुधवार (मध्याह्नोत्तर) याहू		करहीन गज	वायव्य
बृहस्पतिवार	बृहस्पति	चूहा	पश्चिम
शुक्रवार	शुक्र	शूकर	उत्तर
शनिवार	शनि	दैत्य	नैर्ऋत्य
रविवार	सूर्य	गेलन	ईशान

गेलन एक पक्षीकी कल्पित जाति है। वह भीमाकार बतलायी जाती है। मेरु-पर्वतके भागोंमेंसे (बौद्धोंका विश्व-मध्य) एककी रक्षा करती है। विश्व-सम्बन्धी बौद्ध विचारोंपर यहाँ कुछ विचार करना आवश्यक है, जो सरसरी तौरपर ये हैं--

विश्वके मध्यमें 'म्यो मो टौंग"या मेरु शिखर सबसे ऊँचा है। इस शिखरपर देवोंकी छः बैठक हैं। यह चार द्वीपोंसे घिरा हुआ है। दक्षिणी द्वीपपर मनुष्य निवास करते हैं। पाँच सौ लघुद्वीप उसकी चारों ओर स्थित हैं। इनपर बौद्ध और अन्य-मतावलम्बी भारतीयोंको छोड़कर अन्य अंग्रेज आदि जातियाँ रहती हैं। उत्तरी द्वीप देवोंका आनन्ददायक देश है। वहाँ एक वृक्ष उत्पन्न होता है, जिससे समस्त आवश्यक वस्तुएँ (वस्त्र, साफ और पक्के चावल तथा वे सभी वस्तुएँ, जो जीवनके लिये उपयोगी हैं) प्राप्त होती हैं। इस जीवनमें सिर्फ यही त्रुटि है कि, वहाँके निवासियोंको उसी द्वीपमें बारम्बार पुर्नजन्म लेना पड़ता है।

आगे बढ़नेपर उत्तरकी ओर "टगुएडेंग" नामक लम्बे बाँसपर सर्पाकार लम्बी ध्वजाएँ फहराती हुई दिखायी देती हैं। इन बाँसोंका उपयोग मालूम करना वस्तुतः असम्भव है, क्योंकि यह किसीको नहीं प्रतीत होता कि वे किस अभिप्रायसे लगाये गये हैं। उनमेंसे कुछके शिखरोंपर "हिन्था" नामक बड़ा भारी पक्षी दृष्टिगोचर होता है, जो कि, बर्मी धर्मशास्त्रमें धार्मिक पक्षी माना जाता है (मेजर स्पीयरमैनने इसको भगवान् विष्णुका वाहन गरुड़ बतलाया है)। स्थानीय जनश्रुति यह है—

महात्मा गौतमकी धर्मपत्नीने उनसे निर्वाण जानेकी अनुमति माँगी और उन्होंने यह स्वीकार कर लिया। पूछा, "वह किस रूपमें जाना चाहेगी।" उन्होंने पक्षीके रूपको पसन्द किया। अतः जहाँ कहीं पगोडा बनाया जाता है, "हिन्था" पक्षी कहीं निकट ही पाया जाता है, ताकि वह मृत्यु होनेपर बिछुड़ न सके। इन बाँसोंमेंसे एक

की जड़में चढ़नेका प्रयत्न करते हुए मनुष्य और उन्हें नीचेकी ओर खींचते हुए साथियोंके चित्र हैं। उसकी चोटीपर एक लघुमूर्त्ति अपने पैरोंमें एक पत्थरको पकड़े हुए दृष्टिगोचर होती है। बिगैण्डेट द्वारा रचित, गौतमकी जीवनीमें वर्णित निम्नाङ्कित दृष्टान्तको प्रकट करनेके निमित्त, ये मूर्त्तियाँ बनायी गयी हैं--

'एक दिन एक धनाढ्य व्यक्ति गंगाके किनारे सैर करनेके लिये गया, न तो वह बौद्ध ही था और न विरुद्ध पक्षके सिद्धान्तोंको ही माननेवाला। उसने दोनोंमेंसे कुछ ऐसे सिद्धान्तोंको, जो उत्तम और सब प्रमाणोंसे युक्त हों, चुनकर अपना एक मध्यवर्ती धर्म बना लिया था; किन्तु विरुद्ध पक्षवालोंके ऊपर बौद्धधर्मकी विजय स्वीकार करानेके लिये उसे एक सुयोग मिल गया। उसने गंगाके प्रवाहमें एक चन्दनकी लकड़ी बहती देखी। उसको उसने उठा लिया और एक सुन्दर 'पात्र" बनवाया। जब वह बनकर तैयार हो गया, उसने उसपर ये शब्द लिखवा दिये -"जो हवामें निराधार उड़ सके, वह इसे ग्रहण करे।" वह "पात्र" शृंखला-निर्मित ६० हाथ ऊँचे चढ़ावपर लगाया गया था। कुछ विरोधी लोगोंने, जो उसके पड़ोसमें रहते थे, बारम्बार उस धनिकसे पात्र उतारकर उन्हें दे देनेकी प्रार्थनाएँ कीं। उसने उनको उत्तर दिया, "पात्र उसी व्यक्तिको दिया जा सकेगा, जो उड़कर उसके पास पहुँच सके।" एक दिन उन विधर्मियोंके मुखियाने उड़नेके लिये तैयार होनेका बहाना किया, किन्तु जब वह अपनी भुजाओं और अपने एक पैरको आगे बढ़ा रहा था, तब उसके शिष्योंने पूर्व निश्चित षड्यन्त्रानुसार उसे पकड़ लिया और कहने लगे, "यह उचित नहीं है; आप ऐसे तुच्छ कार्यमें प्रवृत्त हों।" मगर वह सतर्क धनिक इस तरह उनके धोखेमें न आया, वह अपनी पूर्व प्रतिज्ञापर दृढ़ रहा और छः दिनोंतक इन तमाम प्रार्थनाओंका विरोध करता रहा। सातवें दिन मोग्गलान भोजनकी तलाशमें उधर जा निकले। उनको, जो कुछ वहाँ हो चुका था, सारा वृत्तान्त कह सुनाया गया। साथ ही उनसे यह भी कहा गया कि, वह धनिक और उसका सारा परिवार उस व्यक्तिके शिष्य बन जायँगे, जो उड़कर उस चन्दनके पात्रको ला सके। मोग्गलान भगवान् बुद्धकी कीर्त्तिके वर्द्धनार्थ हवामें उड़नेके लिये तैयार हो गये, किन्तु उनके साथीने सम्मति न दी। कहने लगे--"ऐसा आसान काम तो किसी कम योग्यता वाले व्यक्ति द्वारा किया जा सकता है।" वह इस प्रस्तावपर सहमत हो गये। तत्पश्चात् उनका साथी अपने पैरकी अँगुलियोंसे पौन योजन चौड़ी चट्टानको लेकर हवामें उठा। चारों ओर अन्धकार छा गया। सब लोग भयभीत हो, मरणासन्न हो गये। उन्हें डर लगने लगा, शायद वह चट्टान उनके सिरपर आ गिरे। मोग्गलानके साथीने चट्टानके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। उसका शरीर एकत्र जनसमूहको दृष्टिगोचर होता था। इस प्रकार दिन भर अपनी शक्तिका चमत्कार दिखलाकर चट्टानको जिस जगहसे उठाया था, वहीं गिरा दिया। धनिकने, इस अद्भुत कार्यपर मुग्ध हो, उसे नीचे आनेके लिये कहा, चन्दनका पात्र नीचे उतार लिया और उत्तम चावलसे भरकर उसको भेंट कर दिया।"

पूर्वी दरवाजेकी दाहिनी ओर एक बहुत बड़ा "टजान" (मन्दिर) है। उसके दूसरे सिरेपर बुद्धदेव

की एक लेटी हुई मूर्त्ति है। दीवारोंपर, चारों ओर, बुद्धदेवकी जीवनी खोदी हुई है। उसके पास ही एक हालमें एक बडा भारी घण्टा है। यह थारावाडी (तारावती) के राजा द्वारा, सन् १८४० ई०में, समर्पित हुआ था। संसारके सबसे बडे घण्टोंमेंसे यह तीसरा है। इसकी ऊँचाई १४ फीट, गोलाई २२॥ फीट और मोटाई १५ इंच है, मुँहके पाससे, व्यास ७॥ फीट और इसका वजन ४२ टन है।

सन् १८५३ ई० में अँगरेजी सिपाहियोंने इस पवित्र घंटेको ले जाना चाहा। पगोडासे उठाकर जहाजपर रख लिया। लेकिन "महागन्द" (महाघंट) (मधुरोच्च शब्दवाला) को जहाजमें रखते ही जहाज उलट गया और रंगून-नदीकी तहमें फँस गया! उसको निकालनेके सारे प्रयत्न व्यर्थ गये। अन्तमें बर्मी लोगोको उसको निकालनेकी आज्ञा दी गयी। वे इसमें सफल हुए और उस घण्टेको अपने पुराने स्थानमें स्थापित कर दिया। इस घंटेके नीचे हिरणकी सींगे पडी रहती हैं। उन्हींसे यात्री लोग इसे बजाते हैं। लोगोका ऐसा विश्वास है, जो मनुष्य इस घंटेको जितनी बार बजायगा, उसे उतनी ही बार बर्मामें आना होगा। जो पुन. बर्मामें आना पसन्द नहीं करते, वे बजाते भी नही!

पगोडामें कही-कही "बीलू" (कल्पित राक्षस) की मूर्त्ति पायी जाती है। यह मनुष्य-मास-भक्षी है, विशेषत. बच्चोंका। रक्त नेत्र, लम्बे-लम्बे दाँत, छायाहीन और दैवीशक्ति-युक्त है। बर्मी माताएँ अपने दु:खदायी बच्चोको डरानेके लिये मुख्यत वैसे ही प्रयोग करती हैं, जैसे अपने यहाँ "हौआ"का!

पगोडामे जगह-जगह "नटो"की मूर्त्तियाँ और चित्र बने हुए है। नट बर्मीलोगोके एक प्रकारके देवता हैं। बर्मी लोगोंके जीवनमें "नट"का विश्वास बहुत बड़ा कार्य करता है। यदि वे उन्हें प्रसन्न न रखे, तो न जाने "नट" क्या कर डालें। वे अपने कार्य्योंमें इन विचारोंसे नियन्त्रित रहते हैं। यदि बर्मी विवाह करता है या भवन-निर्माण करता है, तो पहले "नटों" से सम्मति प्राप्त कर लेता है! यह बतलाना निरर्थक है, यह बुद्ध-सिद्धान्तके बिलकुल विपरीत है, परन्तु यह अत्यन्त प्राचीन कालकी परम्परागत रूढि है।

उत्तरी दरवाजेसे पगोडाकी ओर सीधे जाते हुए दर्शकोंको दाहिनी ओर "ज़यात"से ढका हुआ लघु-कूप-छिद्र दीख पड़ता है। यह सुरग-मार्ग पगोडाके कोष-स्थानको जाता हुआ अनुमान किया जाता है। कोई भी ऐसा नही, जो नीचे पहुँचने और वहाँ क्या है, यह पता लगानेका साहस कर सके, परन्तु कोष-स्थान-सम्बन्धी कहानियाँ और सञ्चित द्रव्य वहाँ है, यह स्वीकार किया जा सकता है।

भीतरी स्थानोंके सामने, छोटे गिरजाघरोंके समान, विशाल-प्रतिमा स्थित चार मन्दिर बने हुए है। ये मन्दिर बैठी हुई भीमाकार बुद्ध-प्रतिमाओंसे सजे हुए है। इनके आलोंमे जो कारीगरीका काम है, वह बडा ही सुन्दर है। उन सहस्रों दीपों और मोमबत्तियोसे (जो वहाँ जलायी जाती हैं) कई स्थानोमें मोटे सोनेका मुलम्मा और गहरा हो जाता है। गौतमकी विविध प्रकारकी सैकडो प्रतिमाएँ चारों ओर बनी हुई हैं। छतके चित्र बडे परिश्रमपूर्वक लकडीपर चित्रित किये गये हैं। उनमे कोई नाच रहा है, कोई लड रहा है, कोई आकाशमें उड रहा है और कोई सिरपर हाथ रखे ध्यानमग्न है। सिहके सामने चावल और पुष्पादि चढानेके लिये ऊँचे पत्थरके चबूतरे बने हुए हैं। यह चढावा

सम्पूर्ण पगोडाका होता है; केवल उसी मन्दिरका नहीं।

प्रत्येक मन्दिरकी छतोंकी पङ्क्तिपर पङ्क्ति है, जो बहुत-सी मंजिलोंके आकारको प्रकट करती हैं, हालाँ कि, वे एक ही होती हैं। एक ही मंजिल होनेका कारण यह होता है कि, बौद्ध भिक्षु अपने ऊपर किसीका होना अपमान समझते हैं। इस तरहका गृह-निर्माण केवल धार्मिक इमारतों, राज महलों और उच्चपदस्थ कर्मचारियोंके लिये ही हो सकता है, औरोंके लिये नहीं।

दर्शक मूर्त्तियोंके आधिक्यसे सदैव भ्रममें पड़ जाते हैं। वस्तुतः वे सब बुद्धदेवकी ही हैं, किन्तु उनके बनानेका धार्मिक ढंग तीन तरहका है।

बैठी हुई मूर्त्तियोंमें भगवान् बुद्ध पालथी मारे बैठे दिखाये गये हैं। बायाँ हाथ खुला हुआ पालथी पर और दाहिना हाथ खुला हुआ दाहिने घुटनेपर टिका है। अंगुलियाँ पृथ्वीकी ओर झुकी हुई हैं। बोधिवृक्षके नीचे ध्यानावस्थित बैठे हैं। ये उस ढंग की समझी जाती हैं, जब उन्हें दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ था। यह सर्वत्र एक से आकारकी पायी जाती हैं।

खड़ी मूर्त्तियोंमें बुद्धदेव खड़े हुए, उपदेश देते हुए, दिखाये गये हैं। दोनों हाथ उठाये हुए हैं या दाहिना हाथ कन्धेके पास खुला हुआ है। हथेली बाहरकी ओर है। सुननेवालोंको विश्वास दिलाया जाता है कि, वह अभयदायक है। पगानवालोंकी मूर्त्तियोंका यह ढंग ही उसमें प्रेम और दानका ढंग भी प्रकट करता है। जो खुला हुआ हाथ, सामने हथेली किये, लटकता है, उससे भगवान् बुद्ध अपने उपदेशोंसे दान (आशीर्वाद) प्रदान करते हैं।

लेटी हुई मूर्त्तियोंमें बुद्ध निर्वाण प्राप्त कर रहे हैं। दाहिनी करवट लेटे हुए हैं। दाहिने हाथपर सिर टिका है। दूसरी ओर, बायें पैरपर, वाम हस्त पूरा फैला हुआ है। पेगूवाली १८१ फीट लम्बी विशालकाय मूर्त्ति इसका उत्तम प्रमाण है। इस प्रकारकी निर्मित मूर्त्तियाँ "शिन-बिन-था-ल्यौग" कहलाती हैं। जो मूर्त्तियाँ उनकी मृत्युसमयकी द्योतक हैं, वे भी इसी प्रकारकी हैं। उनमें सिर्फ हाथपर सिर टिकनेके बजाय हाथ तकियेपर टिका हुआ है। प्राचीन मूर्त्तियोंके ढंगसे शान्ति और बड़प्पनके भाव प्रकट होते हैं, और, आधुनिकोंसे प्रायः मुस्कराहटके। पगोडामें सबसे अधिक बैठी, उससे कम खड़ी और उससे भी कम लेटी हुई मूर्त्तियाँ हैं।

मंगोलियनकी अपेक्षा विशेष आर्य-आकृतिकी मूर्त्तियाँ हैं। विशेषतः पेगनमें, टैवेटैमें ऐसी ही मूर्त्तियाँ पायी जाती हैं। यह तेलैंगजातिके लोगोंका शहर है। इनकी प्रतिमाएं भी आर्य आकृतिकी हैं। तेलैंग लोगोंने साहित्य और सभ्यता भारतसे ही प्राप्त की है।

बुद्धके भिन्न-भिन्न चिह्न ये हैं—लौ (कर्णभूषण) कंधोंको छूते हैं। सिरकी चोटीपर बालोंका गुच्छा है और निराले ढंगके टेढ़े बाल एकमें जुटे हुए हैं। पिछली बातके लिये बतलाया जाता है, उस महा-त्यागवाली रात्रिमें, जिस दिन राजकुमार सिद्धार्थने राजमहलको छोड़ा था, अपनी तलवार निकालकर उन्होंने एक इंच लम्बी शिखा काट डाली और बालों की वह लम्बाई ठीक वैसी ही रही।

अधिकांश मूर्त्तियोंकी आँखोंके बीचमें माथेपर जुल्फे हैं। उनके बारेमें यह किंवदन्ती प्रचलित है कि, वे खींचनेपर बढ़ जाती हैं और ढीली छोड़नेपर फिर छोटी हो जाती हैं।

बैठी हुई मूर्त्तियोंके पैरोंके तलवे सीधे घुटनोंपर हैं और दाहिना पाँव कुछ आगे है। सन्देहशील ब्राह्म-

णोंको अपना बुद्धत्व जतलानेके लिये गौतम प्राय: अपने पाँवके वे चिह्न (३२ लक्षण) दिखलाया करते थे, जो एक सच्चे बुद्धके पैरमें होते हैं। वे सदैव इसी आसनसे बैठा करते थे जिससे लोग बिना किसी असुविधाके इन आश्चर्यजनक चिह्नोंको देख सकें, जो उनके इस उत्थानके निर्देशक थे। पगोडाकी उच्च भूमिपर, कहा जाता है, बुद्धदेवके चरण-चिह्न हैं। उत्तरीय द्वारकी दाहिनी तरफ 'ताजौंग" (यह भी 'जयात" की तरह विश्रामालय है, सिर्फ पूजार्थ, रहनेके लिये नहीं) में एक ऐसा ही उदाहरण है, जो सर्पाविष्ट है। यहाँपर बर्मी राजाओंके समान वस्त्राभूषणयुक्त बुद्धदेवकी बैठी हुई विशाल प्रतिमा है।

यह कहा जाता है, जहाँ कहीं बुद्धदेव चलते थे, एक कमलका पुष्प उनके पैरोंके नीचे पैदा हो जाता था, जिससे उनके पैरोंका संसर्ग पृथ्वीसे न हो, इसी लिये केवल बर्मा और सीलोनमें ही उनके चरण-चिह्न मिलते हैं।

इससे आगे सुसंगठित चट्टानोंमें निकला हुआ एक बड़ा भारी वट-वृक्ष मिलता है। बर्माके सारे पगोडोंके नमूने इन चट्टानोंमें मिलते हैं तथा बुद्धदेवके जीवनका कई घटनाएँ भी यहाँ अङ्कित हैं। इसके पास ही शान-छतरियाँ (छाते) हैं, जो लोहेकी बनी हैं। बौद्ध-पूजा-विधानमें इनका बहुत भाग है।

दक्षिणी दरवाजेपर फिर पहुँचनेके लिये, घूमनेके पहले ही, वहाँ एक बड़ा ही मनोमोहक सुन्दर चीन "टाजौंग" (बौद्ध-मन्दिर) मिलता है। वह चीनके बौद्ध सन्यासीके अधिकारमें है। उसकी संगतराशी और मूर्त्तियाँ चीनी ढंगकी हैं। वे देखने योग्य हैं।

पगोडाकी नींवपर सहस्रों छोटे-बड़े मन्दिर बने हुए हैं। वे सब भिन्न-भिन्न मनुष्योंके भिन्न-भिन्न समयोंमें बनाये हुए हैं। उनमेंसे एकको देखनेसे मालूम होता है, कठघरोमें बुद्धदेवकी मूर्त्ति है, और, उससे पहले--कठघरोंके बाहर--उसके संरक्षकोंकी मूर्त्तियाँ, चढ़ावेका शेषांश फूल, मोमबत्तियोंका जला हुआ हिस्सा और एक नागराजकी मूर्त्ति है।

पगोडाके पूजनका मुख्य चढ़ावा चावल, मोमबत्तियाँ, पुष्प, कागजके छाते और जल है।

जलसे भरे हुए मिट्टीके तेलके पीपे पगोडापर पड़े रहते हैं। यात्री लोग पैसे देकर प्रार्थनाके बाद बुद्ध-प्रतिमापर या चबूतरेके फर्शपर चढ़ाते हैं। जल दानका पुण्य माना जाता है।

सन् १९३१ ई० में पगोडाके चबूतरेपर एक भयङ्कर अग्निकाण्ड हो गया था, जिसमें कई बड़े-बड़े मन्दिर जलकर नष्ट हो गये। करोड़ों रुपयोंका नुकसान आँका जाता है। उतनी लागतके और वैसे मन्दिर तो अब बन नहीं सकते, फिर भी मरम्मतका काम चल रहा है।

उत्तरकाशीका शक्तिस्तम्भलेख

प० वीरभद्र शर्मा तैलग, वेद-काव्यतीर्थ

हरद्वारसे १४० मील दूरपर, गंगोत्तरीके रास्तेमें, सुप्रसिद्ध उत्तरकाशी है। कहा जाता है कि, उत्तरकाशी टिहरी-राज्यका तीसरा शहर है; स्कूल, डाकखाना, म्युनिसिपल बोर्ड आदि इस बातका समर्थन करते हैं। यात्रियों के लिये दो धर्मशालाएँ हैं, जिनमें काली कमलीवाले-की प्रसिद्ध है। उत्तरकाशीका विश्वनाथ मन्दिर बहुत अच्छा है। कई चिह्नोंसे मालूम पड़ता है कि, मन्दिरका संस्कार ४-५ बार हो चुका है। पत्थरके सुन्दर टुकड़ों और मूर्त्तियोंसे इसकी प्राचीनताका पता सहज ही लग जाता है। मन्दिरके आँगनमें ही, सामने, एक शक्तिस्तम्भ है, जिसे त्रिशूल, ध्वजस्तम्भ या जयस्तम्भ भी कह सकते हैं। इसका नीचेका हिस्सा, करीब एक हाथ लम्बाईमें, ताँबेके शिखरसे प्रतिबद्ध किया हुआ है। लोगोंका कहना है कि, इस तरहके सात शिखर जमीनके भीतर हैं। ऊपरको, १७ फीटतक लम्बाईमें, पीतलका हिस्सा है। ऊपरी कोनेमें, जहाँ त्रिशूल और फरसा बना है, तीन फीट लम्बाईमें लोहेका हिस्सा मालूम पड़ता है। इसकी कुल ऊँचाई पृथ्वी-तलसे २१ फीट है। दो फीटकी मोटाईसे अष्टकोण बना है। इसके दो पहलुओंपर तीन पङ्क्तियोंका एक लेख, दो फीट लम्बा, खोदा गया है।

हमने पहलेसे सुन रखा था कि, रास्तेमें पुरातत्त्वकी कुछ सामग्री मिलेगी; इसलिये शिला-ताम्र-लेखोंकी छाया उतारनेके साधन साथ रख लिये थे। हम अपने साधनोंसे स्तम्भ-लेखको साफ कर ही रहे थे कि, बीचमें पुजारी-जीका आगमन हुआ। वे मारे गुस्सेसे बोलने लगे—"आप लोगोंने इन चीजोंसे शक्तिकी पवित्रताको नष्ट कर दिया है। इसे शुद्ध करनेके लिये भारी खर्च देना होगा, अन्यथा आप लोगोंके ऊपर मुकदमा चलेगा।" बहुत कहा-सुनीके बाद, 'महाराज'को दक्षिणा दे, हमने अपने कार्यकी पवित्रताको सिद्ध कर दिया! तीन घंटे परिश्रम किया गया। लेखकी छाया बहुत उत्तम आयी। लेख तीन पङ्क्तियोंमें है। पहली पङ्क्ति कुछ छोटे अक्षरोंसे लिखी गयी है; इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्दका एक श्लोक है। दूसरीमें बड़े अक्षरोंसे उसी छन्दका एक और श्लोक है। तीसरीमें बहुत बड़े-बड़े अक्षरोंसे एक 'स्रग्धरा' लिखी गयी है। पूरा लेख शुद्ध संस्कृतमें साफ और सुन्दर है, केवल एक अक्षर ठीक नहीं मालूम पड़ा। इस लेखके एक एक श्लोकको, सुविधाके वास्ते, चार पादोंमें काटकर मैंने अलग बनवाया है, नहीं तो वह पङ्क्ति बहुत लम्बी हो जाती। पाठ इस प्रकार है—

पहला श्लोक—

"ॐ आसीद्यः क्षितिपो गणेश्वर इति प्रख्यातकीर्त्तिर्नृपः
चक्रे येन भवस्य वेश्म हिमवच्छृङ्गोच्छ्रितं दीप्तिमत्
कृत्वाशु * र्गिनजाधिप[·] स्वरूपणो सामात्यभार्यश्रियं
स्मृत्वा शक्रसुहृत्त्वमुत्सुकमना यातः सुमेर्वालयं ॥

दूसरा श्लोक—

पुत्रस्तस्य महाभुजो विपुलदृक्पीनोन्नतोरस्थलः
रूपत्यागनयैरनंगधनदव्यासानतीत्योद्गतः
नाम्ना श्रीगुह इत्युदारचरितः सद्धर्म्मधुर्यस्मृता
शक्तिः † शत्रुमनोरथप्रमथना शम्भोश्चकारायतः ॥

* "कृत्वाशु" पढ़ सकते हैं।—लेखक। † यह 'विसर्ग' ज्यादा है।—लेखक।

तीसरा श्लोक—

प्रातः प्रातर्मयूखैरुरुभिरविरल शार्वरं ध्वान्तमभ्र-
*न्तालं चश्चाकृतारानि*करपरिकरोदारशारोदरत्व*
स्व बिम्ब चित्र बिम्बाम्बरतलतिलक यावदर्को विधत्ते
तावत्कीर्त्तिः सुकीर्तैश्चिरम रेमथनस्यास्तुराज्ञःस्थिरेयं ।ठ।

मतलब कि, "प्रजानुरागी 'गणेश्वर' नामक राजा अत्यन्त उन्नत श्रीविश्वनाथका मन्दिर बनवाकर, मन्त्रियों-सहित अपनी राज्य-लक्ष्मीको अणु समझकर और उसे प्रियजनोंके वशमें देकर इन्द्रकी मित्रताकी यादमें उत्सुक हो, सुमेरु-मन्दिर (स्वर्ग या कैलास)को, चला गया ॥१॥" (इस श्लोकमें जो "हिमवच्छृङ्गोच्छ्रतं" है, इससे यह स्पष्ट नहीं प्रतीत हो रहा है कि, उसने सम्पूर्ण मन्दिरको बनवाया या शिखरोंका ही संस्कार करवाया था। "वनजाधिप" शब्दसे वह जंगली राजा मालूम पड़ता है। "शक्रसुहृत्" राजाको अत्यन्त बलशाली सिद्ध करता है)।

"राजा गणेश्वरके बाद उसके पुत्र श्रीगुहके हाथमें राज्य आया, जो अत्यन्त बलशाली, विशाल नेत्र और दृढ़ वक्षःस्थलवाला था। उसने सौन्दर्यमें मन्मथको, दानमें कुबेर † को, नीति या शास्त्रोंमें वेदव्यासको जीत लिया था। वह धार्मिकोंका अगुआ और बड़ा उदार था। उसने ही भगवान्‌के सामने इस शक्तिस्तम्भकी स्थापना की थी। उसे देखते ही शत्रु लोग डर जाते थे; क्योंकि वह प्रतापी और सुन्दर गुणवाला था ॥२॥"

"जबतक भगवान् सूर्य अपनी तरुण किरणोंसे गाढ़ान्धकारको नष्ट करके नक्षत्रोंकी चित्र-चर्याको मिटाकर गगनफलकमें अपने बिम्बरूपी तिलकको लगाते रहें, तबतक प्रतापी राजा गुहकी यह कीर्त्ति सुस्थिर रहे ॥३॥"

लिपिके विचारसे हम कह सकते हैं कि, यह राजा विक्रमीय संवत्‌की ५ वीं या छठी शताब्दीमें हुआ हो। इस स्तम्भ-लेखकी लिपि गुप्तकालीन लिपिके आसपासकी हो सकती है। कविता प्रसादगुण-पूर्ण और यमक-भूषित है। लेखके पहले 'ॐ' और अन्तमें 'ठ' लिखा गया है। प्राचीन पद्धतिके अनुसार यह चिह्न आद्यन्त-द्योतक हैं।‡

जैन-मूर्त्तियाँ

बा० कामताप्रसाद जैन

भारतीय पुरातत्त्वके आधारपर यह देख लेना जरूरी है कि, आखिर जैनोंकी मूर्त्तियाँ कितनी प्राचीन हैं? भारतीय पुरातत्त्वमें मोहञ्जोदारोकी सामग्री सर्वप्राचीन है। वह ईस्वी सन्‌से लगभग चार हजार वर्ष पहलेकी है। उस सामग्रीमें कुछ ऐसी मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनकी नासाग्र ध्यान-मुद्रा ठीक वैसी ही है, जैसी जैन-मूर्त्तियोंकी होती है। उन्हें कोई-कोई विद्वान् व्रात्य-सम्प्रदायकी बताते हैं। + मनु महाराज व्रात्योंको वह क्षत्रिय निर्दिष्ट करते हैं, जो वेद-विरोधी थे। उनमें ज्ञातृ मल्ल-लिच्छवि-द्रविड आदि जातियोंको परिगणित करते हैं। △ इन ज्ञातृ आदि

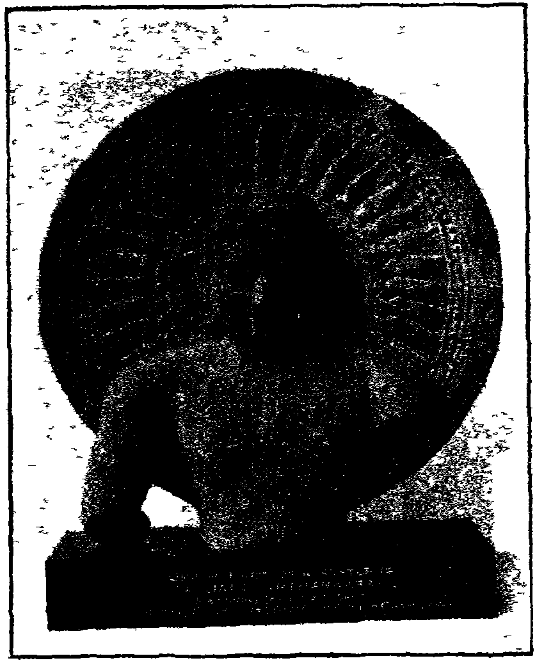
* 'नि' अक्षर श्लोकमें छूट गया है।—लेखक।

† दानमें 'धर्म' का नाम प्रसिद्ध है।—लेखक।

‡ स्तम्भ-लेखके तीन चित्र अन्यत्र मुद्रित हैं। —"गंगा"-सम्पादक।

\+ *Survival of the Pre-Historic Civilisation of the Indus Valley, pp 23-34*

△ मनु० १०।२०-२२।



११८—एक जैन-तीर्थङ्करकी प्रतिमा
(मथुरा, छठी शताब्दी)
(अलबर्ट और विक्टोरिया म्युजियम,
लंदनकी आज्ञासे)



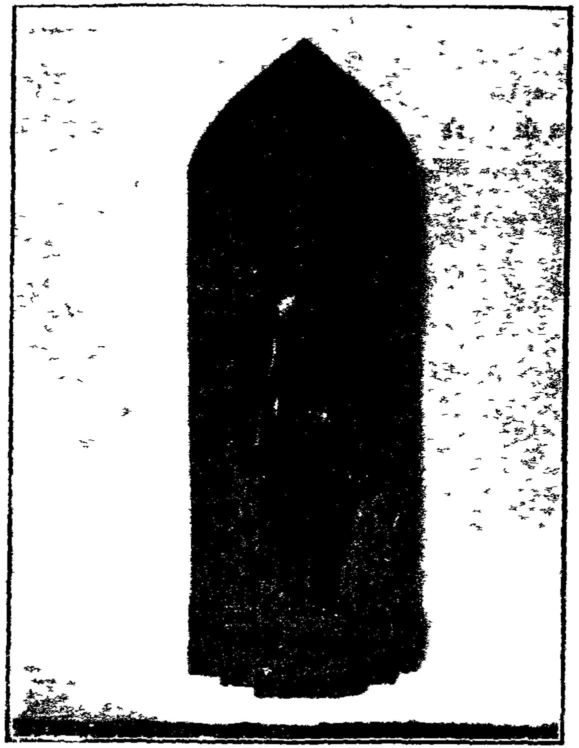
११९—दो जैन मूर्त्तियोंका शिरोभाग
(मथुरा, छठी शताब्दी)
(अलबर्ट और विक्टोरिया म्युजियम,
लंदनकी आज्ञासे)



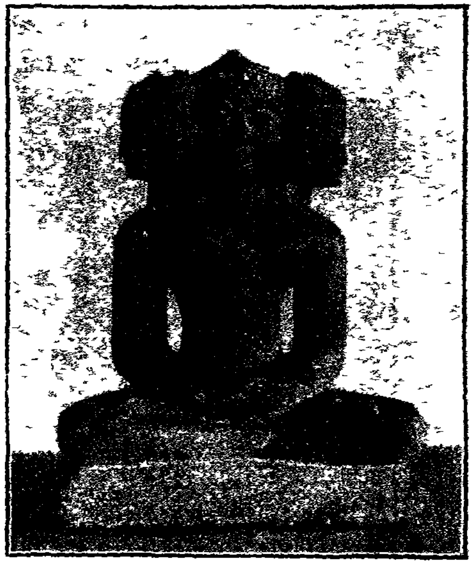
१२०—शान्तिनाथजी

(संवत् १२२४; वैशाखसुदी ५; सोमवार)

(ब्रिटिश म्युजियम, लंदनकी आज्ञासे)



१२१—दिगम्बर जैनोंकी काले पत्थरकी प्राचीन मूर्ति



१२२—१४। फीट ऊंची चतुर्मुख जिन-प्रतिमा

(सवत् १६२६ के लेखके साथ)

(अलबर्ट और विक्टोरिया म्युजियम, लन्दनकी आज्ञासे)

जातियोंके क्षत्रिय प्राचीन कालमें जैनधर्म-भुक्त मिलते हैं। अथर्ववेद (१५) में एक महाव्रात्यका जो वर्णन दिया है, वह ठीक जैन-तीर्थङ्करके चरित्रके समान है। * ऐसे ही कारणोंको देखकर किन्हीं विद्वानोंने व्रात्योंको प्राचीन जैनी माना है। इसके अनुसार यदि सिन्धुदेशकी उपत्यकाके प्राचीन निशानी व्रात्य माने जायँ, तो जैन-मूर्त्तियोंका अस्तित्व आजसे लगभग ४-५ हजार वर्ष पहले पहुँचता है।

वैसे मथुराके पुरातत्त्वमें स्व० मि० बूलरने † एक देव-निर्मित जैन स्तूप (भ० पार्श्वनाथ, ई० पूर्व ८ वीं श० के समयका) मिला बतलाया था, और, जैन-स्तूप मूर्त्तियों से अलङ्कृत होता है, यह जैनशास्त्रोंमें स्पष्ट है। इस दशामें ईस्वी पूर्व ८ वीं शताब्दीमें जैन-मूर्त्तियोंका अस्तित्व मिलता है। उड़ीसाके प्रख्यात हाथी-गुफावाले शिलालेखमें कहा गया है कि, कलिङ्गके आदि जिनेन्द्रकी जिन मूर्त्तिको मगध का नन्दराजा ले गया था, उसको कलिङ्ग-चक्रवर्ती श्रीऐल खारवेल वापस कलिङ्ग ले आये थे। ‡ यह उल्लेख भी उस प्राचीन कालमें जैन-मूर्त्तियोंको प्रचलित बतलाता है।

अब यह देखिये कि, यह जैन-मूर्त्तियाँ थीं कैसी? जैनोंके शास्त्र इस विषयमें एकमत नहीं हैं। दिगम्बर-सम्प्रदायके शास्त्र कहते हैं कि, जैन-मूर्त्तियाँ सदा नग्न बनी हैं। × इसके विपरीत श्वेताम्बर-सम्प्रदायकी धारणा है कि, प्राचीन जैन-मूर्त्तियाँ न नग्न थीं और न वस्त्रालङ्कारयुक्त। △ पीछे वह सम्प्रदाय वस्त्रों और अलङ्कारोंसे भूषित मूर्त्तियाँ बनाने लगा। किन्तु श्वेताम्बर-मतानुसार प्राचीन जैन-मूर्त्तियोंका वेश कुछ समझमें नहीं आता कि, वह कैसा था! बल्कि मथुरासे ईस्वी प्रथम शताब्दीकी जो जैन-मूर्त्तियाँ मिली हैं, और, जिनपर श्वेताम्बराचार्योंके नाम अङ्कित हैं, वे ठीक वैसी ही नग्न हैं, जैसी कि, दिगम्बर पूजते हैं। + उधर प्रसिद्ध भारतीय ज्योतिषी वराहमिहिर भी जैन-मूर्त्तियोंको नग्न प्रकट करते हैं। ☾ इन बातोंको देखते हुए यह बात ठीक जँचती है कि, जैन-मूर्त्तियाँ पहले-पहल नग्न ही बनायी गयी थीं।

अच्छा, तो यह नग्न मूर्त्तियाँ बनायी किस चीजकी गयी थीं? इस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर देना कठिन है। बहुत सम्भव है कि, धातु या पाषाणकी मूर्त्तियाँ बनी हों। जैन-ऋषिगण गिरि कन्दराओंमें ध्यान-रत रहते थे। उन पर्वतोंको खोदकर ध्यानके लिये साधन-भूत मूर्त्तियाँ,

* भगवान् पार्श्वनाथ, प्रस्तावना, पृष्ठ ३२-४६।

† *Jaina & other Antiquities of Mathura*, P 13

‡ पङ्क्ति १२। मि० जायसवाल इस सम्बन्धमें लिखते हैं —"*In line 12 it is clearly stated that King Nanda had taken away image known as "the Jina of Kalinga," and that after the defeat of Baharati-Mitra, the Kalinga Emperor brought it back to Kalinga along with other trophies. .The datum proves...Jina images about or rather before 450 B C*" —*Journal of the Behar & Orissa Res Society, XIII 245*

× प्रतिष्ठासारोद्धार, अ० १।

△ 'पुव्विं जिणपडिमाणं नगिणत्त नेव नवि अ पल्लवमो। तेण नागाटेण मेओ उभएसिं मसूओ ॥७॥' (प्रवचनपरीक्षा)।

+ *Jaina & other Antiquities of Mathura*, pp 16

☾ "आजानुलम्बबाहु श्रीवत्साङ्कः प्रशान्तमूर्त्तिश्च। दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः ॥" ४५॥५८॥ (वराहमिहिर-संहिता)

जैन-ऋषियों द्वारा, बनवायी जाती होंगी। ऐसी अत्यन्त प्राचीन मूर्त्तियाँ कई स्थानोंपर आज भी मिलती हैं।* पीछे काठ, प्रस्तर-लेप, धातु, रत्न, चित्र आदिकी मूर्त्तियाँ बनने लगी थीं।

आजकल दो तरहकी जैन-मूर्त्तियाँ मिलती हैं—(१) दिगम्बर,—(२) श्वेताम्बर। दिगम्बर-जैन-मूर्त्तियाँ बिलकुल नग्न होती हैं, और, कोई-कोई आठ प्रातिहार्य और यक्ष-यक्षिणी सहित होती हैं। वे तीर्थङ्करोंके अतिरिक्त दिगम्बर साधुओं तथा सिद्ध भगवान्‌की भी होती हैं, किन्तु उनके साथ शासनदेवताओंकी भी मूर्त्तियाँ बनायी जाती है।†

इन मूर्त्तियोंके बनाये जानेके स्थान, दिगम्बर-जैन-शास्त्रोंमें, मानस्तम्भ, तोरण, प्रासाद, स्तूप, चैत्यवृक्ष, गन्धकुटी आदि कहे गये हैं। दक्षिण भारतमें जैन मन्दिरोंके आगे मानस्तम्भ बनानेका बहुत रवाज है। श्रवणबेलगोलमें दर्शनीय मानस्तम्भ हैं।‡ उत्तर भारतमें कुहाऊँ (गोरखपुर जिले)में स्थित गुप्त कालका मानस्तम्भ उल्लेखनीय है। वह अशोकके स्तम्भोंके तर्जका सिंह-मूर्त्तिसे वेष्टित था।× चित्तोरमें भी एक ऐसा ही मानस्तम्भ अच्छा बना हुआ है।+ तोरण जैनमन्दिर अथवा स्तूपके मुख्य द्वारको कहते हैं। देवगढ़ (झाँसी), खजुराहो (बुन्देलखण्ड) और दक्षिण भारतके अनेक जैनमन्दिरोंके द्वारोंपर दिव्य मूर्त्तियाँ स्थापित मिलती हैं। प्रासाद जैनमन्दिरके विशाल सभा-मण्डपको कहते हैं। इनमें बड़े-बड़े ताक बनाकर जैन-मूर्त्तियाँ स्थापित की जाती हैं। इनकी दीवारोंपर भी जैनमूर्त्तियाँ अङ्कित होती हैं, जो 'आयागपट' कही जाती हैं। एलोरा, अजन्ता आदि स्थानोंके जैन-गुफा-मन्दिरोंमें ऐसे प्रासाद देखनेको मिलते हैं। स्तूप जैन-ऋषियोंकी सिद्धगति-प्राप्तिके द्योतक हैं, वह परकोटे और तोरणों-सहित बने होते हैं। मथुरा, तक्षशिला आदि स्थानोंमे जैन-स्तूप मिले हैं। चैत्यवृक्ष, कल्पवृक्षोंकी तरह, मनोहर होते हैं, और, उनके अधोभागमें तीन छत्रयुक्त प्रतिमाएँ विराजमान होती हैं। गन्धकुटी वह छोटा सा मन्दिर या वेदी है, जिसमें तीर्थङ्कर भगवान्‌की मूर्त्ति, प्रातिहार्यादि सहित, स्थापित की जाती है।

दिगम्बर-जैनमूर्त्तियोंकी बनावट, उनके बाल, ओठ और चिह्न बैल-सिंह-सर्प आदिकी समानता मिश्रदेशकी प्राचीन मूर्त्तियोंसे बतायी जाती है, वैसे प्राचीन जैन-केन्द्रोंकी अपेक्षा उनमें देश-भेदके लक्षण देखनेको मिलते

* सोनागिरि, बड़वानीजी, पपौरा, मण्डवमलय आदि स्थानोंपर ऐसी प्राचीन मूर्त्तियाँ हैं।

† प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रन्थमें लिखा है कि, "अर्हत प्रतिमाके तीन छत्रों, दो चमरों, अशोकवृक्ष, दुन्दुभि बाजे, सिंहासन, भामण्डल, दिव्यभाषा, पुष्पवर्षा—इन आठ प्रातिहार्योंसे शोभित करे ॥७६॥ इसके बाद स्थिर और चल, दोनों प्रतिमाओंमें सिंहासनके नीचे जैसा शास्त्रमें कहा है, वैसे ही, सीधी बगलमें, भगवानके चिह्नका तथा बायीं तरफ यक्ष और यक्षीको खड़ा करे ॥७७॥ 'जो शान्त, प्रसन्न, मध्यस्थ, नासाग्रस्थित, अविकारी दृष्टिवाली हो, जिसका अंग वीतराग हो, अनुपम वर्ण हो तथा शुभ लक्षणों सहित हो, रौद्र आदि बारह दोषोंसे रहित हो, अशोकवृक्षादि प्रातिहार्योंसे युक्त हो और दोनों तरफ यक्ष-यक्षीसे वेष्टित हो ऐसी जिन-प्रतिमाको बनवावे ॥"

चौबीस तीर्थङ्करोंके २४ यक्ष और यक्षिणी शासनदेवता हैं। कहीं-कहीं उनकी अलग भी मूर्त्तियाँ बनी हुई मिलती हैं, जैसे सोनिया (ग्वालियर) और पटैनीदेवी (जबलपुर)में।

‡ देखिये जैन-शिला-लेख-संग्रह (माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला)।

× *J R A S, Vol, 9, pp 168*   + राजपूतानेका इतिहास, भाग १।

हैं। उड़ीसा, मथुरा, गिरिनगर और काञ्चीपुर जैनोंके प्राचीन केन्द्र हैं।* उन्हींके अनुरूप जैन-मूर्त्तियोंमें भी अङ्गोपाङ्गकी बनावटमें भिन्नता मिलती है। उड़ीसाकी मूर्त्तियाँ मथुरा और गिरनारकी मूर्त्तियोंसे कुछ अनूठी हैं। वहाँ अकसर ऋषभनाथजीकी मूर्त्तिके बाल, जटाओंकी शक्लमें, एक मुकुटकी तरह, सँवारे हुए मिलते हैं—वह अन्य मूर्त्तियोंकी तरह घुँघराले नहीं हैं। वहाँ ऐसी मूर्त्तियाँ भी मिलती हैं, जिनमें तीर्थङ्करके माता-पिता बालक भगवान्‌को गोदमें लिये हुए हैं अथवा झूलेमें झुला रहे हैं। इसी दृश्यके ऊपर ध्यानाकार मूर्त्ति है। दक्षिण भारतकी मूर्त्तियोंमें द्रविड़-जातिकी संस्कृतिका प्रभाव देखनेको मिलता है। वहाँ सर्प-फण-मण्डल-युक्त मूर्त्तियाँ अधिक मिलती हैं। श्रीऋषभदेवके पुत्र राजर्षि बाहुबलिकी विशालकाय मूर्त्तियाँ भी वहाँ खूब मिलती हैं। श्रवणबेलगोलमें उनकी एक मूर्त्ति ५७ फीट ऊँची है, और, उसका शिल्प-कार्य इतना मनोहर है कि, सारे संसारके लोग उसको देखनेके लिये आते हैं। मथुरा अथवा उत्तर भारतकी मूर्त्तियोंमें ऐसी मूर्त्तियाँ भी मिलती हैं, जिनके चार मुख होते हैं। लखनऊके अजायबघरमें सकाश्यके निकटसे मिली हुई एक मूर्त्ति है, और, लन्दनके विक्टोरिया म्युजियममें भी एक मूर्त्ति इसी प्रकारकी है।

जिन-मूर्त्तियोंकी तरह दिगम्बर जैनोंमें चरण-चिह्न भी पूजे जाते हैं। प्रसिद्ध जैनतीर्थ सम्मेदशिखिर (*Parasnath Hill*) और पावापुर-जल-मन्दिरमें चरण-चिह्न ही विराजित हैं। लाखों यात्री उनकी पूजा करते हैं।

श्वेताम्बर-सम्प्रदायकी मूर्त्तियाँ वस्त्र और अलङ्कारोंसे सुसज्जित बनायी जाती हैं। उनके नेत्र बहुमूल्य रत्नोंसे जड़े होते हैं और उनके मुकुट करोड़ों रुपयोंकी लागततकके बनाये जाते हैं। शत्रुञ्जय (पालीताना) में विराजमान भगवान् आदिनाथकी मूर्त्ति इस प्रकारका एक उल्लेखनीय नमूना है। आबूके प्रसिद्ध जैनमन्दिर भी श्वेताम्बर-सम्प्रदाय-भुक्त मन्त्रिवर तेजपाल-वस्तुपालकी अक्षय-कृतियाँ हैं। वह संसारकी श्रेष्ठ वस्तुओंमें एक हैं। वहाँकी मूर्त्तियाँ सोने-चाँदीकी हैं। दिगम्बर-सम्प्रदायमें भी सोने-चाँदीकी मूर्त्तियाँ, कई स्थानोंपर, मिलती हैं। जैनबद्री (मैसूर) में हीरा-माणिक मोती आदि रत्नोंकी मूर्त्तियाँ दर्शनीय हैं।

संक्षेपमें जैनमूर्त्तियोंका यही परिचय है और इससे उनका महत्त्व स्पष्ट है। वे न केवल मनुष्यके ज्ञान ध्यानके लिये एक साधन हैं, बल्कि उनसे भारतीय शिल्पका सौन्दर्य और मूल्य बढ़ गया है।

* I H Q Vol 1, pp 522

मुगल-सम्राट् और उनके समाधि-मन्दिर

पं० पीताम्बर झा

दुनियाकी सात आश्चर्यजनक चीजोंमेंसे मुगल-सम्राट् शाहजहाँकी बेगम मुमताजकी कब्रपर बना हुआ एक ताजमहल है। इस ताजमहलके निर्माणमें सम्राट्ने साढ़े सात करोड़ रुपये खर्च किये थे। यह अद्वितीय ताजमहल आगरा-दुर्गसे एक मील पूरब, यमुना-तटपर, संगमरमरसे बने हुए २११ वर्गफीटके प्लाटफार्मपर, सुशोभित हो रहा है। शाहजहाँने मुमताजसे १६१२ ई० में विवाह किया था। मुमताजने अपने सौन्दर्यसे बादशाह-पर अटल अधिकार जमा लिया था। १६२९ में मुमताजकी मृत्यु हो गयी। मरते समय उसने शाहजहाँसे ये दो निवेदन किये थे—(१) "तुम अपना दूसरा विवाह नहीं करना, (२) मेरी कब्रपर एक ऐसी इमारत बनवाना, जो दुनियामें बेजोड़ हो।" उस पत्नी-भक्त बादशाहने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली। सन् १६३१ ई० में शाहजहाँने उसकी कब्रपर ताजमहलकी नींव डाली और १६४८ ई० में उस अनुपम महलको पूरा किया। संगमरमरसे यह गगनचुम्बी महल तैयार किया गया है। उसकी शिल्प-कलाको देखकर आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ता है। ताज-महलके प्रधान कमरेमें २७ फीट ८ इंच लम्बी और २२ फीट ८ इंच चौड़ी चित्रित, मूल्यवान् पत्थरोंसे निर्मित, मुमताज बेगमकी कब्र है, और, उससे ६ इंचके अन्तरपर बादशाह शाहजहाँकी कब्र भी उसी तरह सुसज्जित है। दोनों कब्रें बहुमूल्य मोती जवाहरातोंसे जड़ी गयी थीं। सब उनकी जगहपर नकली पत्थर जड़ दिये गये हैं। कब्रके पत्थरोंमें ईश्वरके ९९ नाम बड़े सुन्दर अक्षरोंमें खोदे हुए हैं। कब्र बड़ी सुन्दर बनायी गयी है। उनके पत्थरोंपर की गयी नक्काशी देखते ही बनती है। शाहजहाँकी मृत्यु १६६६ ई० में हुई थी। उसकी कब्र भी मुमताजकी कब्रकी तरह उसके उत्तराधिकारी द्वारा सजाया गयी थी। इन कब्रोंके ऊपर संगमरमरकी जाली इस खूबीके साथ बनायी और सजायी गयी है कि, देखते ही बनती है। सुना जाता है, कुशल शिल्पियोंके द्वारा सात वर्षमें यह तैयार करायी गयी थी। पहले यह मोतियोंसे जड़ा और सोनेकी बनायी गयी थी। ताजके चारों कोनोंपर चार सुन्दर मीनार बने हुए हैं, जिनके भीतर पेचीली गोल सीढ़ियाँ बनी हुई हैं, जिनसे मीनारकी गगनचुम्बी चोटीपर लोग सुगमतासे चढ़ जाते हैं। प्रत्येक मीनार १७१ फीट ऊँचा है। ताजकी दूसरी ओरके सब मीनार कुछ झुके हुए बने हैं। उनको इस रूपमें झुकाकर बनानेका रहस्य एक जर्मन-यात्रीने बताया था कि, ये इसलिए इस रूपमें बनाये गये हैं कि, यदि कभी भविष्यमें किसी कारण मीनारें टूट गिरें, तो ताज-जैसी सुन्दर इमारतपर किसी प्रकारका धक्का न पहुँच सके! ताजके चारों पार्श्वमें हरी-भरी लताओंकी एक सुन्दर पुष्पवाटिका है, जो सुन्दर चहारदीवारीसे घिरी हुई है। वाटिकामें प्रवेश कर ताजमें जानेके लिये अत्यन्त सुन्दर और बहुत ऊँचा सिंहद्वार बना हुआ है। यह सिंहद्वार १६४३ ई० में सुन्दर मूल्यवान् संगमरमर और संगमूसाका बना हुआ है। इसपर भी टेढ़े मेढ़े सुन्दर अरबी अक्षरोंमें कुरानकी आयतें उद्धृत हैं। सिंहद्वारके ऊपर खोदे हुए अक्षर छोटे-बड़े होते हुए भी नीचेसे देखनेमें बराबर मालूम होते हैं। ऊँचे नीचे स्थानपर स्थित रहनेके कारण एक ही चीज छोटी-बड़ी दिखायी पड़ती है, क्योंकि दूरीके अनुसार वस्तुओंका आकार छोटा मालूम होता है। इसी कारण ऊँचे नीचे स्थानोंपर खोदे हुए अक्षर, किसी विशेष

नियमके अनुसार, छोटे और बड़े बनाये गये थे, जिससे नीचेसे देखनेवाले दर्शकोंको बराबर मालूम हों। सुना जाता है कि, एक अमेरिकन यात्रीको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ था। प्रयत्न करनेपर भी उसको इस नियमका पता न लगा कि, कितनी दूरीपर छोटे-बड़े अक्षर अङ्कित करनेसे सब समान दिखायी पड़ेंगे।

इसके अतिरिक्त आगरा दुर्गके भीतर अनेक सुन्दर इमारतें उन मोगल बादशाहोंकी बनवायी हुई हैं, जिनको देखते ही उनके अतुल ऐश्वर्यका पता लगता है। दरबारे-आम और जहाँगीरी महलकी सुन्दरता देखते ही बनती है। दरबारे आम शाहजहाँके द्वारा १६४५ ई० में बनवाया गया था। यह ५००×३७० वर्गफीट है। यह चारो ओर सुन्दर छज्जोंसे घिरा हुआ है, जो लाल पत्थरके बने हैं। इसके खम्भे, छत और मेहराब चिकने-उजले पत्थरोंके बने हुए हैं। इसमें ३६ फीट व्यासकी एक बावली है, जिसके ऊपर बहुमूल्य आभूषणोंसे अलंकृत एक सिंहासन बना हुआ है। इसी दरबारे-आममें जनताके भाग्य निर्णयकी सभा बैठती थी।

जहाँगीरी महलको देखनेसे आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ता है। पत्थरपर की हुई नकाशी देखते ही बनती है। उसको देख भारतीय शिल्पकला-विशारदोंकी निपुणता-पर अभिमान होता है। बादशाह अकबरके द्वारा इस महलकी नींव डाली गयी थी, और, जहाँगीरने इसको १६११ ई० में पूरा किया था। यह पहले दो मंजिला था। सम्पूर्ण महल लाल पत्थरका बना हुआ है। इसमें खास कचहरियाँ बनी हुई थीं। इसकी चारो ओर अठपहलू पत्थर लगे हुए हैं। पूरबकी ओर, मध्य भागमें, अठपहलू पत्थरोंसे इसका सुन्दर सिंहद्वार बना हुआ है। यह भीतरसे ११२ वर्गफीटका बना हुआ है। इस महलकी भव्यता देखते ही बनती है। सैकड़ों वर्षका बना हुआ महल आज भी नया जैसा प्रतीत होता है। इन इमारतोंकी मजबूती देखते ही बनती है। आजकलकी बनवायी हुई इमारतें इतनी मजबूत नहीं देखी जाती हैं।

बादशाह अकबरने स्वयं अपना समाधि-मन्दिर, पन्द्रह लाख रुपये खर्च करके, बनवाया था। यह सुन्दर दर्शनीय महल, आगरेसे ५ मीलकी दूरीपर, सिकन्दरामें बना हुआ है। अकबर बादशाहके मरनेपर इसी महलके भीतर उनकी कब्र बनायी गयी थी। दिल्लीमें भी इन मुगल-सम्राटोंके कितने ही दर्शनीय भवन हैं।

भारतीयोंका लिपि-ज्ञान

साहित्याचार्य "मग"

सभ्यताका विकास साहित्यके द्वारा होता है और विकसित साहित्यके समय लिपिकी उद्भूति होती है। अपने मनोभावोंको अभिव्यक्त करनेके लिये भाषाकी आवश्यकता होती है; और, उन्हें यथावत् सुरक्षित रखनेके लिये लिपिकी। पुरातत्त्वके लिये लिपि एक खास बात है।

आदि-लिपि सृष्टिका कारण विद्वानोंने बताया है कि, किसीके पास अगर पत्र लिखनेकी ज़रूरत होती थी, तो लेखक काष्ठफलक आदिपर उलटी-सीधी, तिरछी रेखाएँ खींच देता था; और, जो पत्रवाहक होता था, वह उन रेखाओंका अर्थ समझकर पत्र पानेवालेको सब समझा

देता था। इसी प्रकार जब दस-पाँच बार आपसमें पत्र-व्यवहार हो जाता था, तब लोग एक दूसरेके मनोभावोंसे परिचित रेखाओंका कुछ-कुछ अर्थ समझने लगते थे। हर एक परिवार अपने लिये "ट्रेड मार्क" की तरह एक साङ्केतिक चिह्न रखता था, जो अभी भी खोदाईके मृत्पात्रोंपर मिलता है। ऐसे ही आधारपर पहले चित्रलिपि बनी थी।

भारतके आदिनिवासी अनार्य थे। उनकी सभ्यताके कुछ चिह्न मोहनजोदारोमें मिलते हैं। यह सभ्यता ईसासे पूर्व तीन हजार वर्षोंकी कही जाती है। इस खोदाईमें कितने ही शिलालेख आदि मिले हैं, किन्तु वे अभीतक पढ़े नहीं गये।

भारतीय वैदिक आर्य भी लिपिका ज्ञान रखते थे। अक्षरोंके ऊपर तो धुँधला—किन्तु अङ्कोंके ऊपर वैदिक ग्रन्थोंसे अच्छा प्रकाश डाला जा सकता है। लो० तिलक तथा जैकोबी आदि विद्वान् भी आर्योंको गणितज्ञ मानते थे। ऋग्वेद (निर्माणकाल ई० पू० २०००-१५००) में लिखा है कि, सूर्य (वरुण) ५०५९ योजन रोज चलता है। उषा सूर्यसे ३० योजन आगे रहती है। इसी लिये यह सूर्योदयसे आधा दण्ड पहले ही उदित होती है (१।१२३।८)। शुक्ल यजुर्वेद (निर्माणकाल ई० पू० १५००-१०००) के सत्तरहवें अध्यायके दूसरे मन्त्रमें परार्द्ध-संख्या बतायी गयी है—"एका च, दश च दश च, शतञ्च शतञ्च, सहस्रञ्च सहस्रञ्चायुतञ्च चायुतञ्च, नियुतञ्च नियुतञ्च" इत्यादि। शतपथब्राह्मणके अग्निचयन-प्रकरणमें वेदोंके अक्षरोंका हिसाब इस प्रकार लिखा है—"प्रजापतिने ऋग्वेदके अक्षरोंसे १२०००, यजुर्वेदके अक्षरोंसे ८००० और सामवेदके अक्षरोंसे ४००० बृहती (३६ अक्षरोंके) छन्द बनाये।" इस गणितसे यह जाना जाता है कि, ऋग्वेदमें १२०००×३६=४३२००० अक्षर तथा यजुर्वेदके और सामवेदके मिलानेसे ८००० + ४००० × ३६ =४३२००० अक्षर होते हैं। इतने अक्षरोंका गिना जाना, बिना अङ्कपात किये, नहीं हो सकता है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि, वे अङ्क लिख लेते थे।

यह सही है कि, वे वेदोंको गुरुमुखसे सुन-सुनकर ही याद रखते थे (इसीसे वेदका एक नाम श्रुति भी है); लेकिन वे हिसाबी कहे जा सकते थे; क्योंकि वे सङ्कलन, व्यवकलन और गुणन आदिकी क्रियाओंको जानते थे। पञ्चदशमें १०+५, त्रिंशत्‌में १०×३ और एकोनविंशमें २०-१ सकलन, गुणन और व्यवकलन कर ऐसी संख्या उन्होंने निर्धारित की थी। ऋग्वेदमें इस तरहके बहुतसे मन्त्र हैं। 'द्विदश' २×१०, "षष्टि सहस्रा नवति नव" ६००००+९०+९ आदि प्रयोग हैं। अङ्कोंका क्रम-विकास, प० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझाजीके मतसे भारतमें ही, हुआ है।

भारतीयोंका एक दल इस विषयमें बहुत जोर लगाता है कि, वे अक्षर लिखना भी जानते थे। इसी तरह दो-चार पुराने पश्चिमीय विद्वानोंने भी कुछ ऐसा ही कहा है। प्रो० विलसनने कहा है कि, "हिन्दुओंके पास जबसे साहित्य है, तबसे लिपि भी है।" प्रो० हीरेनने भी इन्हींकी हाँ में हाँ मिलाते हुए कहा है कि, "हर एक खोज इस तत्त्वको पुष्ट करती है कि, अत्यन्त प्राचीन कालमें भी भारतको लिपि कला ज्ञात थी।" काउंट जोन्स जेर्ना भी इसी दलमें सम्मिलित हैं। इनका कहना है कि, हिन्दुओंके पास ईसासे २८०० या अब्राहमके ८०० वर्ष पहले हिन्दुओंके धर्मग्रन्थ मौजूद थे। राय बहादुर प० गौरीशङ्करजी ओझा भी इसी सिद्धान्तके समर्थक हैं।

जो हो, उस समय जैसी भी लिपि चलती हो, किन्तु इन दिनों पुरातत्त्व विभागवालोंने खोदाई करके उसका कुछ भी प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं पाया है। हाँ, ईसाके पहले पाँचवें शतकका शिलालेख पिपरहवामें प्राप्त हुआ है, जिसकी लिपि ब्राह्मी कही जाती है। इस लेखके अक्षर

सर्वावयवपूर्ण हैं, अतः इन्हें पुष्ट होनेमें कुछ लम्बा समय लगा होगा, यह बात स्वीकरणीय हो सकती है। जायसवालजीको भी सम्बलपुरमें एक शिलालेख प्राप्त हुआ है, जो बहुत पुराना कहा जाता है, लेकिन वह अभीतक पढ़ा नहीं गया है। हालमें ही बङ्गालके बोगरा जिलेमें एक शिलालेख प्राप्त हुआ है, जिसमें अकाल-पीड़ितोंकी सहायताकी बातें, ब्राह्मी लिपिमें, लिखी हैं। डा० भण्डारकरने इसका सम्पादन कर इसे ईसा पूर्व चौथे शतकका ठहराया है।

भारतकी इस ब्राह्मी-लिपिका जन्म सेमिटिक-लिपिसे हुआ है। सन् ईस्वीके पहले, ७२० और ८८० बरसोंतकमें, फिनिशीय वणिक्, व्यापार करनेके लिये, भारतमें, ईरानकी खाड़ी होकर आया करते थे। भरुकच्छ और सूर्पारक इनका केन्द्र था। ये बात बौद्ध-ग्रन्थोंमें भी पायी जाती है कि, पहले भरुकच्छ (भड़ोच) व्यवसायका केन्द्र था। उन्हीं दिनों ये अपनी लिपि लाये थे और भारतमें छोड़ गये थे।

सेमिटिक-फिनिशीयोंके कुल बीस अक्षर हैं—अलिफ्, बेथ, गिमेल, दलेथ, हे, वाव, जईन, चेथ, योद्, काफ्, लमेद्, मीम, नून, समेक्, फे, छदे, कोफ्, रेष, षिन और तो अर्थात् अ, ब, ग, द, ह, व, ज, च, ये, क, ल, म, न, स, फ, छ, ख, र, ष और त या ट। ये दाँयोंसे बाँयी ओर लिखे जाते हैं।

इस वर्णमालासे भारतीय वर्णमालाकी उत्पत्ति इसलिये मानी जाती है कि, इसके अक्षरोंसे ब्राह्मीके कितने ही अक्षर मिल जाते हैं, और, मिलानेपर इसके वर्णोंका जैसा सकेत होता है, वैसा ही सकेत उस अवस्थामें ब्राह्मीका भी होता है।

इस सेमिटिक-लिपिमें यद्यपि सब व्यञ्जन ही-व्यञ्जन हैं, स्वर केवल एक अलिफ् है; पर इसी अलिफ्का क्रम-विकास आ, इ, ई आदि हैं। यह दाँयीं ओरसे लिखी जाती है और ब्राह्मी बाँयीं ओरसे। यह लिखनेवालोंकी स्वतन्त्रता है। ग्रीक-लिपि भी सेमिटिक-लिपिसे उत्पन्न हुई है, पर बाँयींसे दाहिनी ओर लिखी जाती है। केवल वामावर्त और दक्षिणावर्त सन्देह करनेकी जगह नहीं हो सकते।

ब्राह्मी-लिपि सदा ही बाँयीं ओरसे दाहिनी तरफ लिखी जाती है। जनरल कनिंघमने जो एरनके एक सिक्केका हवाला देकर कहा है कि, "इसकी गति दोनों ओर है", यह ठीक नहीं है। साँचा ढालनेवालेकी गलतीसे बहुत जगह उलट-फेर हो जाया करता है। यही हालत एरनके सिक्कोंमें भी हुई है। आन्ध्रवंशके राजा शातकर्णीके सिक्केपर भी यही उलट फेर देखा जाता है। पार्थियन अब्दगससके भी एक सिक्केपर खरोष्ठीका कुछ अंश उलटा छप गया है। पटनेमें जो अभी हालमें एक मुद्रा मिली है, उसके 'अगपलश'का 'अ' भी उलटा ही अङ्कित है। यह दोष साँचा ढालनेवालोंका ही कहा जा सकता है। अबतक जितने भी ब्राह्मीके लेख मिले हैं, उन्हें देखकर यह कहा जा सकता है कि, ब्राह्मीकी एक ही गति है—बाँयींसे दाँयीं ओर।

ग्रीक दार्शनिक प्लेटो तथा इतिहासज्ञ प्लूटार्क और टसिटस चित्राक्षरका आदि-आविष्कार मिश्रमें मानते हैं। बात भी सही है, लेकिन जनरल कनिंघमको "अशोक-लिपि"में ही चित्राक्षरका छाया-चित्र दीख पड़ता था। तो भी इसका निर्णय वे नहीं कर सके कि, इस छाया-चित्रका बीज अशोक-लिपिमें कब पड़ा! प० श्याम-शास्त्रीने भी अपनी ऐसी ही धारणा व्यक्त की है कि, पहले देवताओंकी मूर्तियोंके बदले साङ्केतिक चिह्न पुजे जाते थे, जिन सङ्केतोंका क्रम-विकास ही ब्राह्मी-लिपि है।

पाश्चात्य पण्डित बूलरके विचारसे भारतीय खरोष्ठी-लिपिकी उत्पत्ति भी फिनिशीय-लिपिकी आर्मियन-शाखासे हुई है। सक्काकी शिला-लिपिको एकत्र करनेसे पता

चलता है कि, आर्मियनका अलिफ् और खरोष्ठीका अ, आर्मियन पेपरीका बेथ और खरोष्ठीका ब, मिश्रके शिलाफलकका गिमेल और खरोष्ठीका ग, मेसोपोटामियाका शिलालिपिका दलेथ और खरोष्ठीका द एक-से ही हैं। यही क्यों, और और शिलालेखोंमें भी आर्मियन अक्षरोंसे खरोष्ठीका मेल खाता है। सारांश यह कि, आर्मियनके बीसों अक्षर, किसी न किसी रूपमें, खरोष्ठीसे मिल जाते हैं। खरोष्ठी लिपि सेमिटिक लिपिकी ही भाँति दाँयी ओरसे बाँयी ओरको लिखी जाती है।

किसी अनिश्चित कालसे (सम्भवत. ईसा पूर्व आठवें शतकसे) भारतमें ब्राह्मी-लिपि खूब झपाटेसे, अशोकके समयतक, चलती आ रही थी। बादमें भी इसका दौर-दौरा भारतमें कुछ दिनोंतक रहा। कारलाइलने जयपुर-राज्यके नागर नामक स्थानसे बहुतसे ताँबेके सिक्के ढूँढे थे, जिनपर केवल ब्राह्मीके ही अक्षर हैं। ये सिक्के ई० सन्के चौथे शतकतक चलते थे। फिर खरोष्ठीने पाँव फैलाना शुरू कर दिया। ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दीमें भारतके वे सीमान्त-प्रदेश, जो उत्तर पश्चिममें हैं, फारसके साम्राज्यमें मिल गये थे। इस समय खुरुश, दरियाउस आदि हखामानिसीय (*Achrememan*)-वंशीय पारसी सम्राटोंका राज्य भूमध्य सागरसे लेकर पञ्चनदतक फैल गया था। उसी समय भारतीयोंने अपने पारसीक साम्राज्यसे खरोष्ठी-लिपिको अपनाया। धीरे-धीरे यह फैलने लगी और ईसाकी मृत्युके बाद, कई शताब्दियोंतक, चलती रही। उत्तरापथमें इसका प्रचार सम्भवतः ईस्वी सन्के १२ वें शतकतक था।

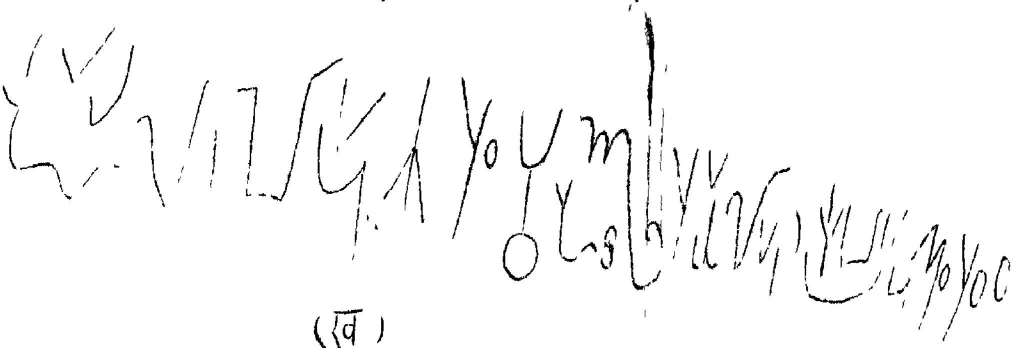
यह बात, शिलालेखों और मुद्राओंके द्वारा, पुरातत्त्ववालोंने सिद्ध कर दी है कि, ईसा पूर्व पाँचवें शतकमें भारतीयोंके अक्षर पूर्ण थे। पर अब देखना यह है कि, वे केवल पत्थरोंपर ही लिखा करते थे या और किसी जगह भी। कागजोंपर (भूर्जपत्रोंपर) या कपड़ोंपरके लिखे लेख इतने दिनोंतक सुरक्षित नहीं रह सकते हैं। ऐसे लेखोंमें लिखी पुस्तक तो कीलकाक्षरोंकी ही मिल सकती है। कीलकाक्षरोंके लेख मिट्टीपर, कीलकों द्वारा, लिखकर पका लिये जाते थे। कीलकाक्षरोंमें लिखी पुस्तकोंकी एक लाइब्रेरी मेसोपोटामियामें मिली है, जो ईसा पूर्व २३०० वर्षोंकी मानी जाती है। भारतीयोंके घर कीलकाक्षरोंका रवाज नहीं था। हाँ, यूनानी लेखक नियार्कसने, जो ईस्वी सन्के पूर्व चौथे शतकमें वर्तमान था, अपनी विवरणीमें लिखा है कि, भारतवासी रूईके वस्त्रपर या कागजपर लिखा करते थे।

ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी पाणिनिका समय है। इनके समयमें भी एक यवन-लिपि चलती थी। सम्भव है, उसका निर्माण खरोष्ठीमें हो गया हो या कीलकाक्षरका ही नाम यवन लिपि हो। बौद्धोंका ग्रन्थ "ललितविस्तर" ईसाके पूर्व प्रायः प्रथम शतकमें संगृहीत हुआ है। इसमें ब्राह्मी आदि अठारह प्रकारकी लिपियोंका नाम दिया गया है। मालूम नहीं, वे सब लिपियाँ कहाँ प्रचलित थीं, पर इतना जोरके साथ कहा जा सकता है कि, पुरातत्त्व-विभागवालोंको उन लिपियोंमें लिखे लेखोंका पता अबतक नहीं चला है। आगे चलकर शायद पता चले। हाँ, उनकी ब्राह्मी, खरोष्ठी आदि प्रसिद्ध लिपियोंके तो कोडियों लेख मिले हैं।

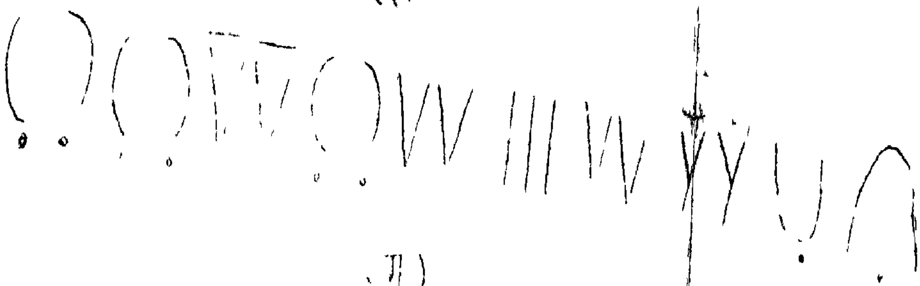
हिन्दुओंके (वैदिक) धर्मग्रन्थ, बौद्धोंके धर्मग्रन्थ या जैनियोंके धर्मग्रन्थ पहले जबानी ही रटे जाते थे, इसलिये उनमें उलट-फेर होनेकी काफी गुंजाइश रह सकती थी। उनमें लिखी बातें तब प्रामाणिक हो सकती हैं, जब कि, पृथ्वीके भीतरसे उनके पोषक प्रत्यक्ष प्रमाण निकल आवें। पृथ्वी-गर्भसे अभीतक तो केवल ब्राह्मी-लिपि ही प्राचीन लिपियोंमें निकली है। अन्य लिपियाँ जब निकल आवेंगी, तब उनके अनुकूल वातावरण स्पष्ट हो सकता है।

विक्रमखोल (जिला सम्बलपुर) की चट्टान पर के अक्षरों के कुछ नमूने (ई.पू. 2000)।

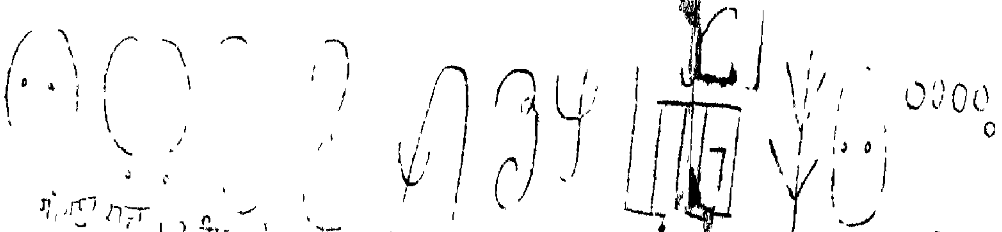
(क)



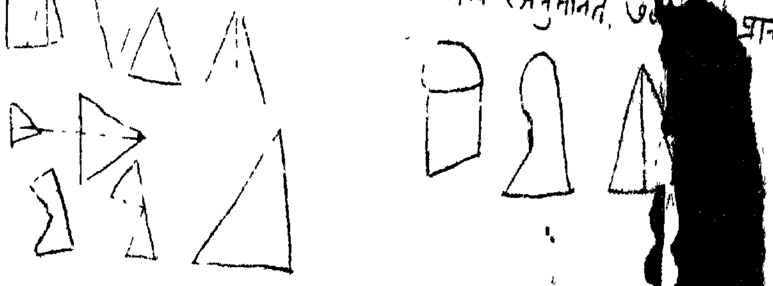
(ख)



(ग)



[illegible] गुफाओं की चित्रलिपि (अनुमानतः ७[illegible] प्राचीन)।



इन दिनों भारतकी जितनी ही लिपियाँ हैं, वे सब इसी ब्राह्मीकी सन्तान हैं। अशोकके समयतक सारे भारतमें ब्राह्मी-लिपि चलती थी। खरोष्ठीको ओझाजी ब्राह्मीसे ही उद्भूत मानते हैं। इनका कहना है कि, यदि ब्राह्मी और खरोष्ठी एक ही मूलकी शाखा है, तो ७०० वर्षोंके भीतर ही इनके अक्षरोंकी समानता क्यों नष्ट हो गयी? मतलब यह कि, खरोष्ठीका मूल फिनिशीय नहीं है। लेकिन ओझाजीके इस मतसे अधिक विद्वान् सहमत नहीं हैं।

ब्राह्मीके मुख्यतया दो भेद हैं—उत्तरी और दक्षिणी। उत्तरीमें गुप्त, कुटिल, नागरी, शारदा, बँगला आदि लिपियाँ हैं। दक्षिणमें—पश्चिमी, मध्यप्रदेशी, तेलगू, कनाड़ी, ग्रन्थ, कलिंग और तामिल आदि लिपियाँ हैं।

ब्राह्मीका सिर बढ़कर जब लम्बा होने लगा, तब ब्राह्मीका रूप विकृत हो गया, स्वरोंके चिह्न बदल गये, तब गुप्त लिपि हुई। ईस्वी सन्‌के चौथे-पाँचवें शतकोंतकमें यह चलती थी। इसका गुप्त-लिपि नाम इसलिये हुआ कि, वह गुप्त-काल था। इस लिपिके ही मेलजोलसे कुटिल-लिपि निकली। अपनी कुटिल आकृतियोंके ही कारण यह लोगोंमें कुटिल-लिपि कहलाती थी। यह ईस्वी सन्‌के छठेसे नवम शतकतकमें चलती थी। इसकी सन्तति शारदा लिपि थी, जिसका प्रसार प्रायः आठवें शतकमें था। यह काश्मीर और पंजाबमें चलती थी।

कहते हैं, नागरी और बँगला भी कुटिलकी ही सन्तान हैं। नागरीका प्रचार नवें शतकसे और दसवें शतकसे देखा जाता है। यह काल-निर्धारण प्राप्त मुद्राओं और शिलालेखोंके आधारपर किया गया है।

दक्षिणमें—पश्चिमी-लिपि काठियावाड़, गुजरात, नासिक, खानदेश और हैदराबाद आदिमें, पाँचवेंसे नवें शतकतकमें, मिलती है। मध्यप्रदेशी लिपि मध्यप्रदेश तथा हैदराबादके कुछ उत्तरी हिस्सोंमें और बुन्देलखण्डके कुछ भागोंमें, पाँचवेंसे आठवें शतकमें, मिलती है। तेलगू और कनाड़ी-लिपि बम्बईके अहातेके दक्षिणी विभागमें, मराठा-प्रदेश, शोलापुर, बीजापुर, बेलगाँव आदिमें, पाँचवेंसे चौदहवें शतकतकमें, चलती थी। ग्रन्थ लिपि मद्रास-अहातेके उत्तरी-दक्षिणी-प्रदेशोंमें, सातवींसे पन्द्रहवीं सदीतकमें, चलती थी। कलिङ्ग-लिपि मद्रासके चिकाकोल और गंजामके बीचके प्रदेशोंमें, ७–११ वीं सदियोंतक चलती थी। तामिल-लिपि मद्रासके पश्चिमी तटपर और ग्रन्थ-लिपिके चलनेकी जगहपर, सातवें शतकसे ही, मिलती है। वेट्टलुत लिपि तामिल-लिपिका ही भेद है। सातवेंसे चौदहवें शतकतकमें इसका प्रचार देखा जाता है। इसमें वर्णोंकी बहुत कमी है। संस्कृतके श्लोक आदि इसमें कठिनतासे लिखे जा सकते हैं। इन दिनों इन भाषाओंकी जो लिपियाँ हैं, वे बदलते-बदलते इस रूपमें आयी हैं। तेलगू तथा कनाड़ी आदिके प्राचीन शिलालेखोंकी लिपियाँ देखकर यही बोध होता है। सूक्ष्मतासे देखनेपर अक्षरोंका क्रम विकास साफ दीखता है।

एक ब्राह्मी-लिपिको अगर विद्यार्थी अच्छी तरह सीख जाय, तो वह अन्य लिपियोंको, थोड़े ही परिश्रमसे, सीख सकता है और शिलालेख आदिको भी कुछ-कुछ पढ़ सकता है, क्योंकि सारी लिपियाँ ब्राह्मीसे ही उद्भूत हुई हैं। शिलालेख पढ़नेकी जिसे उत्कट इच्छा हो, वह राय बहादुर पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा द्वारा लिखित "भारतीय प्राचीन लिपिमाला"को पढ़े। इसमें प्रत्येक अक्षरका क्रम-विकास, अच्छी तरहसे, समझाया गया है। शिला-लेखोंके भी अनगिनत नमूने हैं। इसका मूल्य २५) है और प्राप्तिस्थान—राजपूताना म्युजियम, अजमेर है। भारतीय भाषाओंमें यह अपने विषयकी अकेली ही पुस्तक है।

चित्राक्षरकी उत्पत्ति लोग मिश्रदेशमें बताते हैं। पहले अगर खुशीकी बात जाहिर करनी पड़ती थी, तो

लोग स्त्रीका चित्र बनाकर उसके हाथमें झाँझ दे देते थे। दुःख होता था, तो सिरपर हाथ रख देते थे। पीछे इसीके आधारपर ध्वन्यात्मक (*Phonetics*) अक्षर आविष्कृत हुए। जैसे हगल पक्षीकी शकल "इ" की हुई, हाथकी शकल "ह" की हुई इत्यादि। अक्षरोंके बदले ये ही चित्र लिखे जाने लगे।

चीनियोंके अक्षर भी एक तरहसे चित्रात्मक ही हैं। इस भाषाको पूर्ण पण्डित होनेके लिये किसीको भी १२००० अक्षरोंसे परिचित होना पड़ता है। इनकी लिपिकी गति किसी भी देशकी लिपि-गतिसे नहीं मिलती, क्योंकि इनकी लिपि ऊपरसे नीचेकी ओर दौड़ती है और फिर दाँयेंसे बायें।

पत्थरोंपर, काष्ठफलकोंपर और कीलकाक्षरोंमें मिट्टीपर तो लोग सब जगह लिखते ही थे, पर कागजपर लिखनेकी बात बहुत कम मिलती है। ईसा पूर्व ३२७ सालमें यूनानी यात्री नियार्कसने अपनी विवरणीमें लिखा है कि "भारतवासी वस्त्रपर या रूईके बने कागजपर अक्षर लिखा करते थे।" ह्युएनसंग (७ वीं सदी) भारतसे लौटती बार २० घोड़ोंपर पुस्तकें लादकर ले गया था।

भारत-भिन्न देशोंमें लोग "पेपिरस"की छालपर लिखा करते थे। पेपिरस सरकण्डेकी जातिका एक पौधा है। इसकी खेती मिश्रमें और नील-नदीके दलदल प्रदेशमें हुआ करती थी। छाल छुड़ाकर, कई छालोंको लेईसे चिपकाकर, धूपमें सुखाकर और चिकनी चीजोंसे उसे घोंटकर लोग उसपर लिखा करते थे। मिश्रकी प्राचीन कब्रोंमें इस तरहके लिखे पर्चे अभी, भी यत्र-तत्र, मिलते हैं। ईसा पूर्व दो हजार बरसोंकी पुरानी कब्रोंमें भी इस तरहके पर्चे मिले हैं। पेपिरसके लेख दो हजार वर्षोंसे भी अधिक ठहरते हैं। पाषाणको छोड़कर इसका लेख सर्वाधिक टिकाऊ होता है।

किसीकी भी उन्नति एकबारगी हो नहीं हो जाती, क्रमशः होती है। लिपियोंके विषयमें भी यही बात रही है।

भारतके सिक्के

साहित्याचार्य "मग"

किसी भी देशका उत्थान और पतन बहुत कुछ इतिहासके ऊपर अवलम्बित रहता है, किन्तु भारतका प्राचीन इतिहास अभी भी अन्धकारके गर्भमें विलीन है। ईरानी बादशाह दाराने पंजाबपर कब चढ़ाई की, महमूद गजनवीने भारतसे कब लोहा लिया और सिकन्दर कब भारतपर चढ़ आया आदि-आदि बातोंका कुछ भी प्राचीन उल्लेख नहीं है। हाँ, इनकी यादगारमें अन्वेषण करनेसे, कुछ शिलालेख, ताम्रपत्र या सिक्के आदि मिल जाते हैं।

सिक्कोंसे पुराने इतिहासका बहुत-कुछ पता चलता है। शिलालेखों द्वारा राजवंश-निर्धारणमें जितनी सहायता नहीं पहुँची है, उससे कहीं अधिक साहाय्य प्राप्त हुआ है इन छोटे-छोटे सिक्कोंके द्वारा।

मुद्राकी चलती, भारतमें, वैदिक आर्योंके समयसे ही है। निष्क या सुवर्ण शब्दसे उसका उल्लेख वेदोंमें मिलता है। मुद्राकी जगह उन दिनों सोनेकी ढलि भी थैलीमें रखकर व्यवहृत होती थी। चाँदीके भी सिक्के चलते थे। उनका नाम पुराण वा धरण था। ताँबेके सिक्के कार्षापण कहलाते थे।

सुवर्ण या निष्क तो अभीतक कहीं भी नहीं मिला है; लेकिन चाँदीके चौकोर या गोल सिक्के भारतके सभी प्रदेशोंमें मिलते हैं। इन चौकोर सिक्कोंपर छेनीका दाग (*Punch-*

Mark) है। यूनानियोंके आनेके पहले भी भारतमे चाँदीके टुकड़े चलते थे। सिकन्दरको तक्षशिलामें किसी राजाने ८० टलेट मूल्यका चाँदीका टुकड़ा, उपहारमें, दिया था। उन दिनों जो सिक्के यहाँ बनते थे, वे यहींके तौलपर। चौकोर सिक्कोंका रवाज केवल भारतमें ही था।

पहले सिक्के यों ही पिण्डाकृति बनते थे, पर जब जालसाजी होने लगी, तब नकली सिक्कोंका प्रचार रोकनेके लिये राजाओंने उनपर चिह्न लगाना शुरू कर दिया। लेकिन भारतीयोंके चिह्न लगानेकी नीति अन्य देशोंसे भिन्न थी। गोलाकार सिक्कोंका प्रसार, भारतमे, ग्रीक-संसर्गसे हुआ है।

व्यापार करते समय बाहरसे भी विदेशी सिक्के भारतमें आते थे। ईसा पूर्व ५४६ में लीडियाका राजा क्रीसस फारसके राजा गुरुषस द्वारा था। इसी क्रीससका एक सोनेका सिक्का, पंजाबके बन्नू जिलेमें, सिन्धु नदीके पश्चिमी तटपर, कुछ दिन हुए, मिला है। अनुमान किया जाता है, सन् ईस्वीके ३२१ वर्ष पहले यह सिक्का भारतमें आया है।

पारसिक सिक्कोंके साथ यूनानके एथन्स नगरके वे सिक्के भी, जिनपर उल्लूकी तस्वीर बनी रहती थी, पूर्वी जगत में व्यवसायके काममें आते थे। जब एथन्स नगरमें (ई० पू० ३२२ सनमे) सिक्का नहीं बनने लगा, तब उन्हीं सिक्कोंकी नकलपर भारतीयोंने बाजकी छापवाला सिक्का बनाना शुरू किया। सिकन्दरके समयमें राजा सुभूतिने पचनदमें एथन्सकी नकलपर सिक्के बनवाये थे। ये सिक्के चाँदीके थे। इनपर एक ओर कनटोप (शिरस्त्राण)पहने हुए राजाका मस्तक और दूसरी तरफ कुक्कुटकी मूर्त्ति थी। सिकन्दरके नामके चौकोर सिक्के भी भारतमें मिलते हैं। ये सिक्के चाँदीके है।

ईस्वी सन्के २०६ वर्ष पहले अन्तिओकस गान्धारतक आया था। काबुलके राजासे उसकी गाढ़ी दोस्ती थी। उसी सूत्रसे सम्भवत भारतीय तथा ग्रीक मुद्राओंका एकत्र समावेश हुआ और, ग्रीक मुद्राओंमें भी भारतीयोंकी नकल गयी एवम् चौकोर सिक्के बनने लगे।

जिस समय भारतके उत्तर-पश्चिम प्रान्तमें ग्रीक शासन फैला हुआ था, उसी समय उत्तर-भारतमें शक और हिन्दू-शासन भी जारी था। इन दिनों शक-राजाओंके जितने सिक्के पाये गये है, वे माकिदनीय, सलौकीय, बाह्लीक तथा पारदीय मुद्राओंके समान हैं।

मथुराके शक क्षत्रपोंकी कितनी ही मुद्राओंमें ग्रीकका अनुकरण देखा जाता है। कुछ सिक्कोंमें शुंग और हिन्दू राजाओंके सिक्कोंका भी सादृश्य है।

महाक्षत्रप नहपानका जन्म क्षहरात-वंशमे हुआ था। सुराष्ट्रसे जो मुद्राएँ पायी गयी है, उनमें इन्हींकी मुद्रा प्रथम है। इन्हींके समय चष्टनका अभ्युदय हुआ था। शकाब्दके प्रचारक भी ये ही है। इनके वंशजोंकी मुहरोंमें "राजा महाक्षत्रप" लिखा रहता है।

शक-राजा वासुदेवकी मुद्रापर ग्रीकलिपि लिखी रहती थी और शिव या नन्दीकी मूर्त्ति रहती थी परन्तु पीछेकी मुद्राओंमें बैठी हुई देवीकी मूर्त्ति रहती थी। बादमें ग्रीकलिपिके बदले अस्पष्ट नागरीलिपि बरती जाने लगी। इस तरहकी मुद्राएँ हूणोंके शासनतक चलती थी।

युक्त प्रदेश, राजपुताना और मालवाके नाना स्थानोंसे हूण-मुद्राएँ आविष्कृत हुई है। इनमे कितनी ही मुद्राएँ घिस गयी है। तोरमाणका आधिपत्य राजपुताना और मालवातक फैला हुआ था। मारवाड़में इसकी बहुतसी मुहरे मिली है। मालवामे इसकी अठन्नी मिली है।

पुराणोंमें जिन शुंग-मित्र राजाओंके नाम पाये जाते है, उनके वंशज राजाओंकी मुद्राएँ अयोध्या और पचालसे निकली है। इन मुद्राओंपर ब्राह्मीके अक्षर है। इनके शासनमे पुराण और कार्षापणका भी प्रचार था।

आन्ध्र-मुद्राएँ शीशे और ताँबेके मेलसे बनी हैं। सुपाराके बौद्धस्तूपमे आन्ध्रोंके कुछ रौप्य खण्ड पाये गये है। उत्तर-भारतीय मुद्राकी गढ़नसे ये मुद्राएँ बिलकुल भिन्न है। इनकी गढ़न और वजन क्षत्रपोंकी मुद्राओंकी तरह है।

इनपर "रणुयो गोतमीपुत्तस्स विलिवाय कुरस" और "माट-रीपुत", "वासिष्ठीपुत्त श्रावदवत" आदि नाम लिखे हैं। प्रत्नतत्त्वविदोंने माढरी पुत्तको अहीर बताया है।

पुरी और गंजामसे अनेक मुद्राएँ आविष्कृत हुई हैं। ये शक-कुषाणोंकी मुद्राएँ जैसी हैं। ये मुद्राएँ पहली शताब्दीकी मानी जाती हैं।

आन्ध्रोंकी मुद्राओंकी तरह ही नन्द-मुद्राओंकी भी गढ़न है। इन मुद्राओंपर बोधिद्रुम, त्रिरत्न और स्तूपके अङ्कन हैं। ये बौद्ध थे।

गुप्त-वंशके प्रतिष्ठाता श्रीगुप्त थे। उनके पौत्र प्रथम चन्द्रगुप्तने महाराजाधिराजकी उपाधि ग्रहण कर (३१९ ई०) गुप्त-सम्वत और अपने नामका सिक्का चलाया था। पाटलिपुत्रमें उनकी राजधानी थी। उनकी मुद्रामें "लिच्छवय" और कुमारदेवीका नाम अङ्कित था। उनके पुत्र समुद्रगुप्तकी मुद्रामें अश्वमेधका चिह्न है। गुप्त-सम्राटने पहले, मुद्रा बनानेमें, मथुराके कुषाण-राजाओंका अनुकरण किया, पीछे स्वतन्त्र होकर मुद्रा बनाने लगे। पूर्व मालवामें सम्राट् स्कन्दगुप्तके वंशधर-गण ही शासन करते थे। वहाँ बुद्धगुप्तकी चाँदीकी अठन्नी मिली है। इसके सिवा जयगुप्त, हरिगुप्त और रविगुप्तकी मुद्राएँ भी मिली हैं।

बल्लभी-राजवंशकी मुद्रा गुप्तोंकी तरह है। इसके एक भागमें त्रिशूल और दूसरे भागमें "भट्टारकस्य" उपाधियुक्त राजाका नाम है। नाग-राजवंशजोंकी भी कुछ मुद्राएँ मिली हैं।

पश्चिमी मगधमें मौखरी राजवंशोंने गुप्त-मुद्राकी तरह ही अपनी मुद्रा चलायी थी। ईशानवर्मा और सर्ववर्माके नामाङ्कित रजत-खण्ड पाये गये हैं। पल्लव राजवंशोंकी मुद्राओंमें जहाजों और नावोंकी छापें मिलती हैं, जिनसे पता चलता है कि, वे व्यवसाय-प्रिय थे। इनके जातीय चिह्नमें केशरिमूर्त्ति थी। मुद्राओंकी लिपि वर्णाटी या संस्कृत-भाषाकी लिपि है।

दाक्षिणात्यके भी अन्तिम दक्षिणमें ३०० वर्षोतक पाण्ड्य-वंशने राज्य किया था। इनकी मुहर आन्ध्र और पल्लवोंकी सी है। ई० सन्‌के ३०० से ६०० तकके भीतरकी बहुतसी इनकी मुहर निकली है। इनकी मुहरोंपर हाथीका चित्र है।

चोल-मुद्राओंकी दो श्रेणियाँ हैं। प्रथममें राजराजेश्वर चोलके अभ्युदयके पहलेकी मुद्राएँ हैं। इन मुद्राओंमें एक तरफ व्याघ्रकी मूर्त्ति है और दूसरी तरफ चर-चिह्न मत्स्य और धनुष देखा जाता है। चोल-राजाओंका नाम नागरी-अक्षरोंमें लिखा है। द्वितीयमें, प्रायः सन् १०२२ ई० में, जो मुद्राएँ बनी थीं, वे दूसरी ही तरहकी हैं। इन मुद्राओंके सम्मुख भागमें दण्डायमान राजमूर्त्ति और पश्चाद्भागमें उपविष्ट राजमूर्त्ति है। इन मुद्राओंका उन दिनों दाक्षिणात्यमें खूब प्रचार था। सिंहलमें जब चोलोंका आधिपत्य हुआ था, तब वहाँ भी इस तरहकी मुद्राएँ चलती थीं। कलचुरि-वंशीय द्वितीय राजा सोमेश्वर (११६७—११७५ ई०) की भी कुछ मुद्राएँ निकली हैं।

सातवीं सदीमें चालुक्य-वंश दो भागोंमें विभक्त हो गया था। पश्चिम दाक्षिणात्यमें जो राज्य करते थे, वे इतिहासमें प्रतीच्य और जो कृष्णा तथा गोदावरीके मध्यवर्ती पल्लव-राज्यको जीतकर वहाँके राजा हो गये थे, वे प्राच्य-चालुक्यके नामसे प्रसिद्ध हैं। दोनों शाखाओंकी मुद्राओंमें वराह-चिह्न देखा जाता है। प्रतीच्य चालुक्योंकी स्वर्ण-मुद्राएँ मोटी और बहुत जगह प्यालेकी तरह हैं।

कादम्ब-राजाओंकी बहुत-सी मुद्राएँ दाक्षिणात्यके उत्तर-पश्चिम विभागमें और मैसूरके उत्तरांशमें प्राप्त हुई हैं। इनकी शकल चालुक्य-मुद्राकी ही है। बीचमें पद्मका चिह्न है। मुद्राओंपर संस्कृत-लिपि है।

कन्नौज और दिल्लीपर तोमर-वंशका आधिपत्य, ९७८—११२८ ई०तक, माना जाता है। मल्लक्षणपाल, अजयपाल और कुमारपालदेवकी मुद्राएँ कन्नौजमें भी मिली हैं और दिल्लीमें भी। अनंगपाल और महीपालकी मुद्राएँ दिल्लीमें मिली हैं। कलचुरि-मुद्रासे इनकी मुद्रा बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। अनंगपालको राठौर चन्द्रदेवने, १०५०

ई०में ही, हरा दिया था। कन्नौजमें चन्द्रदेवका राज्य हो गया था, पर इनकी कोई मुद्रा नहीं मिलती है। लेकिन इन्हींके वंशज जयचन्द्र या जयचन्द्रकी मुद्रा प्राप्त हुई है।

ईस्वी सन् नवीं सदीके पहलेसे ही चन्देल-राजवंश जेजाहुति (यजाकभुक्ति) या महोबा नामक स्थानमें राज्य करता था। यह कलचुरि-राजाओंके अधीन था। किन्तु महाराजा कीर्तिवर्मा चेदिपतिने इस दासतासे अपने वंशको स्वतन्त्र कर लिया। कलचुरि इनसे हार गये। इन्होंने ही अपने खानदानमें अपने नामकी पहली मुहर चलायी। इनके नीचे नौ पीढ़ियोंतककी मुद्राएँ मिलती है।

चौहान-राजाओंमें सोमेश्वर और पृथ्वीराज आदिकी मुद्राएँ मिली है। इन मुद्राओंमें घुड़सवार और बैलका चिह्न है। ११९२ ई०में पृथ्वीराजके हाथसे निकलकर दिल्ली मुसलमानोंके हाथमें चली गयी थी। तब मुसलमानोंके द्वारा जो मुद्राएँ बनायी गयी थीं, वे भी हिन्दू-मुद्राओंके अनुरूप ही थीं।

मगधमें पालोंका राज्य था, अनेक भाँतिके सिक्के चलते थे। उनमें विग्रहपालका रुपया पाया गया है। इसके ऊपर "श्रीविग्रह" नाम खोदा हुआ है। पुरातत्त्वविदोंका विश्वास है कि, सायटोनिके शिलालेखमें जिस विग्रहपालद्रम्मका नाम उल्लिखित है उसी विग्रहपालका यह रुपया है।

नेपालमें पुराने जमानेकी कुछ मुद्राएँ पायी गयी है, जो यौधेय-मुद्राकी तरह बनी है। कोई-कोई इन्हें कुषाणोंका अनुकरण बताते है, लेकिन ढाँचा देखनेसे मालूम पड़ता है कि यह कुषाण-कालके बहुत पहलेकी है। इसीके अनुकरणपर चौथी सदीके प्रारम्भमें यहाँ लिच्छवि-मुद्रा प्रचलित हुई। छठी सदीतक इसी प्रकारकी मुद्रा जारी थी। किसीमें गुप्ताक्षरमें "मानाङ्क", किसीमें "गुणाङ्क" नाम अंकित है, जिससे मालूम होता है कि, मानदेववर्माका नाम संक्षेपमें "मानाङ्क" और गुणकामदेवका 'गुणाङ्क' खोदा गया है। किसी-किसी मुद्रामें नेपालके देवता पशुपति और वैश्रवणका नाम भी देखा जाता है।

मेवाड़, मारवाड़, दक्षिण-पश्चिम राजपुताना, मालवा और गुजरातसे कुछ स्थूल रौप्य-खण्ड पाये जाते है, जिन्हें लोग "गधिया पैसा" कहते है। इसके ऊपर अंकित राजाका चित्र घिसकर गदहेके मुँह-सा हो गया, इसलिये लोग इसे गधिया पैसा कहते हैं। इसे बनाती बार भी शिल्पनिपुणताके ऊपर खयाल नहीं किया गया था।

मुसलमानोंके शासनकालमें मुद्राओंपर अच्छी शिल्पिता नहीं हुई। हाँ, मुहम्मद गोरीसे लेकर शमशुद्दीन अलतमशतक, मुसलमानी मुद्राओंमें, हिन्दू-आदर्शकी रक्षा की गयी थी। सुलतान अलतमशकी अश्वारोही मुद्रामें तनिक शिल्पिता भी थी। मोहम्मद गोरीसे लेकर गयासुद्दीनतक ९० राजाओंकी मुहरोंपर फारसी-लिपिके साथ नागरी-लिपि भी है। भारतीयोंकी सुविधा या मनोरञ्जनके लिये कितने ही बादशाहोंने मुहरोंपर संस्कृत लिखायी थी। कुतुबुद्दीनने "भूपाल", फिरोजशाहने "बभूव भूमिपति.", मैजउद्दीन और अलाउद्दीनने "नृप" या "नृपति", नसीरुद्दीनने "पृथ्वीचन्द्र" और गयासुद्दीनने "श्रीहम्मीर" लिखाया था।

बादशाह अकबरके समयमें मुद्रा-शिल्पकी बहुत उन्नति हुई थी। इन्होंने ४२ टकसाल खोल रखे थे। दाममें अर्ध पैसा था। दामका आधा अधेला और अधेलेका आधा पाउला तथा पाउलेके आधेका नाम था दमड़ी।

४०००० "दाम"के मूल्यका शाहनशाह था। छोटा शाहनशाह, रहस, आत्मा, विनुसत, चहारगोषा, चुगुल, इलाही, अफताबी, लालजलाली और आदलगुटकी आदि मुद्राएँ भी क्रमश चलती थीं।

वर्तमान ब्रिटिश राज्य-वंशमें मुहर, गिन्नी, रुपया, अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी, एकन्नी, डबल, पैसा, अधेला और पाई चलती है।

मुद्राशास्त्रके ऊपर हिन्दीमें एक भी मौलिक ग्रन्थ नहीं है। बा० राखालदास बन्द्योपाध्यायकी (बँगला) "प्राचीन मुद्रा"का अनुवाद बाबू रामचन्द्र वर्माने किया है। बस।

भारतीय मुद्राकी प्राचीनता

पं० वासुदेव उपाध्याय बी० एस-सी०

किसी देशका इतिहास जाननेकी बहुतसी प्राचीन सामग्री होती है, जिसमें मुद्रा-शास्त्र भी एक बहुत विशेष स्थान रखता है। मुद्रा-शास्त्रके द्वारा बहुतसे ऐतिहासिक प्रमाण एकत्र किये जा सकते हैं। भारतीय इतिहासमें तो ऐसे बहुतसे काल-विभाग हैं, जो केवल मुद्रा-शास्त्रके ऊपर ही निर्भर हैं। भारतीय इतिहासमें उन हिन्दू-बाहलीक (*Indo-Bactrian*), हिन्दू-शक (*Indo-Scythian*) तथा कुषाण-नरेशोंका बहुत अधिक विवरण मुद्राओंके द्वारा ही जाना जाता है, जिन्होंने ईसा पूर्व ४०० से लेकर २०० ई० तक भारतमें राज्य किया। इनका थोड़ासा विवरण ग्रीक यात्री जस्टिन (*Justin*) तथा स्ट्रेबो (*Strabo*) ने किया है, परन्तु वह विशेष महत्त्व नहीं रखता।

पाश्चात्य देशोंमें यह प्रसिद्ध है कि, क्रिससने, जो लिडियाका राजा था, सबसे प्रथम मुद्रा बनवाना शुरू किया। फारसके बादशाह डेरियसने ईसा पूर्व ६०० में सिक्का बनवाया। परन्तु आजकल इस सिद्धान्तका खण्डन हो गया है।

भारतीय मुद्रा-शास्त्रकी प्राचीनता सिद्ध करनेके लिये यहां दो प्रमाण उपस्थित किये जायंगे। एक तो स्वयं सिक्के ही हैं, जिनको देखनेसे वे प्राचीन प्रतीत होते हैं। दूसरा प्रमाण संस्कृत, जैन तथा बौद्ध-साहित्यमें मिलेगा, जिससे यह सिद्ध होता है कि, मुद्रा-शास्त्र भारतीयोंको बहुत प्राचीन कालसे ज्ञात था।

यूरोपीय विद्वानोंका मत है कि, भारतीयोंने मुद्रा-कला ग्रीस या बेबिलोनियासे सीखी। जेम्स प्रिन्सेप साहब मुद्रा-कलाको भारतीय नहीं बतलाते। वे कहते हैं कि, यह कला बैक्ट्रियासे इस देशमें आयी। केनेडी साहब बतलाते हैं कि, भारतीयोंने जब बेबिलोनियासे व्यापार करना शुरू किया, तब उन्होंने, उस देशके सिक्कोंकी नकलपर, अपने यहाँ भी सिक्का बनाना शुरू किया। वे प्राचीन सिक्के भारतमें कार्षापणके नामसे प्रसिद्ध थे।

सबसे प्रथम साक्षात् सिक्के ही प्रमाणमें उपस्थित किये जायँगे, जो कि खोदाईमें निकले हैं और जो देखनेसे प्राचीन प्रतीत होते हैं। सर जान मार्शलने, १९१२ ई० में, "भीरमाउण्ड"की खोदाई की। उसमें १७४ सिक्के एक राशिमें, मिले। उसमें सब प्राचीन सिक्के हैं। उस राशिमें बैक्ट्रियाके राजा डियोडोरसका एक सोनेका सिक्का भी है, जिसपर सीरियाके राजा अन्तियोकस द्वितीयका नाम खुदा है। उस समयतक बैक्ट्रिया स्वतन्त्र नहीं हुआ था, सीरियाके अधीन था। वह सोनेका सिक्का, और सबकी अपेक्षा, नवीन दिखायी पड़ता है और सब सिक्के घिसे हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि, घिसे हुए सिक्के प्राचीन हैं। डियोडोरसका काल ईसा पूर्व २५० वर्ष होना स्थिर है, अतः उस राशिके घिसे हुए सिक्के उससे भी प्राचीन होंगे। उससे भी करीब सौ वर्ष पहले सिकन्दरने भारतपर चढ़ाई की थी। प्राचीन इतिहासके अध्ययनसे प्रतीत होता है कि, जब सिकन्दर तक्षशिलाके समीप पहुँचा, तब वहाँके राजाने स्वयं उसकी अधीनता स्वीकार की तथा सिकन्दरको भेंटमें बहुतसी वस्तुएँ उपस्थित कीं। इतिहास-वेत्ता राजा आम्भिकको चाँदीके सिक्के (*Signatus Argentum*) भेंटमें देना बतलाते हैं। विद्वान् लोग यह बतलाते हैं कि, सिकन्दरके आक्रमणसे भारतपर विशेष प्रभाव पड़ा। पश्चिमीय

देशोंसे भारतीय व्यापार करते थे, परन्तु इसी आक्रमणके पश्चात् ही पश्चिममें भारतके विषयमें प्रसिद्धि हुई। अगर इसी आक्रमणके पश्चात् ही ग्रीकोंसे भारतका सम्बन्ध हुआ, तो यह कथन कि, भारतीयोंने मुद्रा-कला ग्रीक लोगोंसे सीखी, अप्रामाणिक तथा अविश्वसनीय है। सिकन्दर ईसा पूर्व ३२७ वर्षमें भारत आया और उसने चाँदीके सिक्के भेंटमें पाये। अतः यह प्रमाणित है कि, मुद्रा-कलाका भारतमें, ईसा पूर्व चौथी शताब्दीमें, प्रचार था।

पाठकोंके सम्मुख पत्थरमें खुदे दो चित्रोंका वर्णन किया जायगा, जिससे यह ज्ञात होगा कि, भारतमें ईसा पूर्व दूसरी शताब्दीमें चौकोने सिक्के व्यवहारमें लाये जाते थे और ये पुराण या धरणके नामसे प्रसिद्ध थे। पहला चित्र मध्य भारतमें स्थित भरहुतकी वेष्टनी (*Bas relief*) पर अङ्कित है। उसका अवलोकन करनेसे ज्ञात होता है कि, मनुष्य किसी गाड़ीपरसे चौकोर टुकड़े उतारकर पृथ्वीपर फैला रहे हैं। इसका भाव कथानकके सहारे समझाया गया है। वह स्थान, जहाँ चौकोर टुकड़े फैलाये जा रहे हैं, राजकुमार जेतका उद्यान था। उस वाटिकाको श्रावस्तीका सेठ अनाथपिण्डक मोल लेकर बौद्धसंघको देना चाहता था। अपने हृद्गत भावोंको सेठने राजकुमारसे प्रकट किया। राजकुमारने उद्यानके मूल्यमें इतनी मुद्राएँ माँगीं, जितनी भूमिको ढाक लें। अनाथपिण्डकने मुँहमाँगा मूल्य दिया और अपने सेवकोंको आज्ञा दी कि, जेतवनको कार्षापणसे ढाक दो। चित्रमें अनाथपिण्डकके आज्ञानुसार उसके नौकर भूमिको चौकोर टुकड़ोंसे ढाक रहे हैं। कथानकसे पाठक समझ गये होंगे कि, चौकोर टुकड़े सिक्के हैं; और, यह भी प्रकट है कि, उस समय सिक्के चौकोर होते थे। यही चित्र बोधगयाके मन्दिरके स्तम्भोंपर भी खुदा है। इन सब प्रमाणोंके आधारपर रैप्सन महोदयने स्थिर किया है कि, भारतीय मुद्रा-कला देशी है तथा स्वयं यहीं उत्पन्न हुई।

अगर प्राचीन भारतीय सिक्कोंका ग्रीक राजाओंके सिक्कोंसे मिलान करें, जिन्होंने बैक्ट्रियामें राज्य करते हुए निकाला, तो ऐसी बहुतसी समताएँ हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि, उन नरेशोंने भारतीय मुद्राका अनुकरण किया। बैक्ट्रियाके राजा डिमितसने—जिसको ग्रीक यात्री "*King of Indians*" (भारतका राजा) बतलाते हैं—मथुरातक आक्रमण किया था। उसके सिक्कोंमें भारतीयपनकी झलक दृष्टिगोचर होती है। उन नरेशोंके सिक्के, जो केवल "ताक्षिया"पर राज्य करते थे, गोलाकार हुआ करते थे, परन्तु जबसे उन्होंने हिन्दू-कुशके दक्षिणका देश अपने राज्यमें मिलाया, उसी समयसे वह अपने सिक्कोंको भारतीय मुद्रा-कलानुसार अङ्कित करने लगे। डिमितसने भारतीय ढंगपर चौकोर सिक्के तैयार कराये थे। इसका एक मुख्य कारण यह था कि, उसे ग्रीक नरेशोंके सिक्कोंका भारतमें प्रचार करना था। अतः उस स्थानके व्यवहारका अनुकरण करना उसके लिये नितान्त आवश्यक था। डिमितसके साथ राज्य करनेवाले "पैन्टिलियान"ने भारतीय लेखके साथ-साथ उन चिह्नोंको भी अपने सिक्कोंपर अङ्कित करना शुरू किया, जो भारतके प्राचीन सिक्कोंपर मिलते हैं।

उस समयके प्राचीन सिक्के भारतमें पंच-मार्कके नामसे पुकारे जाते थे। उनका यह नाम इस कारणसे प्रचलित था कि, उनपर कई प्रकारके चिह्न अङ्कित होते थे तथा उनका आकार कई प्रकारका होता था। बुद्धघोषने विसुद्धिमग्गमें वर्णित कार्षापणको चित्र विचित्र आकारका बतलाया है (*The Devices were punched on them so they were called Punch-marked coins*)। पहले विद्वानोंकी यह धारणा थी कि, वे चिह्न व्यर्थ ही हैं तथा एक दूसरेसे समता नहीं रखते। पीछेकी

खोदाईमें निकले बहुतसे ऐसे ही सिक्के मिले हैं, जिनमें बहुतसी समताएँ भी है। यह अभीतक निश्चित नहीं हो पाया है कि, उन चिह्नोंसे क्या तात्पर्य है। उन चिह्नोंमेंसे कुछ नीचे दिये जाते हैं। विद्वानोंने उन चिह्नोंको छ प्रकारोंमें विभक्त किया है—

(१) मनुष्यकी आकृति। (२) शस्त्र (धनुष, बाण आदि)। (३) पशु, (सिंह, नन्दी)। (४) वृक्ष तथा वृक्षकी शाखाएँ। (५) सूर्य मण्डल या तारागण। (६) विविध प्रकारके चिह्न।

इस स्थानपर प्रत्येक चिह्नोंका भाव, अर्थ तथा प्रकार बतलाना असम्भव है।* इन्हीं चिह्नोंमेंसे पैन्टिलियानके सिक्केपर शेरका चिह्न है। इसका अनुकरण कर राजा एगाथोक्लियाने अपने सिक्केपर पेड़ या शाखाओंका चिह्न रखना शुरू किया। इससे पहलेके नरेशोंने अपने सिक्कोंपर ऐसा चिह्न नहीं रखा था, जिसका अनुकरण इन दोनों राजाओंने किया, परन्तु पञ्च-मार्क सिक्कोंके सिवा कोई ऐसा मूल नहीं है, जिसका अनुकरण उन्होंने किया। अतः इस कथनमें कोई भी आपत्ति नहीं है तथा सप्रमाण सिद्ध होता है कि, ग्रीक राजाओंने भारतमें प्रचलित मुद्रा-कलाका अनुकरण किया।

बौद्ध-साहित्यमें जातकोंका बहुत ऊँचा स्थान है। जातकोंमें बुद्धके पहलेके भारतकी राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक अवस्थाके विवरण मिलते हैं, जिनसे इतिहासके लिये मूल्यवान् सामग्री इकट्ठी हो सकती है। जातकोंसे ईसा पूर्व ७०० वर्षकी भारतीय परिस्थितिका ज्ञान होता है। कुरक जातक (जा० १।३७५) में आता है कि, किसी गृहस्थने अपने समीपवर्त्ती एक ऋषिके आश्रममें सौ सोनेके निष्कोंको लाकर रख दिया तथा उस साधुसे सविनय प्रार्थना की कि, आप कृपया इन निष्कोंकी निगरानी कीजिये। दूसरे स्थानपर वर्णन आता है कि, सर्पराज चम्पेय अपने सर्पोंकी करामात दिखाकर प्रतिदिवस सैकड़ों या हजारों कार्षापण पैदा कर लेता था। संखपाल जातक (५।१६४) में एक कथा वर्णित है। उसमें यह दिखलाया गया है कि, किसी धनवान् व्यक्तिने बोधिसत्वको दुःखमें पाकर बहुतसा द्रव्य, दानमें, दिया। उसमें सुवर्ण माषकका वर्णन आता है। पाठकगण ऊपरके वर्णनसे समझ गये होंगे कि, जातकोंके समय (ईसा पूर्व ७०० वर्ष) में कार्षापण तथा निष्क प्रयोगमें लाये जाते थे। ये क्रमशः तांबे तथा सोनेके सिक्के थे। बुद्धघोषने विसुद्धिमग्गके आधारपर कार्षापण (जो सुवर्णकारके लकड़ीके तख्तेपर पड़े थे) के चित्र विचित्र, दीर्घ या परिमण्डल आकारका वर्णन किया है।

ब्राह्मणग्रन्थोंमें सिक्कोंके कई नाम पाये जाते हैं। ताँबेके सिक्कोंको 'कार्षापण' या "धरण" के नामसे पुकारा जाता था। 'शतमान' चाँदी तथा 'निष्क' सोनेके सिक्केके लिये प्रयुक्त किया गया है। इतिहास-वेत्ता प्रोफेसर रैप्सनका कथन है कि, "कार्षापण" ईसा पूर्व ४०० वर्षमें प्रचलित थे तथा साधारण आर्यमें प्रयुक्त किये जाते थे। मनुने राजधर्मका वर्णन किया है तथा उसमें दण्डका विधान बतलाया है। मनुकी आज्ञा थी कि, साधारण अपराधवालोंको शारीरिक दण्ड न देकर आर्थिक दण्ड दिया जाय (मनु० ८। ३६)।

अपराधियोंको सैकड़ों कार्षापण दण्ड दिया जाता था। मनुके समयमें सिक्का, जो कार्षापणके नामसे विख्यात था, ताँबेका बना होता था (मनु० ८।१३६)।

संस्कृत-साहित्यके ब्राह्मण धर्म-ग्रन्थोंमें आचारके साथ राजधर्मका वर्णन आता है। परन्तु चाणक्यका अर्थशास्त्र एक राजनीतिक ग्रन्थ है। वह धर्मका प्रतिपादन नहीं करता। आचार्य कौटिल्यने उसमें अपने समकालीन शासनका वर्णन किया है। उस समय मुद्राके लिये अलग

* विशेष जानकारीके लिये देखिये आर्किआलाजिकल सर्वेकी रिपोर्ट, १९०६।

एक विभाग था, जहाँ सिक्के तैयार किये जाते थे। अर्थशास्त्र (२।१२)में यह बात स्पष्ट है। लिखा है, लक्षणाध्यक्षका कार्य मुद्रा तैयार करना था तथा वह रूपदर्शक मुद्राकी परीक्षा किया करता था। रूप शब्दका अर्थ यहाँ मुद्रासे है। अमरकोश, पृ० १८१, श्लोक ७, में रूप्यकाध्यक्षको नैष्किक कहा है। क्षीरस्वामी रूप्य शब्दका अर्थ मुद्रा बतलाते हैं। कौटिल्यके समयमें मुद्राको लोग "पण" कहा करते थे। इसके प्रमाणमें कौटिल्यके अर्थशास्त्र (२।१२,३।८) आदिसे कुछ वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनसे सिद्ध है कि, सिक्का "पण"के नामसे प्रसिद्ध था। मुद्रा-कलामें निपुण मनुष्य राज्यशासनमें नियुक्त थे, जिनका कार्य एक मात्र मुद्रा तैयार करना था।

प्राचीन भारतीय अवस्थाका वर्णन न केवल धार्मिक ग्रन्थोंमें ही मिलता है, परन्तु हमारे वैयाकरण पाणिनिने भी अपनी अष्टाध्यायीमें प्राचीन भारतीय संस्कृतिके विषयको भी स्थान दिया है। अष्टाध्यायीको न केवल व्याकरणके ही लिये उपयोग किया जाता है, परन्तु इसके द्वारा तत्कालीन भारतकी राजनीतिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक बातें भी जानी जा सकती हैं। यहाँपर केवल अष्टाध्यायीमें मुद्राके विषयकी चर्चा की जायगी। पाणिनिके सूत्र "तेन क्रीतम्" (५।१।३७)से तात्पर्य है कि, "इससे क्रय किया गया।" इससे स्वतः ज्ञात होता है कि, उस कालमें, वस्तुओंकी कीमतमें, सिक्के दिये जाते थे। इसकी पुष्टि नीचे लिखी बातोंसे होती है। "तेन क्रीतम्"के साथ-साथ पाणिनिने "आर्हाद् गोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्"(५।१।१९) सूत्र पहले दिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि, वस्तुएँ, खरीदनेके सिवा, गोपुच्छके भी बदलेमें, ली जाती थीं। अतः "तेन क्रीतम्"के विषयमें 'सिक्केसे खरीदा गया'—यह कुछ असंगत नहीं होगा। वैयाकरण पाणिनिके कालके विषयमें बहुत मतभेद है। गोल्डस्टकर तथा सर रामकृष्ण भण्डारकर पाणिनिका समय छठी शताब्दी (ईसा पूर्व) से भी पहलेका बतलाते हैं। इसके प्रमाणमें इस बातसे पुष्टि होती है कि, पाणिनिने बहुतसे स्वतन्त्र संघोंका नाम बतलाया है। वे संघ राजनीतिक संघ थे। पाणिनिने बौद्ध संघोंके विषयमें कुछ भी नहीं लिखा है। शायद पाणिनिके समयमें ये संघ विद्यमान न हों। संघका समय ईसा पूर्व पाँचवीं और छठी शताब्दी है। अतः पाणिनिका पाँचवीं शताब्दी (ईसा पूर्व)में होना अनुमान हो सकता है। पश्चिमीय विद्वानोंने पाणिनिका समय ईसा पूर्व ३५० वर्ष बतलाया है। पाणिनिको कई प्रकारकी मुद्राओंका नाम ज्ञात था, जो उस समय प्रचलित थीं। "विभाषा कार्षापण-सहस्राभ्याम्" [५।१।२९] सूत्रमें ताँबेका सिक्का आया है, जो कार्षापणके नामसे विख्यात था। कात्यायनने पाणिनिके (१।४।५२) सूत्रपर वार्तिक लिखा है, जिसके ऊपर पतञ्जलि उदाहरण देते हैं—"पश्यति रूपतर्कम्, कार्षापणं दर्शयति रूपतर्कं कार्षापणम्"। इसका तात्पर्य है कि, 'रूपतर्क' कार्षापण को परीक्षा करता है। नीचे लिखे सूत्रोंसे ज्ञात होता है कि, 'निष्क' तथा 'शतमान' नामके सिक्के भी प्रचलित थे—

"शतसहस्रान्ताच्च निष्कात्" (५।२।११९), "असमासे निष्कादिभ्यः" (५।१।२०)।

शतमानका भी नाम ५।१।२७ में आया है।* पाणिनिने स्पष्ट रीतिसे बतलाया है कि, रूप्य तभी ठीक समझा जायगा जब कि, उसपर मुहर लगायी गयी हो—"रूप्यादाहतप्रशंसयोर्यप्" (५।२।१२०)।

इससे प्रकट होता है कि, उस समय सिक्कोंपर मुहर लगायी जाती होगी, तभी तो पाणिनिने "आहत" (*to hammer or stamp*) शब्दका प्रयोग किया

* पाणिनिके कालसे प्रचलित निष्क तथा शतमानको मनु क्रमशः सोने और चाँदीके सिक्के बतलाते हैं— "चतुःसुवर्णान् षण्णिष्कान् शतमानं च राजतम्।" (८।२२०)

है। काशिकाकारने उदाहरण-रूपमें "आहत रूप अस्य रूप्यो दीनारः, रूप्यः केदार', रूप्य कार्षापणम्" दिया है। काशिकाकारका तात्पर्य दीनार, केदार तथा कार्षापणसे है। अतः इन सब प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि, पाणिनिके समय (ईसा पूर्व ५५० वर्ष)में कई प्रकारके सिक्के प्रचलित थे तथा वे सब अङ्कित होते थे।

कात्यायन-श्रौतसूत्रके पन्द्रहवें अध्याय "राजसूय-निरूपणम्" में यज्ञकी दक्षिणामें शतमान दिये जानेका वर्णन आता है।

शतपथ-ब्राह्मणके राजसूयकाण्डमें (५, ४३, २४—२६) रथमोचनीय यज्ञका वर्णन आता है। उसमें राजाके रथके पहियेमें दो गोलाकार शतमान बाँधे जानेका वर्णन किया गया है। राजा जनकके यज्ञका वर्णन, चौदहवें काण्डमे, आता है। राजा जनकने यज्ञमें कुरु-पाञ्चालके ब्राह्मणोंको बहुतसा धन दिया। ऐसा कहा गया है कि, हर एक ब्राह्मणको तीन तीन "शतमान" दिये गये। जनकके इसी यज्ञका वर्णन बृहदारण्यक-उपनिषद् (३।१।१) में किया गया है। राजा जनकको यह हार्दिक इच्छा थी कि, सब शास्त्रोंके जाननेवाले ब्राह्मणको एक सहस्र गायें दी जायँ। जनकने हर एक गायकी सींगमें दस-दस "पाद" बाँधनेकी आज्ञा दी। महाशय रीस डेविस "पाद"को। सोनेके सिक्केका चौथाई हिस्सा तौल मानते हैं।

अथर्ववेद (२०।१२७।३) में वर्णित है कि, राजाने सैकड़ों "निष्क" ऋषिको दिये।

ऋग्वेद (१।१२६।२) में राजाने सौ "निष्क" तथा सौ घोड़े दानमें दिये।

वैदिक इण्डेक्स (*Vedic Index*)के कर्ता मैक्डानल तथा कीथ महोदयोंका कथन है, "निष्क" वैदिक कालमें अवश्य प्रचलित था। ऋग्वेदके दूसरे स्थल (मण्डल २, मन्त्र ३३)में निष्कका वर्णन है। वैदिक संस्कृतमें 'निष्क"का भावार्थ हारसे है। इसका भाव यह है कि, रुद्रदेव सोनेका हार पहने हैं और वह भी "विश्व-रूपम्" है। इसी प्रकारका वर्णन जैनियोंके कल्पसूत्रमें भी आता है, जिसका भाव यह है कि, भगवती श्री सिक्कोंके बनाये गये हारको पहने हैं। इस तरहके हारका प्रयोग आज भी देखनेमें आता है। ऋग्वेदमें वर्णित "विश्वरूपम्" का अर्थ मुद्रा-कलाके जानकारोंने ठीक-ठीक लगाया है। 'रूपम्"का अर्थ यहाँ मुहर लगानेसे है तथा "विश्व"का अर्थ बहुत प्रकारके रूपासे है। इस प्रकार ऋग्वेदके समयमें "निष्क" नामक मुद्राका प्रचार सिद्ध होता है।

वैदिक संस्कृतिके काल निरूपणमें बहुत मतभेद है। भारतीय विद्वान् इसको कई हजार वर्ष पहले बतलाते हैं। स्व० लोकमान्य तिलक ज्योतिर्गणनासे इसका समय ६ हजार वर्ष पहले बतलाते हैं। पश्चिमी विद्वान् इसका समय ईसा पूर्व १५०० वर्ष ले जाते हैं। अस्तु। यह सिद्ध है कि, कमसे कम चार हजार वर्ष पहले भारतमें सिक्कोंका प्रचार था।

कलिंगके गंग और केसरी राजाओंकी स्वर्ण-मुद्राएँ

राजा लक्ष्मीनारायण हरिचन्दन जगदेव बहादुर

गङ्ग और केसरी-स्वर्ण-मुद्राओंको आजकल "गङ्गपरकलु" कहते हैं, क्योंकि उनमें "गं(या गम)" अक्षर ही सर्वप्रथम आया हुआ है। इन स्वर्ण-मुद्राओंमें, जिनमें नन्दी है, उन्हें "नन्दीपरकलु", जिनमें सिंह है, उन्हें "सिंहपरकलु" और जिनमें लिङ्ग है, उन्हें "लिङ्गपरकलु" कहते हैं। इन राजाओंने समुद्र-तटवर्ती भूमिपर भी राज्य किया था, इसलिये इनकी कुछ स्वर्ण-मुद्राओंमें नौकाओं या जहाजोंके भी चित्र हैं। कुछ ऐसी भी स्वर्ण-मुद्राएँ हैं, जिनमें मत्स्यके चित्र हैं। मत्स्य गङ्गादेवीके वाहन हैं, जिनसे यह बात प्रमाणित होती है कि, यह मुद्राएँ गङ्ग-राजवंशकी हैं। शिवलिङ्ग या शिव और नन्दीके चित्रोंका यह आशय है कि, राजा शैव-धर्मावलम्बी थे। नन्दी तो उनका वाहन ही ठहरा, मुद्राओंमें भी उसका जा बैठना उचित ही था। इन मुद्राओंको गङ्ग, केसरी या सिंह-मुद्राएँ भी, मुद्राङ्कित चित्रोंके अनुसार, कहते हैं। यह सभी मुद्राएँ, घोर जलवृष्टिके बाद, उत्कलके प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान कलिङ्गपट्टनम्, मुखलिङ्गम्, दन्तपुर और सन्तबम्मली आदि स्थानोंमें ढूँढनेसे मिली हैं।

गङ्ग-मुद्राएँ ५ या ६ दाने भर (*Moluca bean*) हैं। इनपर ठप्पा दिया होता है। यह आकारमें छोटी हैं और ब्राह्मणोंको दक्षिणा-दान देने या देवताओंपर चढ़ानेके लिये उपयुक्त हैं। इनमें शिवलिङ्ग, बैठे हुए नन्दी (वृषभ), शङ्कर, दूजके चन्द्रमा आदिके धार्मिक चिह्न हैं। सर्वसाधारणमें स्वर्ण-मुद्राओंको प्राप्य एवं उपयुक्त बनानेके अभिप्रायसे इनकी रेजकियाँ भी—अर्द्धांश, चतुर्थांश और अष्टांशकी—राजाओंके टकसालोंमें ढाली जाती थीं। उस समयकी अठन्नी, चवन्नी या दुअन्नी सोनेकी ही होती थी। प्रतिवर्ष सिक्के शासनकर्त्ता राजाके वार्षिक सुनय (भाद्रपदकी शुक्ला द्वादशी) के दिन ढाले जाते थे। आज भी इसी तिथिको, उत्कल-राजवंशमें, सिक्के ढाले जाते हैं।

निम्नाङ्कित चित्रोंमें* सिक्कोंकी दोनों ओरके चित्र साथ साथ दिखलाये गये हैं—

चित्र नं० १

(क) मुद्रा नं० १ के अग्र-भागमें बैठे हुए नन्दी या वृषभका चित्र है, जो बाँयीं ओर मुँह किये हुए है। ऊपरमें दूजका चाँद है। पृष्ठ-भागमें 'ॐ' अक्षर है।

(ख) मुद्रा नं० २, ४, ८, ११, १२, १३ और १५ के अग्र-भागमें हाथीके अङ्कुश जैसा चित्र जान पड़ता है। इनके पृष्ठ-भागमें कुछ अङ्क प्रतीत होते हैं। सम्भवतः यह तत्कालीन शासकका शासन-संवत् है, जब यह मुद्राएँ ढाली गयी थीं। यह हाथीका अंकुश गजपतिका साङ्केतिक चिह्न है, जो गङ्गवंशीय राजाओंकी एक शाखा या उपाधि थी।

(ग) मुद्रा नं० ३, ६ और ९ के अग्र-भागोंमें तराजूका चित्र है। उनके पृष्ठ-भागमें एक अङ्क और शिवलिङ्ग तथा नन्दीके धार्मिक साङ्केतिक चिह्न हैं। यह तराजू "तुलापुरुषदान"का साङ्केतिक चिह्न है। गङ्गवंशीय राजाओंमें यह एक प्रकारका अनुष्ठान

* ये दोनों चित्र अन्यत्र प्रकाशित हैं।—ग० सं०

था। इसका तात्पर्य यह है कि, राजाने अपने शरीरके वजनके बराबर दान किया और सुवर्णके चौगुने मूल्यकी दक्षिणा भी उसने दी।

(घ) मुद्रा न० ५, ७, १० और १४के अग्र-भागमें शिवलिङ्ग, नन्दी और दूजके चाँदके चित्र और पृष्ठ-भागमें काल या सवत्-सम्बन्धी अङ्क हैं।

चित्र न० २

मुद्रा न० १ का अग्र-भाग—बायीं ओर मुँह किये नन्दी बैठा हुआ है और उसके माथेपर दूजका चाँद है। पृष्ठ-भाग—चतुराश्रम और शासन-सवत्-सम्बन्धी अङ्क है।

मुद्रा न० २ का अग्र-भाग—अपना एक पंजेको उठाये हुए सिंह बैठा हुआ है। पृष्ठ-भाग—"व" अक्षर है। सम्भवतः यह राजाके नामका प्रथम अक्षर है और इसमें सिंहका चित्र होनेसे यह केसरी-मुद्रा जान पड़ती है।

मुद्रा न० ३ का अग्र-भाग—अंकुशका चिह्न है, जो गङ्गवंशीय गजपति-राजाओंका सांकेतिक चिह्न है। गङ्गवंशीय राजा गज-युद्धमें बड़े विख्यात एवं लब्ध-प्रतिष्ठ थे। पृष्ठ-भाग—चतुराश्रमका चित्र और सवत्-के अङ्क है।

मुद्रा न० ४ का अग्र-भाग—दो मछलियोंके नीचे सवत्का अङ्क है। पृष्ठ-भाग—शिवलिङ्ग, नन्दी और दूजका चाँद है। गङ्गा देवीका वाहन मछली होनेसे यह मुद्रा गङ्ग-राजाओंकी जान पड़ती है।

मुद्रा न० ५ का अग्र-भाग—दो मस्तूलों और एक पतवारवाली एक नौका है। कलिङ्ग-देशवासी वाणिज्य-व्यवसायमें अधिक उन्नत और सचेष्ट रहते थे। पृष्ठ-भाग—शिवलिङ्ग, नन्दी और दूजका चाँद है।

मुद्रा न० ६ का अग्र-भाग—तुलादानका सांकेतिक चिह्न तराजू है। पृष्ठ-भाग—शिवलिङ्गके नीचे अङ्क १३ है।

मुद्रा न० ७ का अग्र भाग—नन्दी। पृष्ठ-भाग—चतुराश्रम और अङ्क ३ है।

मुद्रा न० ८ का अग्र-भाग—"ग" अक्षर, जो गङ्ग-वंशका द्योतक है। पृष्ठ-भाग—चतुराश्रम और अङ्क है।

मुद्रा न० ९ का अग्र-भाग—शिवलिङ्ग और अन्यान्य चिह्न है। पृष्ठ भाग—चतुराश्रम है।

काल-निर्णयमें ईंटें और खुदाई

त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन

इतिहासका विषय भूत काल है, इसलिये उसे हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। किन्तु जिस प्रकार वर्तमान वस्तुओंके लिये प्रत्यक्ष बहुत ही जबर्दस्त प्रमाण है, उसी प्रकार भूत वस्तुओंके लिये जबर्दस्त प्रमाण उस समयकी वस्तुएँ हैं। वस्तुएँ प्रत्यक्षदर्शी और सत्यवादी साक्षी हैं। उनके लिये इतना चाहिये कि, उनका उस कालसे सच्चा सम्बन्ध मालूम हो जाय। पोथी-पत्रोंमें तो मनुष्य भूल कर सकता या स्वार्थ-वश हर नयी लिखाईमें घटा-बढ़ा सकता है, किन्तु रमपुरवा (चम्पारन)के स्तम्भ-लेखमें एक भी अक्षर-को, अशोकके बाद, मिलाया जाना क्या आसान है? सारनाथमें, ई० पू० प्रथम या द्वितीय शताब्दीमें, जिस

बौद्ध-सम्प्रदायकी प्रधानता थी, वहाँ उस समयकी लिपिमे उसके नामके साथ एक लेख खुदा हुआ था। उसके चार-पाँच सौ वर्ष बाद (ईस्वी तीसरी या चौथी शताब्दीमे) दूसरा सम्प्रदाय अधिकारारूढ़ हुआ। इसने उसी लेखमे, नामवाला भाग छिलवाकर, अपना नाम जुड़वा दिया। ऐसे भी भिन्न-भिन्न हाथोंके अक्षर एक दूसरेसे पृथक् होते हैं, और, यहाँ तो पाँच शताब्दियो बाद अक्षरोमे भारी परिवर्त्तन हो गया था। इसलिये यह जाल साफ मालूम हो जाता है, और, वह "आचार्याणां सर्वास्तिवादिन परिग्रहे" वाला छोटा लेख बतला देता है कि, सारनाथका धर्म-चक्र-प्रवर्तन-विहार ई० पू० प्रथम शताब्दीसे पूर्व, किसी दूसरे सम्प्रदायके हाथमे था, और, ईस्वी तीसरी या चौथी शताब्दीमे सर्वास्तिवादके हाथमे चला गया। इस तरह इस प्रमाणकी मजबूतीको आप अच्छी तरह समझ सकते है। सातवी शताब्दीके चीनी भिक्षु युन् च्वेङ् अपने समयमे वहाँ साम्मितीय निकायकी प्रधानता पाते है। युन-च्वङ्का ग्रन्थ १२ शताब्दियोतक भारतसे दूर पडा रहा, इसलिये जान-बूझ कर, मिलावट कम होनेसे, अपने समयके लिये उसकी प्रामाणिकता बहुत ही बढ जाती है। किन्तु मान लीजिये युन-च्वेङ अपने ग्रन्थमे लिख दे कि, सारनाथका धर्म-चक्र-प्रवर्तन-विहार अशोकके समयसे आजतक साम्मितीयोके हाथमें है, तो उक्त लेखके सामने इस बातकी प्रामाणिकता कुछ भी नहीं रह सकती। इसी तरह समसामयिक सामग्री पीछे रचे और लिखित ग्रन्थोसे बहुत ही अधिक प्रमाणभूत है। हाँ, जैसा कि, मैने ऊपर कहा है, वहाँ हमे उनकी समसामयिकताको सिद्ध करना होगा। समसामयिकता सिद्ध करनेके लिये निम्न बाते सबसे अधिक प्रामाणिक है—(१) स्वय लेखमे दिया संवत् और नाम, (२) लिपिका आकार, (३) गहराई, (४) प्राप्त वस्तुके आसपास मिली ईंटे और अन्य वस्तुएँ।

पहली बात तो सर्वमान्य है ही, लेकिन ऐसा संवत्-काल लिखनेका रवाज गुप्तोंके ही समयसे विशेष मिलता है। आन्ध्रों, कुषाणो, अशोक आदिके लेखोंमें तो राजाके अपने अभिषेकका संवत् दिया रहता है, उनका काल-निर्णय कठिन है। बहुतसे लेखोंमें तो काल भी नही रहता। ऐसी अवस्थामे, अक्षरोको देखकर, उनसे काल-निश्चय किया जाता है। यद्यपि इसमे दो-एक शताब्दियोके अन्तर होनेकी सम्भावना है, किन्तु जो सामग्री सबसे प्रचुर परिमाणमे मिलती है और मनुष्य-जीवनके सभी अङ्गोंपर प्रकाश डालती है, वह अक्षराङ्कित भी नहीं होती। इसी सामग्रीकी समसामयिकताको सिद्ध करनेके लिये तीसरे और चौथे प्रमाणोंकी आवश्यकता होती है।

ऐतिहासिक सामग्रियोमे प्रत्यक्षदर्शी लेखका, अपनी जबान खोलकर सन्-संवत्के साथ, घटनाओंका वर्णन करना, ऐतिहासिक प्रत्यक्ष है। किन्तु जब वह अङ्क या आकारसे अपने काल मात्रको बतलाता है, तब भी वह अपने साथके बर्तन, दीवार, जेवर, मूर्त्ति आदिके बारेमें इतनी गवाही दे ही जाता है कि, इतने समयतक हम सब साथ रहे हैं। उस समयकी सभ्यता आदि सम्बन्धी बाते तो अब आपको उनकी मूक भाषासे मालूम करनी होगी। हाँ, यहाँ यह भी हो सकता है कि, भिन्न कालमे बनी वस्तुएं और लेख पीछे वहाँ इकट्ठे कर दिये गये हो; किन्तु वह तो तभी हो सकता है, जब कि, संग्रहालय (म्युजियम) की तरह यहाँ भी इकट्ठा करनेका कोई मतलब हो। लेखोके साथ कुछ और चीजे भी सभी जगह मिला करती हैं, और, यह भी

देखा गया है कि, कालके अनुसार इनके आकार-प्रकारमें भेद होता रहता है। इसी लिये इन्हें भी काल-निर्णयमें प्रमाण माना जाता है।

देहातमें भी लोग कहा करते हैं कि, "धरती माता प्रतिवर्ष जौ-भर मोटी होती जाती हैं।" यह बात सत्य है; लेकिन इतने संशोधनके साथ—'सभी जगह नहीं, और मोटाईका ऐसा नियत मान भी नहीं।' भारतमें मोहञ्जोदारो वह स्थान है, जहाँ आजसे चार-पाँच हजार वर्षकी पुरानी वस्तुएँ मिली हैं। लेकिन वहाँ आप, इन सब चीजोंको, वर्तमान तलसे भी ऊपर, टीलोंपर पाते हैं। हरप्पामें भी करीब-करीब वही बात है। हाँ, इस तरहके अपवादोंके साथ पृथिवीके मोटे होनेका नियम उत्तर भारतमें लागू है। पृथिवी कितनी मोटी होती जाती है, इसका कोई पक्का नाप-नियम नहीं है। इसके लिये कुछ जगहोंकी खोदाईमें मिले भिन्न-भिन्न तलोंकी सूची दी जाती है—

काल	गहराई (फीट)	स्थान
ई०पू० ८ वीं शताब्दी	२१, २०	*भीटा (इलाहाबाद)
,, चौथी-पाँचवीं ,,	१७	,,
मौर्य-काल		
(ई०पू०तृतीय शतक)	१६	,,
,,	१५	पटना
,,	११	रमपुरवा (चम्पारन)
,,	गुप्त+६, ९½	सारनाथ (बनारस)
कुषाण-काल		
(ई० पू० प्र० श०)	१३	भीटा (इलाहाबाद)
,, (ई० चतुर्थ–षष्ठ श०)	१०-८	कसया (गोरखपुर)
,,	१०	,,
कुषाण-काल	१०	बसाढ़ (मुजफ्फरपुर)
,,	९	भीटा (इलाहाबाद)
,,	८	,,
,,	७	पटना

गहराईकी भाँति ईंटें भी काल-निर्णयमें बहुत सहायक होती हैं, क्योंकि देखा जाता है कि, जितनी ही ईंटें बड़ी होती हैं, उतनी ही अधिक पुरानी होती हैं। यद्यपि यह नियम सामान्यत. सर्वत्र लागू है, तो भी कहीं-कहीं इसके अपवाद मिलते हैं। गुप्त-कालकी भी ईंट कभी-कभी मौर्य-कालकी-सी मिली है, किन्तु उनमें वह ठोसपन नहीं है। (जैसे-जैसे जंगल कटते गये, वैसे ही वैसे लोग लकड़ीकी किफायत करने लगे, और, इसी लिये, ईंधनकी कमी के लिये, ईंटोंकी मोटाई आदिको कम करने लगे।) मोहञ्जोदारो और हरप्पा सर्वथा ही इसके अपवाद हैं। वहाँकी ईंटें तो आज कलकी अँगरेजी ईंटों-जैसी लम्बी—किन्तु, कम मोटी हैं। नीचेकी सूचीसे भिन्न-भिन्न कालकी ईंटोंका कुछ अनुमान हो सकेगा—

काल	आकार (इंच)	स्थान
ई०पू०चतुर्थ श०	१६×१०½×३	पिपरहवा (बस्ती)
,,	१५×१०×३	,,
मौर्य-काल		
(ई०पू०तृतीय श०)	२०×१४½×३½	भीटा(बहराइच)
,,	१९½×१२½×३½	सारनाथ (बनारस)
,,	१९×१०×३	कसया(गोरखपुर)
,,	१८×१०×२¾	,,
‡कुषाणोंसे पूर्व	१७½×१०½×२¼	भीटा(इलाहाबाद)

* भीटाका पुराना नाम सहजाती था। वहाँकी खोदाईमें एक मुहर भी मिली है, जिसमें "शहजातिये निगमश" (सहजातीके वणिक्-संघका) लिखा है —"बुद्धचर्या" पृष्ठ ५५९,५६१।

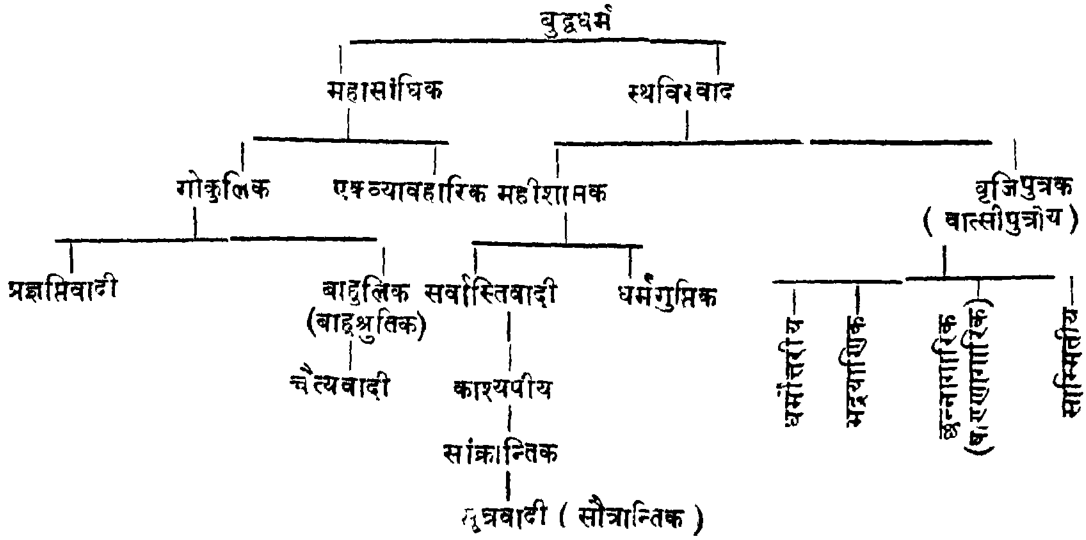
‡ ई० पू० प्रथम और ईस्वी सन् प्रथम शताब्दियाँ।

काल	आकार (इंच)	स्थान	काल	आकार (इंच)	स्थान
कुषाणोंके पूर्व	१४×१०½×२¼	सहेट-महेट (गोंडा)	गुप्त	१२×९×२	सहेट-महेट (गोंडा)
,,	१४×१०×२	,,	ई० षष्ठ-सप्तम श०	१२½×८½×२	,,
,,	१४×६×२	,,	ई० सप्तम-अष्टम श०	१२×९×२	,,
* कुषाण	१५×१०½×२¾	सारनाथ (बनारस)	ई० दशम-एकादश श०	१२×९×२	,,
,,	१३×१०×२½	,,	,,	९½×९½×२	,,
† गुप्त	१४×८×२½	सहेट-महेट (गोंडा)	,,	७×५×२	,,

महायान बौद्धधर्मकी उत्पत्ति

त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन

बुद्धने ४५ वर्षोंतक ईश्वरवाद, अनात्मवाद, पुद्गलवाद, जातिवाद और कितने ही अन्यवादोंके विरोधी जड़वादकी सीमाके पासतक पहुँचे, बुद्धि-प्रधान एवं सदाचार-परायण धर्मका उपदेश कर ४८३ ई० पूर्वमें उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। जैसे-जैसे समय बीतता गया और जैसे-जैसे नाना प्रकृतिके लोग बुद्धधर्ममें सम्मिलित होते गये, वैसे ही वैसे उसमें परिवर्तन होता गया। इस प्रकार बुद्धके निर्वाणके १०० वर्ष बाद, वैशालीकी संगीतिके समय, बौद्ध धर्म स्थविरवाद और महासांघिक नामक दो निकायों (सम्प्रदायों) में विभक्त हो गया। इसके सवा सौ वर्ष बाद और भी विभाग होकर उसके अठारह निकाय बन गये, जिनका वंशवृक्ष, पाली "कथावत्थु" की "अट्ठकथा" के अनुसार, इस प्रकार है—



* ईस्वी प्रथम और द्वितीय शताब्दियाँ।

† ईस्वी चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ शताब्दियाँ।

बुद्धके जीवनमें ही उनके शिष्य गन्धार, गुजरात (सूनापरान्त), पैठन (हैदराबाद-राज्य) तक पहुँच चुके थे। धीरे धीरे उनके उत्साह एवं सम्राट् अशोक, सम्राट् मिलिन्द, सम्राट् इन्द्राग्निमित्र आदिकी भक्ति और सहायतासे इसका प्रसार और भी अधिक हो गया। अशोकका सबसे बड़ा काम यह था कि, उन्होंने भारतकी सीमाके बाहरके देशोंमें, धर्म-प्रचारकोंके भेजे जानेमें, बहुत सहायता की। अशोक (ई० पूर्व तृतीय शताब्दी) के बाद बौद्ध धर्म सभी जगह फैल चुका था। उस समयतक अठारह निकाय पैदा हो चुके थे, इसलिये राजाकी सहायता, चाहे एक ही निकायको हो, लेकिन दूसरे निकायोंने भी अच्छा प्रचार किया। शुंगों और काण्वोंके बाद आन्ध्र या आन्ध्र-भृत्य सम्राट् हुए। इनकी सर्वपुरातन राजधानी प्रतिष्ठान (पैठन) * महाराष्ट्र थी। पीछे धान्य-कटक भी दूसरी राजधानी बना, जो, आगे चलकर, कोसलकी राजधानी श्रावस्तीकी भाँति, प्रधान बन गया और पैठान सिर्फ युवराजकी राजधानी रह गया। शातकर्णी या शातवाहन (शालिवाहन) आन्ध्र राजा, यद्यपि कुछ समयतक, उत्तरीय भारतके भी शासक थे, तो भी पीछे उन्हे दक्षिणपर ही सन्तोष करना पड़ा। बौद्ध धर्मपर इनका विशेष अनुराग था, यह उनके पहाड़ खोदकर बने गुहा-विहारोंमें खुदे शिलालेखोंसे भी मालूम पड़ता है। राजधानी धान्यकटक (अमरावती)में उनके बनाये भव्य स्तूप, नाना मूर्त्तियाँ, लताएँ आदि तथा चित्रोंसे अलंकृत संगमरमरकी पट्टिकाएँ, स्तम्भ, तोरण आज भी उनकी श्रद्धाके जीवित नमूने हैं। वस्तुत बौद्धोंके लिये, शातवाहन राजवंश, ई० पूर्व प्रथम शताब्दीसे ईस्वी तीसरी शताब्दीतक, पुराने मौर्यों या पिछले पाल-वंशकी तरह था। पहाड़ खोदकर गुहा बनानेका कार्य यद्यपि मौर्योंने आरम्भ किया था, और, वे उसमें कहाँतक तरक्की कर चुके थे, यह बराबरकी चमकती पालिशवाली गुहाओंमे मालूम होता है, तो भी गुहाओंको बहुत अधिक और सुन्दर ढंगसे बनवानेका प्रयत्न आन्ध्रोंके ही राज्यमें हुआ। नासिक, कार्ला आदिकी भाँति अजन्ता और एलोराकी गुहाओंका भी श्रीगणेश इन्हींके समयमें हुआ था, जो पीछेतक बढ़ता गया।

अन्धक-साम्राज्यमें महासांघिकों और धर्मोत्तारीयोंके होनेका कार्ला × और नासिकके गुहा-लेखोंसे पता लगता है। पाली अभिधम्मपिटकके "कथावत्थु" ग्रन्थमें कितने ही निकायोंके मतोंका खण्डन किया गया है, जिनका विश्लेषण उसकी अट्ठकथाके अनुसार निम्न प्रकार है—

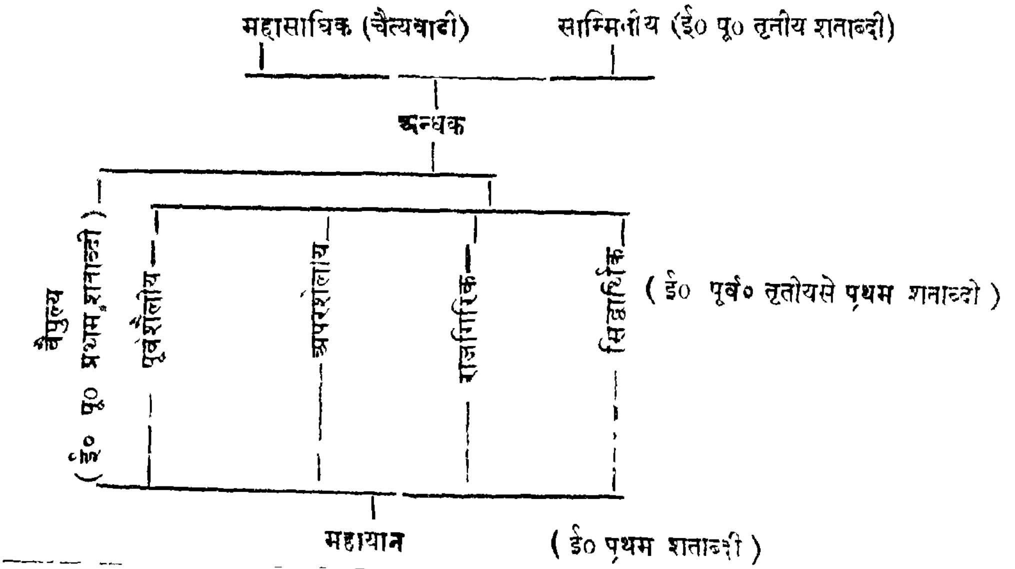
* पीछे पैठनके इन शातवाहनोंका शकोंसे भी विवाह-सम्बन्ध हुआ। इन्हे अपने देशके नामपर, रट्ठिक (राष्ट्रिक) या महारट्ठिक भी कहते थे। पीछे नाटकोंमें शक या शकारके लिये "रट्ठिय-साल" (राष्ट्रिक-शाल) शब्द प्रयुक्त होनेका भी यही कारण है। वैसे भारतमे अचिरागत शकोंका रंग अधिक गोरा होनेसे, रनिवासोंमें, शक-कन्याओंकी काफी माँग भी थी। इससे भी राजाका साला होना हो सकता है। रट्ठ या महारट्ठ नाम पड़नेसे पूर्व पैठनके आसपासका प्रदेश अन्धक कहा जाता था, और, इसी लिये शातवाहनोंको आन्ध्र भी कहा जाता था। पीछे, राजनीतिक कारणोंसे, उन्हे अपनी राजधानी धान्यकटकमें बनानी पड़ी जो कि, तेलगू देशमें है, और, उसीसे इस प्रदेशका नाम आन्ध्र हो गया। अन्धक और वृष्णि, दोनों ही पड़ोसी जातियाँ थीं। वृष्णियोंके वासुदेवके आर्य होनेपर अन्धकोंका आर्य होना निर्भर है।

× *Epigraphica Indica, Vol VII, pp 55, 64, 71*

'कथावत्थु'में खण्डन किये सिद्धान्तोंकी तुलनात्मक सूची

	कुल सिद्धान्त	अर्वाचीन: अन्धक: अन्धक	अपरशैल	पूर्वशैल	राजगिरिक	सिद्धार्थिक	वैपुल्य	उत्तरापथ	हेतुवाद	प्राचीन: महासांघिक: महासांघिक	गोकुलिक	स्थविरवाद: काश्यपीय	भद्रयाणिक	महीशासक	वात्सीपुत्रीय	सर्वास्तिवाद	साम्मितीय	केवल अपने	दूसरोंके सम्मिलित
(अर्वाचीन)		१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६		
१ अन्धक	७२													२		१	८	६२	१०
२ अपरशैलीय	७	१		६														०	७
३ पूर्वशैलीय	२६	१												१			३	१८	११
४ राजगिरिक	११	१				८											१	२	९
५ सिद्धार्थिक	९	१			८												१	०	९
६ वैपु०(वितुल्ल)	८	१																७	१
७ उत्तरापथक	४४	७							१					१		१		३४	१०
८ हेतुवाद	८							१										७	१
																		१३०	
(प्राचीन)																			
९ महासांघिक	२४													१	१	१	४	२०	४
१० गोकुलिक	१																	१	०
११ काश्यपीय	१																	१	०
१२ भद्रयाणिक	१	१																०	१
१३ महीशासक	९	२		१				१	१								३	१	८
१४ वात्सीपुत्रीय	१															१	१	०	१
१५ सर्वास्तिवादी	४	१						१							१		२	१	३
१६ साम्मितीय	२२	८		३	१	१			४					३	२	२		३	१६
																		२७	
सम्मिलित	४०																	१५७	
अनिश्चित	१७																	५७	
																		२१४	

इस नकशेसे मालूम होगा कि, कुल २१३ (२१३) सिद्धान्त हैं, जिनपर "कथावत्थु"ने बहस की है। उनमें १३० अन्धक आदि अर्वाचीन निकायोंके हैं, ४० सिद्धान्त बहुतोंके सम्मिलित हैं, १७ ❋ सिद्धान्तोंके विषयमें अट्ठकथा चुप है और २७ ही ऐसे हैं, जो पुराने १८ निकायोंमें सम्बन्ध रखते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, कथावत्थु मुख्यतः अर्वाचीन निकायोंके ही विरुद्ध लिखी गयी है। इन अर्वाचीन आठ निकायोंमें अपरशैलीय, पूर्वशैलीय, राजगिरिक और सिद्धार्थिक अन्धकोंके ही भेद हैं। इसमें अन्धकोंके ८२ सिद्धान्तोंका खण्डन हुआ है। वैपुल्यवादियों और हेतुवादियोंके रहनेका स्थान यद्यपि नहीं लिखा है, तो भी आगे चलकर वैपुल्यवादियोंको हम आन्ध्र-देशका बतलायेंगे। उत्तरापथक पंजाब या हिमालय० मालूम होते हैं, किन्तु हेतुवादियोंके बारेमें कुछ नहीं कहा जा सकता। महासांघिकोंसे ही पिछले अन्धक-निकायोंका जन्म हुआ मालूम होता है। ऐसा माननेके लिये दो कारण हैं, एक तो, कितने ही विवादग्रस्त विषय इनके सम्मिलित हैं, दूसरे आन्ध्र-साम्राज्यमें महासांघिकोंका + बहुत अधिक प्रचार और प्रभाव था। इस प्रकार इन्हींसे आगे चलकर अन्धकोंकी उत्पत्ति हुई।



❋ मिलाकर देखनेसे अनिश्चित सत्रह सिद्धान्तोंवाले निकाय इस प्रकार मालूम होते हैं— अन्धक ८+१, पूर्वशैलीय १, उत्तरापथक ५, महासांघिक ५, साम्मितीय अन्धक १।

भूत-भविष्य-कालोंके अस्तित्वका सिद्धान्त (कथा० १।७) किसका है यद्यपि यह यहाँ नहीं दिया है, तो भी युन्च्वेङ (हुएनसाङ) की "विज्ञप्ति-मात्रता-सिद्धि"की टीकामें यह सिद्धान्त सर्वास्तिवादियों और साम्मितियोंका बतलाया गया है। (देखिये "विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि", डाक्टर पूसिनका फ्रेंच अनुवाद, पृ० १६७)।

+ महासांघिकोंके भीतर चैत्यवाद-निकाय भी था। धान्यकटकमें इसकी प्रधानता अमरावतीमें मिले शिलालेखोंसे मालूम होती है। धान्यकटकके स्तूपका नाम ही "महाचैत्य" था। मंजुश्रीमूलकल्प, १० पटलमें है—

"श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणा-पथ-संज्ञके। श्रीधान्यकटके चैत्ये जिनधातु-धरे भुवि।"

इसी चैत्यके नामसे वहाँ वाले चैत्यवादी कहे जाते थे।

पूर्वशैलीय—"कथावत्थु"की अट्ठकथा (११९)मे इसे तृतीय संगीतिके बाद उत्पन्न होनेवाले अन्धक-निकायोमे गिना है। महासांघिकोंका (धान्यकटक-महाचैत्यका) चैत्यवाद-निकाय पुराने अठारह निकायोंमें सम्मिलित किया गया है, किन्तु इन अन्धक-निकायोको हम उनमें सम्मिलित नहीं पाते। इस लिये मालूम होता है, यह चैत्यवादियोके भी पीछेका है। यद्यपि चैत्यवादियोका नाम अठारह निकायोंमें होनेसे अट्ठकथाचार्य उन्हे तृतीय संगीतिसे पूर्वका बतलाते हैं, तो भी धान्यकटकके चैत्यकी प्रसिद्धि, शुङ्गोंके बाद, आन्ध्रोके प्रतापी कालमे हुई होगी। अत यहाँके विहारके भिक्षुओका पृथक व्यक्तित्व खारबेल और शुङ्गोंके बाद ही स्थापित होना चाहिये। यदि यह ठीक हो, तो चैत्यवादको हम ई० पूर्व द्वितीय शताब्दीके अन्तिम भागमे मान सकते है, और, तब पूर्वशैलीय आदि चारो अन्धक-निकायोकी उत्पत्ति ई० पू० प्रथम शताब्दीमे माननी होगी। भोटिया-ग्रन्थोसे □ मालूम होता है कि, पूर्वशैल और अपरशैल धान्यकटकके पूर्व और पश्चिमकी ओर दो पर्वत थे। इन्हींके ऊपरके विहार पूर्वशैलीय और अपरशैलीय कहे जाते थे। धान्यकटक आन्ध्र-देशमे वर्तमान धरनीकोट (जि० गुंटूर) है। चौदहवीं शताब्दीके लिखे सिंहली-ग्रन्थ "निकाय-संग्रह"से यह भी मालूम होता है कि, इन्होने "राष्ट्रपालगर्जित" ❀ ग्रन्थको बुद्धके नामसे प्रसिद्ध किया था। भोटमे (तिब्बत) शर्-री (पूर्वशैल) की कही जानेवाली पीतलकी मूर्त्तियोका दाम कई गुना अधिक होता है।

अपरशैलीय— धान्यकटकके पश्चिमकी पहाड़ीपर बसनेवाला यह निकाय भी चैत्यवादियोंसे निकला मालूम होता है। शेष पूर्वशैलीयकी भाँति, इसके बारेमें, जानना चाहिये। भोटिया-ग्रन्थोंमें इसका भी जिक्र आता है। इसके वादोंपर पहले कुछ कहा जा चुका है। "निकायसंग्रह"के अनुसार इन्होंने "आलवक-गर्जित" सूत्रको बनाकर बुद्धके नामसे प्रकाशित किया।

राजगिरिक--अन्धक थे, किन्तु आन्ध्रमे राजगिरि कहाँ है (जहाँपर कि, इनका केन्द्र था), नहीं कहा जा सकता। "कथावत्थु"मे इनके ११ सिद्धान्तोका खण्डन किया गया है, जिनमेंसे आठ इनके तथा "सिद्धार्थकों"के एक हैं, जिससे ज्ञात होता है, इन दोनोका आपसमें कुछ अधिक सम्बन्ध रहा होगा। निकायसंग्रहमे इन्हे "अङ्गुलिमालपिटक"का ∴ कर्त्ता कहा गया है।

सिद्धार्थक—राजगिरिकी भाँति इनके बारेमें भी नहीं कहा जा सकता कि, इनका केन्द्र आन्ध्र-देशमे किस स्थानपर था। इनके और राजगिरिकोके सिद्धान्तोंकी समानता बतलाती है कि, इनमेसे या तो एक दूसरेसे उत्पन्न हुआ था, या दोनोका उद्गम एक ही था। "निकायसंग्रह"मे इन्हे "गूढवेस्सन्तर"का कर्त्ता बतलाया गया है।

यह चारो ही अन्धक-निकाय, आन्ध्र सम्राटोंके समयमे, बहुत ही उन्नत अवस्थामे थे। आन्ध्र राजा और उनकी रानियोका बौद्धधर्मपर कितना अनुराग था, यह हमे अमरावती और

□ क्रोड्—देल्—म्यु—बुम् (ल्हासा) ग, पृ० ८ ख।

❀ सम्भवत चीनी त्रिपिटकका "राष्ट्रपालपरिपृच्छा"। (*Nanjio's 873*, स्कन्-जुर १९।८)।

∴ सम्भवत "अङ्गुलिमाली-सूत्र" (*Nanjio's 434*, स्कन्-जुर ६२।१३)।

नागार्जुनी-कोंडामे मिले शिलालेखोंसे मालूम होता है। इनके बारेमे यद्यपि हमे चीन, भोटिया, पाली तथा संस्कृत-स्रोतोंसे कुछ सामग्री मिलती है; किन्तु वह बहुत ही अल्प है। लेकिन आन्ध्र लोग शिलालेखोंके बहुत अधिक प्रेमी थे, और, आशा है, धान्यकटक तथा नागार्जुनी-कोंडा एवं गुंटूर-जिलेके अन्य पुराने ध्वंसावशेषोंकी खोदाई पूरी होनेपर हम इन सभी गुत्थियोंको सुलझा सकेंगे एवम् उनमे महायान और वज्रयानके आरम्भिक दिनों तथा उनके विकासके इतिहासपर बहुत प्रकाश पड़ेगा।

वैपुल्य (वेतुल्ल)वादी—"कथावत्थु"की अट्ठकथामे वैपुल्यवादियोंको महाशून्यतावादी कहा गया है। हम मालूम ही है कि, नागार्जुन शून्यवादके आचार्य कहे जाते हैं। इस प्रकार वैपुल्यवाद और महायान एक सिद्ध होते हैं। "कथावत्थु" मे दो बाते विशेष महत्त्वकी है। एक तो वैपुल्योंके खण्डित सिद्धान्तोंमे "शून्यता" नहीं सम्मिलित है। [इनके मत संघ, बुद्ध और मैथुनके विषयमे भेद रखते थे। इनका कहना था—(१) संघ न दान ग्रहण करता है, न उसे परिशुद्ध करता तथा उपभोग करता है, न संघको देनेमे महाफल है, (२) बुद्धको दान देनेमे न महाफल है, न बुद्ध लोकमे आकर ठहरे और न बुद्धने धर्मोपदेश किया, (३) खास मतलबसे (एकाभिप्रायेण) मैथुनका सेवन किया जा सकता है। यह कहनेकी जरूरत नहीं कि, ये तीनों ही बाते एक प्रकारसे बौद्धधर्ममे भयङ्कर विप्लव मचानेवाली थीं। विशेषकर ऐतिहासिक बुद्धके अस्तित्वसे इनकार तथा खास स्थितिमे मैथुनकी अनुज्ञा। पहलेमे हम महायानके आखिरी विकास तकका स्पष्ट पूर्व रूप पाते हैं; और, दूसरेमे वज्रयान या तान्त्रिक बौद्धधर्मका स्फुट बीज।] दूसरी बात है, "वेतुल्लवाद"के सभी मत "कथावत्थु"के अन्तिम भाग १७ वे, १८ वे और २३ वे वर्गोंमे हैं। यह पहले ही कह चुके हैं कि, "कथावत्थु"का आरम्भ, चाहे अशोककी तीसरी संगीतिसे ही हुआ हो, किन्तु उसमे पीछेके बाद भी जुटते गये। इस प्रकार यह मान लेनेमे कोई कठिनाई नहीं मालूम होती कि, कथावत्थुका "वेतुल्लवाद" वाला भाग सबसे पीछेका है। कितना पीछेका है? इसके लिये इतना कहा जा सकता है कि, वह बुद्धघोषसे ही पहलेका नहीं, बल्कि नागार्जुनसे भी पहलेका है, क्योंकि उसमे वेतुल्लवादियोंके शून्यवादका खण्डन नहीं है। हम इसे यदि ईसाकी पहली शताब्दी मान लें, तो वास्तविक समयसे बहुत थोड़ा ही आगे-पीछे रहेंगे। इस बातमे हम और कुछ निश्चित तौरसे तभी कह सकेंगे, जब हम शक, शालिवाहन-संवत् एवम् नागार्जुनके समयको, अन्तिम तौरपर, निश्चित कर सकेंगे। सिंहलके इतिहाससे पता लगता है कि, सर्वप्रथम राजा वलगमबाहु (ई० पू० प्रथम शताब्दी) के समयमे वेतुल्लवाद सिंहलमे पहुँचा. किन्तु हो सकता है कि, पिछले समयमे, जब चारों अन्धक-सम्प्रदाय एवम् उन्हींकी एक शाखा "वेतुल्लवाद" एक हो गये, तब सबको ही "वेतुल्ल" कहा जाने लगा हो।

महायान-सूत्रोंको हम चीनमे* प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य, अवतंसक और निर्वाण तथा

* देखिये *A Catalogue of the Budhist Tripitaka by Bunjiu Nanjio.*

तिब्बती कन्-जूरमें प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य, सूत्र (प्रकीर्ण) और निर्वाणके क्रमसे विभक्त पाते हैं। अवतंसक-सूत्रोंको वैपुल्यसे पृथक् गिना गया है, किन्तु वैपुल्य और अवतंसक एक ही प्रकारके सूत्र हैं। ❀ "मंजुश्रीमूलकल्प" में हर एक पटलके अन्तमें आता है—"बोधिसत्त्व-पिटकादवतंसकात् महायान-वैपुल्य-सूत्रात्।" भोटियामें भी वैपुल्य-सूत्रोंके नामके साथ आता है—"बोधिसत्त्व-पिटकात् अवतंसकात् महावैपुल्य ······ सूत्रम्।" स्वयं नन्ज्योके सूचीपत्रके ही ८७, ८९, ९४, ९६, १०१ ग्रन्थोंमें अवतंसक और वैपुल्य साथ-साथ विशेषण-विशेष्य-रूपसे प्रयुक्त हुए हैं। प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य आदि सूत्र महायानके हैं। + इसमें तो किसीको सन्देह हो ही नहीं सकता, और, इसीसे वैपुल्यवाद या पाली वेतुल्लवाद वही है, जिसे हम आजकल महायान कहते हैं, या यों कहिये कि, वेतुल्ल या "वैपुल्य" वह नाम है, जिससे आरम्भिक कालमें महायान प्रसिद्ध हुआ। आरम्भमें, महायान कहलानेमें, उन्हें सफलता न हुई थी। "वेतुल्ल" और "वैपुल्य" एक ही है। यही हम कथावत्थुकी अट्ठकथाके उस वाक्यसे भी समझ सकते हैं, जिसमें वेतुल्लवादीको महाशून्यवादी कहा है। निकाय-संग्रहमें वेतुल्लवादियोंको "वेतुल्ल-पिटक" (वैपुल्य-पिटक) का कर्त्ता कहा है। वहीं यह भी लिखा है कि, अन्धकोंने △ "रत्नकूट" तथा दूसरे शास्त्रोंकी रचना की। "रत्नकूट" और "वैपुल्य", दोनों ही प्रकारके सूत्र महायानी हैं, यह हम देख चुके हैं, इस लिये महायान अन्धकों (पूर्वशैलीय आदि चार सम्प्रदाय) और वैपुल्यवादके सम्मिलित रूपका नाम है।

यह तो मालूम हो चुका कि, महायान पूर्वशैलीय आदि चार अन्धक-सम्प्रदायोंके तथा वैपुल्यवादके सम्मिश्रणसे बना है, और, जितना अंश अन्धक-निकायोंसे सम्बन्ध रखता है, वह आन्ध्र-देशके गुंटूर जिलेके वर्त्तमान धरनीकोटकी उपज है। लेकिन वैपुल्यवादका मुख्य स्थान कहाँ था, अब हम इसपर विचार करेंगे।

यहाँपर ध्यान रखना चाहिये कि, महायान-सूत्र बराबर परिवर्तित और परिवर्द्धित किये जाते रहे हैं; इस लिये उनके मूल स्थानसे मतलब हमारा इतना ही है कि, उनके निर्माणकी नींव वहाँ डाली गयी, और, परिवर्द्धन-परिवर्तन करनेमें तो सारा भारत शामिल था। वैपुल्यवादके बारेमें हमें निम्न बातें मालूम हैं—

(१) ईसा पूर्व □ पहली शताब्दीमें यह सिलोन पहुँचा था

(२) इसके ⊥ कुछ सूत्रोंका चीनीमें अनुवाद, ईसाकी दूसरी शताब्दीमें ही, हो चुका था।

(३) इसके प्रचारकोंमें सबसे ऊँचा स्थान आचार्य नागार्जुनका है।

(४) नागार्जुनका वास-स्थान श्रीपर्वत और धान्यकटक था। ∠

❀ *Trivendrum Sanskrit Series LXX LXXXIV* + स्कन-जुर् ४१ ४६

△ "अन्धकयो रतनकूटादिवू-शास्त्रान्तर रचना कळ।" निकाय-संग्रहय (सीलोन सरकार द्वारा १९२२में मुद्रित)।

□ महावंस। ⊥ नन्ज्योका सूचीपत्र, संख्या २५, "सुखावतीव्यूह," लोकरक्ष (१४७—१८६ ई०) द्वारा अनूदित।

∠ 'क्लोङ्—देन-ग्युङ्—बुम् (ल्हासा) च, पृष्ठ ६ क—"नागार्जुनका निवासस्थान दक्षिण भारतमें, श्रीपर्वतके समीप श्रीधान्यकटकमें था।"

(५) (आन्ध्र-राजा) शातवाहन नागार्जुनका घनिष्ठ मित्र था। +

(६) कुछ † क्रान्तिकारी सिद्धान्त इनके और अन्धकोंके मिलते थे।

इससे अनुमान होता है कि, वैपुल्यवादका केन्द्र ‡ भी श्रीधान्यकटकके पास हो था। इस बातकी पुष्टि मञ्जुश्रीमूलकल्पका यह श्लोक भी करता है—

"गच्छेद् विदिशं तन्त्रज्ञः सिद्धिकामफलोद्भवाम्।
पश्चिमोत्तरयोर्मध्ये स देशः परिकीर्तितः॥

(पृ० १७५, पटल १८)।

इसमें "पश्चिम-उत्तरके बीचमें" विदिशाको बतलाया गया है, और, विदिशा वर्तमान भिलसा (ग्वालियर-राज्य)का ही प्राचीन नाम है। यह स्पष्ट ही है कि, लेखक दक्षिण भारतमें बैठकर ही ऐसा लिख सकता है। "मञ्जुश्रीमूलकल्प" महावैपुल्य-सूत्रोंमेंसे है, यह पहले कहा जा चुका है। हमारी समझमें यह स्थान श्रीपर्वत या धान्यकटक ही हो सकता है।

मन्त्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध

त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन

मन्त्र कोई नयी चीज नहीं है। मन्त्रसे मतलब उन शब्दोंसे है, जिनमें लोग मारण, मोहन, उच्चाटन आदि-की अद्भुत शक्ति मानते हैं। यह हम वेदोंमें भी पाते हैं। ओं वौषट्, श्रौषट् आदि शब्द ऐसे ही है, जिनका प्रयोग यज्ञोंमें आवश्यक माना जाता है। मन्त्रोंका इतिहास ढूँढ़िये, तो आप, इन्हें मनुष्यकी सभ्यतापर पैर रखनेके साथ-साथ, तरक्की करते पायँगे। प्राचीन बाबुल [बेबिलोन], असुर, मिश्र आदि देशोंमें भी मन्त्रका अच्छा जोर था। फलत मन्त्रयान बौद्धोंका कोई नया आविष्कार नहीं है। केवल प्रश्न यह है कि, बौद्धोंमें इसका आरम्भ कैसे हुआ और उसमें प्रेरक शक्ति क्या थी? पालीके ब्रह्म-जालसुत्तसे मालूम होता है कि, बुद्धके समयमें ऐसे शान्ति-सौभाग्य लानेवाले पूजा-प्रकार या कल्प प्रचलित थे। गन्धारी-विद्या या आवर्तनी विद्यापर भी लोग विश्वास रखते थे। बुद्धने इन सबको मिथ्याजीव (झूठा व्यवसाय) कहकर मना किया, सो भी इससे

+ हर्षचरित, सप्तम उच्छ्वास—(निर्णयसागर, तृतीय संस्करण, पृ० २५०)—"समतिक्रामति च कियत्यपि काले कदाचित् तामेकावलीं तस्मान्नागराजान् नागार्जुनो नाम नागैरेवानीत पातालतलं, भिक्षुर्भिक्षित लेभे च। निर्गत्य रसातलात् त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहननाम्ने नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम्।" नागार्जुनने शातवाहन राजाके नाम "सुहृल्लेख" नामक पत्र लिखा था, जो चीनी और भोटिया-भाषाओंमें अब भी सुरक्षित है।

† जैसे खास अभिप्रायसे मैथुनकी अनुज्ञा (कथावत्थु २३।१), जो अन्धकों और इनकी एक-सी है। अन्धक बुद्धके व्यवहारको लोकोत्तर मानते थे (क० व० २।८), और, यह बुद्धकी ऐतिहासिकतासे ही इनकार करते हैं—"बुद्ध मनुष्य लोकमें (आकर) नहीं ठहरे" (१८।१)। "बुद्धने धर्मका उपदेश नहीं किया" (१८।२)।

‡ नहरलैबट्टु (नागार्जुनी-कोंडा, जि० गुंटूर)।

उनके शिष्य इन विद्याओंमें पड़नेसे रुक न सके। बुद्धके निर्वाणको जितना ही अधिक समय बीतता जाता था, उतना ही, लोगोंकी नजरसे, उनके मानुष गुण भी ओझल होते जाते थे। बादलकी तहमें दिखायी पड़ते सूर्य अथवा कुहरेमें टिमटिमाते चिरागकी भाँति उनका ऐतिहासिक व्यक्तित्व अधिक धुँधला रूप धारण करता जाता था। जहाँ इस प्रकार मानुष बुद्ध लुप्त होते जा रहे थे, वहाँ अलौकिक गुणोंवाले बुद्धका सृष्टिका उपक्रम बढ़ता जाता था। इसी प्रयत्नमें बुद्धके जीवनकी अलौकिक कहानियाँ गढ़ी जाने लगीं। ऐसी कहानियाँ आकर्षक होती ही हैं। जब लोगोंने बुद्धकी अलौकिक जीवन-कथाओंको अधिक प्रभावशाली देखा, तब इधर जुट पड़े; किन्तु कुछ दिनोंमें ही वह आकर्षण फीका पड़ने लगा। बुद्धकी वे अलौकिक शक्तियाँ अतीतके गर्भमें विलीन हो गयी थीं। उनकी कथासे लोगोंको वर्त्तमानमें क्या लाभ ? तब बुद्धकी अलौकिक शक्तियोंका वर्त्तमानमें भी, उपयोग होनेके लिये, बुद्धके वचनोंके पारायणमात्रसे, पुण्य माना जाने लगा। उनके उच्चारण मात्रसे रोग, भय आदिका नाश समझा जाने लगा। उस समय भूत-प्रेत आजसे बहुत अधिक थे। इतने अधिक थे कि, अभी उस परिमाणपर पहुँचनेके लिये थियासोफी और स्पिरिचुअलिज्मको शताब्दियों मेहनत करनी पड़ेगी। कुछ लोगोंको इन भूतोंकी बहुत फिक्र रहती थी। इस लिये उन्हें वशमें करनेके लिये भी कुछ सूत्रोंकी रचना होने लगी। स्थविरवादियोंने (जो कि, मानुष बुद्धके बहुत पक्षपाती थे) ही "आटानाटीय-सुत्त" से ※ इसका आरम्भ किया। फिर क्या था, रास्ता खुल निकला। थोड़ी ही देरमें स्थविरोंने देखा, वे इस घुड़दौड़में तबतक बाजी नहीं मार सकते, जबतक वे ऐतिहासिक बुद्धसे पिण्ड न छुड़ा लें; किन्तु वह इनके लिये बहुत कड़वी गोली थी। उधर दूसरे सम्प्रदाय इसमें विशेष तरक्की करने लगे। जब देखा, दुनिया भी उन्हींको ओर खिंचती जा रही है, तब उन्होंने इसमें और भी उत्साह दिखाना शुरू किया। इसका फल, हम देखते हैं कि, बुद्धके निर्वाणसे चार ही पाँच सौ वर्षों बाद वैपुल्य-वादियोंने बुद्धके लोकमें आनेसे भी इनकार कर दिया। आखिर लौकिक पुरुष उन अभिलषित अद्भुत शक्तियोंका कैसे धनी हो सकता है ?

उक्त क्रमसे पहले अठारह प्राचीन बौद्ध-सम्प्रदायोंने सूत्रोंमें ही अद्भुत शक्तियाँ माननी शुरु कीं; और, कुछ खास सूत्र भी इसके लिये बनाये। फिर वैपुल्यवादियोंने, लम्बे-लम्बे सूत्रोंके पाठमें विलम्ब देखकर, कुछ पङ्क्तियों की छोटी-छोटी धारणियाँ बनायीं। लेकिन मनुष्य बैलगाड़ीसे रेलतक पहुँचकर क्या हवाई जहाजसे इनकार कर सकता है ? अन्तमें दूसरे लोग पैदा हुए, जिन्होंने लम्बी धारणियोंको रटनेमें तकलीफ उठाती जनतापर, अपार कृपा करते हुए, 'ओं मुने मुने महामुने स्वाहा", "ओं आ हुं", "ओं तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा" आदि मन्त्रोंकी सृष्टि की। अब अक्षरोंका मूल्य बढ़ चला। फिर लोगोंको, एक-एक मन्त्राक्षरकी खोजमें भटकते देख, उन्होंने "मंजुश्रीनामसङ्गीति"के कहे अनुसार सभी स्वर और व्यञ्जन वर्णोंको मन्त्र करार दिया, और, अब "ओं" और "स्वाहा" लगाकर चाहे जो भी मन्त्र बनाया जा सकता था; बशर्ते कि, उसके कुछ अनुयायी हों! कहनेकी आवश्यकता नहीं कि, इन सारी मेहनतोंका पारितोषिक, यदि उन्हें रुपये-आने-पाई या उसी तरहकी किसी और दुनियावी सुख-सामग्रीके रूपमें न मिलता, तो शायद दुनिया

※ 'दीघ निकाय"का एक सुत्त, जिसमें यक्षों और देवताओंका बुद्धसे संवाद वर्णित है। इसमें यक्षों और देवताओंके प्रतिनिधियोंने प्रतिज्ञाएँ की हैं, जिनके दोहरानेसे आज भी उनके वंशज—देवताओंको, अपने पूर्वजोंकी प्रतिज्ञा, याद आ जाती है; और, वे सतानेसे बाज आ जाते हैं!

उनकी इन कृतियोंसे वञ्चित ही रहती। संक्षेपमें, भारतमें बौद्ध मन्त्र-शास्त्रके विकासका यही ढंग रहा है। इस मन्त्रयान-कालको, यदि हम निम्न क्रमसे मान लें, तो वास्तविकतासे बहुत दूर न रहेंगे—सूत्र रूपमें मन्त्र—ई० पू० ४००—१००, धारणी-मन्त्र—ई० पू० १००—४०० ईस्वी, मन्त्र-मन्त्र—ई० ४००—१२०० ई०।

इसी धारणी-मन्त्रके युगमें हम अलौकिक बुद्धके सहायक और अनुयायी कितने ही अवलोकितेश्वर, मञ्जुश्री आदि अलौकिक बोधिसत्त्वोंकी सृष्टि होते देखते हैं।

अब मन्त्रोंका माहात्म्य बढ़ने लगा। लोग इनपर धन और श्रम खर्च करने लगे। आविष्कारकोंने भी इधर मन्त्रोंकी फलदायकताकी वृद्धिपर सोचना शुरू किया। उन्होंने देखा, योगकी कुछ क्रियाएँ योगीके प्रति अपूर्व श्रद्धा उत्पन्न करती हैं, जिससे लोग जल्दी उनकी बात (*Suggestion*) पर आरूढ़ हो जाते हैं। (आजकल भी हिप्नाटिज़्म और मेस्मेरिज़्ममें उत्कट श्रद्धा बहुत ही आवश्यक चीज मानी गयी है) ! दूसरे उनकी मानसिक शक्ति, एकाग्रताके कारण, अधिक तीव्र हो, श्रद्धालुओंको छोटे-मोटे चमत्कार दिखानेमें या उनके कष्ट-सहनकी शक्तिको बढ़ानेमें, समर्थ होती है। योगकी कुछ प्रक्रियाओंका, बुद्धके समयके पूर्वसे ही, लोग अभ्यास करते आ रहे थे। बुद्धके बाद तो और भी करने लगे। इस लिये, बुद्ध-निर्वाणके चार-पाँच सौ वर्षों बाद, इस तरहकी उपयोगी मानसिक शक्तियोंका उन्हें काफी अनुभव हो चुका था। उन्हें मालूम हो गया था कि, इस तरहके चमत्कारके लिये भक्तोंमें अन्ध-श्रद्धा और प्रयोक्तामें तीव्र मानसिक शक्तिकी अत्यन्त आवश्यकता है। अब वे, एक ओर, योगसे अपनी मानसिक शक्तिको विकसित करने लगे, दूसरी ओर, भक्तोंमें श्रद्धाकी मात्रा खूब बढ़ानेके लिये नाना हठ, त्राटक क्रियाओं तथा मन्त्र-तन्त्रकी वृद्धिके साथ-साथ सहस्रों नये देवी-देवताओंकी सृष्टि करने लगे।

उक्त मन्त्रों और योग-विधियोंके प्रवर्तकों और अनुवर्तकोंमें दो प्रकारके मनुष्य थे। एक तो वे, जो वस्तुतः अत्यन्त श्रद्धासे मुग्ध हो, इन क्रियाओंको "स्वान्तः सुखाय" या "परहिताय" करते थे। उनमें उनका अपना स्वार्थ उतना न था। वे उन क्रियाओं द्वारा उस समयके मानसिक वातावरणमें तत्काल लोगोंको लाभ होते देखते थे, इस लिये, अपार श्रद्धासे, उस काममें प्रवृत्त थे। दूसरे, वे चालाक लोग थे, जो अच्छी तरह जानते थे कि, इन मन्त्र-तन्त्र-क्रियाओंकी सफलताका अधिक, दारोमदार उनकी अपनी अद्भुत शक्तियोंपर उतना नहीं है, जितना कि, श्रद्धालुकी उत्कट श्रद्धापर। इसी लिये श्रद्धालुकी श्रद्धाको पराकाष्ठातक पहुँचानेके लिये या उसे पूर्णरूपेण "हिप्नोटाइज" करनेके लिये वे नित्य नये आविष्कार करते थे। वस्तुतः फर्स्ट क्लासके आविष्कारक इसी दूसरी श्रेणीके लोग थे। इसी युगमें चढ़ावेसे अपार धनराशि मठोंमें जमा हो गयी थी। जब इन्होंने देखा कि, आखिर बुद्धकी शिक्षासे भी हम बहुत दूर हो चुके हैं—लोग श्रद्धासे अन्धे हैं ही और सभी भोग हमारे लिये सुलभ हैं, तब उन्होंने विषय भोगोंके संग्रहकी ठानी; और, इस प्रकार मद्य और स्त्री-सम्भोगका श्रीगणेश हुआ। यहाँ यह न समझना चाहिये कि, भैरवी चक्रके ये ही आविष्कारक थे, क्योंकि इनमे सहस्रों वर्ष पूर्व मिश्र, असुर, यवन आदि देशोंमें भी ऐसे चक्रोंका हम प्रचार देखते हैं। इनका काम इतना ही था कि, इन्होंने बुद्धके नामपर और नये साधनोंके साथ इन्हें पेश किया।

इस प्रकार मन्त्र, हठयोग और मैथुन—ये तीनो तत्त्व क्रमशः बौद्धधर्ममें प्रविष्ट हो गये। इसी बौद्धधर्मको मन्त्रयान कहते हैं। इसको हम निम्न भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—(१) मन्त्रयान (नरम) ई० ४००—७००, (२) वज्रयान (गरम) ई० ८००—१२००।

वैसे तो वैपुल्यवादमें तथा उससे पूर्वके अन्धक-



१—लूहिपा



२—लीलापा



३—विरूपा



४—डोम्भिपा



५—शबरीपा



६—सरहपा



७—कंकालीपा



८—मीनपा



९—गोरक्षपा



१०—चारगिपा



११—वीणापा



१२—शान्तिपा



१३—तंतिपा



१४—चर्मारिपा



१५—खड्गपा



१६—नागार्जुन



१७—कण्हपा



१८—कर्णरिपा



१९—थगनपा



२०—नारोपा



२१—शलिपा



२२—तिलोपा

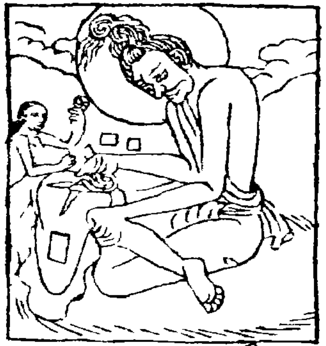


२३—छत्रपा



२४—भद्रपा

गङ्गाका "पुरातत्त्वाङ्क"



२५—दोखधिपा



२६—अजोगिपा



२७—कालपा



२८—धोम्भिपा



२९—कङ्कणपा



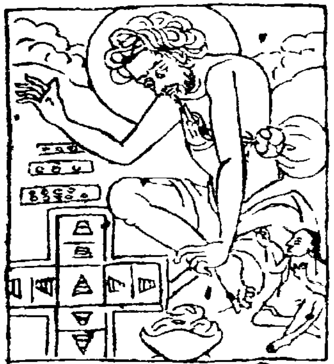
३०—कमरिपा



३१—डेंगिपा



३२—भद्रेपा



३३—तंधेपा



३४—कुकुरिपा



३५—कुसूलिपा



३६—धर्मपा



३७—महीपा



३८—अचिंतिपा



३९—भलहपा



४०—नलिनपा



४१—भूसुकुपा



८०—लक्ष्मीकरा, ४२—इन्द्रभूति



४३—मेकोपा



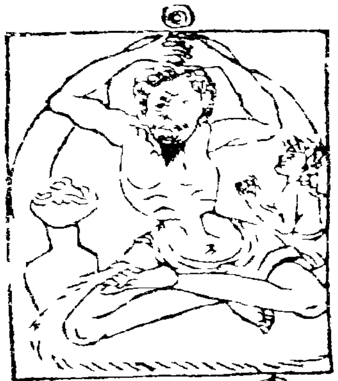
४४—कुठालिपा



४५—कर्मारिपा



४६—जालधरपा



४७—राहुलपा



४८—घर्बरिपा



४९—धोकरिपा



५०—मेदिनीपा



५१—पङ्कजपा



५२—घटापा



५३—जोगीपा



५४—चेलुकपा



५५—गुडरिपा



५६—लुचिकपा



५७—निर्गुणपा



५८—जयानंत



५९—चर्पटीपा



६०—चम्पकपा



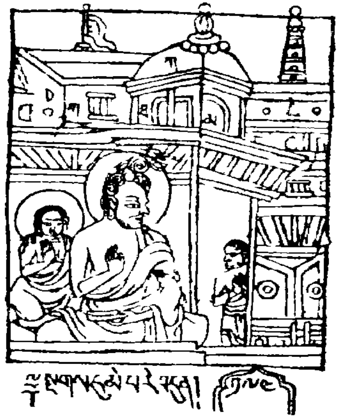
६१—भिखनपा



६२—भलिपा



६३—कुमरिपा



६४—जवरिपा



६५—मणिभद्रा



६६—मेखला



६७—कनखला



६८—कलकलपा



६९—कंतलिपा



७०—धहुलिप



७१—उधलिपा



७२—कपालपा



७३—किलपा



७४—सागरपा



७५—सर्वभक्षपा



७६—नागबोधिपा



७७—दारिकपा



७८—पुतुलिपा



७९—पनहपा



८०—कोकालिपा



८१—अनगपा *



८३— समुदपा



८४—भलिपा



८५—मैत्रेय बोधिसत्त्व (पटना म्युजियम)



८६ —अवलोकितेश्वर (पटना म्युजियम)

* ८२—लक्ष्मीकराके लिये देखिये, इन्द्रभूति ४२।



८७—खे-डुप् (१५ वीं शताब्दी, तिब्बतीय आचार्य) चित्रपटसे।



८८—पो-तो-पा (११ वीं शताब्दी, तिब्बतीय सिद्ध) चित्रपटसे।

भिकायोंमें विशेष अभिप्रायसे मैथुनकी अनुज्ञा हो चुकी थी (कथावत्थु २३।१); तो भी वह भैरवी-चक्रके रूपमें तबतक न प्रकट हो सकी थी, जबतक कि, वज्रयान न बन सका। इस पुराने मन्त्रयानकी पुस्तकोंमें "मंजुश्री-मूलकल्प" एक है। "मंजुश्रीमूलकल्प" वैपुल्य सूत्रोंमेंसे भी है। इसका मतलब यह हुआ कि, मन्त्रयान वैपुल्य-वाद या महायानसे ही विकसित हुआ है (वस्तुत. अलौकिक बुद्ध और अद्भुत-शक्ति-सम्पन्न धारणियोंसे वैसा होना सम्भव ही था)। "मंजुश्रीमूलकल्प"में यद्यपि हम नाना मन्त्र-तन्त्रोंका विधान देखते हैं, तथापि उसमें भैरवी-चक्रका अभाव है, और, वहाँ सदाचारके नियमोंकी अवहेलना नहीं की गयी है। इस युगको यद्यपि हम गुप्त-साम्राज्यकी स्थापनासे आरम्भकर हर्ष-वर्द्धनके शासनके साथ समाप्त करते हैं, तथापि इसके अङ्कुरित और विकसित होनेका स्थान उत्तर भारत न था। "मंजुश्रीमूलकल्प"के वैपुल्यवादी होनेकी बात हम कह चुके है। हम अपने दूसरे लेखमें * यह भी बतला चुके हैं कि, "मंजुश्रीमूलकल्प" उत्तर भारतमें न लिखा जाकर दक्षिण भारतमें, विशेषत. धान्यकटक या श्रीपर्वतमें लिखा गया है, उसमें इन दोनों स्थानोंको, मन्त्र-सिद्धिके लिये, बहुत ही उपयोगी बतलाया गया है △। इससे यह भी मालूम होता है कि, मन्त्रयानके जन्मका स्थान श्रीधान्यकटक और श्रीपर्वत है। तिब्बती ग्रन्थोंमें तो स्पष्ट कहा गया है कि, बुद्धने बोधिके प्रथम वर्षमें, ऋषिपतनमें, श्रावक-धर्म-चक्र प्रवर्तन किया; १३ वें वर्ष राजगृहके गृध्रकूट पर्वतपर महायान-धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया, और, १६ वें वर्षमें मन्त्रयानका तृतीय धर्म-चक्र-प्रवर्तन श्रीधान्यकटकमें † किया। श्रीपर्वत ‡ मन्त्र-शास्त्रके लिये बहुत ही प्रसिद्ध था। मालतीमाधवमें भवभूतिने श्रीपर्वतका जिक्र कई बार किया है—

(१) "दाणिं सोदामिनी समासादिअ अच्चरिअ मन्तसिद्धिप्पहावा सिरिपव्वदे कावालिअ-व्वद धारेदि।" (अङ्क १)।

(२) "यावच्छ्रीपर्वतमुपनीय प्रतिपर्व तिलश एनां निकृत्य दुःखमारिणीं करोमि।" (अङ्क ८)।

(३) "श्रीपर्वतादिहाहं सत्वरमपतं तथैव सह सख्या।" (अङ्क १०)।

बाण भी श्रीपर्वतके माहात्म्यसे खूब परिचित था, और, द्रविड़-पुरुषके साथ उसका सम्बन्ध जोड़नेसे उसका दक्षिणमें होना भी सिद्ध होता है—

"श्रीपर्वताश्चर्यवार्तासहस्राभिज्ञेन" "जरद्द्रविड़-धार्मिकेन" + और "सकल-प्रणयि-मनोरथ-सिद्धिः श्रीपर्वतो हर्ष।" [हर्षचरित, १ उच्छ्वास]। इन उदाहरणों-से अच्छी तरह मालूम होता है कि, छठी-सातवीं शता-ब्दियोंमें श्रीपर्वत मन्त्र तन्त्रके लिये प्रसिद्ध था। वस्तुतः मुसलमानोंके आनेके वक्त (बल्कि हालतक) जैसे बंगाल जादूके लिये मशहूर था, वैसे ही उस समय श्रीपर्वत भी था। ऊपरके मालतीमाधवके उद्धरणमें एक विशेष बात यह है कि, सौदामिनी एक बौद्ध-भिक्षुणी थी, जो पद्मावती (मालवा)से श्रीपर्वतपर मन्त्र-तन्त्र सीखने गयी थी।

---

* देखिये "महायानकी उत्पत्ति"।

△ पृष्ठ ८८—"*श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणापथसंज्ञिके। श्रीधान्यकटके चैत्ये जिनधातुधरे भुवि॥ सिध्यन्ते तत्र मन्त्रा वै क्षिप्रं सर्वार्थकर्मसु॥*"

† "ग्रुग-प-प्य्म-द्वर्-पो" वा "छोस्-व्युङ्", पृष्ठ १४ क-१५ क।

‡ नहरल-बङ्ग (नागार्जुनी-कोंडा, जि० गुंटूर)।

+ कादम्बरी (निर्णयसागर, सप्तम संस्करण, पृ० ३६६)।

श्रीपर्वतके साथ यहाँ सिद्धोंके बारेमें कुछ कह देना जरूरी है। वस्तुत श्रीपर्वत सिद्धोंका स्थान था, और, जहाँ कहीं भी संस्कृत-काव्योंमें सिद्ध या सिद्धाचार्य-शब्द मिलता है, वहाँ प्राय: कविका अभिप्राय, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष-रूपसे, श्रीपर्वतके साथ रहता है। सिद्धों और उनकी भविष्यद्वाणियों (सिद्धादेशो)की हम संस्कृत-साहित्यमें भरमार पाते हैं। मृच्छकटिक (ईस्वी पाँचवीं शताब्दी) में भी—"आर्यकनामा गोपालदारकः सिद्धादेशेन समादिष्टः राजा भविष्यति" [अङ्क २] और "चन्दन भो स्मरिष्यामि सिद्धादेशस्तथा यदि" देखनेमें आता है। नागार्जुनको सिद्धनागार्जुन कहा जाता है। सम्भवतः नागार्जुनने ही श्रीपर्वतको अपना वास-स्थान बनाया। वज्रयानके साथ नागार्जुनको नहीं जोड़ा जा सकता, यद्यपि तिब्बती ग्रन्थकार इसके लिये नागार्जुनको ६०० वर्षकी लम्बी आयु देनेके लिये तैयार हैं, तथापि मालूम होता है कि, उनकी शिक्षामें मन्त्रोंकी कुछ बात थी, जिसकी पुष्टि श्रीपर्वतके मन्त्र-तन्त्रका केन्द्र बननेसे कुछ होती है। नागार्जुनी-कोंडाकी खोदाईमें मिले लेखोंसे अब तो यह मालूम हो गया है कि, श्रीपर्वत श्रीशैल न होकर नागार्जुनी-कोंडाका "नहरल्ल-बडु" पहाड़ ही है। सम्भव है, वहाँसे हमें इस विषयकी कुछ और सामग्री मिले।

सातवीं शताब्दीमें मन्त्रयानका प्रथम रूप समाप्त होता है; और, उसके बाद, वह वज्रयानके घोर रूपको धारण करता है। १४वीं शताब्दीके सिंहल-भाषाके ग्रन्थ "निकाय-संग्रह"में इसी वज्रयानको वज्रपर्वतवासी-निकाय कहा है। मालूम होता है, श्रीपर्वत ही, वज्रयानका केन्द्र होनेके कारण, वज्रपर्वत कहा जाने लगा। यद्यपि वज्रयानके ग्रन्थोंमें वज्रपर्वत स्थान नहीं आता है; तथापि निकाय संग्रहने जिन ग्रन्थोंको इस निकायका बताया है, वे वज्रयानके ही हैं। "निकायसंग्रहमें" * वज्रपर्वतवासियोंको निम्न ग्रन्थोंका कर्त्ता बताया गया है—

गूढ विनय। मायाजालतंत्र († *Nanjio's 1061*, भोट, कन्जुर ८४।१०)। समाजतंत्र (गुह्यसमाजतंत्र कन्जुर ८१।२)। ‡ महासमयतत्त्व। तत्त्वसंग्रह (क० ८५।८)। भूतचामर (भूतडामरतन्त्र, क० ८३।८)। वज्रामृत (क० ८२।१२)। चक्र-संवर (क० ८०। १, ३)। द्वादशचक्र (कालचक्र, क० ७९।३, ४)। हेरुकाद्‌भुदय (हेरुकाद्भुत, क० ८१।२)। महामाया (क० ८१।३)। पदनिक्षेप। चतुष्पीठ (चतु-पीठ-तन्त्र, क० ८२।६, ८)। परामद (महापद्मप्रमर्दनी, क० ६१।१)। मरीच्युद्भव। सर्वबुद्ध (सर्वबुद्धसमयोग, क० ७६।६)। सर्वगुह्य (क्रोधराज सर्वमन्त्र-गुह्य-तन्त्र, क० ८२।११)। समुच्चय (वज्रयान-समुच्चय, क० ८३।५)। मायामारीचिकल्प (क० ६१।६ ?)। हेरम्बकल्प। त्रिसमयकल्प (त्रिसमयव्यूह-राजतन्त्र, क० ८८।४)। राजकल्प (? परमादिकल्पराज, क० ८६।५)। वज्रगान्धारकल्प। मरीचिकल्प। गुह्यकल्प (गुह्यपरमरहस्यकल्पराज क० ८६।१)। शुद्धसमुच्चयकल्प (? सर्वकल्पसमुच्चय, क० ७४।७)।

ये सभी ग्रन्थ वज्रयानके प्रामाणिक ग्रन्थ हैं; इसलिये वज्रपर्वतनिकाय और वज्रयान एक ही हैं। तिब्बतीय ग्रन्थोंमें लिखा है कि, वज्रयानका धर्म-चक्र प्रवर्त्तन बुद्धने श्रीधान्यकटकमें किया था। इससे वज्रयानकी उत्पत्ति भी, आन्ध्र-देशमें हुई सिद्ध होती है। श्रीपर्वत और धान्यकटक, दोनों ही वर्तमान गुंटूर जिलेमें हैं, इसलिये पीछे श्रीपर्वतके

* निकायसंग्रह पृष्ठ ८, ९ (सीलोन सरकार द्वारा, १९२२ में, मुद्रित)।

† *Bunjio Nanjio* का चीनी त्रिपिटकका सूचीपत्र।

‡ नार्थंडके कार्पेक कन्जुरका लेखक द्वारा लिखित सूचीपत्र।

वज्रयानका केन्द्र बन जानेपर वज्रपर्वत कहा जाने लगा। मद्य, मन्त्र, हठयोग और स्त्री * —ये चार ही चीजें वज्रयानके मुख्य रूप हैं।

चौथी बात (स्त्री)में तो इन्होंने जाति, कुल ही नहीं; बल्कि माता, बहनके सम्बन्धतककी अवहेलना करनेकी शिक्षा दी है। यह बुद्धकी मूल शिक्षासे दूर तो थी ही, महायानके लिये भी इसे जल्दी हजम करना मुश्किल था। इसी लिये महायानसे साधारण मन्त्रयानमें होकर वज्रयानतक पहुँचना पड़ा।

साधारण मन्त्रयानसे कब यह ज्वालामुखी फूट पड़ा, इसके बारेमें हमें प्रत्यक्ष प्रमाण तो मिल नहीं सकता; किन्तु ऐसी बातें हैं, जिनके बलपर हम उसका आरम्भ सातवीं शताब्दीके आसपास मान सकते हैं—

(१) सिंहलके "निकाय-सग्रह"में लिखा है— राजा मत-वल-सेन (८४६-८६६ ई०)के समय वज्रपर्वत-निकायका एक भिक्षु सिंहलमे आया और वीरांकुर (विहार) में रहने लगा। उसके प्रभावमें आकर राजाने वाजिरिय (वज्रयान) मतको स्वीकार किया। इसीसे लंकामें रत्न-कूट आदि [ग्रन्थो]का प्रचार आरम्भ हुआ। इसके बादके राजाने यद्यपि वज्रयानके खिलाफ कुछ कड़ाई †

* गायकवाड़-ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदासे प्रकाशित "गुह्यसमाजतन्त्र" में लिखा है—

"प्राणिनश्च त्वया घात्या वक्तव्यं च मृषा वचः अदत्तं च त्वया ग्राह्यं सेवनं योषितामपि ॥
अनेन वज्रमार्गेण वज्रसत्त्वान् प्रचोदयेत। एषो हि सर्वबुद्धानां समयः परमशाश्वतः ॥" [पृ० १२०]
"दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिध्यति। सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंश्चाशु सिध्यति।" [पृ० १३६]
"विण्मूत्रशुक्ररक्तानां जुगुप्सां नैव कारयेत्। भक्षयेत् विधिना नित्यं इदं गुह्यं त्रिवज्रजम् ॥" [पृ० १३६]
"नीलोत्पलदलाकारं रजकस्य महात्मन.। कन्यां तु साधयेत् नित्यं वज्रसत्त्व-प्रयोगत.॥" [पृ० ६४]

वज्रयानके आदि आचार्यों में सिद्ध अनङ्गवज्र भी है। यह ८४ सिद्धोंमेंसे एक है। इन्होंने अपने ग्रन्थ "प्रज्ञोपायविनिश्चय-सिद्धि" (गा० ओ० सी० बड़ोदा)में लिखा है—

"प्रज्ञापारमिता सेव्या सर्वथा मुक्ति-काङ्क्षिभिः ॥२२॥ ललनारूपमास्थाय सर्वत्रैव व्यवस्थिता। ॥२३॥
ब्राह्मणादिकुलोत्पन्नां मुद्रां वै अन्त्यजोद्भवाम् ॥ २४ ॥ जनयित्रीं स्वसारं च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम्।
कामयन् तत्त्वयोगेन लघु सिध्येद्धि साधकः ॥२५॥" [पृ० २२-२५]

इनके शिष्य सिद्ध राजा इन्द्रभूतिने अपने ग्रन्थ "ज्ञानसिद्धि"में लिखा है—

"घातयेत् त्रिभवोत्पत्तिं परवित्तानि हारयेत्। कामयेत् परदारान्वै मृषावादमुदीरयेत ॥ १४ ॥
कर्मणा येन वै सत्त्वाः कल्पकोटिशतान्यपि। पच्यन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते ॥ १५ ॥
भक्ष्याभक्ष्य विनिर्मुक्तो पेयापेयविवर्जितः। गम्यागम्य-विनिर्मुक्तो भवेद् योगी समाहित• ॥ १८ ॥
चाण्डालकुलसम्भूतां डोम्बिकां वा विशेषतः। जुगुप्सितकुलोत्पन्नां सेवयन् सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८२ ॥ (१।)
शुक्रं वैरोचनं ख्यातं परं वज्रोदकं तथा। स्त्रीन्द्रियं च यथा पद्मं वज्रं पुंसेन्द्रियं तथा॥" (२।४२)

†"सद्धम्मपटिरूपानं दिस्वालोके पवत्तना गण्हापेसि तथा रक्खं सागरन्ते समन्ततो ॥" [निकाय, स० पृ० १७]

दिखायी, तथापि वाजिरिय सिद्धान्त गोप्य थे, इसलिये वह चुपचाप बने रहे। तिब्बतके रंगीन चित्रोंमें जिन्होंने अतिशा [दीपंकर श्रीज्ञान] आदि भारतीय भिक्षुओंकी शकल देखी होगी, उन्हें वहाँ उनके चीवरके भीतर एक नीले रंगकी जाकेट-सी दिखायी पड़ी होगी। "निकाय-संग्रह"में इसकी उत्पत्ति विचित्र ढंगसे कही है—जिस समय कुमारदास [५१५-५२४ ई०] सिंहलमें राज्य कर रहे थे, उसी समय दक्षिण मथुरामें श्रीहर्ष नामक राजा शासन करता था। उस समय साम्मितीय निकायका एक दुःशील भिक्षु, नीला कपड़ा पहन, रातको वेश्याके पास गया। जब दिन उग आनेपर वह विहार लौटा और उसके शिष्योंने वस्त्रके बारेमें पूछा, तब उसने उसके बहुत-से माहात्म्य वर्णन किये। तबसे उसके अनुयायी नीला वस्त्र पहनने लगे। उनके "नीलपट-दर्शन"में लिखा है—

"वेश्यारत्नं सुरारत्नं रत्नं देवो मनोभवः।
एतद्रत्नत्रयं वन्दे अन्यत् काचमणित्रयम्॥"

कहते हैं, इसपर श्रीहर्षने उन्हें बहानेसे एक घरमें इकट्ठा कर जलवा दिया।

इस कथामें सभी बातें तो सच नहीं मालूम होतीं; किन्तु छठी शताब्दीमें इस सम्प्रदायकी उत्पत्ति तथा साम्मितीय निकायसे इसका सम्बन्ध कुछ ठीक-सा जँचता है। हम दूसरी जगह, अपने "महायानकी उत्पत्ति" नामक लेखमें, लिख चुके हैं कि, महायानकी उत्पत्तिमें साम्मितीयोंका काफी हाथ था। इस प्रकार हम छठी शताब्दीको वज्रयानकी उत्पत्तिकी ऊपरी सीमा मान सकते हैं। निचली सीमा हमें ८४ सिद्धोंके कालसे मिलती है।

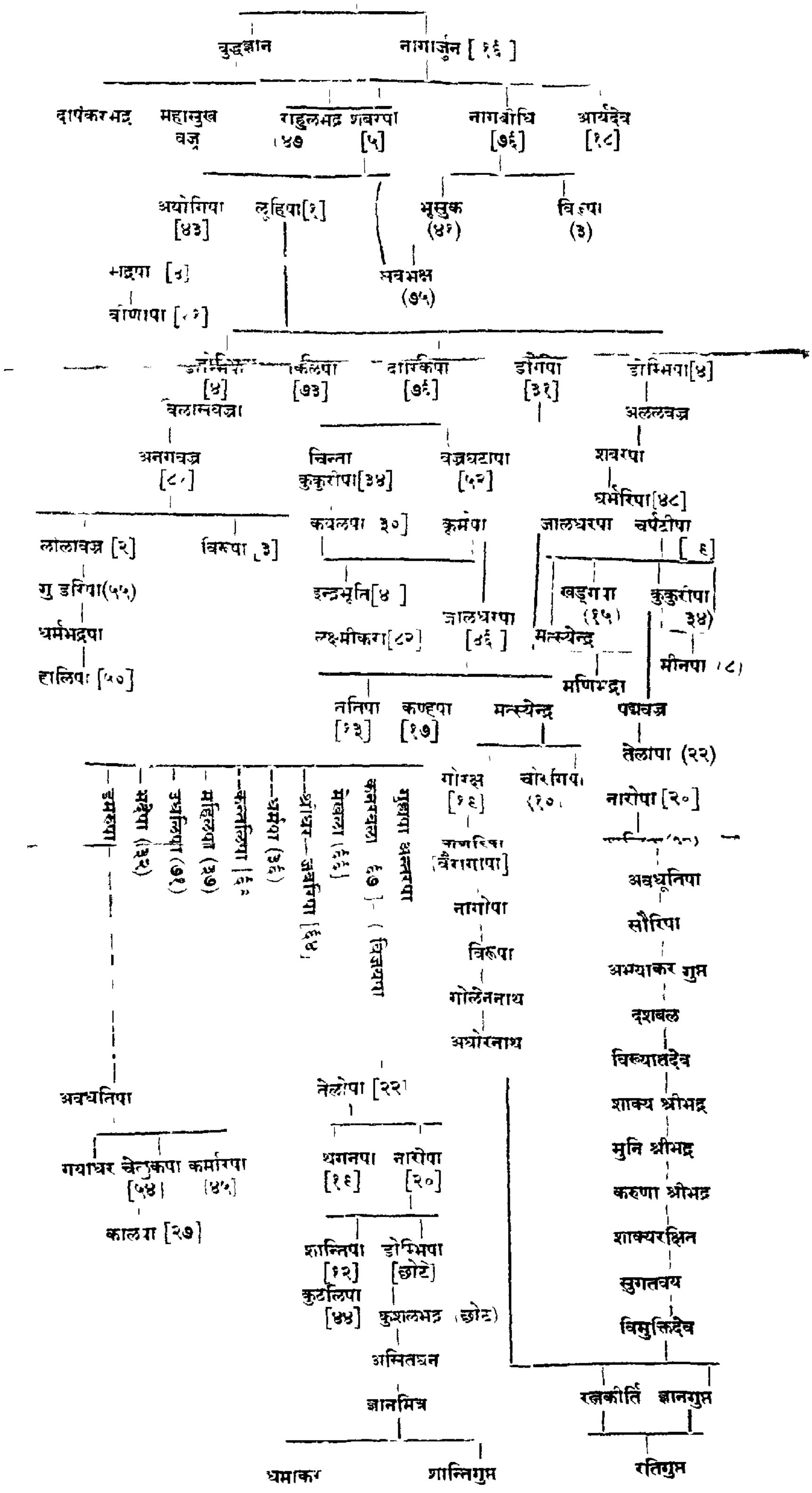
चौरासी सिद्धोंका वंशवृक्ष इस प्रकार है—* स-स्क्य-ब्क-बुम्"प"में (महन्तराज फग् स्-प १२३३-१२७१ ई० की कृति)के पृष्ठ "६५ क"में सरहपादसे नारोपा तककी परम्परा इस प्रकार दी हुई है—[महा-ब्राह्मण] सरह, [नागार्जुन], [शबरपा], लूयिपा, दारिकपा, [वज्रघण्टापा,], [कूर्मपाद], जालन्धरपा, [कण्हचर्यपा], गुह्यपा, [विजयपा], तेलोपा, नारोपा।

कोष्ठकके भीतरके नाम मैंने भोटियासे अनुवाद कर दिये हैं।

* इस वंशवृक्षको मैंने अधिकांश तिब्बतके स-स्क्य-विहारके पाँच प्रधान गुरुओं [१०९१-१२७९ ई०] की ग्रन्थावली "स-स्क्य-ब्क-बुम" के सहारे बनाया है, जो कि, चीनकी सीमाके पास "तेर-गे" मठमें छपी है। मत्स्येन्द्र जालन्धर-पादके शिष्य थे, यह प्रोफेसर पीताम्बरदत्त बड़थ्वालजीके लेखमें लिखा है। कहीं-कहीं कुछ दूसरे भोटिया-(तिब्बतीय) ग्रन्थोंसे भी मदद ली गयी है। लेखकके पास जो नर थङ्के तन-ज़ुरकी प्रति है, वह ब्लाक्स पुराने होनेसे सुपाठ्य नहीं है, इसी लिये कुछ स्थान पढ़े नहीं जा सकते। पेरिसके महान् पुस्तकालयकी तन्-ज़ुरकी कापी मैंने मिलायी थी, किन्तु उसका नोट पासमें न होनेसे यहाँ उसका उपयोग नहीं किया जा सका।

चौर[illegible]द्धोंका वंश-वृक्ष

[सरह ६]



सरह आदिम सिद्ध हैं; और, आगे हम बतलायँगे कि, वह पालवंशीय राजा धर्मपाल (ई० ७६८-८०९)के समसामयिक थे, इसलिये उनका समय, आठवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध, मानना चाहिये। प्रथम कहे कारणों-से हम वज्रयानकी उत्पत्तिको, छठी शताब्दीसे पूर्व और सरह आदिके कारण आठवीं शताब्दीसे बाद भी, नहीं मान सकते। सरह उन चौरासी सिद्धोंके आदि-पुरुष हैं, जिन्होंने लोक-भाषाकी अपनी अद्भुत कविताओं तथा विचित्र रहन-सहन और योग क्रियाओंसे वज्रयानको एक सार्वजनीन धर्म बना दिया। इससे पूर्व वह, महायानकी भाँति, संस्कृतका आश्रय ले, गुप्त रीतिसे फैल रहा था। सरहसे पूर्वकी एक शताब्दीको हम साधारण मन्त्रयान और वज्रयानका सन्धि-काल मान सकते हैं। आठवीं शताब्दीसे जोरोंका प्रचार होने लगा। तबसे मुसलमानोंके आनेतक यह बढ़ता ही गया। १२ वीं शताब्दीके अन्तमें भारतके तुर्कोंके हाथमें जानेके समयसे घोर अवनति हुई और तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियोंतक यह विलुप्त तथा रूपान्तरित हो गया (बंगाल, उड़ीसा और दक्षिण भारतमें कुछ देर और रहा)। रूपान्तरित इसलिये कि, ऊपरी वंश-वृक्षमें आपको चौरासी सिद्धोंमें गोरखनाथ, मीननाथ और चौरंगीनाथका नाम मिलेगा। यहाँ हमने इन्हें तिब्बती ग्रन्थके आधारपर दिया है। उधर नाथपंथके ग्रन्थोंमें भी चौरासी सिद्धोंके साथ सम्बन्ध होनेकी बात दिखायी पड़ती है। इसे समझनेमें और आसानी होगी, यदि आप चौरासी सिद्धोंकी निम्न सूचीपर ध्यान देंगे—

नाम	जाति	देश	समकालिक राजा या सिद्ध
१ लूहिपा	कायस्थ	(मगध)	राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०)†
२ लीलापा	,,	,,	सरह [६] से तीसरी पीढ़ी
३ विरूपा	,,	मगध (देवपालका देश)	राजा देवपाल [८०९-४९ ई०]
४ डोम्भिपा	क्षत्रिय	मगध	लूहिपा [१] का शिष्य
५ शबरीपा	,,	,,	[सरह (६)का शिष्य, लूहिपाका गुरु]
६ सरहपा	ब्राह्मण	[नालन्दा]	धर्मपाल (७६९-८०९ ई०)
७ कंकालीपा *	शूद्र	मगध	
८ मीनपा	मछुआ	कामरूप	जालन्धरपाद(४६)का शिष्य, गोरखपाके गुरु मत्स्येन्द्रका पिता, देवपाल† (८०९-४९ ई०)
९ गोरखपा	...	....	
१० चोरंगिपा	,,		गोरखपा (९) का गुरुभाई
११ वीणापा	राजकुमार	गौड़ (विहार)	कण्हपा (१७)का शिष्य, भद्रपाका शिष्य
१२ शान्तिपा	ब्राह्मण	मगध	महीपाल ९७४-१०२६, जालन्धर(४६)का शिष्य
१३ तन्तिपा	,,	,,	,, ,,
१४ चमरिपा	चर्मकार	विष्णुनगर (पूर्व देश)	,, ,,
१५ खड्गपा	शूद्र	मगध	चर्पटी (५९) का शिष्य

* कोंकलिपा

† "चतुराशीति-सिद्ध-प्रवृत्ति" तनजूर ८६।१। *Cordier* पृ० २४७।

नाम	जाति	देश	समकालिक राजा या सिद्ध
१६ नागार्जुन	ब्राह्मण	काञ्ची	सरह (६) का शिष्य
१७ कण्हपा	,,	कर्णाटक	देवपाल (८०९—४९ ई०)
१८ कर्णरिपा (आर्यदेव)		नालन्दा	नागार्जुन [१६]का शिष्य
१९ थगनपा	शूद्र	पूर्व भारत	शान्तिपा [१२] का गुरु
२० नारोपा *	ब्राह्मण	मगध	[महीपाल ९७४-
२१ शलिपा †[शीलपा]	शूद्र	,,	१०२६ ई०]
२२ तिलोपा	ब्राह्मण	भगुनगर	नारोपा (२०) का गुरु
२३ छत्रपा	शूद्र	,,	
२४ भद्रपा	ब्राह्मण	मणिधरा‡	सरहपा (६)से तीसरी पीढ़ी
२५ दोखन्धि [द्विखंडि]पा	,,	,,	,,
२६ अजोगिपा	गृहपति	सालिपुत्र	अवधूतिपा (११ वीं
२७ कालपा	,,	राजपुर	शताब्दी)की तीसरी पीढ़ी
२८ धोम्भिपा	धोबी	सालिपुत्र	
२९ कङ्कणपा	राजकुमार	विष्णुनगर	
३० कमरि[कंबल]पा	राजकुमार	उड़ीसा	घंटापा [५२]का शिष्य
३१ डेंगिपा	ब्राह्मण	उड़ीसा	लूहिपा [१]का शिष्य
३२ भदेपा	,,	श्रावस्ती	कण्हपा [१७]का शिष्य
३३ तधे (तंते)पा ×	शूद्र	कौशाम्बी	
३४ कुकुरिपा	ब्राह्मण	कपिल(वस्तु) देश	मीनपा [८]का गुरु
३५ कुचि+ [कुसूलि]पा	शूद्र	,,	,,
३६ धर्मपा	ब्राह्मण	विक्रम [शिला] देश	कण्हपा[१७] और जालन्धरपाका शिष्य
३७ महीपा [महिलपा]	शूद्र	मगध	कण्हपा [१७]का शिष्य
३८ अचिंतिपा	लकड़हारा	धनिरूप (?)	
३९ भलह (भव)पा	क्षत्रिय	ध र [देश]	
४० नलिनपा	क्षत्रिय	सालिपुत्र	
४१ भूसुकुपा	राजकुमार	नालन्दा	देवपाल (८०९-४९ ई०)
४२ इन्द्रभूति	राजा	लङ्कापुर	अनगवज्र (८१) और कंबलपा(३०)का शिष्य

* देहान्त १०३९ ई०। † सम्भवत शृगालीपाद भी यही है। ‡ सम्भवत बघेलखण्डका मैहर।

× सम्भवत टटन (चर्यागीति)। + सम्भवत गुजरीपा [चर्यागीति]।

नाम	जाति	देश	समकालिक राजा या सिद्ध
४३ मेकोपा	वणिक्	*भगलदेश ...	.
४४ कुठालि (कुद्दालि,पा		रामेश्वर	शान्तिपा [१२]का शिष्य
४५ कर्मार (कम्परि)पा	लोहार	सालिपुत्र	अवधूतिका शिष्य
४६ जालन्धरपा †	ब्राह्मण	नगर भो···	कण्हपा (१७) और मत्स्येन्द्रका गुरु
४७ राहुलपा	,,	कामरूप	सरह (६) से तीसरी पीढ़ी
४८ घर्वरि [घर्मरि] पा	,,	,,	विरूपा [३]से चौथी पीढ़ी
४६ धोकरिपा	शूद्र	सालिपुत्र	
५० मेदनीपा ‡	,,	सालपुत्र	लीलापा [२] की चौथी पीढ़ी
५१ पकजपा	ब्राह्मण	,,	नागार्जुन (१६) का शिष्य
५२ घटापा (वज्रघंटा)पा	क्षत्रिय	वारेन्द्र ×	देवपाल [८०६-४६ ई०]
५३ जोगीपा [अजोगिपा]	डोम	[उडन्तपुरी]	शबरीपा [५] का शिष्य
५४ चेलुकपा	शूद्र	भगलपुर	अवधूति [मैत्री]पाका शिष्य
५५ गुंडरिपा [गोरुर]पा	चिड़ीमार +	डिसुनगर	लीलापा [२] का शिष्य
५६ लुचिकपा	ब्राह्मण	भङ्गलदेश	
५७ निर्गुणपा	शूद्र	पूर्व देश	
५८ जयानन्त	ब्राह्मण	भगलपुर	
५६ चर्पटी [पचरी]पा	कहार □	चम्पा	मीनपा [८] का गुरु
६० चम्पकपा		चम्पा	
६१ भिखनपा	शूद्र	सालिपुत्र	
६२ भलिपा	<कृष्णघृतवणिक्	सलपुरी	
६३ कुमरिपा	,,	जोमन श्रीदेश [?]	
६४ चवरि [जवरि=अजपालि]पा	,,	मगध	कण्हपा [१७]की तीसरी पीढ़ी
६५ मणिभद्रा [योगिनी]	गृहदासी	अगचेनगर	कुकुरिपाकी शिष्या
६६ मेखलापा [योगिनी]	गृहपतिकन्या	,,	कण्हपा [१७]की शिष्या
६७ कनखलापा [योगिनी]		...	कण्हपा [१७] की शिष्या
६८ कलकलपा	शूद्र	भिरलीनगर [?]	
६६ कंतालो [कथाली]पा	दर्जी	मणिधर [मैदर]	कण्हपा [१७]का शिष्य

* वर्तमान भागलपुर जिला। † जालधारक ‡ सम्भवत हालीपा भी कहते है।

× चतुरशीतिसिद्धप्रवृत्ति (तन्जूर ८६।१)में नालन्दा लिखा है। + ब्य-प (भोटियामें)।

□ खुर+व छोङ्-व = बहँगी वचनेवाला, भार बेचनेवाला। < मर्-नग छोङ्-पा।

नाम	जाति	देश	समकालिक राजा या सिद्ध
७० धहुलि * (धहुरि)पा	शूद्र	धेकरदेश [?]	
७१ उधलि (उधरि)पा	वैश्य	देवीकोट	कर्णरिपा [१८] का शिष्य
७२ कपाल [कमल]पा	शूद्र	राजपुरी	
७३ किलपा	राजकुमार	प्रहर [शहर]	
७४ सागरपा	राजा	कांचा	
७५ सर्वभक्षपा	शूद्र	भमर [शहर]	शबरी (२) [छोटे सरह] और भूसुकु [४१] का शिष्य
७६ नागबोधिपा	ब्राह्मण	पश्चिम भारत	नागार्जुन [१६] का शिष्य
७७ दारिकपा	राजा	उड़ीसा	लूहिपा (१) का शिष्य
७८ पुतुलिपा	शूद्र	भगलदेश	
७९ पनह (उपानह)पा	चमार	स नगर	
८० कोकालिपा	राजकुमार	चम्पारन	
८१ अनगपा	शूद्र	गौड	डोम्भिपा [४] तीसरी पीढ़ी
८२ लक्ष्मीकरा [योगिनी]	राजकुमारी	सम्भलनगर	राजा इन्द्रभूतिकी बहन
८३ समुदपा		सर्वडिरदेश	
८४ भलि [व्यालि]पा	ब्राह्मण	अपभ्रदेश [?]	

चौरासी सिद्धोंकी गणनामें यद्यपि पहला नम्बर लूहिपाका है, तथापि वह चौरासी सिद्धोंका आदिम पुरुष नहीं था, यह ऊपर दिये वंश-वृक्षसे मालूम होगा। यद्यपि इस वंश-वृक्षमें सिर्फ ५० से कुछ अधिक सिद्ध आये हैं; तथापि छूटे हुओंमें सरहके वंशसे पृथकका कोई नहीं मालूम होता, इसलिये सरह ही चौरासी सिद्धोंका प्रथम पुरुष है। चौरासी सिद्धोंमें सरह, शबरि, लूहि, दारिक, वज्रघण्टा (या घण्टा) पा, जालंधर, कण्हपा और शान्तिपा-का खास स्थान है। वज्रयानके इतने भारी प्रचार और प्रभावका श्रेय अधिकांशमें इन्हींको है। डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्यने † सरहका समय ६३३ ई० निश्चित किया है। भोटिया-ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि, [१] ‡बुद्धज्ञान जो सरहके सहपाठी और शिष्य थे, दर्शनमें हरिभद्रके भी शिष्य थे। हरिभद्र शान्तरक्षितके शिष्य थे, जिनका देहान्त ७५० ई०के करीब तिब्बतमें हुआ था। [२] वहींसे यह भी मालूम होता है कि, बुद्धज्ञान और हरिभद्र महाराज धर्मपाल + [७६९-८०९]के समकालीन × थे। [३] सरहके शिष्य शबरपा लूहिपाके गुरु थे। वह लूहिपा महाराज धर्मपालके ~ कायस्थ [= लेखक] थे। इस प्रकार हम सरहको, शान्तरक्षितके पहले तो क्या, समकालीन भी नहीं मान सकते।

शान्तरक्षितका जन्म ६९० के करीब, विक्रमशिलाके पास, सहोर-राजवंशमें हुआ था। फलतः हम सरहपाको महाराज धर्मपाल [७६९–८०९]का समकालीन मान लें,

* सम्भवतः दवडोपा (चर्यागीति)। † विहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटीका जर्नल, खण्ड १४, भाग ३, पृष्ठ ३४९।

‡ स-स्क्य क-ऽबुम फ, पृष्ठ २१२ ख—२१७ क। + अध्यापक दिनेशचन्द्र भट्टाचार्यके मतानुसार ७४८-८०० ई।

× स-स्क्य क-ऽबुम फ, पृष्ठ २१२ ख। ~ स-स्क्य-क-ऽबुम फ, पृष्ठ २४३ क।

तो सभी बातें ठीक हो जाती हैं। इस प्रकार चौरासी सिद्धोंका आरम्भ हम आठवीं शताब्दीके मध्यसे मान सकते हैं। अन्तिम सिद्ध कालपाद [२७], मालूम होता है, चेलुकपा [५४] के शिष्य थे। एक छोटे कालपाद भी हुए हैं। यदि वह वह नहीं हैं, तो इन्हींको चौरासी सिद्धोंमें लिया जा सकता है। चेलुकपा अवधूतिपा या मैत्रीपाके शिष्य थे। यह वही मैत्रीपा हैं, जो दीपंकर श्रीज्ञानके विद्यागुरु थे और ग्यारहवीं शताब्दीके आरम्भमें वर्त्तमान थे। इस प्रकार अन्तिम सिद्धका समय ग्यारहवीं शताब्दीके अन्तसे पूर्व होगा। अतएव चौरासी सिद्धोंका युग ७५०--११७५ ई० मानना ठीक जान पड़ता है। इसी समय सिद्धोंकी चौरासी संख्या पूरी हो गयी थी।*

* वज्रयानकी ऐतिहासिक खोज भोटिया-(तिब्बती) साहित्यकी सहायताके बिना बिलकुल अपूर्ण रहेगी, किन्तु, भोटिया-साहित्यका उपयोग करनेमें कुछ बातोंका ध्यान रखना जरूरी है, नहीं तो, भारी गलती होनेका डर है। पहली बात तो यह है कि, इस प्रकारकी सामग्रीमें पद्मसम्भवसे सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ बहुत ही भ्रमपूर्ण हैं। भोटके निङ्-मा-पा सम्प्रदायने भोटमें एक अलौकिक बुद्ध खड़ा करनेके खयालसे, इस अद्भुतकर्मा पुरुषकी सृष्टि की। ज्यादा-से-ज्यादा इसकी ऐतिहासिकताके बारेमें इतना ही कह सकते है कि, शान्तरक्षितकी मण्डलीके भिक्षुओंमें पद्मसंभव नामका एक साधारण भिक्षु भी था। जैसे महायानने पाली-सूत्रोंके अल्प प्रसिद्ध सुभूतिको भारी प्रज्ञापारमिताओंका उपदेष्टा बनाकर सारिपुत्र और मौद्गल्यायनसे भी अधिक महत्त्वशाली बना डाला, वैसे ही निङ्-मा-पा ने पद्मसम्भवके लिये किया। दूसरी बात ध्यान देनेकी यह है कि, भोटमें भारतीय बौद्धधर्मके इतिहासकी सामग्री दो प्रकारकी है। एक तो उस समयकी, जब कि, भारतमें बौद्धधर्म जीवित था और उस समय भारतीय विद्वान् तिब्बतमें धर्म-प्रचारार्थ तथा तिब्बतीय विद्यार्थी भारतमें अध्ययनार्थ आया-जाया करते थे। दूसरी वह, जब कि, भारतसे बौद्धधर्म नष्ट हो चुका था और तिब्बतीय ग्रन्थकार नेपाल या भारतमें आकर, अथवा भोटमें यहाँके आदमियोंको पाकर, सुन-सुनाकर लिखते गये। इन दो प्रकारकी सामग्रियोंमें प्रथम प्रकारकी सामग्री ही अधिक प्रामाणिक है। इस सामग्रीके संग्रह करनेके समयको तीन हिस्सोंमें बाँटा जा सकता है—

[१] सम्राट् ठि-स्रोङ्-ल्दे-ब्चनसे सम्राट रल्-पा चन् तक [७१६—९०० ई०]।

[२] अतिशा और उनके अनुयायियोंका समय (१०४२—१११७ ई०)।

[३] स-स्क्य-विहारकी प्रधानता और बु-स्तोन्का समय (११४१–१३६४) ई०।

बु-स्तोन्के बाद भारतसे बौद्धधर्म नष्ट हो जानेके कारण, फिर भोटको सजीव बौद्ध भारतसे सम्बन्ध जोड़नेका अवसर नहीं मिला। प्रथम कालमें ऐतिहासिक सामग्री बहुत कम मिलती है, जो मिलती भी है, उसे निङ्-मा पा [=प्राचीनपंथी] सम्प्रदायने इतना गड़बड़ कर दिया है कि, उसका उपयोग बहुत ही सावधानीसे करना पड़ेगा। दूसरे कालमें डोम-तोन् आदि रचित दीपंकरकी जीवनी एवं कई और ऐतिहासिक ग्रन्थ बड़े कामके हैं। तृतीय कालकी सामग्री बहुत ही प्रामाणिक तथा प्रचुर प्रमाणमें मिलती है। इसके मुख्य ग्रन्थ हैं स-स्क्य विहारके पाँच प्रधान महन्थ-राजाओंकी कृतियाँ [स-स्क्य-ब्कं-बुम] और बु-स्तोन् [१२९०–१३८४ ई०] तथा उनके शिष्योंकी ग्रन्थमाला [बु स्तोन्-थब-सुम्-न्सु-बुम्]। डुक्-पा-पद्मा-द्कर्-पो [जन्म १५२६ ई०], लामा तारनाथ [जन्म १५७५ ई०] तथा वैसे ही दूसरे कितने ही लेखकोंकी कृतियाँ कुछ तो भोटकी पुरानी सामग्रीपर अवलम्बित हैं और कुछ सुनी-सुनाई बातोंपर। इसलिये इनका उपयोग करते वक्त बहुत सावधानीकी आवश्यकता है।

उक्त समयमें ही चौरासी संख्या पूरी हो जानेका एक और प्रमाण मिलता है। बारहवीं शताब्दीके अन्तमें मित्रयोगी या जगन्मित्रानन्द एक बड़े सिद्ध हो गये हैं। इनकी २० के करीब पुस्तकें भोटिया भाषामें अनूदित हुई हैं, जिनमें "पदरत्नमाला" तथा "योगी स्वचित्त ग्रन्थकोपदेश" हिन्दी-कविताएँ मालूम होती हैं। इन्हींके ग्रन्थोंमें "चन्द्रराज-लेख" भी है। इनके दुभाषियोंमें ये ग्नुब-निवासी छुल-खिम्स् और खो फु-निवासी ब्यम्स्-पई-पल् खो-फू-ब्यम्स-पई-पलकी प्रार्थनापर यह ११९७ ई० में नेपालसे तिब्बत गये और वहाँ अठारह मास रहे। यह खो-फु लोचवा [=दुभाषिया] वही है, जो विक्रमशिला-विहारके महम्मद-बिन्-बख्तियार द्वारा नष्ट किये जानेपर वहाँके पीठ-स्थविर शाक्यश्रीभद्रको ११९९ में भोट ले गया। यहाँ हमारा मतलब मित्रयोगीसे है। तिब्बतमें तो यह प्रसिद्ध ही थे। इनके "चन्द्रराज-लेख" से मालूम होता है कि, वह किसी राजाके लिये लिखा गया है; और, यह भी अनुमान हो रहा था कि, वह बारहवीं शताब्दीके अन्तमें युक्तप्रान्त या बिहारका कोई राजा रहा होगा। अब अनुमानकी जरूरत भी नहीं है। इसी समयके बोधगयाके एक शिलालेखमें * इनका और गहड़वार राजा जयचन्द्रका जिक्र इन शब्दोंमें आया है—"अस्ति त्रिलोकी सुकृतप्रसूत सत्रातुमामन्त्रितसर्वभूत.। सम्बुद्धसिद्धास्वयधुर्यभूतः श्रीमित्रनामा परमावधूत. ॥४॥ हिस्राः हिंसामशेषा. क्रूरमधिकरुषस्त्रस्तवस्त्रासमाशु व्याधूयोदस्त-हस्तप्रणयपरतया विश्वविश्वासभूमेः। चेत· सम्प्रीयमाणा मधुरतरदृशा श्लेषपीयूषपातैस्तिर्यञ्च सूचयन्ति च्युतमलपटल यस्य मैत्रीषु चित्तम्। [५] उदितसकल-भूमीमण्डलैश्वर्यसिद्धिः स्वयमपि किमपीच्छुन्नच्छधैर्यस्य शिष्य। अभवदभयभाजः श्रद्धया बन्धुरात्मा नृपशनकृतमेव श्रीजयच्चन्द्रदेव ॥ [१०] श्रीमन्महाबोधिपदस्यशास्त्रप्रामादिक मग्नमशेषमेव। काशीश-दीक्षा-गुरुरुद्धार य शासन शासनकर्णधार ॥ (१२) सत्राणि तिसृणां चासामङ्गणेषु निरङ्गग। सोऽय श्रीमज्जगन्मित्र शाश्वतीकृत्य कृत्स्नवित् ॥ (१४) वेदनयनेन्दु-निरव्या सख्ययाद्व परिपाटि-लक्षिते। विक्रमाङ्कनरनाथवत्सरे ज्येष्ठमासि युगपद् व्यदीप्रयत ॥" (१५)

इसमें मित्र और जगन्मित्र, दोनों ही नाम आये हैं। काशीश्वर जयचन्द्रदेवका उन्हें दीक्षा-गुरु कहा है और साथ ही बुद्धधर्म [शासन] का कर्णधार भी। सिद्धोंके सारे गुण इनमें थे, तो भी इनका नाम चौरासी सिद्धोंमें न आना बतलाता है कि, इनके पहले ही ८४की संख्या पूरी हो चुकी थी। ±

* देखिये इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता, मार्च १९२९, पृष्ठ १४-३०।

± [१] बौद्धधर्ममें अन्तरका विचार-विकास। [२] बौद्धधर्मके भारतसे लोपका कारण। [३] भारतमें, आम तौरसे, बिहारमें विशेष तौरसे तथा गया जिलेमें बहुत ही अधिकतासे जो बौद्ध-मूर्तियाँ मिलती हैं, उनका परिचय तथा बौद्धमूर्ति-विद्या। [४] नाथपंथ, कबीर, नानक आदि मतमतोंके विचारके स्रोतका मूल। [५] कौलधर्म, वाममार्ग, भैरवी-चक्र आदिके विकासका इतिहास। [६] भारतमें हठयोग, स्वरोदय, त्राटक [*Hypnotism*], भूतावेश [*Spiritualism*] का क्रम-विकास। [७] १२ वीं शताब्दीमें भारतीयोंकी राजनीतिक पराजयका कारण। [८] पालवंशका इतिहास और विशेषकर, गहड़वार आदि कितने ही राजवंशोंका इतिहास आंशिक तौरसे। [९] हिन्दी-भाषाके आदि कवि और उनकी कविता।

—यह और कितने ही और भी विषय हैं, जिनके लिये वज्रयानके इतिहासका अध्ययन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

मागधी हिन्दीका विकास

त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन

भाषा भावका शरीर है। जिस समय एक ही देशमें अनेक भाषाओंका राज्य स्थापित नहीं था, लोग अपनी उसी एक भाषामें अपने हृदयके साधारण या कोमल भावों (काव्य)को प्रकट किया करते थे। चार सहस्र वर्ष पूर्वके हमारे कितने ही पूर्वजोंके भाव हमें उन्हीकी भाषामें, वेदके रूपमें, दिखायी पडते है। "छान्दस" या वेदकी भाषा उनकी भाषा थी। नदीके प्रवाहकी तरह भाषाका प्रवाह गतिशील है। जितनी ही भाषा बदलती गयी, उतनी ही हमारे परवर्ती पूर्वजोंको, अपने पूर्वजोंकी भाषा और कृतियोंमें अधिक लोकोत्तर श्रद्धा बढती गयी (और आज भी वह अपने विराट् आकारमें हमारे संस्कृत-प्रेमके रूपमे मौजूद है)। समय बीतनेके साथ वह इस फिक्रमें पडे कि, कैसे हम उसको सुरक्षित और सजीव रखें। इसके लिये उन्होंने (वेद) मन्त्रोंको जहाँ संहिता, पद, जटा, घन आदि नाना क्रमसे, उच्चारण और कण्ठस्थ करके, सुरक्षित किया, वहाँ उस भाषाकी भीतरी बनावटके लिये अपनी-अपनी शाखाके 'प्रातिशाख्य" (व्याकरण) बनाये। जब बोल-चालकी भाषामें बहुत अन्तर हो चुका था, तब ईसा पूर्व छठी शताब्दीमें, गौतम बुद्ध उत्पन्न हुए। कोई 'भाषा' पर विशेष दया करके नहीं—बल्कि वही प्रचलित और उपयुक्त होनेसे उन्होंने लोक-भाषामें लोगोंको धर्मोपदेश किया। हाँ, जब मगध, कोसल, कुरु, अवन्ती, गन्धारके शिष्य, बुद्धके दिये उपदेशों (सूक्तों=सुत्तों) का अपनी-अपनी भाषा (=निरुक्ति)-में पाठ करने लगे, तो कुछ शिष्योंको सूक्तोंकी भाषाका फेर बदल खटकने लगा और उन्होंने चाहा कि, उसे हजार वर्षकी पुरानी भाषामें करके सुरक्षित कर दिया जाय, तब बुद्धने उसे मना ही नहीं किया, बल्कि इसे हल्के दण्डसे दण्डनीय एक अपराध करार दिया। जिस प्रकार नित्य बदलता सिक्का और तोल-मान आदमीको खटकता तथा व्यवहारमें परेशानीका कारण होता है, वैसे ही बुद्धके निर्वाणकी तीन-चार शताब्दियों बाद, यह आये दिनकी अदल बदल धर्मधरोंको अरुचिकर मालूम होने लगी। तब उनमेंसे कुछने तो लकीरका फकीर बन, पुरानी भाषाको (जिसे वह समझते थे कि, वह उसी रूपमें बुद्धके मुखसे निकली थी) ही अपनाये रखा और आगेसे अपनी शक्तिभर फेर-बदल न होने देनेके लिये गण्डकके जैसा बाँध बाँधा। दूसरोंने उसे मृत—किन्तु अधिक स्थायी संस्कृतमें—कर दिया। तथापि इस भाषामें पहली भाषाकी कितनी ही बाते रख छोडी। तीसरे, कुछ लोग और कितनी ही शताब्दियोंतक धक्के खाकर, कुछ और फेर-बदल हो जानेपर परवर्ती किसी भाषामें उसे सुरक्षित करनेपर मजबूर हुए। पहले वाले धर्मधर सिंहलके स्थविरवादी हैं, जो मागधीकी सबसे बडी विशेषताओं "स" की जगह "श", "न"की जगह "ण" और "र"की जगह "ल" को सहस्राब्दियों पहले छोड चुके हैं, तो भी कहते हैं, 'हमारे धर्म-ग्रन्थ मूल मागधी भाषामें है।" हाँ, यदि उच्चारणकी विशेषताको कोई नगण्य समझे, तो उनका कथन बहुत

कुछ सच निकलेगा। सर्वास्तिवाद, महासांघिक आदिने अपने धर्म-ग्रन्थ संस्कृतमें कर दिये तथा महीशासक आदि कुछ निकायोंने प्राकृतमें।

शताब्दियोंसे ब्राह्मण, कोसीकी भाँति, मर्यादा तोड़ भागनेवाली संस्कृतको, व्याकरणके नियमोंसे बाँध-बाँधकर स्थायी करते रहे, परन्तु उन्हें पूरी सफलता न मिली। अन्तमें जनपदोंकी सीमाएँ तोड कर साम्राज्य स्थापित करनेवाले युगके प्रतापी शासक नन्दोंके कालमें पाणिनि * वह बाँध-बाँधनेमें सफल हुए, जिसे तोडनेकी शक्ति संस्कृतमें नही रही। तो भी इस बाँधसे संस्कृतके प्रचारमें अधिक फल तबतक नही हुआ, जबतक कि, ईसा पूर्व दूसरी शताब्दीके मध्यमें शुंगोंके गुरु गोनर्दीय † पतञ्जलि अपनी कलम, ज्ञान और जबानको शुंगोंके + प्रभुत्वके साथ मिलाकर इसकी वकालतमें न खड़े हो गये। शुंगोंके बाद गति कभी कुछ मन्द और कभी कुछ तेज होती रही, किन्तु गुप्तोंके समयसे पाणिनिकी संस्कृतको वह स्थान प्राप्त हो गया, जो उसे कभी न मिला था (वह स्थान, ईसाकी बारहवी शताब्दीतक वैसे ही रहकर, आज भी हमारे सामने कुछ कम विशाल रूपमें नही दिखायी पडता है)।

यद्यपि शुंगकालमें संस्कृतके प्रबल पक्षपाती उठे और उन्होंने तथा उनके परवर्ती लोगोंने संस्कृत-के पक्षमें ऐसा वायुमण्डल तैयार कर दिया कि, कीर्त्ति, मान तथा शिक्षित जनतातक पहुँचनेकी इच्छा रखनेवाले विद्वान् साहित्यमें संस्कृतको ही व्यवहृत करनेपर मजबूर हो गये, तथापि बोलचालकी भाषाओंने— चुपचाप अपने अधिकारको अपहृत नही होने दिया। किन्तु जहाँ संस्कृतने एक स्थायी—अचल रूप—पा लिया था, वहाँ यह बेचारी प्राकृतें जबतक लड-भिड़कर अपने लिये कुछ स्थान बनाती थीं, तबतक वह स्वयं मृत्युका ग्रास हो, मृतभाषा बन, अपने सबसे प्रबल शस्त्र—बोल-चालकी भाषा होनेको—खो बैठती। उन्हें इस जद्दो-जिहदका पुरस्कार यही मिलता था कि, कभी कभी, लोग उनमें भी कुछ लिख दिया करते थे—।

पाणिनिके समयमें संस्कृत स्वाभाविक रूपसे बोल-चालकी भाषा न थी, तो भी उस समयकी बोल-चालकी भाषा, उससे इतना समीप थी कि, कुछ दर्जन नियमोंके साथ उसे पाणिनीय संस्कृतमें बदला जा सकता था। पाणिनिके "भाषा" शब्दसे मतलब है इसी उच्चारणादि अन्य परिवर्तनसे बनी कृत्रिम या "संस्कृत" भाषासे। उदीची (पंजाब), प्राची (युक्तप्रान्त, बिहार) तथा व्यास-नदीके उत्तर-दक्षिण किनारोंतकके रूप और स्वरतकके भेदोंको दिखलानेसे लोग सिर्फ यही नही कह उठते हैं—"महतीय सूक्ष्मेक्षिका वार्यस्य" (काशिका ४।२।७४), बल्कि साथ ही यह भी कहते हैं कि, पाणिनिके समय वह (पाणिनीय) संस्कृत बोली जाती थी, और, इसी लिये वह उनके कालको,

---

* मञ्जुश्रीमूलकल्पने भी पाणिनिको नन्दके समयमें माना है। देखिये ५३ पटल, पृ० ६१२—'नन्दोऽपि नृपति श्रीमान् पूर्वकर्मापराधतः। विरागयामास मन्त्रीणां नगरं पाटलाह्वये॥ आयुस्तस्य च वै राज्ञः परं षष्टीवर्षाणि तथा। तस्याप्यन्यतमः सख्यः पाणिनिर्नाम माणवः॥"

† मालवामें, विदिशा और उज्जैनके बीच, भोपालके पासमें गोनर्द कोई स्थान था।

+ पहले-पहल शुंगोंके समय संस्कृतमें शिलालेख मिलते हैं। — गुणाढ्यकी बृहत्कथा, हालकी गाथासप्तशती आदि इसके उदाहरण हैं।

नन्दोके समयमें न रखकर, बहुत पूर्व खींचना चाहते हैं। पाणिनिने, अपने व्याकरणके लिये, दो स्रोतोंसे मसाला जमा किया। एक तो, मन्त्र, ब्राह्मण आदि छान्दस वाङमय, दूसरे कल्प, शिशुक्रन्द, यमसभ, अग्निकाश्यप आदिके वृत्तोको लेकर बने ग्रन्थ आदि। इनमें भी शिशुक्रन्दीय आदि ग्रन्थ संस्कृतमे थे या प्राकृतमें, इसमें सन्देह ही समझना चाहिये। दूसरा स्रोत था, उदीची और प्राचीकी उस समयकी बोल चालकी भाषा या "भाषा"का। यह कहनेकी आवश्यकता नही है कि, उन्होने अपने समयतकके इस विषयमे हुए प्रयत्नो (आपिशलि, शाकटायन आदिके व्याकरणो)से भी फायदा उठाया।

पाणिनीय सस्कृतका प्रादुर्भाव यद्यपि ईसा पूर्व चौथी शताब्दीमे हुआ तथापि पतञ्जलिके समय अर्थात् ईसा पूर्व दूसरी शताब्दीके मध्यतक उसका बहुत कम प्रचार रहा। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दीसे ईसाकी तीसरी शताब्दीतक वह क्रमश अपने क्षेत्र और प्रभावको बढाती गयी, और, चौथी शताब्दी-से उसका एकछत्र राज्य स्थापित हुआ। प्राकृत और अपभ्रशके समयतक—जबतक कि, सस्कृत और भाषाके क्रियापद और प्रत्यय भी बहुत थोडे ही फर्कसे सस्कृत किये जा सकते थे, सस्कृत-भाषामे, बहुत ही प्राञ्जल, सर्वभावसम्पन्न, प्रसादयुक्त ग्रन्थ लिखे जाते थे। जब "देशीय" (आधुनिक भाषाओका प्राचीनतम रूप) का प्रादुर्भाव हुआ और सस्कृतसे अधिक फर्क पड गया, तब जीवित स्रोतसे वञ्चित हो, सस्कृत-ग्रन्थ, भाषाकी दृष्टिसे, बिलकुल ही कृत्रिम तथा शब्द-दारिद्र्यसे पूर्ण बनने लगे।

यह तो हुआ देश-कालके भेदसे न प्रभावित होनेवाली कृत्रिम या "सस्कृत" भाषाके बारेमे। अब जीवित भाषाओके स्रोतको ले। शताब्दियोके परि-वर्तनकी छाप रखते हुए भी वेद, ब्राह्मण आदि वैदिक साहित्यकी भाषाको पाणिनिने "छान्दस" कहा है। वह अपने समयमें एक जीवित भाषा थी। उस समय उसका क्षेत्र अधिकतर गङ्गा और सिन्धु-की उपत्यकाओतक सकुचित तथा बोलनेवालोकी संख्या कम होनेके कारण देश-भेदसे भी भाषा भेद कम हुआ था। पाणिनिके समयमे, औरको छोड, सिर्फ प्राची (युक्तप्रान्त, बिहार) ही, पाचाली, कोसली और मागधीके तीन क्षेत्रोमे विभक्त मालूम होती है। विन्ध्य-हिमालयको सबकी सामान्य सीमा मानकर, उनमेसे, पाञ्चाली, घग्घर (शरावती =सरस्वती)से रामगङ्गातक, कोसली रामगङ्गासे मही (गण्डक)तक एव मागधी गण्डकसे कोसी तथा कर्मनाशासे कलिगतक फैली हुई थी। इनमें पाचाली तथा उदीची (पजाब)की भाषाओंमें अधिक समानता थी, इसलिये शक्तिशाली राज्योका केन्द्र उदीची (सिन्धु-तट)से उठकर प्राचीमे पाञ्चाल तथा कोसलतक चला आया, तो भी पाञ्चाली-ने स्थानीय भाषाओमे विशेष भेद न होनेके कारण' कोई विशेष स्थान न प्राप्त किया। उस समयतक तक्षशिलाका विद्या-केन्द्र बना रहना भी इसका साधक और द्योतक है। ईसा पूर्व चौथी शताब्दीमे जब मगधका विशाल साम्राज्य स्थापित हुआ और लक्ष्मीके साथ सरस्वतीने भी मगधमे पधारकर उसे शक्ति और सभ्यताका केन्द्र बना दिया, तब अवस्था बिलकुल बदल गयी। इसमे मगधमे उत्पन्न बौद्ध, जैन जैसे महान् दार्शनिक सम्प्रदाय (जो कि, सिन्धुकी ओरतक फैलते जा रहे थे) और भी सहा-यक हुए। फलत मगध, सभ्यताका केन्द्र बननेके साथ, अपनी भाषाको सारे भारतमे सम्मानित करानेमे सफल हुआ। उपयु क्त प्रकारसे सम्राटोकी

भाषा होनेसे जिस मागधीने सारे भारतमें यहाँतक सम्मान पाया कि, पीछे नाट्यकारोंको, राजपुत्रों तथा दूसरे कितने ही उच्च पात्रोंकी भाषा मागधी रखनेका निर्देश करना पड़ा। उसका प्राचीनतम उपलब्ध रूप उड़ीसा, बिहार और युक्तप्रान्तमें मिलनेवाले सम्राट् अशोकके शिलालेख हैं। पाली (दक्षिणी बौद्ध-त्रिपिटककी भाषा) ने यदि "श"का बायकाट तथा "र" के स्थानपर भरसक "ल" नहीं आने देनेकी कसम न खायी होती, तो शायद उसे ही मागधीका प्राचीनतम रूप होनेका सौभाग्य प्राप्त होता, किन्तु सिंहलके पुराने गुजराती शताब्दियों तक मागधी उच्चारण कैसे बनाये रखते? तो भी हम पालीके पुरातन सुत्तोंमें "ल", 'श" की भरमार कर उसे मागधीके पासतक पहुँचा सकते हैं। उसके बाद दूसरी मागधी नाटकोंकी मागधी है। हाँ, जैनमूल ग्रन्थोंकी भाषा भी मागधी है। किन्तु शुंगोंके समयसे ही जैन-धर्मका केन्द्र पूर्वसे पश्चिमकी ओर हटने लगा, और, उज्जैन आदिकी सैर करते ईसाकी चौथी पाँचवी शताब्दियोंमें गुजरात पहुँच गया था, जहाँ पाँचवी शताब्दीमें (पाली-त्रिपिटकके लेख-बद्ध होनेसे पाँच सौ वर्ष बाद) जैन-ग्रन्थ लेखबद्ध हुए। जैन मागधीमें सौरसेनी महाराष्ट्रीकी पुट पड़ जानेसे वह आधी ही मागधी रह गयी थी; इसी लिये अर्धमागधी भी उसे कहा गया। लेकिन अशोकके बाद (ईसा पूर्व तीसरी शताब्दीसे) ईसाकी पहली शताब्दीतककी मागधी भाषाका रूप, रामगढ़ पहाड़का गुहाएं (सरगुजा-राज्य) और बोधगया आदिके कुछ थोड़ेसे और अधिकांश आधे दर्जन शब्दोंवाले लेखोंको छोड़कर और नहीं मिलता। ईसाकी दूसरी शताब्दीसे पाँचवीं शताब्दी तककी मागधी हमें नाटकोंमें मिलती है। पाँचवींसे अपभ्रंश मागधीका जमाना शुरू होता है। लेकिन महाराष्ट्री-अपभ्रंशकी * भाँति मागधी-अपभ्रंशमें कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। संस्कृतका बोलबाला होनेसे शिलालेखों-ताम्रलेखोंकी तो आशा ही नहीं। इस अपभ्रंशका समय पाँचवींसे सातवीं सदीतक था। आठवीं शताब्दीमें "देशीय †" या हिन्दीका समय शुरू होता है। यहाँ स्मरण रहे कि, प्राकृत, अपभ्रंश, देशीय, सभीका एक एक सन्धि-काल है, जिसमें पूर्व और परकी भाषाओंका सम्मिश्रण रहा है। प्राचीन देशीय-मागधी या "मगही" आठवीं शताब्दीसे बारहवीं शताब्दीतक रही। उसके बाद सोलहवीं शताब्दीतक मध्यकालीन मगही और तबसे आधुनिक मगही हुई। इस प्रकार मागधीके निम्न रूप होते हैं—

१ अशोकसे पूर्वकी मागधी ई० पू० ६००-३०० अनुपलभ्य
२ अशोककी मागधी ई० पू० ३००-२०० सुलभ
३ अशोकसे पीछेकी मागधी ई०पू० २०० २०० दुर्लभ
४ प्राकृत मागधी ई० २००-५०० ई० सुलभ
५ अपभ्रंश मागधी ई० ५०० ७०० ई० अनुपलभ्य
६ मगही प्राचीन ई० ८००—१२०० ई० सुलभ
७ मगही मध्यकालीन ई० १२०० – १६०० ई० दुर्लभ
८ मगही आधुनिक ई० १६०० – जीवित

पहले बतलाया जा चुका है कि, चौथी शताब्दीमें ही मगहीका अपना क्षेत्र गण्डकसे कोसी

* अपभ्रंश प्राकृत और प्राचीन 'देशीय" भाषाके बीचकी भाषाके लिये यहाँ प्रयोग किया गया है। पतञ्जलिने तो आज "प्राकृत" कही जानेवाली भाषाओंमें भी पूर्वकी भाषाके लिये इसका प्रयोग किया है।

† यहाँ देशीय शब्द सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओंके लिये मैंने प्रयुक्त किया है।

तथा कर्मनाशासे कलिंगतक था। समय पाकर फिर भाषामें परिवर्तन होता गया। मागधी-भाषा-भाषी आस-पासके प्रदेशोंमें जाकर बस गये। इस प्रकार आधुनिक ओडिया, बॅंगला, आसामी, मैथिली और मगही, प्राचीन मागधीके ही कालान्तरमें विकृत रूप हैं। बनारसी भाषाको भोजपुरी और कोसली या अवधीकी सीमान्त भाषा समझनी चाहिये, तथापि प्राकृत और अपभ्रंशके समय इनका भेद बहुत कम था। प्राचीन मगहीमें वह बढ़ने लगा। अपभ्रंश-तकको मगहीको पूरी तरहसे, तथा प्राचीन मगहीको किसी अंशमें, उक्त सभी भाषा–भाषी अपना कहनेके अधिकारी होते है, तो भी मागधी न कह, उसे आसामी, बगाली × या ओडियाका नाम देना उतना ही अक्षम्य होगा, जितना चासर, शेक्सपियर, मिल्टन तथा उनकी भाषाको अमेरिकन या आस्ट्रेलियन कहना।

ऊपर जिस मागधीको हमने "मगही प्राचीन" कहकर उसका काल आठवींसे बारहवी शताब्दी बतलाया है, उसीमे हिन्दीको सबसे प्राचीन कविता है। लेकिन, चूँकि उसे बंगाली विद्वानोने बॅंगला साबित किया है और अभीतक हिन्दीवाले उसपर चुप थे, इसलिये उसके हिन्दी होनेके बारेमें कुछ कहना आवश्यक है। पहले तो यह सवाल होता है कि, हिन्दीवालोने इस मागधीको बॅंगला बनाये जाते वक्त क्यो नहीं आपत्ति की ? यदि इसमें उपेक्षा मात्र ही होती, तो और बात थी, लेकिन यहाँ हिन्दीवालोकी यह उपेक्षा एक बड़े कारणपर निर्भर है। वह कारण हमें विद्यापतिकी बातसे भी मालूम होता है। बात यह है कि, हिन्दी-भाषासे लोग सिर्फ गद्यकी भाषा खडी बोली और पद्यकी भाषा ब्रजभाषा लेते हैं। तुलसीकी भाषाका अवधी (कोसली) होना भी कितनोको पहले नया ही मालूम होगा। खड़ी बोली उत्तर पांचाल (या बदायूँ, मुरादाबाद और बिजनौरके जिलो)की बोल-चालकी भाषाका साहित्यिक रूप है। बदायूँ आदिके लोग, मालूम होता है, दिल्लीमें मुसलमानी शासन स्थापित होनेके आरम्भिक समयमें ही किसी प्रकार पहुँच गये। धर्म-परिवर्तन तथा अपने बुद्धि–विद्या बलसे वह यहाँ अधिक प्रभावशाली बन गये। उनके सम्बन्धसे बहुतसे और भी बदायूनी, बिजनोरी दिल्ली पहुँचे। उनका और उनकी दास-दासियोका दिल्लीमे एक अच्छा खासा उपनिवेश बस गया। इस उपनिवेशके सभी लोगोका, यूरेशियनोकी भाँति, अपनी भाषा भूलकर फारसी ही बोलने लगना उस समय सम्भव नही था—विशेषतः जब कि, राज-काज चलानेके

× प्रादेशिक पक्षपातका उदाहरण कितने ही बगाली इतिहास-अन्वेषकोके लेखोंमें भी मिलता है। सौ वर्ष पहले प्रिन्सेपने सिंहल-वासियोंको बगालसे आया कहा। उसके लिये आधार यही था कि, सिंहल उपनिवेश-स्थापक विजयकी दादी वगराजकी लड़की था और उनका पिता "लाल" देशका शासक था। "लाल" "राढ़" (पश्चिमी बगाल)का अपभ्रंश रूप मान लिया गया। "महावंस" और "दीपवंस" में स्पष्ट लिखा है कि, विजय अपनी राजधानीसे नावपर चढ़कर पहले भरुकच्छ (भड़ौच) फिर सुप्पारक (सोपारा, जि०ठाणा) गया, वहाँसे चलकर ताम्रपर्णीद्वीप। राढ़से सीलोन आनेका यह रास्ता [भूल जानेपर, तो ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दीके लिये और भी कठिन है]। तो भी यह बाते अब भी बहुतसे बगाली ऐतिहासिकोके ग्रन्थोंमें लिखी मिलेगी। मैथिल-कोकिल विद्यापति बहुत दिनोतक वग-भाषाके ही आदिकवि रहे है, और, यही बात हम बिहारके दो बड़े धर्म-प्रचारकों [शान्तरक्षित और दीपकरश्रीज्ञान—जिन्होंने आठवीं और ग्यारहवीं शताब्दियोंमें, तिब्बतमें, धर्म-प्रचार किया था]के बारेमें देखते हैं।

लिये और लोगोंसे काम पडता था। [इस उत्तर-पाञ्चाली जमायतको, एक तरहसे, कम्पनीके आरम्भिक दिनोंके बंगाली रानियोंसे उपमा दे सकते हैं। फर्क इतना ही था कि, अंग्रेजोंका वर्गभेद रंगपर था, जिसका बदलना असम्भव था, और, उत्तर पाञ्चालियो तथा उनके शासकोंका फर्क धर्मपर था, जो धर्म-परिवर्तनसे बहुत-कुछ हट सा जाता था)। मातृ-भाषाका प्रेम भी एक बडी चीज है, इसको वही अच्छी तरह जानेंगे, जो गुजरातके मेमनों, बोरो तथा करोडपति साहुकारोको, केपटाउन, कोलम्बो और नैरोबीतकमें अपनी गुजराती भाषामे, एवम्, कोकणी मुसलमान साहुकारोंको तामिल, मालाबार, कुर्गके प्रदेशोमे रहते हुए भी कोकणीमें अपना निजी काम चलाते देखेंगे! अवधकी तरफसे बिहारमें जानेवाले कायस्थ, मुसलमान जैसे अपने साथ अपनी अवधी भाषा लेते गये [उनके प्रभावके साथ उनकी भाषाका प्रभाव इतना बढा कि, आज भी बिहारकी कचहरियोंके शिक्षित लोगोको, आप इसी अवधीको, कुछ मगही, मैथिली तथा भोजपुरीके पुटके साथ बोलते पायेंगे]—ठीक इसी प्रकार उत्तर पाञ्चालियोकी अपनी भाषा दिल्लीमें अपना प्रभाव बढाती रही। यह लोग आरम्भिक मुसलमान हुए लोगों [या हिन्दी मुसलमानों]में अधिक प्रभावशाली थे, इसलिये पीछेके मुसलमानोके लिये यह सभी बातोमे आदर्श बने। इस प्रकार भाषाके खयालसे दिल्लीके शासन सूत्रधार दो भागोमे विभक्त थे एक फारसी-रुवाँ अहिन्दी मुसलमान शासक थे और दूसरे हिन्दी वजीर, अमीर तथा फकीर (धर्म-प्रचारक), जो राज-काजके लिये फारसी सीखते-पढते थे, तो भी अपनी मातृ-भाषाके हामी थे। अन्तर्जातीय विवाहोंसे (जो कि आजकी तरह उस समय भी मुसलमानोंमें अधिक होते थे) जैसे ही जैसे हिन्दी-रुधिर शासकोंमें अधिक प्रवेश करता जाता था और इस्लामके प्रचारसे जैसे ही जैसे हिन्दी मुसलमानोंकी जमायत बढती जाती थी, वैसे ही वैसे उत्तर पाञ्चाली भाषा उन्नतिके पथपर अधिक अग्रसर होती थी—प्रादेशिकसे सार्वत्रिक भाषा बनती गयी। रक्त-सम्मिश्रणके साथ भाषाका सम्मिश्रण सभी जगह देखा जाता है। इसी प्रकार उत्तरपाञ्चालीमे भी फारसी-अरबीके बहुतसे शब्द मिल गये। शाहजहाँसे बहुत दिनो पहले ही यह भाषा बहमनियोके साथ दक्खिनमे पहुँच गयी थी, और, क्रमश हिन्दीसे जिन देशोकी भाषाओंका जितना ही अधिक फर्क था, उनमें यह उतनी ही अधिक साधारण लोगोके लिये माध्यम और मुसलमानोके लिये मातृभाषा बनी। उत्तरमे अकबरके हिन्दू मुसलमान-विवाहोने इस भाषाको अधिक भीतर तक घुसने दिया और सभी शाहजादे जन्मसे ही दोभाषिये होने लगे। यद्यपि अंग्रेजोंके आनेतक फारसी ही कचहरियोकी भाषा थी, तो भी वह वैसे ही, जैसे बारहवी शताब्दीके गहडवार राजाओके शिला-लेखोमे आप संस्कृतको देखते है। बातचीततक सभी काम बादशाही कचहरियोंतकमे भी हिन्दीमे ही होते थे, सिर्फ कागज लिखते वक्त फारसी आ जाती थी।

उक्त हिन्दी यद्यपि उत्तर पाञ्चालकी भाषा थी और उसमे अरबी-फारसीके शब्द उधार मात्र ले लिये गये थे, तो भी चौदहवीसे अठारहवी शताब्दीतक मुसलमानोका ही इससे घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसी लिये लोग इसमें मुसलमानियतकी बू पाते थे। फलत साहित्यकी भाषाका जब प्रश्न उठा, तब हिन्दुओने रेख्ता (उर्दू-अरबी-फारसी-मिश्रित खडीबोली)को परित्याग कर, ब्रजभाषा,

अवधी आदिको अपनाया। रेखतामें उनका कभी कभी कविता करना, फारसीकी ही तरह, था। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दीमें सारे हिन्दुस्तान-प्रदेशमें सिवा रेखताके कोई दूसरी सर्वत्र प्रचलित भाषा नहीं थी। यद्यपि इसमें अरबी-फारसीके शब्द अधिक थे, तो भी खत्री आदि कितने ही नागरिक-कुलोंमें यह मातृ-भाषा थी, और, उनमें अरबी-फारसी के शब्द नाम मात्र थे। [उतने संस्कृत-शब्द भी न थे], तो भी कृष्णके नामसे और दिल्लीके पास होनेसे जैसे व्रजभाषा अनायास हिन्दीकी काव्य भाषा बन गयी, उतनी आसानीसे खडी बोलीको सफलता नहीं मिली। उसे चौदहवीं शताब्दीसे अठारहवीं शताब्दी-तक जगह-जगहकी खाक छाननी पडी, अपमान सहना पड़ा, और, इतनी तपस्याके बाद इस एक कोनेकी उत्तर पाञ्चाली भाषाको सारे हिन्दकी हिन्दी-भाषा बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

इस प्रकार सूर, बिहारी आदिकी धार्मिक, शृङ्गारिक कविताओंके कारण लोग व्रजभाषाको कविताकी भाषा समझते हैं, और, उपर्युक्त क्रमसे सर्वत्र प्रचलित खड़ी बोलीको आधुनिक व्यवहारकी भाषा। सहस्राब्दियोंसे हिन्दुस्तान-प्रदेशमें जो भाषाएँ विकसित होती रही हैं, वह भी कभी अपनी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करेगी, इसका लोगोंको कुछ खयाल भी न था। यही कारण है, जो भोजपुरी, मगही, मैथिली आदिकी ओर ध्यान नहीं गया। इस प्रकार मैथिलीके विद्यापति कितने ही वर्षों तक बंगाली ही बने रहे! जिस समय खडी बोलीने पटरानी होकर कविताके सिंहासनपर भी पैर बढाना चाहा, उस समय व्रजभाषाने लाग बाँध और डंडे मारकर व्रजकी होली शुरू कर दी। यह होली बहुत दिनों तक गम्भीरताके साथ होती रही, किन्तु जब कविताके दरबारमें भी खडी बोलीकी तूती बोलने लगी, तब बेचारी व्रजभाषाको यही कहकर सन्तोष करना पडा—"असली पेठा तो मेरी ही दूकानपर बनता है"; लेकिन बेचारी मगही, मैथिली तथा भोजपुरी आदि भाषाएँ, सती-साध्वी कुलाङ्गनाओंकी भाँति, चुपचाप ही बैठी रहीं। फिर आजकल तो जद्दो-जहदके बिना किसीको कुछ मिलता नहीं। इसी लिये इनकी ओर किसीने ध्यान न दिया। इन मूक भाषाओंका भी अस्तित्व है, इस विषयमें डा० ग्रियर्सन और दूसरे सज्जनोंने जो किया, उसके लिये यह अवश्य उनकी आभारी हैं। इधर ग्रामीण गीतोंके प्रकाशनने यह भी बतला दिया कि, यह स्वभावसुन्दरी भी हैं।

अब सवाल यह है कि, इन भाषाओंके लिये भी कोई स्थान मिलना चाहिये या नहीं? यह न समझें कि, खडी बोलीको अपना राजपाट बाँटकर गद्दीसे दस्त-बरदार हो जाना चाहिये। खडी बोलीके कारण आज भारतका दो-तिहाई भाग एकताके घनिष्ठ सूत्रमें बँध गया है। इस बीसवीं शताब्दीमें उस एकताको तोडनेकी बात वही करेगा, जिसका समूह-शक्तिपर विश्वास नहीं है। तो फिर इनके लिये क्या होना चाहिये? बस, वही, जो व्रजभाषाके लिये इस वक्त और भविष्यमें रहेगा। व्रजभाषाको तो कोई गुजराती बनानेका साहस नहीं रखता, फिर मैथिली और मगहीके बारेमें ऐसा क्यों? यदि व्रज-भाषाकी नवीं-दसवीं शताब्दियोंकी कविता मिलती, तो उसके सादृश्यको देखकर गुजराती भी वही कहते, जो उस समयकी मगहीको देखकर आज बंगाली कहते हैं। कहा जा सकता है कि, खडी बोली तो मागधीकी उत्तराधिकारिणी नहीं है, साहित्यिक क्षेत्रमें उसकी उत्तराधिकारिणी तो बँगला ही है। लेकिन यहाँ पूछना है, अधिकार भी तो सापेक्ष

शब्द है? मगही, मैथिली, ओड़िया, आसामी—इन चारोंको खडी करनेपर सर्वप्रथम किसको हक मिलना चाहिये? मगहीको ही न? और बात भी है। यदि बंगला कहे कि, मैं पुरानी मगहीकी पुत्री हूँ, सो ठीक है, लेकिन यदि बंगला पुरानी मगही-का नाम मिटाकरउ से पुरानी बगला कहने लगे, तो उसे मगहीसे ही लोहा नही लेना पडेगा, बल्कि ओडिया आदिको भी अपनी ज्येष्ठ भगिनीकी सहायता करनेपर बाध्य होना पडेगा। यद्यपि मगही-में आज अखबार नही निकलते, लेख नही लिखे जाते, लेकिन ४० लाख बोलनेवाले उसके घरमे ही जिन्दा है। यदि कहे, उसमे हमे उज्र नही, लेकिन मगहीको हिन्दी कैसे कहेगे? हिन्दी तो पच्छाहीं भाषा है, उसका मगहीसे क्या सम्बन्ध? उत्तर यह है कि, हिन्दी शब्द सिर्फ खडी बोलीके ही लिये कोई व्यवहार नही करता। व्रजभाषा और अवधीके हिन्दी न होनेका किसीने आग्रह नही किया। व्रजभाषा और अवधी भी तो खडी बोलीसे मगहीकी तरह, भिन्न है? हम पुरानी मगहीको खडी बोली नही कहते, हम उसे प्राचीन हिन्दी कहते है जैसे व्रजभाषा और अवधीको।

हिन्दी क्या है, पहले इसे आपको समझना चाहिये। सूबा हिन्दुस्तान [हिमालय पहाड तथा पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठा, तेलगू, ओडिया, बॅगला भाषाओंके प्रदेशोंसे घिरे प्रदेश] को आठवीं शताब्दीके बादकी भाषाओंको हिन्दी कहते हैं। इसके पुराने रूपको प्राचीन मगही, मैथिली, व्रज-भाषा आदि कहते हैं, और, आजकलके रूप [आधुनिक हिन्दी]को सार्वदेशिक और स्थानीय, दो भागोमें विभक्त कर आधुनिक सार्वदेशिक हिन्दीको खडी बोली [जिसे ही फारसी-लिपि तथा अरबी-फारसी शब्दोकी भरमारपर उर्दू कहते है] तथा आजकल भिन्न-भिन्न स्थानोंमे बोली जानेवाली मगही, मैथिली, भोजपुरी, बनारसी, अवधी, कन्नौजी, व्रजमण्डली आदिको आधुनिक स्थानीय हिन्दी-भाषाएँ कहते हैं।

यदि आप कहे कि, दोहाकोष आदिकी भाषाको मगही कौन मानता है, वह तो ठेठ बॅगला है। इसका उत्तर तो उन कवियोके निवासदेश देगे, जिन्हें हम उनके नाम आदिके साथ अपने दूसरे लेख [हिन्दीके प्राचीनतम कवि और उनकी कविता]मे देंगे। यहाँ सिर्फ इतना कह देना है कि, यदि [१]उन कवियोका सम्बन्ध नालन्दा और विक्रमशिलासे रहा है, यदि [२] यह दोनो विद्यापीठ मगही-मैथिली-क्षेत्रोंसे बाहर नहो रहे है, यदि[३]उन सभी कवियोकी भाषा एक समान रही है, और यदि [४] उनमे प्रयुक्त हुए शब्द मगही-मैथिली-भाषाओंमें, काल-सम्बन्धी आवश्यक परिवर्तनके साथ अब भी सबसे अधिक मिलते है, तो उन्हे हिन्दीसे बाहर नही ले जाया जा सकता।



हिन्दी-स्थानीय भाषाओंके बृहत् संग्रहकी आवश्यकता

त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन

परिवर्तनका अटल नियम जैसे संसारकी सभी वस्तुओं-पर अधिकार रखता है, वैसे ही भाषापर भी। लेकिन यह परिवर्तन हमेशा कार्य-कारण-सम्बन्ध लिये हुए काम करता है, जिससे अपरवर्ती वस्तु (कार्य) पूर्ववर्ती वस्तु (कारण)से बहुत सादृश्य रखती है। यही कारण है कि, आज वक्त हम वस्तुओंकी परिवर्तनशीलताके विषयमें सन्देहयुक्त हो जाते हैं। इस कार्य-कारण-सहित परिवर्तनका अच्छा उदाहरण हमारा अपना शरीर है। एक ही आदमी-के १, २०, ४०, ५० और ६० वर्षकी अवस्थाओंके चित्र आप उठा लीजिये सादृश्य और परिवर्तन आपको स्पष्ट मालूम होंगे। मनुष्यके भीतरी (आत्मिक) परिवर्तनको देखना हो, तो किसी चिन्तनशील पुरुषकी चौदहसे पचास वर्षकी उम्रतककी डायरियाँ पढ़ डालिये। मनुष्यके इस आत्मिक और बाह्य परिवर्तनकी भाँति ही मनुष्यकी भाषाओंमें परिवर्तन होता जा रहा है। किसी जीवित भाषाके कितने ही छोटे-छोटे परिवर्तन तो कोई भी पचास वर्षका समझदार पुरुष आसानीसे बता सकता है। लेकिन सहस्राब्दियोंके परिवर्तनोंके सामने यह परिवर्तन नगण्य है। उस समय तो इतना परिवर्तन हो गया रहता है कि, पहचानना भी असम्भवसा हो जाता है। उदाहरणार्थ आधुनिक मगही (मागधी)को ले लीजिये। इसके आजकलके तथा अठारह सौ वर्ष पूर्व और बाईस सौ वर्ष पूर्वके रूपको ले लीजिये। कितना आमूल परिवर्तन मालूम होगा! चाहे वह परिवर्तन कितना ही आमूल मालूम होता हो, तो भी इसपर सादृश्यका नियम लागू रहता है। यदि हमें हर शताब्दीकी भाषाओंका नमूना मिल जाय, तो इनकी परस्पर समीपता हमें वैसे ही मालूम होगी, जैसे सौ मील जानेवाले यात्रीके लिये पहले कदमसे दूसरे कदमका फासला। दर-असल भाषा-प्रवाहको भी तो एक यात्रीकी ही भाँति सहस्राब्दियोंकी सफर करनी पड़ी है। इन्हीं परिवर्तनके नियमोंको भाषातत्त्व कहा जाता है।

भाषा मनुष्यके अन्दर और बाहरके भावोंके प्रकाशन करनेका प्रधान साधन है। इसी लिये इसमें मनुष्यकी अपनी आकृति झलकती है। ऋग्वेदके शब्दोंको सामयिक पेशा तथा गार्हस्थ्य, धार्मिक, सामरिक, खान-पान आदि विभागोंमें संग्रह कर डालिये, आपको मालूम हो जायगा कि, ऋग्वेदीय मनुष्य समाजका क्या रूप था। यद्यपि इन साहित्योंमें समाजके सारे अङ्गोंका रूप चित्रित नहीं होता, इसलिये इसमें शक नहीं कि, हमारा यह चित्र पूर्ण न होगा।

भाषा मनुष्यके समझनेका साधन है, इसमें तो किसी-को विवाद नहीं हो सकता। मानव-तत्त्व (*Anthrapology*) भी मनुष्यके समझनेका साधन है। आजकल तो इन दोनों साधनोंका परस्पर अविरोधी परिणाम देखकर और भी विद्वानोंका विश्वास इनपर बढ़ चला है। भारत-की आर्य तथा द्रविड़-जातियोंकी भाषाओंमें जैसी अपनी विशेषताएँ हैं, वैसे ही इनकी नासामितियोंमें भी। जहाँ दोनों जातियोंका सम्मिश्रण हुआ है, वहाँ हम भाषा और नासामितियोंका भी वैसा ही सम्मिश्रण देखते हैं। उदाहरणार्थ कन्नड और तेलगू—दो द्रविड़-जातियोंको ले लीजिये। इनकी भाषाओंमें आपको संस्कृतके शब्दोंकी बहुलता मिलेगी, और, नासामिति भी आपको इनमें आर्य और द्रविड़-नासाओंका मिश्रण बतलायगी। आर्य-भारतसे मालाबारका सीधा सम्बन्ध नहीं है, बीचमें कन्नड तथा दूसरी जातियाँ आ जाती हैं, तो भी मलया-लम भाषामें आपको कन्नड और तेलगूकी अपेक्षा भी

अधिक संस्कृत-शब्द मिलेंगे। इनकी नासामितिमें आर्य-नासाओंका बहुत अधिक प्रभाव देखकर पहले-पहल नृतत्त्व-शास्त्रियोंको भी बड़ा आश्चर्य हुआ, किन्तु आश्चर्यकी कोई बात नहीं। मालाबारमें तो ब्राह्मण (प्रवासी आर्य) आजतक भी नायर-स्त्रियोंके साथ, बिना रोक-टोक, सम्बन्ध रखते हैं। हजारों वर्षों से नम्बूदरी ब्राह्मणोंके छोटे भाई इस नासामितिको बदलनेके ही लिये नियुक्त हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त कथनसे पाठकोंको मालूम हो जायगा कि, भाषाओंका परिवर्तन अपने अन्दर खास रहस्य रखता है। इसके रहस्यके उद्घाटनके लिये मनुष्य वैसे ही व्यग्र है, जैसे गौरीशंकर-शिखर, ध्रुव-प्रदेश, भूगर्भ आदिकी जिज्ञासामें। इस रहस्यके खुलनेसे मनुष्यके इतिहासपर भी बहुत प्रकाश पड़ता है। भाषा-सम्बन्धी अन्वेषणने ही तो यूरोप, ईरान तथा उत्तरी भारतकी जातियोंका एक-वंशीय होना सिद्ध किया। इसीने तो बिलोचिस्तानके ब्राहुई तथा मद्रासके द्राविडोंका एक होना बतलाया। इसीने तिब्बती, नेवार और बर्मावालोंका एक खान्दान सिद्ध किया। इसके ऊपर यूरोपकी सभ्य जातियोंने बहुत परिश्रम किया है।

इंगलैंडने *English Dialect Society* (इंगलिश स्थानीय भाषा सभा) कायम की थी, जिसने उपर्युक्त सामग्री संग्रह करनेमें बड़ी सहायता की। इसने *East Yorkshire, East Norfolk, Vale of Gloucester, Midland, West reading of Yorkshire, West Devonshire, Derbyshire* आदि खास इंगलैंडके ही छोटे-छोटे भागोंकी भाषाओंके सम्बन्धमें बहुत ज्ञातव्य बातोंकी खोज की। स्काच और वेल्श उपभाषाओंपर भी वहाँ बहुत परिश्रम किया गया है। स्थानीय भाषाओंके व्याकरण और कोष तैयार किये गये हैं। उदाहरणार्थ—1 *W Barnes, A Grammer and glossary of the Dorset dialect, with the history outspreading and bearing of South English* 2 *L L Bonaparte On the Dialects of Monmouthshire, Hertfordshire, Worsestershire, Gloucestershire, Berkshire* ... 3 *E Kruisigas A Grammer of the Dialect of West Somerset descriptive and historical* 4 *B. A Mackenzie The early London Dialect* 5 *J. Wright. The English Dialect Grammer* 6 *J Wright The English Dialect Dictionary.*

अन्य विषयोंकी भाँति फ्रांसने भी इस विषयमें बहुत काम किया है। वहाँ स्थानीय भाषाओंके कितने ही एटलस बने हैं, बहुतसे व्याकरण और कोष लिखे गये हैं; कहावतों और कहानियोंका भी संग्रह किया गया है। *Ch Bruneau* ने वालों, शम्पेन्वा, लोरेनकी स्थानीय भाषाओंकी सीमा-निर्धारण करनेपर ही (*La limite des dialects Wallon, Champenois et Lorrain on Ardennee*) पुस्तक लिखी है। १८५२-५३ में ही *Escallier* ने स्थानीय भाषाओंके सम्बन्धमें अपनी पुस्तक *Remerque sur le patois* (स्थानीय भाषाओंपर टिप्पनी), *Letters sur le patois* लिखी थी। *Ch de Tourtoulon* ने *Des dialectes de leur classification et de leur delimitation geographique* लिखी। १९०३-१९१२ में, १९२० चित्रों सहित कई खण्डोंमें *Atlas linguistique de la France* छपा, जिसका मूल्य प्रायः १२०० रु० है। दो वर्ष बाद *Atlas linguistique de la corse*, एक सहस्र चित्रोंके साथ, प्रकाशित हुआ। नार्मंडी भाषाका अलग ही एटलस *Atlas dialectologique de Normandie* है।

इसी प्रकार और भी कितने ही एटलस छपे हैं। *Wallon, Doubs, Berra, Ardenne, Vaze lles, Blonay* आदिकी स्थानीय भाषाओंपर तो कितने ही अलग-अलग व्याकरण और शब्द कोष लिखे गये हैं।

जर्मन, रूसी आदि भाषाओंके सम्बन्धमें भी यही बात है। यहाँ एक बात और भी स्मरण रखनी चाहिये। फ्रांस और इगलैंडकी वह भाषाएँ वस्तुत स्थानीय उपभाषाओं सी हैं, यदि उनके प्रचारके प्रदेश, बोलनेवालों तथा सर्वमान्य इगलिश या फ्रेंचसे उनके भेदपर ध्यान दिया जाय। किन्तु हिन्दीकी स्थानीय भाषामें कुछ तो परिस्थिति-के हो फेरमे पड़कर स्थानीय भाषाएँ रह गयीं, अन्यथा मैथिली, व्रजभाषात था राजस्थानीको एक स्वतन्त्र भाषा बननेकी उतनी ही योग्यता है, जितनी गुजराती और बँगलाको। यद्यपि इन भाषाओंका साहित्यिक भाषासे सम्बन्ध सैकड़ो वर्षोंसे छूटा हुआ है, तो भी मनुष्यकी आवश्यकताओंके अनुसार इन भाषाओंने भी विचार प्रकट करनेमें बराबर उन्नति की है। अबतक इनको अलग रहकर अपने अस्तित्वको कायम रखने तथा वृद्धि करनेका मौका रहा है किन्तु अब वह समय आ पहुँचा है, जब कि, इनकी अवस्था सकटापन्न हो गयी है। अन्य बातोके अतिरिक्त दो बातें और हैं, जिनके लिये इन भाषाओंके सग्रहकी बडी भारी आवश्यकता है। पहली बात तो यह है कि, खडी हिन्दीके सार्वत्रिक व्यवहार और उसीके द्वारा शिक्षा-प्रचार होनेके कारण शिक्षित समाज खड़ी बोलीमें ही लिखने-बोलने लगा है। जो लिख-बोल नहीं सकते, वे भी उसे सस्कृति और भद्रताका चिह्न समझ, बिना सकोच, उसके शब्दों और मुहाविरोको अपना रहे हैं, जिसके परिणाम स्वरूप उनकी अपनी स्थानीय भाषा बिगड़ती जा रही है। इसकी सत्यताके लिये आप पटनाकी मगही और कायस्थोंकी भोजपुरीको लेकर देख सकते हैं। जिस तरह यह परिवर्तन हो रहा है, उससे तो यदि यह भाषाएँ नष्ट न हो जायँ, तो कम-से कम थोड़े ही समयमें इनके इतना बिगड़ जानेका डर तो जरूर है, जिससे कि, इनका वैज्ञानिक मूल्य बहुत कम रह जाय और आनेवाली पीढ़ियाँ मानव-नरवकी इस महत्त्व-पूर्ण कड़ीको खो देनेका इलजाम हमपर लगावें। दूसरी बात यह है कि, खड़ी बोली यद्यपि मूलत: उत्तर-पाञ्चाल या बिजनोर-मुरादाबाद-जिलोंके आसपासकी भाषा है, तो भी वहाँके भाषा-भाषियोंकी प्रामाणिकताको स्वीकार नहीं किया गया है, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि, घरू काम-काज, जीवनकी साधारण अवस्थाओंके उपयोग-के शब्दोंकी, हिन्दीमें, बड़ी कमी है। कभी-कभी कोई-कोई हिम्मतवाले लेखक, ऐसे समय किसी स्थानीय भाषाका प्रयोग कर देते है, किन्तु, तो भी लोग स्थानीयताका दोष लगाते है, और, उस शब्दके प्रचारमे रुकावट होती है। लोग यह भी खयाल करते रहते हैं कि, शायद ये शब्द हमारी ही स्थानीय भाषामें हों, यद्यपि बहुतसे शब्दोंको, एक ही रूपमें, पटना और अम्बालामें प्रचलित पाया जाता है। यदि हम स्थानीय भाषाओंके शब्द आदि सग्रह कर सके, तो जहाँ हम उनका एक सुरक्षित भाण्डार रख देंगे, वहाँ भिन्न-भिन्न स्थानीय भाषाओंसे कितने ही सर्वसाधारण शब्दोंको भी जमा कर पायँगे, जिनको खड़ी बोलीमें लेनेमें फिर हिचकिचाहट न रहेगी; और, इस प्रकार, खड़ी बोली-का एक बड़ा दोष दूर हो जायगा। इस वक्त खड़ी बोलीमे इन कामोंके पूरा करनेका एक मात्र साधन संस्कृत है, जिसके कारण ही बाज वक्त लेखकोंको अनावश्यक सस्कृत भरनेका दोषभागी बनना पड़ता है। यदि हमने इन भाषाओंको बिगड़ने या नष्ट होने दिया, तो इसका परिणाम यही नहीं होगा कि, हमें अपनी भाषाकी आव-श्यकताओंको अस्वाभाविक रूपसे पूर्ण करना पड़ेगा; बल्कि वेद, ब्राह्मणसे लेकर, पाली, प्राकृतके ग्रन्थोंतकमें प्रयुक्त होनेवाले उन कितने ही शब्दोंके, परम्परासे चले

आये अर्थों को भी, हम भूल जायँगे, जिनका प्रयोग केवल इन्हीं भाषाओंमें पाया जाता है।

उपर्युक्त कथनसे स्थानीय भाषाओंको लेखबद्ध करके सुरक्षित कर देनेकी कितनी आवश्यकता है, यह स्पष्ट ही है। इस विषयमें ग्रियर्सनकी *Linguistic Survey of India* ने बहुत अच्छा काम किया है। शब्द कोष, व्याकरण तथा कहानियोंपर भी इसमें लिखा गया है, तो भी वहाँ भाषाओंके सम्बन्धका स्थूल चित्र ही वाञ्छित था, उनका लक्ष्य सारी भाषाको सुरक्षित कर देनेका नहीं था और न साहित्यिक हिन्दीके कोषको पूर्ण करनेके ही खयालसे वह काम किया गया था। इसलिये वह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है। हमें अपनी आवश्यकताके लिये चाहिये हर एक भाषाकी (१) सैकड़ों कहानियाँ, (२) कहावतें, (३) सैकड़ों गीत, (४) हजारों शिल्प और व्यवसाय-सम्बन्धी शब्द तथा उन्हींपर अवलम्बित (५) विस्तृत कोष और (६) व्याकरण। कहानियोंमें हमें सजीव भाषा मिलेगी। अर्थहीन, किन्तु भाषामें ओज पैदा करनेवाले निपातोंका व्यवहार, हमें वहीं मालूम हो सकेगा। भाषामें भाव-चित्रणकी शक्तिका भी परिचय उन्हींसे मिलेगा। इसके अतिरिक्त इतिहास, मानस-शास्त्र, समाज-शास्त्र आदिकी दृष्टिमें महत्त्वपूर्ण पदार्थोंकी प्राप्तिके बारेमें तो कहना ही क्या है। कुछ हदतक इन बातोंकी पूर्त्ति गीतोंसे होगी, किन्तु गीत अपना दूसरा ही महत्त्व रखते हैं। भिन्न भिन्न स्थानोंमें कृषि, वर्षा, नक्षत्रों, तारों आदिके सम्बन्धमें तथा दूसरी शिक्षाओंसे भरी कितनी ही गद्य-पद्यमयी कहावतें प्रचलित हैं। इन कहावतोंमें, बाज वक्त, मनुष्यके शताब्दियोंके अनुभवका सार बन्द रहता है। यह भी समय पाकर नष्ट होती जा रही है। पुराने लोगोंमें अब भी ऐसे आदमी मिलेंगे, जिन्हें यह कहावतें सैकड़ोंकी संख्यामें याद है। इनके बलपर वह वर्षके भिन्न-भिन्न मासोंमें नक्षत्र देखकर रात्रिके घटा और कृषि वर्षाके समयका निश्चय कर लिया करते थे। किन्तु यान्त्रिक साधनोंकी सुलभतासे अब लोगोंकी प्रवृत्ति उधरसे उदासीन होती जा रही है, इसलिये इनके सर्वथा ही विस्मृत हो जानेकी सम्भावना है।

शिल्प-व्यवसाय-सम्बन्धी संग्रहकी तो सबसे अधिक आवश्यकता है, क्योंकि इस विषयपर तो कुछ भी नहीं किया गया है। खड़ी हिन्दीमें इस विषयके शब्दोंकी बड़ी कमी है। इस अपूर्णताके कारण कभी कभी हमारे उपन्यास-लेखकोंको समाजका अधूरा चित्र ही खींचनेपर मजबूर होना पड़ता है। मल्लाहको ही ले लीजिये। क्या उसको अपने काममें नाव, पतवार पाल—इन तीन ही शब्दोंका व्यवहार करना पड़ता है? नावके सिर, पूँछ, पेट, वारी, पतवार आदिकी नाना किस्मोंके बारेमें तो कहना ही क्या, खोजनेपर आपको नावके ऊपरकी ओर, नीचेकी ओर, जल्दी या तिरछी चलने, चक्कर काटने तथा रस्सीपर चलने आदिके लिये भी कितने ही शब्द मिलेंगे। और, फिर, समुद्रकी नावोंके बारेमें तो कहना ही क्या है। वह तो एक पूरा संसार है, जिसके ज्ञान और आनन्दसे वञ्चित रहना या परोपजीवी होना हमारे लिये अच्छी बात नहीं है (हिन्दी-स्थानीय भाषाओंकी सीमा समुद्रसे नहीं मिलती, यह सही है, किन्तु यह भी याद रखना चाहिये कि, स्थानीय भाषाएँ, गुजराती, मराठी, बँगला, ओड़ियातकके साथ बाज वक्त गजबकी समानता रखती हैं)। यह तो सिर्फ मल्लाही व्यवसायकी बात हुई। अब इसमें आप उन सैकड़ों व्यवसायोंको जोड़ लीजिये, जिनमेंसे कुछके नाम आगे दिये जायँगे। तब इस बातके महत्त्वको आप उपेक्षाकी दृष्टिसे न देख सकेंगे। जब हमारे पास कहानियों, कहावतों, गीतों और व्यवसाय-सम्बन्धी शब्दोंका एक पूरा भाण्डार जमा हो जायगा, तब उससे उस स्थानीय भाषाका एक अच्छा व्याकरण और कोष तैयार किया जा सकेगा।

अब हमें विचार करना है कि, यह काम कहाँतक साध्य है, और, इसे किस प्रकार करना चाहिये। साध्य होनेके विषयमें तो इतना ही कहना है कि, जो बातें दूसरे देशोंने पचासों वर्ष पूर्व ही कर डालीं, वह यहाँ आज क्यों नहीं हो सकतीं ? और जगहोंपर भी, सरकारकी अपेक्षा, लोगोंने, इसके बारेमें, बहुत काम किया है। साध्य और असाध्य तो हम कार्यके ढगको देखकर अच्छी तरह बतला सकेंगे। हमारे कामके दो भाग होंगे, एक तो संग्रहका काम, अर्थात् ढूँढ़-ढूँढ़कर शब्दोंको जमा करना और दूसरा, व्याकरण, कोषका निर्माण करना। यद्यपि दूसरे काममें बड़ी दक्षताकी आवश्यकता है, तो भी यह संगृहीत सामग्री लेकर एक जगह बैठे-बैठे किया जा सकता है, और, इस कामके लिये ऐसे हिन्दी-भाषी योग्य विद्वान् दुर्लभ न होंगे, जो कि, बड़े उत्साहपूर्वक, जल्दी, उसे समाप्त कर देंगे। सबसे परिश्रम-साध्य और यदि उस तरह किया जाय, तो व्यय-साध्य कार्य है संग्रहका। इसके लिये हमें अपने जिलेको स्थानीय भाषा-विभागोंमें बाँट देना होगा। आप कहेंगे, जिलेको बाँटकर क्या स्थानीय भाषाओंमें भी उप विभाग करेंगे ? ऐसे तो एक गाँवसे दूसरे गाँवमें भी भाषामें कुछ अन्तर पड़ने लगता है ? नहीं, मेरा मतलब यहाँ हर जगहके लिये नहीं है। यदि कहीं समझा जाय कि, वहाँ भाषामें वैसा कोई खास भेद नहीं है, वहाँ उसे छोड़ दिया जाये, किन्तु कितनी ही जगहोंपर ऐसा करना जरूरी होगा। उदाहरणार्थ भोजपुरीको ले लीजिये। सम्पूर्ण आरा, छपरा और चम्पारनके जिले तथा गोरखपुर, बलिया और गाजीपुर-जिलेके अधिकांश भाग एवम् आजमगढ़के कुछ परगने असल भोजपुरीके क्षेत्रमें आते हैं। बनारस आदिकी भाषा वस्तुतः सीमान्त-भाषा है; और, उसमें स्वर तो भोजपुरीका बिलकुल ही नहीं, जो कि, भाषाके लिये, व्याकरणके अन्य अङ्गोंकी अपेक्षा, कम महत्त्वका नहीं है। यदि छपरा (सारन) जिलावाले अपने जिलेमें इस कामको करना चाहेंगे, तो उन्हें अपने जिलेको तीन भागोंमें बाँटना होगा। पहले भागमें हम गोरखपुर जिला, सरयू-नदी, गण्डक-नदी, दाहा-नदी (पीछे सीवानतक), मीरगंज और गोपालगंज-थानोंसे घिरा खण्ड होगा। इसमें सारा कुआड़ीका परगना तथा कितने ही दूसरे भाग आ जायँगे। (इस तरहके उप भाषाओंके क्षेत्र विभागमें परगने आज तक बड़ा महत्त्वपूर्ण फैसला देते हैं। स्मरण रहे, परगने प्रायः इसी रूपमें मुसलमानी शासनके पहलेसे चले आ रहे हैं)। दूसरे हिस्सेमें हम मिर्जापुर, दिघवारा, परसा और सोनपुर-थानोंको रख सकते हैं। बाकी हिस्सेको तीसरे भागमें रखा जा सकता है। यद्यपि पहले और तीसरे हिस्सोंमें "गउवै" (गये), "अउवै" (आये) तथा "गइलै", "अइलै" जैसे कितने ही भेद मिलेंगे, तो भी इनको छोड़ दिया जा सकता है, किन्तु बाकी चार थानोंके लिये तो विशेष ध्यान देना ही पड़ेगा; क्योंकि वहाँके सिर्फ "नें" (ह्रस्व ए नहीं)को ही ले लीजिये ; जो कि, आसपासके किसी स्थानमें न मिलकर गण्डक-पारके मुजफ्फरपुर-जिलेके अपने पड़ोसी भागमें मिलता है। ईसासे पाँच शताब्दियाँ पूर्व यह भाग वस्तुतः उस पारसे मिला हुआ था, किन्तु मुसलमानोंके आनेसे पूर्व —सम्भवतः युन्-च्वाङ् (हुएनसांग) के आनेसे भी पूर्व— मही अपनी पुरानी धारको छोड़कर गण्डक बन चुकी थी। ऐसे उदाहरण, और जिलोंमें भी, मिल सकते हैं।

इस प्रकार पहला काम तो हमें जिलोंका ऐसा विभाग करना है। यह अवश्य ही है कि, यह विभाग करना सबके बसका काम नहीं है। भाषा-विज्ञानके अतिरिक्त इसमें जिलेके भाषा-विज्ञानकी भी काफी जानकारी आवश्यक होगी। लेकिन इस दिक्कतको हम बहुत कम कर सकें, यदि हम पहले एक ही भाषाके एक ऐसे जिलेको ले लें, जहाँके लिये ऐसे विशेषज्ञ मिल सकें। यदि वह जिला

अपने सारे कामको खतम कर पावे, तो उसके अनुभवसे दूसरी जगहवाले बहुत फायदा उठा सकते हैं। विभाग कर चुकनेपर हमें संग्रह करनेवालोंकी एक काफी सख्या चाहिये। फिर, जिस किसीको भी तो यह काम, सिर्फ लिखा-पढ़ा होनेसे, सौंपा नहीं जा सकता। इसके लिये, छोट-फेटकी आरम्भिक सहायताकी भाँति, एक तीन-चार सप्ताहका कोर्स रखना होगा, और, सिखलाना होगा कि, सामग्री-सञ्चयके लिये निम्न बातोंका खयाल रखें—

(१) स्थान ऐसा ढूँढ़ें, जहाँकी भाषा बाहरी प्रभावसे कम प्रभावित हुई हो।

(२) बोलनेवाला यथासम्भव अपठित, व्यवहार-कुशल तथा रूप सजाकर बेधड़क बोलनेवाला हो। यदि वह स्त्री हो, तो और अच्छा।

(३) जब उपर्युक्त दोनों बातें मिल गयीं, तो लिखनेवाले संग्राहकको अपनेको निर्जीव ग्रामोफोन मशीन मान लेना चाहिये। वक्ताके किसी उच्चारण आदिको शुद्ध करके लिखनेका खयाल भी कभी मनमें न आने देना चाहिये।

(४) लम्बी कथाओंसे परहेज न करना चाहिये।

(५) वीरता उदारता, प्रेम, माता पिताकी भक्ति, साहसपूर्ण कार्य, वाणिज्य, शिक्षा, देवाराधन, तीर्थाटन, वैराग्य, जन्म, मरण आदि सभी विषयोंके गद्य, पद्य और गीतिमय वर्णन इकट्ठे करने चाहिये।

(६) निपात आदिके शब्द तथा शब्दानुकरणोंको न छोड़ना चाहिये।

लेकिन यहाँ एक बात और कहनी होगी। यद्यपि नागरी वर्णमाला वैसे देखनेमें पूर्ण मालूम होती है, किन्तु कुछ आवाजोंको जाहिर करनेके लिये इसमें अक्षर नहीं हैं। उनके लिये अलग स्पष्ट चिह्न निश्चित करने होंगे। उदाहरणार्थ हमारी भाषाओंमें ह्रस्व ए और ओका उच्चारण भी बहुत देखा जाता है। खड़ी बोलीतकमें "एक" कितनी ही बार ह्रस्व एके साथ उच्चारित होता है। इस दिक्कतके कारण कितनी ही बार एके स्थानमें इ और ओके स्थानमें उका व्यवहार होने लग पड़ा है। अका भी एक विशेष उच्चारण है, जिसे पश्चिमी युक्तप्रान्तके शहरोंके लोग "कहना" के कके अको उच्चारण करते हुए करते हैं, उस वक्त इसका उच्चारण कुछ एकी ओर झुक जाता है, तो भी ह्रस्व ए नहीं हो जाता। इसका उच्चारण जर्मन भाषामें ä द्वारा प्रकट किया जाता है। हिन्दीमें अके ऊपर दो बिन्दी (अ̈) रखकर उसे किया जा सकता है। इसी प्रकार उके इकी ओर झुकने उच्चारणको उपर दो बिन्दी (उ̈) तथा ओके इकी तरफ झुकने उच्चारणको ओपर दो बिन्दी (ओ̈) देकर जाहिर किया जा सकता है। युक्तप्रान्त, बिहार और मध्यप्रदेशमें इतनेसे काम चल जायगा, किन्तु राजपूताना और दिल्ली प्रान्तमें घ, च, ड आदिके विशेष उच्चारणोंके लिये अलग चिह्न करने होंगे। नये चिह्नों और विशेष सावधानियोंको समझानेके लिये ३, ४ सप्ताहका विशेष कोर्स काफी होगा। यदि जिला बोर्डों, म्युनिसिपलिटियोंके शिक्षा-विभाग तथा कुछ दूसरे भी उत्साही सज्जन इसके लिये तैयार हो जायँ, तो संग्राहकोंका मिलना कठिन न होगा, न व्ययके ही लिये बहुत तरद्दुद करना पड़ेगा।

कथाओं, कहावतों तथा गीतोंकी अपेक्षा, नाना व्यवसायोंमें उपयुक्त होनेवाले शब्दोंके लिये, कहीं-कहीं कुछ विशेष परिश्रम करना पड़ेगा। इसका अन्दाज यहाँ दिये गये कुछ पेशोंसे मालूम हो जायगा——

१ लोहार	४ मल्लाह	७ चमार	१० मछुआ
२ बढ़ई	५ हजाम	८ जुलाहा	११ मेहतर
३ धोबी	६ सोनार	९ पटवा	१२ हलवाई

१३ कोइरी	२६ रंगरेज	३९ नशाखोर	५२ बैल-सम्बन्धी शब्द
१४ ग्वाला	२७ कसाई	० साधुओंके शब्द	५३ गदहा ,, ,,
१५ गँडेरिया	२८ धुनिया	४१ खानेकी चीजें	५४ भेँड़-बकरी ,, ,,
१६ कसेरा	२९ पहलवान	४२ सोनेकी चीजें	५५ ऊसर आदि भूमिके भेद
१७ चिड़ीमार	३० राजगीर	४३ पहननेकी चीजें	५६ वृक्ष भेद
१८ तेली	३१ नुनिया	४४ घरके बर्तन	५७ जलचर
१९ कलाल	३२ भड़भूँजा	४५ कालवाची शब्द	५८ थलचर
२० हलवाहा	३३ तम्बोली	४६ नक्षत्रवाची शब्द	५९ नभचर
२१ माली	३४ पासी	४७ भूतवाची शब्द	६० विषधर जन्तु
२२ ओझा	३५ दर्जी	४८ स्थानीय परगना, तप्पा (टप्पा) आदिके नाम	६१ हिंसक जन्तु
२३ कुम्हार	३६ चोर	४९ नाप और मान	६२ अनाजोंके नाम
२४ चूड़ीवाला	३७ [illegible]	५० घोड़े-सम्बन्धी शब्द	६३ बही-खाता
२५ [illegible]	३८ जुआ	५१ हाथी ,, ,,	६४ आभूषण ।

इसी कामको सुचारु रूपसे करनेके लिये एक प्रबन्धक समिति तथा एक सम्पादक-मण्डलकी आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त एक सग्राहकोंका मण्डल रहेगा। सम्पादक-मण्डलमें उच्च कोटिके प्रामाणिक पुरुषोंकी अनेक जगह कमी रहेगी, किन्तु उसमें बाहरके मर्मज्ञोंसे सहायता ली जा सकती है। हाँ, इसके बिना यह काम नहीं किया जा सकता। विशेषतः व्याकरण और शब्द-कोषका काम तो बहुत ही सावधानीका है।

व्याकरण— हर एक उपस्थानीय भाषाका अलग व्याकरण न बनाकर किसी जगहकी भाषा—जो दूसरी भाषाओं द्वारा अधिक अप्रभावित हो, या अधिक प्रचलित हो, या केन्द्रमें हो—को मध्यस्थ बनाकर बाकी भेदोंको [illegible] के द्वारा बतलाना।

कोष— [illegible] में सभी बोलीमें प्रचलित पर्यायवाची शब्दोंके अतिरिक्त संस्कृतके विकृत तथा "देसी" शब्दोंके लिये प्राकृत तथा [illegible] प्रान्तीय भाषाओंके पर्याय भी देने चाहिये।

[illegible] काम अच्छा है, यह तो सभी कहेंगे, किन्तु इसकी [illegible] दिक्कतोंका लोगोको बहुत खयाल होगा। यह भय तबतक दूर न होगा, जबतक किसी एक भाषाका संग्रह पूरा न हो जाय। एकके तैयार हो जानेपर दूसरोंको उस तजर्बेसे बहुत फायदा होगा और दिक्कतोंका खयाल भी कम हो जायगा। यदि पहले ऐसे स्थानमें काम किया जाय, जिसमें निम्न विशेषताएँ हों, तो काम आदर्श रूपमें, कम व्यय और कम समयमें, समाप्त हो जायगा, और, इससे दूसरे भी जल्दी उत्साहित हो सकेंगे—

[१] भाषा ऐसी हो, जिसका क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा हो। [२] जिस भाषाके (कई शताब्दियोंके अन्तरसे) अनेक रूप उपलब्ध हों, जिससे कि, तुलनात्मक अध्ययन-में पूरी मदद मिल सके। [३] जहाँ भाषातत्त्वज्ञ तथा उस भाषाके मर्मज्ञ भी मिल सकें। [४] जहाँकी स्थानीय संस्थाएँ इसके लिये तैयार हों। [५] जहाँ उत्साही लेखक और कार्यकर्त्ता सुलभ हों। [६] जहाँ काम जल्दी समाप्त किया जा सकता हो।

मेरे खयालमें ऐसी भाषा मगही है। इसका क्षेत्र पटना और गया के जिले हैं, जिनका क्षेत्र-फल ६,७७६ वर्गमील है, और, १९२१ ई० की जन गणनामें जन-संख्या २७, ७७, २१७ थी। मगही-भाषाके कितने ही रूप उपलब्ध हैं, जिनका जिक्र मैंने अपने दूसरे लेखमें किया है।

———

हिन्दीके प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ

सिद्धयुग (७५०–१२०० ई०)

त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन

सिद्ध लोगोंने उस समय लोकभाषामें कविता शुरू की, जिस समय शताब्दियोंसे भारतके सभी धर्मवाले किसी-न-किसी मुर्दा भाषासे चिपटकर ही अपना धर्मप्रचार कर रहे थे, जिसके फलसे उनके धर्मके जाननेवाले बहुत थोड़े हुआ करते थे। सिद्धोंके ऐसा करनेके कारण थे—वह धर्म, आचार, दर्शन आदि सभी विषयोंमें एक क्रान्तिकारी विचार रखते थे। वह सभी अच्छी बुरी रूढ़ियोंको उखाड़ फेंकना चाहते थे; यद्यपि जहाँतक मिथ्या-विश्वासका सम्बन्ध था, उसमें वह कई गुनी वृद्धि करनेवाले थे। अपने वज्रयानकी, जनतापर, विजय पानेके लिये उन्होंने भाषाकी कविताका सहारा लिया। आदिसिद्ध सरह पादसे ही हम देखते हैं कि, सिद्ध बननेके लिये भाषा-का कवि होना, मानो एक आवश्यक बात थी। सिद्धोंने भाषामें कविता करके यद्यपि अपने विचारोंको जनताके समझने लायक बना दिया, तथापि डर था कि, विरोधी उनके आचार-विरोधी धर्म-कलापका खुले-आम विरोध कर कहीं जनतामें घृणाका भाव न पैदा कर दें, इसीलिये वह एक तो विशेष योग्यता-प्राप्त व्यक्तियोंको ही उन्हें सुननेका अवसर देते थे, दूसरे भाषा भी ऐसी रखते थे, जिसका अर्थ वामाचार और योगाचार, दोनोंमें लग जाय। इस भाषाको पुराने लोगोंने "सन्ध्याभाषा" कहा है, और, आजकल उसे "निर्गुण", "रहस्यवाद" या "छायावाद" कह सकते हैं। गुप्त होनेके ही कारण हमें "प्राकृत-पैङ्गल" जैसे ग्रन्थोंमें इन काव्योंका कोई उद्धरण नहीं मिलता।

अन्यत्र हम लिख चुके हैं कि, चौरासी सिद्धोंका काल ७५०–११७५ ई० है, किन्तु सिद्ध उसके बाद भी होते रहे हैं, इसलिये सिद्धकाल उससे बादतक भी रहा है, तो भी भाषाके खयालसे हम उसे महाराज जयचन्द्रके गुरु मित्रयोगी (बारहवीं शताब्दी)के साथ समाप्त करते हैं। लेख बढ़ जानेके डरसे हम यहाँ विस्तार नहीं करना चाहते, तो भी यह याद रखना चाहिये कि, रामानन्द, कबीर (जन्म १३९९ ई०, मृ० १४४८), नानक (जन्म १४६८ ई०), दादू (जन्म १५४४ ई०) आदिसे राधा-स्वामी दयालतक सभी सन्त हुए, चौरासी सिद्धोंके टकसालके सिक्के थे। रामानन्दकी कविताएं दुर्लभ हैं। उन्होंने तथा उनके शिष्य कबीरने, चौदहवीं शताब्दीके अन्त और पन्द्रहवीं शताब्दीके आरम्भमें, अपनी कविताएँ कीं। यदि बारहवीं शताब्दीके अन्तसे चौदहवीं शताब्दीके अन्तका कविता-प्रवाह जोड़ा जा सके, तो सिद्ध और सन्त-कविता प्रवाहके एक होनेमें आपत्ति नहीं हो सकती। यह जोड़नेवाली शृङ्खला नाथपन्थकी कविताएँ हैं। हम कबीर-सम्बन्धी कहावतोंमें गोरखनाथ और कबीरका विवाद अक्सर सुनते हैं। महाराज देवपाल (८०९-८४९ ई०) के समकालीन सिद्ध गोरखनाथ पन्द्रहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें कबीरसे विवाद करने नहीं आ सकते। वस्तुतः वहाँ हमें गोरखनाथकी जगह उनके नाथपन्थको लेना चाहिये। मुसलमानोंके प्रहार और अपनी भीतरी निर्बलताओंके कारण बौद्धधर्म विलीन होने लगा। उसने शिक्षा ग्रहण कर आत्मरक्षार्थ नाथपन्थ धीरे धी[illegible] वादसे ईश्वरवादी हो गया। कबीरके समय वही एक ऐसा पन्थ था, जिसकी बानियों और सत्संगोंका प्रचार सर्वसाधारणमें अधिक था। जिस प्रकार बड़ोदा, [illegible], कोल्हापुर तथा कुछ पहले झाँसी और तजोरतक के छोटे-छोटे मराठा-राज्य एक भूतपूर्व विशाल मराठा-

साम्राज्यका साक्ष्य देते हैं, उसी प्रकार आज भी काबुल, पंजाब, युक्तप्रान्त, बिहार, बङ्गाल और महाराष्ट्रतक फैली नाथपन्थकी गद्दियाँ नाथपन्थके विशाल विस्तारको बतलाती हैं। यह विस्तार वस्तुतः उन्हें अपने चौरासी सिद्धोंसे, पैतृक सम्पत्तिके रूपमें, मिला था। नाथपन्थके परिवर्तनके साथ अधिकांश बौद्ध ब्राह्मण-धर्ममें लौटे।

"नाथपन्थ" चौरासी सिद्धोंसे ही निकला है। इसके लिये यहाँ कुछ लिखना अप्रासंगिक न होगा—विशेषतः जब कि, बारहवींसे चौदहवीं शताब्दीतककी हिन्दी कविताओंके लिये हमें अधिकतर नाथ-घरानेकी ओर ही नजर दौड़ानी होगी। "गोरक्ष-सिद्धान्त संग्रह"में * "चतुरशीतिसिद्ध" शब्दके साथ निम्न सिद्धोंका नाम मार्ग-प्रवर्तकके तौरपर लिखा गया है—नागार्जुन [१६], गोरक्ष (९), चर्पट (५९), कन्थाधारी (६६), जालन्धर (४६), आदिनाथ (= जालन्धरपा, वि० ४६), चर्या (कण्हपा) (१७)‡। इनसे चौरासी सिद्धों और नाथपन्थके सम्बन्धमें सन्देहकी कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। विचारोंमें यद्यपि अब नाथपन्थ अनीश्वरवाद छोड़कर ईश्वरवादी हो गया है, तथापि अब भी उनकी वाणियोंमें छान-बीन करनेपर निर्वाण, शून्यवाद और वज्रयानका बीज मिलेगा। नाथपन्थी महाराष्ट्रीय ज्ञानेश्वरने अपनी परम्परा इस प्रकार दी है—आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गहनीनाथ, निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वर। इनमें आदिनाथ जालन्धरपा ही हैं, जैसा कि, जालन्धरपादके ग्रन्थ "विमुक्तमञ्जरी" + के भोटिया-अनुवादसे मालूम होता है। इस परम्परामें बीचके पुरुषोंको छोड़ दिया गया है, क्योंकि गोरखनाथ (९वीं शताब्दी) और ज्ञानेश्वर (१४वीं शताब्दी)के बीचमें सिर्फ दो ही पीढ़ियाँ नहीं हो सकतीं। मैंने अन्यत्र सरहके वंश वृक्षमे चर्पटीसे शान्तिगुप्ततकका भाग, १६ वीं शताब्दीके भोटिया-ग्रन्थ "रत्नाकर-जोपमकथा"से × दिया है (इस ग्रन्थके आरम्भका एक पृष्ठ तथा अन्तके भी कितने ही पृष्ठ गायब हैं)। वज्रयानके सम्बन्धमें भोटिया-भाषामें जो सामग्री उपलभ्य है, वह बहुत ही प्रचुर परिमाणमें है; और, उसका अधिकांश शताब्दियोंके हेर-फेरसे बचा रहनेसे बहुत प्रामाणिक है। इसी लिये गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथके काल निर्णयमें उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भोटिया-ग्रन्थोंकी बातोंकी पुष्टि, कभी-कभी बड़े विचित्र रूपसे होती देखी जाती है। उक्त "रत्नाकर-जोपमकथा" ग्रन्थमें लिखा है—

* "गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह", सरस्वतीभवन टेक्स्ट सीरीज, बनारस—

"नागार्जुनो जडभरतो हरिश्चन्द्रस्तृतीयकः। सत्यनाथो भीमनाथो गोरक्षश्चर्पटस्तथा ॥ अवद्यश्चैव वैराग्य कन्थाधारी जलन्धरः। मार्गप्रवर्त्तका ह्येते तद्वच्च मलयार्जुन ॥" (पृष्ठ १९)।

"तत्र श्रीगुरुरादिनाथः। मत्स्येन्द्रनाथः। तत्पुत्र उदयनाथः। दण्डनाथ, सत्यनाथ, सन्तोषनाथ, कूर्मनाथ, भवनारञ्जि। तस्य श्रीगोरक्षनाथ ··· ॥" (पृष्ठ ४०)।

"··· ये युगनाथास्तु लोकानामभिगुप्तये। मिनीशोड्डीश-षष्ठीश-चर्याख्या कुम्भाख्या। " (पृष्ठ ४३)।

"चतुरशीतिसिद्धानां पूर्वादीनां दिशां न्यसेत्। । नवनाथस्थितिं चैव सिद्धागमेन कारयेत। गोरक्षनाथो वसति पूर्वे··· जलन्धरो वसेन्नित्यमुत्तरापथमाश्रितः। नागार्जुनो महानाथा ।" (पृष्ठ ४४)।

‡ कण्हपाको भोटियामें स्प्योद-पा-पा (चों प-पा = चर्यापा) भी कहते हैं। (स-स्क्य-ब्क-'बुम, ज १४९ क)।

+ देखिये *Cordier* का *Catalogue du fonds Tibetain, troisieme partie.* पृष्ठ ११२ *Voll, LXXIII 49.*

× रिन्-पो-छे-ऽव्युङ् ग्नस्-ल्स-पु ग्तम।

"मीननाथ और मत्स्येन्द्रनाथ, ये दोनों भारतकी पूर्व दिशावाले कामरूप (देश)के मछुवे थे"(वहाँ) लौहित्य नदी है, जिसे आजकल भोटमें "चङ् पो" कहते हैं। • [मत्स्येन्द्र] मछलीके पेटमें १२ वर्ष रहे। फिर आचार्य चर्पटीके पास गये। 'दोनों ही सिद्ध हो गये। बाप (हुआ) सिद्ध मीनपा और बेटा सिद्ध मच्छिन्द्रपा।"

"तन्त्रालोक"की टीकामे इसकी पुष्टि हम इस श्लोकसे मिलती है—

"भैरव्या भैरवात् प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये।
तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानने॥
कामरूपे महापीठे मच्छन्द्रेन महात्मना।"*

"नाथपन्थ"के चौरासी सिद्धोंका उत्तराधिकारी सिद्ध हो जानेपर फिर कबीरसे सम्बन्ध जोड़नेमें दिक्कत नहीं रहती। कबीर स्वयं चौरासी सिद्धोंको भूले न थे, तभी तो उन्होंने कहा है—

"धरती अरु असमान बिचि, दोई तूँबड़ा अबध।
षट दर्शन ससे पड़या, अरु चौरासी सिध॥"†

यहाँ चौरासी सिद्धोंसे विरोध प्रकट करनेसे कबीर उनकी टकसालके न थे—ऐसा समझनेकी आवश्यकता नहीं। वस्तुतः रामानन्द, कबीरने सिद्धोंके ही निर्गुण, योग और विचित्र ढंगको अपनाकर नाथवंशके राज्यपर धावा किया। और शताब्दियोंके संघर्षके बाद विजयी हुए। यदि आप भक्तमालके भक्तोंके व्यवसाय, कुल, रहन-सहनको चौरासी सिद्धोंसे मिलावें, तो यह विचार-सादृश्य भली भाँति प्रकट हो जायगा।

सिद्धोंकी कविताकी भाषा आठवीं से १२ वीं शताब्दीकी भाषा है, इसीलिये उसका आपसमें भी भेद होना स्वाभाविक है। फिर नवीं शताब्दीके कण्हपाकी २० वीं शताब्दीकी भाषासे कितना फर्क होगा, इसके लिये तो कहना ही क्या! आखिरी सिद्धके १०० वर्ष बाद, सन् १३०० ई० में, राणा हम्मीर सिंह चित्तौड़की गद्दीपर बैठे। हिन्दुओंकी कुछ परम्परागत कमजोरियोंको छोड़कर वह एक आदर्श क्षत्रिय वीर थे। उनके सम्बन्धकी कुछ कविताएँ "प्राकृत-पैङ्गल" में उद्धृत हैं (इसका कवि सम्भवतः "जज्जल" था, जो कि, हम्मीरका सेनापति भी था)। इस चौदहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धकी भाषाको आजसे मिलानेसे उसमें भी पुरानी सिद्धोंकी भाषाके पूर्वका अनुमान किया जा सकता है—

"पअ १—भरु दरमरु धरणि तरणि रह धुल्लिअ झंपिअ।
कमठ पिट्ठ टरपरिअ २ मेरु मंदर सिर-कंपिअ॥
कोहे चलिअ हम्मीर वीर गअ-जूह ३ संजुत्त।
किअउ कट्ठ आकंद ४ मुच्छि ५ म्लेच्छह ६ पुत्त॥१२॥
"पिंधउ७ दिढ सण्णाह७ बाह-उप्पर पक्खर८ दइ।
बन्धु समदि९ रण धसउ साभि हम्मीर वअण१०लइ।
उड्डुल णह-पह ११ भमउ १२ खग्ग १३ रिउ १४
सोसहि डारउ।
पक्खर१५ पक्खर ठेल्लि पेल्लि पव्वअ१६ अप्फालउ१७॥
हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल१८मुह मह जलउ
सुलतान सीस करवाल दइ,
तेज्जि कलेवर दिअ१९ चलेउ॥१०७॥ □ (पृष्ठ १८०)।

*(त्रिवेन्द्रम्-संस्कृत-सीरीज, पृष्ठ २८ २९, *Indian Historical Quarterly, March, 1930* से उद्धृत।)

† कबीरग्रन्थावली, नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ ४४।

‡ चंदनकी कुटकी भली, नाँ बँबूर अबराँउँ। बैस्नोकी छपरी भली, नाँ साषतका बड़ गाँउँ॥" (कबीर ग्रं०, पृ० ५२)। यहाँ "साषत" या शाक्तमत वह जिस सम्प्रदायसे था, उसमें न चैतन्य उस समय प्रमुख था।

+ १ पद। २ डगमगाया। ३ गजयूथ। ४ मनोकदन। ५ स्तब्ध होके। ६ म्लेच्छ, पठान। ७ कवच। ८ कवच। ९ सन्नद्ध हो। १० वचन। ११ नभपथ। १२ घूमना, भ्रमा। १३ खड्ग। १४ रिपु। १५ पार्श्व। १६ पर्वत। १७ उपारा, उखाड़ा। १८ कोपानल। १९ दिव, स्वर्ग। □ "प्राकृत-पैङ्गल", बंगाल राॅ० एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित।

इसके पहलेकी एक कविता लीजिये, जो सम्भवतः काशिराज जयचन्द या हरिश्चन्द्रके लियेकी गयी मालूम होती है *—

"जे किज्जिअ-धाला १ जिराणु
२ णिवाला ३ भोट्टता ४ पिट्टंत चले।
भजाविअ ५ चीणा दप्पहि ६ हीणा
लोहाअल हाकद ७ पले।
ओड्डा ८ उड्डाविअ ९ कित्ती १० पाविअ
११ मालिअ १२ मालव १३ राअ बले।
तेलगा भग्गिअ पुणवि ण १४ लग्गिअ, कासी-
राआ १५ जखण १६ चले॥" (पृ० १९८)

तेरहवीं शताब्दीके मध्यमें लिखे गये एक भोटिया-ग्रन्थमें† उद्धृत कुछ हिन्दी-शब्दोंको देखिये—इन्द (इन्द्र), जम (यम), जक्ख (यक्ष), बाउ (वायु), रक्ख (रक्ष), चन्द (चन्द्र), सुज (सूर्य), माद (माता), बप्प (बाप)।

इन उदाहरणोंसे आपकी समझमें आ जायगा कि, हिन्दीकी आदिम कविताकी भाषाका आजकलकी भाषासे काफी भेद होना स्वाभाविक है।

जिन कवियोंकी कविताओंको मैं यहाँ हिन्दीकी प्राचीनतम कविता कहकर उद्धृत करने जा रहा हूँ, उन्हें बंगालके दिग्गज ऐतिहासिक बँगला कहते हैं। इसके बारेमें इसी अंकमें मुद्रित दूसरे लेखोंमें आ गया है और यहाँ भी जो कवियोंका संक्षिप्त परिचय दे रहा हूँ, वह काफी उत्तर है। सर्व-पुरातन सिद्ध सरहपाद नालन्दासे सबन्ध रखते थे; इसलिये उनकी भाषाका मगही होना स्वाभाविक ठहरा। अन्य सिद्धोंने भी इसी भाषाको कविताकी भाषा बनाया। तभी तो कर्णाटकके कर्णपा (या कण्हपा, कृष्णपाद) ने अपनी कविताओंको कर्णाट भाषामें न कर इसी भाषामें किया। वस्तुतः चौरासी सिद्ध नालन्दा और विक्रमशिलासे सम्बन्ध रखते थे। जबतक नालन्दा, विक्रमशिलाको बंगालमें नहीं ले जाया जाता, तबतक सिद्धोंकी भाषा भी बँगला नहीं हो सकती। रही भाषाकी समानताकी बात; वह तो मगही और मैथिलीसे और अधिक है। वस्तुतः अतीत कालके भीतर हम जितना ही अधिक घुसते जायँगे वह उतनी ही अधिक मिलेगी, क्योंकि, मगही, ओड़िया, बँगला, असामी, मैथिली—सभी मागधीकी सन्तानें हैं।

१ सरहपा (सिद्ध ६) इनके दूसरे नाम राहुलभद्र और सरोजवज्र भी हैं। पूर्व दिशामें राज्ञी (?) नामक नगरमें एक ब्राह्मण वंशमें इनका जन्म हुआ था। भिक्षु होकर यह एक अच्छे पण्डित हुए। नालन्दामें कितने ही वर्षोंतक इन्होंने वास किया। पीछे इनका ध्यान मन्त्र-

* "प्राकृत-पैङ्गल" पृष्ठ ३१८।

१ वर्गबद्ध। २ जीता। ३ नेपालको। ४ निश्चत। ५ भग्न किया। ६ दर्पमें। ७ आक्रन्दन, रोना-पीटना। ८ उड़ीसावासी। ९ उड़ा दिया, उजाड़ दिया। १० कीर्ति। ११ पाया। १२ पराम्न किया। १३ मालवराजकी सेनाको। १४ पुनरपि न, फिर नहीं। १५काशीराज। १६जिस समय।

† ... सन्स्क्य-बक बुम, पृ० १८७ २८४ ख, फग्स-पा (१२३२-१२७६ ई०) विरचित।

‡ "*Thus the Time of the earliest Doha* (दोहा) *in Bengali goes back to the middle of the 7th Century, when Saraha flourished and Bengal may be justly proud of the antiquity of her literature*" *Dr B Bhattacharya*, (*J B & R S LX-XXLI, 1, P 217*)

तन्त्रकी ओर आकर्षित और एक वाण [शर-सर] बनानेवालेकी कन्याको महामुद्रा * बनाकर किसी अरण्य मे वास करने गये। वहाँ यह भी शर (वाण) बनाया करते थे, इसी लिये इनका नाम सरह पड़ गया। श्रीपर्वत † में भी यह बहुधा रहा करते थे। सम्भव है, इनकी मन्त्रोंकी ओर प्रथम प्रवृत्ति भी वहीं हुई हो। शबरपाद (५) इनके प्रधान शिष्य थे। कोई तान्त्रिक नागार्जुन भी इनके शिष्य थे। भोटिया तन्-जूरमें इनके ३२ ग्रन्थोंका अनुवाद मिलता है, जो सभी वज्रयानपर हैं। इनमें एक "बुद्ध-कपाल-तन्त्र'की पञ्जिका "ज्ञानवती" भी है। इनके निम्न काव्य-ग्रन्थ मगहीसे भोटियामें अनुवादित हुए हैं —

१ क, ख दोहा (त० ‡ ४७।७)। २ क-ख दोहा टिप्पण (त० ४७।८)। ३ कायकोष-अमृतवज्रगीति [त० ४७।६]। ४ चित्तकोष अजवज्रगीति [त० १७।११]। ५ डाकिनी-वज्र गुह्यगीति [त० ४८।१०६]। ६ दोहा-कोष-उपदेश-गीति [त० ४६।५]। ७ दोहाकोषगीति [त० ४६।४]। ८ दोहाकोषगीति। तत्त्वोपदेशशिखर—, [त० ४७।१७]। ९ दोहाकोष गीतिका। भावनादृष्टि-चर्याफल—,[त०४८।२]। १० दोहाकोष। वसन्ततिलक-, (त० ४८।११)। ११ दोहाकोष-चर्यागीति। (त० ४७।४) १२ दोहाकोष-महामुद्रोपदेश। (त० ४७।१३)। १३ द्वादशोपदेश-गाथा (त० ४७।१५)। १४ महामुद्रोपदेशवज्रगुह्यगीति। (त० ४८।१००)। १५ वाक्-कोषरुचिरस्वरवज्रगीति। (त० ४७।१०) १६ सरह-गीतिका (त० ४८।१४, १५)। इनकी कुछ कविताओं-का नमूना लीजिये—

×"जह मन पवन न सञ्चरइ, रवि शशि नाह पवेश।
नहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश॥"

"पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ
देहहि बुद्ध बसन्त न जाणइ"
"अमणागमण ण तेन विखण्डिअ।
तोवि णिलज्ज भणइ हँउ पण्डिअ"
"जो भबु सो निवा[?ञा]ण खलु,
भबु न मण्णहु पण्ण॥"

"एकसभावे विरहिअ, निम्मलमइ पइवण्ण॥"
"घोरे न्धारे चन्दमणि, जिमि उज्जोअ करइ।
परममहासुह एखुकणे, दुरिआ अशेष हरेइ॥"
"जीवन्तह जो नउ जरइ, सो अजरामर होइ।
गुरु उएसें विमलमइ, सो पर धण्णा काइ॥"+

इनके कुछ गीति-पद्य—

राग-देशाख [३२]—

"नाद न विन्दु न रवि न शशि-मण्डल॥
चिअराअ सहाव मूकल॥ध्रु॥
उजु रे उजु छाड़ि मा लेहु रे बङ्क।
निअहि बोहिमा जाहु रे लङ्क॥ध्रु॥
हाथेरे कान्काण मा लाउ दापण।
अपणे अपा बुझतु निअ-मण॥ध्रु॥
पार-उआरे सोइ गजिइ।
दुज्जण साङ्गे अवसरि जाइ॥ध्रु॥

* वज्रयानीय योगको गढ़वाली योगिनी अथवा हेप्नाटिज्मका माध्यम।

† नहरल्ल-बड्ड (नागार्जुनीकोंडा, जिला गुंटूर)।

‡ त-सेमनलब तन्जूरके तन्त्र-खण्डस है। विशेषके लिये देखिये मशिये *Cordier* का *Catalogue du fonds Tibetain*, द्वितीय और तृतीय खण्ड।

× "बौद्धगान-ओ दोहा'—बंगीय साहित्य-परिषद्, कलकत्ता, "सरोजवज्रेर दोहाकोष।'

+ विस्तारके भयसे अर्थ नहीं दिया गया।

वाम दाहिण जो खाल विखला।
सरह भणइ बप उजुवटि भाइला ॥ ध्रु ॥" †

राग-भैरवी (३८)—

'काअ णावड़ि खण्टि मण केडु आल।
सद्गुरु बअणे धर पतवाल ॥ ध्रु ॥
चीअ थिर करि धहुरे नाही।
अन उपाये पारण जाई ॥ ध्रु० ॥
नौवाही (नौवाआ) नौका टागुअ गुणे।
मेलि मेल सहजे जाउ ण आणे ॥ध्रु०॥
वाट अभअ ग्वाण्टबि बलआ।
भव-उलोनें षअबि बोलिआ ॥ ध्रु० ॥
कुल लइ खर सान्ते उजाअ।
सरह + भणइ ग(अ) णे पमाएँ ॥ ध्रु० ॥ ॥३८॥

२ शबरपा (सिद्ध ५) ये सरहपादके शिष्य थे। गौड़ेश्वर महाराज धर्मपाल (७६९—८०९ ई०)के कायस्थ (लेखक) लुइपा इन्हींके शिष्य थे। नागार्जुनको भी इनको गुरु कहा गया है; किन्तु यह शून्यवादके आचार्य नागार्जुन नहीं हो सकते। यह अकसर श्रीपर्वतमें भी रहा करते थे। जान पड़ता है, शबरो या कोल-भीलोंकी भाँति रहन-सहन रखनेके कारण इन्हें शबरपाद कहा जाने लगा। तन्जूरमे इनके अनुवादित ग्रन्थोंकी संख्या २६ है, (जो सभी छोटे-छोटे हैं), किन्तु पीछे, दसवीं शताब्दीमें, भी एक शबरपा हुए थे, जो मैत्रीपा या अवधूतीपाके गुरु थे। उनकी भी पुस्तकें इन्हींमें शामिल हैं। इनकी हिन्दी-कविताएँ ये हैं —"चित्तगुह्यगम्भीरार्थ गीति" (त० ४८।१०८)। महामुद्रावज्रगीति (त०४७।२६)। शून्यतादृष्टि (त० ४८।३६)। षडङ्गयोग * (त० ४।२२)। सहजशवरस्वाधिष्ठान * (त० १३।१)। सहजोपदेश स्वाधिष्ठान *(त० १३।१४)। चर्या-गीतोंमें इनके दो गीत दिये हुए हैं। (रागबलाड़ि २८)—

"ऊँच ऊँचा पावत तहिं वसइ सबरी बाली।
मोरङ्गि पीच्छ परहिण सबरी गिवत गुञ्जरीमाली ॥ध्रु॥
उमत सबरो पागल शबरा मा कर गुली गुहाडा,
तोहोरि णिअ घरिणी णामें सहज सुन्दरी ॥ ध्रु० ॥
णाणा तरुवर मौलिल रे गअणत लागेली डाली।
एकेली सबरी ए वण हिण्डइ कर्णकुण्डलवज्रधारी ॥
तिअ धाउ खाट पडिला सबरो महासुख सेजि छाइली
सबरा भुजङ्ग णइरामणि दारी पेह्म राति पोहाइली ॥ध्रु
हिअ ताँबोला महा सुहे कापूर खाइ।
सून निरामणि कण्ठे लइआ महासुहे राति पोहाइ ॥ध्रु॥
गुरुवाक पुञ्ज आ बिन्ध णिअ मणे वाणे।
एके शर-सन्धाने बिन्धह-बिन्धह परम णिवाणे ॥ध्रु॥
उमत सबरो गरुआ रोषे
गिरिवर-सिहर संधि पइसन्ते सबरो लोडिब कइसे २८"

† 'बौद्धगान-ओ-दोहा" "चर्याचर्यविनिश्चय" ('चर्या-गीति" नाम ठीक जँचता है)। पाठ बहुत अशुद्ध हैं। लेख बढ़ जानेके डरसे मैं यहाँ शुद्ध करनेकी कोशिश नहीं करता। यहाँ कहीं मात्राके ह्रस्व-दीर्घ करनेसे, कहीं संयुक्त वर्णोंके घटाने-बढ़ानेसे तथा कहीं-कहीं एकाध अक्षर छोड़ देनेसे छन्दो-भंग दूर हो जायगा। जैसे पहली पंक्तिमें "रवि न शशि" के स्थानपर रवि-शशि, "चिअ-राअ"के स्थानपर "चीअ-राअ "कान्काग"के स्थानपर कङ्कण, "आपा"के स्थानपर अप्पा।

+ सरहपाद संस्कृतके भी कवि थे। "या सा संसारचक्रं विरचयति मनःसन्नियोगात्महेतो। सा धीर्यस्य प्रसादाद्दिशति निजभुवं स्वामिनो निष्प्रपञ्च(म्)। तच्च प्रत्यात्मवेद्यं समुदयति सुखं कल्पनाजालमुक्तम्। कुर्यात् तस्याङ्घ्रियुग्मं शिरसि सविनय सद्गुरोः सर्वकाल(म्) ॥" ("चर्याचर्यविनिश्चय," पृष्ठ ३)।

* ये ग्रन्थ संस्कृतमें थे या हिन्दीमें, इसमें सन्देह है।

राग रामक्री (५०)—

"गअणत गअणत तइला वाड़ही हेञ्चे कुराड़ी।
कण्ठे नैरामणि बालि जागन्ते उपाड़ी॥ ध्रु० ॥
छाडु छाड माआ मोहा विषमे दुन्दोली।
महासुह विलसन्ति शबरो लइआ सुणमे हेली॥ध्रु०॥
हेरि ये मेरि तइला वाड़ी खसमे समतुला।
षुकड़ए सेरे कपासु फुटिला॥ ध्रु० ॥
तइला वाड़िर पासेँर जोह्णा वाड़ी ताएला।
फिटेलि अन्धारि रे आकाश फुलिआ॥ ध्रु० ॥
कंगुरिना पाकेला रे शवरा शबरि मातला।
अणुदिण शबरा किम्पि न चेवइ महासुहेँ भेला॥ध्रु०॥
चारिवासे भाइलारे दिआँ चञ्चाली।
तँहि तोलि शबरो डकएला कान्दश सगुण शिआली॥ध्रु०
मारिल भव-मत्तारे दह-दिहे दिव लिवली।
हे रसे सबरो निरेवण भइला फिटिलि षबराली"॥ध्रु०

३ आर्यदेव या कर्णरीपा (सिद्ध १८)

यह शून्यवादके आचार्य नागार्जुनके शिष्य आर्यदेव न थे। इनके गुरु वज्रयानी सिद्ध नागार्जुन थे, जो कि, सरहपादके शिष्य थे। भिक्षु बनकर नालन्दा-विहार गये। तन्-जूरके दर्शन-विभागमें आर्यदेवके ६ ग्रन्थों और तन्त्र-विभागमें २६ ग्रन्थोंका अनुवाद है, जिनमें दर्शन के नौ ग्रन्थ तो पुराने माध्यमिक आर्यदेवके हैं, किन्तु तन्त्रके प्राय सभी ग्रन्थ इन्हींके हैं। इनमें हिन्दीमें सिर्फ "निर्विकल्प-प्रकरण" (त० ४७।२०) ही मालूम होता है। इनकी एक कविताका नमूना लीजिये—

राग पटमञ्जरी (३१)—

"जहि मण इन्दिअ पवण हो णठा।
ण जाणमि अपा कँहि गइ पइठा॥ ध्रु० ॥
अकट करुणा डमरुलि बाजअ
आजदेव णिरासे राजइ॥ ध्रु० ॥
चान्दरे चान्दकान्ति जिम पतिभासअ
चिअ विकरणे तहि टलि पइसइ॥ ध्रु० ॥
छाडिअ भय घिण लोआचार
चाहन्ते चाहन्ते सुण विआर
आजदेव सअल विहरिउ
भय घिण दुर णिवारिउ॥ ध्रु० ॥"

४ लूहिपाद (सिद्ध १७)

पहले राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०)के लेखक (=कायस्थ) थे। एक समय जब महाराज धर्मपाल अपने राज्यके प्रदेश वारेन्द्रमें थे, तब सिद्ध शबरपाद भी विचरते हुए उधर जा निकले। एक दिन शबरपाद राजाके महलमें भिक्षाके लिये गए। उसी समय लूहिपासे उनकी भेंट हुई। वह बहुत ही प्रभावित हुए और विरक्त हो शबरपादके शिष्य बन गये। संख्यामें चौरासी सिद्धोंमें इनका नाम प्रथम होना ही बतलाता है कि, यह कितना प्रभाव रखते थे। इनके प्रधान शिष्योंमें सिद्ध दारिकपा और सिद्ध डेंगीपा थे, जो दोनों ही पूर्वाश्रममें क्रमश: उड़ीसाके राजा और मन्त्री थे*। इन्होंने पुरानी मगही हिन्दीमें ✣ बहुत सी कविताएँ की थीं। तन्-जूरमें इनके सात अनुवादित ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न पाँच हिन्दीमें थे—अभिसमयविभङ्ग (त० १०।१८)। तत्त्वस्वभावदोहाकोष (त० ४८।२)। बुद्धोदय (त० ४७।४१,७२।६२)। भगवदभिसमय (त० १२।८)। लूहिपाद-गीतिका (त० ४८।२७)।

* स-स्क्य क--बुम ज, पृष्ठ २४२ ख—२४५ ख।

✣ डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य इनकी कविताके विषयमें कहते हैं—"*These songs written by a Bengali in the soil of bengal, may appropriately be called Bengali*" भोटिया-ग्रन्थोंमें बंगल या भगल या भगल मिलता है, जिस नामसे कि, भोटिया लोग विक्रमशिलावाले प्रदेशको पुकारते थे और जिसका चिह्न भागलपुरके नाममें अब भी मौजूद है।

कविताका नमूना । राग-पट-मंजरी (१)—

"काआ तरुवर पञ्च विडाल
चञ्चल चीए पइठो काल
दिट करिअ महासुह परिमाण
लुइ भणइ गुरु पुच्छिअ जाण ॥धु॥
सअल स [मा] हिअ काहि करिअइ
सुख दुखेतें निचिन मरिआइ ॥धु॥
एडिएउ छान्दक बान्ध करणक पाटेर आस
सुनु पाख भिति लाहु रे पास ॥धु॥
भणइ लुइ आम्हे साणे दिठा
धमण चमण वेणि पाण्डि बइठा ॥धु॥"

राग पटमञ्जरी (२९)—

"भाव न होइ अभाव ण जाइ,
आइस संबोहे को पतिआइ ॥धु॥
लुइ भणइ बट दुलक्ख विणाणा,
तिअ धाए विलसइ उह लागे णा ॥धु॥
जाहेर बान-चिह्न-रुब ण जाणी,
सो कइस आगम वेएँ बखाणी ॥धु॥
काहेरे किष भणि मइ दिवि पिरिच्छा,
उदक चान्द जिमि साच न मिच्छा ॥धु॥
लुइ भणइ भाइब कीष,
जा लइ अच्छमता हेर उह ण दिस ॥धु॥"

५ भूसुकु (सिद्ध ४१)

नालन्दाके पासके प्रदेशमें, एक क्षत्रिय-वंशमें, पैदा हुए थे। भिक्षु बनकर नालन्दामें रहने लगे। उस समय नालन्दाके राजा (गौडेश्वर) देवपाल (ई० ८०६-८४६) थे। कहते हैं, इन्हींका नाम शान्तिदेव भी था। इनकी विचित्र रहन-सहनको देखकर राजा देवपालने एक बार 'भूसुकु' कह दिया और तभीसे इनका नाम भूसुकु पड़ गया।[1] शान्तिदेवके दर्शन-सम्बन्धी छः ग्रन्थ तन्-जूर्में मिलते हैं और तन्त्र-पर तीन। भूसुकुके नामसे दो ग्रन्थ हैं, जिनमें एक "चक्र-संवरतन्त्र"की टीका है। मागधी हिन्दीमें लिखी इनकी "सहजगीति" (त० ४८.१) भोटिया भाषामें मिलती है।

कविताका नमूना। राग कामोद [२७]—

"अधराति भर कमल विकसउ,
बतिस जोइणी तसु अङ्ग उह लसिउ॥धु॥
चालिउअ षषहर मागे अवधूइ,
रअणहु सहजे कहेइ ॥धु॥
चालिअ षषहर गउ णिवाणे,
कमलिनी कमल वहइ पणाले, ॥धु॥
विरमानन्द विलक्षण सुध ॥
जो एथु बूझइ सो एथु बुध ॥धु॥
भुसुकु भणइ मइ बूझिअ मेलें,
सहजानन्द महासुह लीलें ॥धु॥

राग मल्लारी [४९]—

"बाज णाव पाड़ी पँउआ खाले बाहिउ,
अदअ बङ्गाले[1] क्लेश लुडिउ ॥धु॥
आजि भूसु बङ्गाली[1] भइली,
णिअ घरणी चण्डाली लेली ॥धु॥

[1] डाक्टर भट्टाचार्यने लिखा है—'*In The Pag-Sam-Jon-Zan it is said that Santideva was a native of Saurashtra, but I am inclined to think that he belonged to Bengal it is evident from his song*" "आज भुसु बङ्गाली" (*ibid*) गीतमें बंगाली शब्द खास तान्त्रिक परिभाषाके अर्थमें व्यवहृत हुआ है, जैसा कि, डाक्टर भट्टाचार्यके पिता प्रातःस्मरणीय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्रीने अपने इसी ग्रन्थकी भूमिका (पृष्ठ १२) में लिखा है—"सहज मते तीनटि पथ आछे, अवधूती, चाण्डाली, डोम्बी वा बंगाली। अवधूती ते द्वैतज्ञान थाके, चाण्डालीते द्वैतज्ञान आछे बलिलेउ हय, किन्तु डोम्बीते केवल अद्वैत......

उहि जो पञ्चघाट णइ दिबि संज्ञा णठा,
ण जार्णमि चिश्र मोर कहिँ गइ पइठा॥ध्रु॥
साण तरुश्र मोर किम्पि ण थाकउ,
निश्र परिवारे महासुहे थाकिउ ॥ध्रु॥
चउकोड़ि भण्डार मोर लइआ सेस,
जीवन्ते मइल नाहि विशेष ॥ध्रु॥"

६ वीणापा (सिद्ध १२)

गौड़देशमें* क्षत्रियवंशमें इनका जन्म हुआ था। इनके गुरुका नाम भद्रपा (सि० २४) था। वीणा बजाकर यह अपने पदोंको गाया करते थे, इसीलिये इनका नाम वीणापा पड़ गया। तन्-जूरमें इनके तीन ग्रन्थ मिलते हैं— १ गुह्याभिषेक-प्रक्रिया (त० २१।५०)। २ महाभिषेक-त्रिक्रम (त० २१।५१)। ३ वज्रडाकिनीनिष्पन्नक्रम [त० ४८। ५३]।

इनमें तीसरा ग्रन्थ उसी बेठनमें है, जिसमें हिन्दी-कविताओंके दूसरे अनुवाद हैं, इसलिये मालूम पड़ता है, यह भी हिन्दीमें रहा है। "चर्यागीति" † में इनका एक गीत इस प्रकार है—

राग पटमञ्जरी, (१७)—

"सुज लाउ ससि लागेलि तान्ता,
अणहा दाण्डी वाकि कि अत अवधूती ॥ध्रु॥
बाजइ अला सहि हरु अबोणा,
सुन तान्ति धनि विलसइ रुणा ॥ध्रु॥
आलिकालि वणि सारि सुणआ,
गअवर समरस सान्धि गुणिआ ॥ध्रु॥
जबे करह करहक लेपि चिउ,
बतिश तान्ति धनि सएल विआपिउ ॥ध्रु॥
नाचन्ति वाजिल गान्ति देवी,
बुद्ध नाटक बिसमा होइ ॥ध्रु॥"

७ विरूपा (सिद्ध ३) महाराज

देवपाल (८०९-४९ ई०)के देश "त्रिउर" (?)में इनका जन्म हुआ था। भिक्षु बनकर नालन्दा-विहारमें पढ़ने लगे और वहाँके अच्छे पण्डितोंमें हो गये। इन्होंने देवीकोट और श्रीपर्वत आदि सिद्ध स्थानोंकी यात्रा की। श्रीपर्वतमें इन्हें सिद्ध नागबोधि मिले। यह उनके शिष्य हो गये। पीछे नालन्दामें आकर जब इन्होंने देखा कि, विहारमें मद्य, स्त्री आदि, सहजचर्याके लिये अत्यावश्यक वस्तुओंका व्यवहार नहीं किया जा सकता, तब वहाँसे गङ्गाके घाटपर चले गये। वहाँसे फिर उड़ीसा गये। इनके शिष्योंमें डोम्बिपा (सि० ४)और कण्हपा थे। यमारितन्त्रके यह ऋषि थे। तन्-जूरमें इनके तन्त्र-सम्बन्धी अठारह ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न मगही हिन्दीमें थे—अमृतसिद्धि (त० ४७। २७)। दोहाकोष (त० ४७।२४)। दोहाकोषगीति-कर्म-चण्डालिका (त० ४८।४)। मार्गफलान्वितावबादक (त० ४७।२१)। विरूपगीतिका (४८।२६)। विरूप-वज्रगीतिका (त० ४८।१६)। विरूपपदचतुरशीति (त० ४७।२३)। सुनिष्प्रपञ्चतत्त्वोपदेश (त० ४३।१००)

कविताका नमूना। राग गबड़ा (३)—

"एकसे शुण्डिनि दुइ घर सान्धअ,
चीअण वाकलअ वारुणी बान्धअ ॥ध्रु॥

एइ बार तुमि सत्य सत्यइ बंगाली हइले अर्थात् पूर्ण अद्वैत हइले।" और, यदि शब्दपर दौड़ना है, तब तो भुसुकु आज बंगाली हुए, मानो पहले न थे। फिर "भइली" शब्द बंगलामें कहाँ व्यवहृत होता है ? किन्तु वह काशीसे मगहतक आज भी बहुत प्रचलित है।

* पालवंशीय राजा गौड़ेश्वर कहे जाते थे। उनकी राजधानी पटना जिलेका विहारशरीफ स्थान थी। नालन्दाके पास होनेके कारण भोटिया-ग्रन्थोंमें अकसर उन्हें नालन्दाका राजा भी कहा गया है। † "बौद्धगान ओ दोहा", पृष्ठ ३०।

सहजे थिर करी वारुणी सान्धे,
जे अजरामर होइ दिट कान्ध ॥ध्रु॥
दशमि दुआरत चिह्न देखइआ,
आइल गराहक अपणे बहिआ ॥ध्रु॥
चउशठि घड़िये देट पसारा,
पइठल गराहक नाहि निसारा। ध्रु॥
एक स डुली सरुइ नाल,
भणन्ति विरुआ थिर करि चाल" ॥ध्रु॥

८ दारिकपा (सि० ७७)

ये "ओड़ीसा"के । राजा थे । जब सिद्ध लुइपा उड़ीसा गये, तब यह और इनके ब्राह्मणमन्त्री, जिनका नाम पीछे डेंगीपा (डेंकीपा) पड़ा, राज्य छोड़कर उनके शिष्य बन गये । गुरुने आज्ञा दी कि, सिद्धि-प्राप्तिके लिये तुम कांचीपुरीमें जाकर गणिका-दारिका (=वेश्याकी कन्या) की सेवा करो । कई वर्षोंतक यह उसकी सेवा करते रहे, इसीसे सिद्ध होनेपर इनका नाम दारिकपा पड़ गया। सहज-योगिनी चिन्ता इनकी शिष्या थीं, और, प्रसिद्ध सिद्ध वज्रघण्टापाद (५२) या घण्टापा इनके प्रधान शिष्य थे । तन्-जूरमें इनके ग्यारह ग्रन्थ मिलते है, जिनमेंसे निम्न प्राचीन ओडिया या मगही हिन्दीके मालूम होते हैं—१ ओड्डियान-विनिर्गत-महागुह्यतत्त्वोपदेश (त० ४६। ६)। २ तथतादृष्टि (त० ४८।४८) । ३ सप्तम सिद्धान्त (त० ४६।४६) ।

कविताका नमूना । राग बराड़ी (३४)—

"सुन करुणरि अभिन वारे काअ-वाक-चिअ,
विलसइ दारिक गअणत पारिमकुले ॥ध्रु॥
अलख-लख-चित्ता महासुहे,
विलसइ दारिक० ॥ध्रु॥
किन्तो मन्ते किन्तो तन्ते किन्तो रे झाण वखाने,
अपइ ठान महासुह लीण दुलख परम निवाणे॥ध्रु॥
दुःखे सुखें एकु करिआ भुञ्जइ इन्दीजानी,
स्वपरापर न चेवइ दारिक सअलानुत्तर मानी॥ध्रु॥
राआ राआ राआरे अवर राअ मोहेरा बाधा,
लुइ-पाअ-पए दारिक द्वादशभुअणे लधा" ॥ध्रु॥

९ डोम्भिपा (सिद्ध ४) मगधदेशमें

क्षत्रिय-वंशमें पैदा हुए । वीणापा और विरूपा, दोनों ही इनके गुरु थे । लामा तारानाथने लिखा है कि, यह विरूपाके दस वर्ष बाद तथा वज्रघंटापाके दस वर्ष पूर्व सिद्ध हुए । यह हेवज्रतन्त्रके अनुयायी थे । सिद्ध कण्हपा (१७) इनके भी शिष्य थे । तन्-जूरमें २१ ग्रन्थ डोम्भिपादके नामसे मिलते हैं, किन्तु पीछे भी एक डोम्भिपा हुए हैं, इसलिये कौन ग्रन्थ किसका है, यह कहना कठिन है । इनके निम्न ग्रन्थ मगही हिन्दीमें थे—अक्षर द्विकोपदेश (त० ४८।६४) । डोम्बिगीतिका (त० ४८।२८) । नाडी-बिन्दुद्वारे योगचर्या (त० ४८।६३)। कविताका नमूना—

(राग देशाख १०)—

"नगर बाहिरि डोम्बि तोहारि कुड़िया,
छड़ छाइ जाइ सो बाह्म नाड़िआ ॥ ध्रु ॥
आलो डोम्बि ताए सम करिबे म साङ्ग,
निघिण काह्न कापालि जोइ लाग ॥ध्रु॥

॥ म-स्क्य-ब्क-ग्र्युम ज० पृ० २४४ से २४५ ख० । डा० विनयतोष भट्टाचार्यने लिखा है—'*Luipa ...belonged to an earlier age and as such any close connection between the two is hardly admissable Lui was reputed to be the first Siddhacharya, and that may be the reason why Darikapa reverentially mentions his name* " लेकिन तिब्बतके सभी ग्रन्थ एक मतसे दारिकपाको लुइपाका शिष्य कहते हैं । चौरासी सिद्धोंकी सूचीमें संख्याक्रम काल-क्रमसे नहीं है, यह अलग दिये वंश वृक्ष और नाम-सूचीसे स्पष्ट हो जायगा ।

एकसो पदमा चौषट्ठी पाखुड़ी,
तहि चड़ि नाचअ डोम्बी बापुडी ॥ ध्रु ॥
हालो डोम्बी तो पुछमि सदभावे,
अइससि जासि डोम्बि काहरि नावेँ ॥ ध्रु ॥
तान्ति विकणअ डोम्बी अवर ना चङ्गता,
तोहोर अन्तरे छाड़िनड एट्टा ॥ ध्रु ॥
तुलो डोम्बी हाउँ कपाली,
तोहोर अन्तरे मोए घलिलि होडरि मालो ॥ध्रु॥
नरबर भाखीय डोम्बी खाअ मोलाण,
मारमि डोम्बि लेमि पराण" ॥ ध्रु ॥

धनसी राग (१४)—

"गगा जउना माँझेर बहइ नाई,
तहिँ बुडिली मातङ्गि पोइआ लीले पार करेइ ॥ध्रु॥
वाहतु डोम्बी वाहलो डोम्बी वाटत भ.ल उछारा,
सदगुरु पाअ-पए जाइब पुण जिणउरा ॥ध्रु ॥
पाञ्च केडुआल पड़न्ते माङ्ग पिटत काच्छी वान्धी,
गअण दुखोले सिञ्चहु पाणी न पइसइ सान्धि॥ध्रु॥
चन्द सूज्ज दुइ चका सिठीसंहार पुलिन्दा,
वाम दहिण दुइ माग न खेइ बाहतु छन्दा ॥ध्रु॥
कवडी न लेइ बोडी न लेइ सुच्छडे पार करइ,
जो रथे चड़िला वाहवाण जाइ कुल कुल बुडइ" ॥ध्रु॥

भिन्नावृत्ति* मे इनका यह दोहा मिलता है—

"भुञ्जइ मअण सहाव र कमइ सो सहअल ।
माअ ओ धर्म करण्डिया, मारउ काम सहाउ ।
अच्छउ अकल जे पुनउ, सा संसार-विमुक ।
ब्रह्म महेसर णारायणा, सकल असुद्ध सहाव ॥"

१० कम्बलपाद (सिद्ध ३०)

ओडिविश (=उडीसा)में, राजवंशमें, इनका जन्म हुआ । भिक्षु होकर त्रिपिटकके पण्डित बने । पीछे सिद्ध वज्र घटापा (५२) के सत्संगमें पड़ उनके शिष्य हो गये । इनके गुरु सिद्धाचार्य वज्रघंटापाद या घंटापाद उड़ीसामें कई वर्ष रहे और उनके ही कारण उड़ीसामें वज्रयानका बहुल प्रचार हुआ । सिद्ध राजा इन्द्रभूति इनके शिष्य थे । कम्बलपाद बौद्ध दर्शनके भी पण्डित थे । प्रज्ञापारमिता-दर्शनपर इनके चार ग्रन्थ, भोटियामे, मिलते है । इनके तन्त्र ग्रन्थोंकी संख्या ग्यारह है, जिनमें निम्न प्राचीन उड़िया या मगहीमें थे—असम्बन्ध-दृष्टि (त० ४८।३८) । असम्बन्ध-सर्ग-दृष्टि (त० ४८।३९) । कम्बलगीतिका (त० ४८।३०) ।

कविताका नमूना—

राग देवक्री ८ —

"सोने भरिती करुणा नवी,
रूपा थोइ महिके ठावी ॥ ध्रु ॥
वाहतु कामलि गअण उवसे
गेली जाम बहु उइ काइस ॥ध्रु॥
खुन्टि उपाडी मेलिलि काच्छि,
वाहतु कामलि सद्गुरु पुच्छि ॥ध्रु॥
माङ्गत चन्हिले चउदिस चाहअ,
केडुआल नहि कं कि बाहबके पारअ॥ध्रु॥
वामदाहिण चापी मिलि मिलि मागा,
वाटत मिलिल महासुह सङ्गा ॥ध्रु॥"

११ जालन्धरपाद (सिद्ध ४६)

नगर-भोग (?) देशमें, ब्राह्मण-कुलमें, इनका जन्म हुआ था । पीछे एक अच्छे पण्डित भिक्षु बने । किन्तु घंटापादके शिष्य, सिद्ध कूर्मपादकी संगतिमें आकर यह उनके शिष्य हो गये । मत्स्येन्द्रनाथ, कण्हपा और ततिपा इनके शिष्योंमें थे । भोटिया ग्रन्थोंमें इन्हें आदिनाथ भी कहा गया है । नाथपन्थकी परम्परामें भी आदिनाथसे इन्हींसे मतलब है । इस प्रकार चौरासी सिद्धोंमें जालन्धरपादकी

---

* तन्जूर (त० २१।१६) । ल्हासाके मुक-विहारकी हस्तलिखित प्रतिका पाठ ।

परम्परा अब भी भारतमें कायम है। गोरखनाथ इनके शिष्य मत्स्येन्द्रके शिष्य थे। तन्-जुरमें इनके सात ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न प्राचीन मगहीके हैं—विमुक्तमंजरी-गीत (त० ७३।४३)। हूंकार चित्त बिंदु-भावनाक्रम (त० ४८।७२)।

कविताका नमूना (राग निवेद, ताल माठ, ७६)*—

"अखय निरंजन अद्वंय अनु
पद्म गगन कमरंजे साधना,
शून्यता विरासित राय श्री चिय
देव पान-बिन्दु समय जो दिता ॥ध्रु॥
नमामि निरालम्ब निरक्षर
स्वभाव हेतु स्फुरन सप्रापिता,
सरद चन्द्र-समय तेज प्रकासित
अरज-चन्द्र समय व्यापिता ॥ध्रु॥
खडग योगाम्बर सादिरे चक्रवर्ति
मेरुमडल भमलिता,
निर्म्मल हृदयारे चक्रवर्ति ध्याविते
अहितिसिद्धंजत्र मय साधना ॥ध्रु॥
आनंद परमानंद विरमा
चतुरानंद जे संभवा,
परमा विरमा माँझे रे न छादिरे
महासुख सुगत संप्रद प्राप्तिता ॥ध्रु॥
हे वज्रधार चक्र श्रीचक्रसवर
अनन्त कोटि सिद्ध पारगता,
श्री हतवादियाने पूर्ण गिरि
जालन्धरि प्रभु महा सुख-जातहुँ ॥ध्रु॥"

१२ कुक्कुरिपा (सिद्ध ३४)

कपिल [वस्तु] वाले देशमें, एक ब्राह्मण-कुलमें, इनका जन्म हुआ था। मीनपा (८) के गुरु चर्पटीपा इनके भी गुरु थे। इनकी शिष्या मणिभद्रा चौरासी सिद्धोंमेंसे एक (६५) है। पद्मवज्र भी इनके ही शिष्य थे। तन्-जुरमें इनके १६ ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न लिखित हिन्दीके मालूम होते हैं—तत्त्व-सुख-भावनानुसारियोगभावनोपदेश [त० ४८।६५]। स्रवपरिच्छेदन [त० ४८।६६]।

कविताका नमूना [राग गवड़ा २]—

"दुलि दुहि पिटा धरण न जाइ,
रुखेर तेन्तलि कुम्भीरे खाअ ॥
आङ्गन घरपण सुन भो विआती,
कानेट चौरि निल अधराती ॥ध्रु॥
सुसुरा निद गेल बहुडी जागअ,
कानेट चोरे निलका गइ मागअ ॥ध्रु॥
दिवसइ बहुडी काढ़इ डरे भाअ,
राति भइले कामरु जाअ ॥ध्रु॥
अइसन चर्या कुक्कुरी-पाएँ गाइड़,
कोडि मझे एकुड़ि अहिँ सनाइड़ ॥ध्रु॥"

राग-पटमञ्जरी (२०)—

"हाँउ निवासी खमण भतारे,
मोहोर विगोआ कहण न जाइ ॥ध्रु॥
फेटलिउ गो माए अन्त उड़ि चाहि,
जा एथु बाहाम सो एथु नाहि ॥ध्रु॥
पहिल विआण मोर वासन पूड़,
नाड़ि विआरन्ते सेव वापूड़ा ॥ध्रु॥
जाण जौबण मोर भइले सि पूरा,
मूल नखलि बाप संघारा ॥ध्रु॥
भणथि कुक्कुरीपाए भव थिरा,
जो एथु बुझएँ सो एथु वीरा ॥ध्रु॥"
"हले सहि विअ सिअ कमल पबाहिउ वज्जे।
अललल हो महा सुहेण आरोहिउ नृत्ये।

* मैंने यह पाठ नेपालके बौद्धोंमें आज भी प्रचलित चर्यागीति (बचो) पुस्तकसे लिया है। भाषा बिल्कुल ही बिगड़ी हुई है।

रविकिरणेण पफुल्लिअ कमलु महासुहेण।
[अन०] आरोहिउ नृत्यें ॥"*

१३ गुण्डरीपाद (सिद्ध ५५)

डिसुनगरके देशमें कर्मकारोंके कुलमें पैदा हुए थे। पीछे सिद्ध लीलापा [२] के शिष्य हो गये। इनके शिष्य धर्मपादके शिष्य सिद्ध हालिपाद [४०] थे। तन्-जूरमें इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। चर्यागीतोंमें इनकी यह गीति मिलती है—राग अरु (४)—

"तिअड्डा चापि जाइनि दे अङ्कवाली,
कमल कुलिश घाण्ट करहुँ विआली ॥ध्रु॥
जोइनि तँइ विनु खनहिं न जीवनि,
तो मुह चुम्बी कमल-रसपीवमि ॥ध्रु॥
खेपहु जाइन लेप न जाय,
मणिकुले वहिआ ओडिआणे समाअ ॥ध्रु॥
सासु घरें घालि कोञ्चा ताल,
चान्द-सुज वेणी पखा फाल ॥ ध्रु ॥
भणइ गुडरी अह्मं कुन्दुरे वीरा,
नरअ नारी मझे उभिल चीरा ॥ध्रु॥"

१४ मीनपा (सिद्ध ८)

कामरूप (आसाम)-देशमें एक मछुवेके कुलमें इनका जन्म हुआ था। इन्हीके पुत्र मत्स्येन्द्र थे, जिनके शिष्य गोरखनाथ हुए। पहले लौहित्य (ब्रह्मपुत्र)-नदीमें मछली मारते और ध्यानमार्गपर चलते थे। पीछे चर्पटीपाद (५९) के शिष्य हो गये। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ "बाह्यान्तरबोधिचित्तबन्धोपदेश" (त ४८।४०) मिलता है, जो कि, पुरानी आसामी या मगहीमें था। चर्यागीति (पृष्ठ ३८) की टीकामें परदर्शन कहकर इनका एक पद उद्धृत किया गया है—

"कहन्ति गुरु परमार्थेर वाट,
कर्मकुरङ्ग समाधिक पाट।
कमल विकसिल कहिह णजमरा,
कमलमधु पिविबि धोके न भमरा ॥"

१५ कण्हपा (सिद्ध १७) कर्णाटक-देशमें×

ब्राह्मणकुलमें इनका जन्म हुआ था, इसीलिये इनको कर्णपा भी कहते हैं। शरीरका रंग काला होनेसे कृष्णपा या कण्हपा कहते हैं। महाराज देवपाल (८०९-८४९ ई०) के समयमें यह एक पण्डित भिक्षु थे और कितने ही दिनों तक सोमपुरी विहार (पहाड़पुर, जि० राजशाही)में रहते थे। पीछे यह सिद्ध जालन्धर-पादके शिष्य हो गये। चौरासी सिद्धोंमें कवित्व और विद्या, दोनोंकी दृष्टिसे यह सबसे बड़े सिद्धोंमें थे। इनके अपने सातसे अधिक शिष्य, चौरासी सिद्धोंमें, गिने गये हैं, जिनमें कनखला (६७) और मेखला (३६), दो योगिनियाँ भी हैं। धर्मपा (३६) कन्तालिपा (६९), महीपा (३७), उधलिपा (७१), भदेपा (३२) शिष्य और जयरिपा (६४) या अजपालिपा प्रशिष्य थे। उस समय सिद्धोंका गढ़ बिहार प्रदेश था। इन्होंने अपनी भाषा-कविताएँ तत्कालीन मगहीमें की हैं। तन्-जूरमें दर्शनपर छ और तन्त्रपर इनके ७४ ग्रन्थ मिलते हैं। पीछे भी एक कृष्णपाद हुए थे, इसलिये इस सूचीमें कुछ उनके ग्रन्थोंका भी होना सम्भव है। दर्शन-ग्रन्थोंमें इन्होंने शान्तिदेवके "बोधिचर्यावतार"पर "बोधिचर्यावतार-दुरवबोधपदनिर्णय" नामक टीका लिखी है। इनके निम्न कविता-

* साधनमाला, (गायकवाड़-ओरियंटल-सीरीज़, बड़ोदा) पृष्ठ ४६६, ४६७।

× मस्क्य-ब्कबुम्, ज २६५ क—"युल् ग्यै-गर् कर्ण-र स्क्येस-पस् नम्, वर्ण-ब्रेम् क्यङ् ब्य। स्नन्-रिङ्-पस् (लम्बे कानवाले होनेसे) क्यङ् वर्ण-पमेर्। ख-दोग् नग्-पस् कृष्ण-प शेस्-ब्य व।" डाक्टर भट्टाचार्यने लिखा है—"*Written in his own vernacular which was probably Uria, and showed great afinity towards the old Bengali language*"

ग्रन्थ मगहीमें थे, जिनके भोटिया-अनुवाद तन्-जूरमें मिलते हैं—

१ कान्हपाद-गीतिका (त० ८८।१७)। २ महाढुण्ढन-मूल (त० ८४।३०)। ३ वसन्ततिलक (त० १२।३०)। ४ असम्बन्ध-दृष्टि [त० ४८।४७)। ५ वज्रगीति [त० ४७।३३]। ६ दोहाकोष † [त० ४७।४४]।

"बौद्धगान ओ दोहा"में इनका दोहाकोष संस्कृत-टीका-सहित छपा है, जिसमें बत्तीस दोहे हैं। इनके दोहोंका नमूना देखिये —

"आगम-वेअ-पुराणे, पण्डित मान वहन्ति।
पक्क सिरी फल अलिअ जिम वाहेरित भ्रमयन्ति ॥२॥"

"अह ण गमइ उह ण जाइ,
वणि-रहिअ तसु निच्चल पाइ।
भणइ कह्ण मन कहवि न फुट्टइ,
निच्चल पवन घरणि घर वत्तइ" ॥ २॥

"एक ण किज्जइ मन्त्र ण तन्त,
णिअ घरणि लइ केलि करन्त।
णिअ घर घरिणी जाव ण मज्जइ,
ताव कि पच वर्ण विहरिज्जइ ॥२८॥"

"जिमि लोण विलिज्जई पाणिएहि,
तिम घरणी लइ चित्त।
सम-रस जइ तक्खणे,
जइ पुणु ते सम नित्त ॥३२॥"

इनकी वज्रगीतिका नमूना देखिये—

"कोल्लअ * रे ठिअ बोल्ल, मुम्मुणि रे कक्कोल ॥
घने किपीटह वज्जइ, करुणे किअइ णरोला।
तहि वल खज्जइ, गाढ़ें मअ ण पिज्जइ।
हले कलिञ्जर पणिअइ, दुन्दुर वज्जिअइ।
चउसम कत्थुरि सिल्हा, कप्पुर लाइअइ।
मालइ धाण-सालि अइ, तहिं भलु खाइअइ।
पेखण खेट करन्त, शुद्धाशुद्ध ण मणिअइ।
निरंशु अग चडावि अइ, तहि जस राव पणिअइ।"
मलअजे कुन्दुरु वाषइ, डिण्डिम तहिन्न वज्जिअइ ॥१

कण्हपाके कुछ गीत देखिये (राग-पटमञ्जरी ११)—
"नाड़ि शक्ति दिट धरिअ खदे,
अनहा डमरु वाजए वीरनादे ॥
काह्न कपाली योगी प ठ अचारे,
देह-नअरी विहरए एकारें ॥ ध्रु ॥
आलि कालि घण्टा नेउर चरणे,
रवि-शशि-कुण्डल किउ आभरणे ॥ ध्रु ॥
राग-देश-मोह लाइअ छार,
परम मोख लवए मुत्तिहार ॥ ध्रु ॥
मारिअ शासु नणन्द घरे शाली,
माअ मारिआ काह्न भइअ कबाली ॥ ध्रु ॥"

राग-पटमञ्जरी (३६)—
"सुण वाह तथता पहारी,
मोह भण्डार लुइ स अला अहारी ॥ध्रु॥
घुमइ न चेवइ सपर विभागा,
सहज निदालु काह्निला लाङ्गा ॥ध्रु ॥

* तन्-जूर (त० २ ।१०), स-स्क्य क-बुम् पृ ४६८ ख, फ १२८ क।

१ आजकल नेपालमें व्यवहृत चर्यागीत (च-चो) का पाठ इस प्रकार है—
"कोलायि रे थिय बोज्ञा, मुमुनिरे कंकोला। घनकियाथीं होयि वज्रायि, करुणे कियायि न लोगा ॥ ध्रु ॥
मलयजकुदुरु वजायिले डिंडिम तहि ना वाजयि। तहि भरु खाज गाध्या मय ना पीवयियथि ॥
हले कालिञ्जर पंनयथि दुंदुरु वजरययि। चवु सम कस्तुरि सिल्हा, कपुर लावनययि ॥
गन्न या जइ धनसोलिजरे, तहि भरु खाज न यायी। प्रेषु ह तेत्र करते सोधा सुद्ध न मूनयि।
निलसुह अंग चवावयि, तरि जस रा पनयायी"॥१६॥

चेअण ण वेअन भर निद गेला,
सअल सुफल करि सुहे सुतेला ॥ध्रु॥
स्वपणे मइ देखिल तिभुवण सुण,
घोरिअ अवणागमण विहून ॥ध्रु॥
शाखि करिब जालन्धरि पादे,
पाखि ण राहअ मोरि पाण्डिआ चादे ॥ध्रु॥"

१६ तान्तिपा (सिद्ध १३)

मालव-देशके अवन्तिनगर [उज्जैन] में कोरी [तन्तुवाय, तँतवा]के घर इनका जन्म हुआ था। घरमें रहते ही इनका मन सिद्धचर्याकी ओर लगा। जालन्धरपादका दर्शन कर उनके शिष्य हो गये। पीछे कण्हपासे भी उपदेश लिया। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ "चतुर्योग-भावना" [त० ४८।५४] मिलता है, जो पुरानी मालवी या मगहीमें लिखा गया था। इनकी कोई कविता मूल भाषामें नहीं मिलती; किन्तु यदि "चर्यागीति"के "ढेण्ढणपाद"को तन्तिपाद मान लिया जाय, क्योंकि इस नामका कोई सिद्धाचार्य नहीं है, तो यह गीत उनकी हो सकता है।

राग पटमञ्जरी (३३)—

"टालत मोर घर नाहि पड़वेषी।
हाड़ीते भात नाँहि निति आवेशी ॥ ध्रु ॥
वेङ्ग ससार बड़हिल जाअ,
दुहिल दुधु कि वेण्टे षमाय ॥
बलद बिआएल गविआ बाँझे।
पिटा दुहिए ए तिना साँझे ॥
जो सो बुधी सो धनि बुधी।
जो सो चोर सोइ साधी ॥
निते निते षिआला षिहे षम जुझअ,
ढेण्ढणपाएर गीत बिरले बूझअ ॥"

१७ महीपा (महिल) (सिद्ध ३७)

मगध-देशमें शूद्रकुलमें, इनका जन्म हुआ था। गृहस्थ होते भी इन्हें सत्संगकी बड़ी चाह थी। पीछे कण्हपाके शिष्य हो गये। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ "वायुतत्त्व-दोहा-गीतिका" (त० ८४।१०) मिलता है, जो पुरानी मगहीमें था। "चर्यागीति"में महीधरपादका एक गीत मिलता है, (यह महीपा और महीधरपाद एक ही मालूम होते हैं)।

राग भैरवी (१६)—

"तिनि एँ पाटे लागेलि रे अणह कसण घण गाजइ,
ता सुनि मार भयङ्कर रे सअ मण्डल सएल भाजइ ॥ध्रु॥
मातेल चीअ-गअन्दा धावइ।
निरन्तर गअणन्त तुसें घोलइ ॥ ध्रु ॥
पाप पुण्य बेणि तिड़िअ सिकल मोडिअ खम्भाठाणा,
गअण टाकलि लागिरे चित्ता पइठ णिवाना ॥ ध्रु ॥
महारस पाने मातेल रे तिहुअन सएल उएखी,
पञ्च विषय रे नायक रे विपख का बी न देखी ॥ध्रु ॥
खररविकिरण सन्तापे रे गअणाङ्गण गइ पइठा,
भणन्ति महित्ता मइ एथु बुड़न्ते किम्पि न दिठा ॥ध्रु॥"

१८ भादेपा (सिद्ध ३२) श्रावस्ती[१]

में चित्रकार [लह्-बिस्=देव-लेखक]-कुलमें इनका जन्म हुआ था। पीछे सिद्ध कण्हपाके शिष्य हुए। तन्-जूरमें इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, किन्तु "चर्यागीति" में इनकी यह गीति मिलती है। राग मल्लारी (३५)—

"एत काल हाँउ अच्छिलें स्वमोहें।
एवें मइ बुझिल सद्गुरु बोहें ॥ ध्रु ॥
एवे चिअराअ मकु णठा।
गण समुदे टलिआ पइठा ॥ ध्रु ॥
पेखमि दह दिह सर्व्वइ शून।
चिअ विहुन्ने पाप न पुण्ण ॥ ध्रु ॥
बाजुले दिल मोहकखु भणिआ,
मइ अहारिल गअणत पणिआँ ॥ ध्रु ॥

१ सहेट-महेट [जि० गोंडा, युक्तप्रान्त]।

माई भणइ अभागे लइआ।
चिअराअ मइ अहार कएला" ॥ ध्रु ॥

१६ कङ्कणपाद [सिद्ध ८६]

विष्णुनगर [? बिहार] राजवशमे इनका जन्म हुआ था। कम्बलपाके परिवारके सिद्ध थे। तन-जूरमें इनका एक ग्रन्थ "चर्यादोहाकोषगीतिका" [त० ४८।७] मिलता है। "चर्यागीति"में इनकी यह गीति मिलती है।

राग-मल्लारी ४४)—
"सुने सुन मिलिआ जबे,
सअल धाम उइआ तबे ॥ ध्रु ॥
आच्छु हुँ चउखण सबोहीं,
माझ निरोह अणुअर बोही ॥ध्रु॥
बिदु-णाद णहि ए पइठा,
अण चाहन्ते आण विणठा ॥ध्रु॥
जथा आइलेसि तथा जान,
माझँ थाकी सअल विहाण ॥ध्रु॥
भणइ कङ्कण कलएल साद,
सब्बे विच्छुरिल तथना नादे ॥ध्रु॥"

२० जयानन्त (जयनन्दी) पाद [सिद्ध ५८]

भगल [भागलपुर] देशके राजाके मन्त्री थे। जन्म ब्राह्मण-वशमें हुआ था। तन-जूरमे जयानन्तके "तर्कमुद्गर-कारिका" [ल० २४।६] और "मध्यमकावतारटीका" [ल० ९५ , दो ग्रन्थ मिलते है. किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि, यह कौन जयानन्त थे। इनके गुरु-शिष्यके सम्बन्धमें भी नहीं मालूम हुआ है। "चर्यागीति"में इनकी यह गीति मिलती है—

राग शबरी (४६)—
"पेखु सुअणे अदश जइसा,
अन्तराले मोह तइसा ॥ ध्रु ॥
मोह-विमुक्का जइ माणा,
तबे तूटइ अवणा गमणा ॥ ध्रु ॥
नौ दाढइ नौ तिमइ न च्छिजइ,
पेख मोअ माहे बलि बलि बाझइ ॥ध्रु॥
छाअ माआ काअ समाणा,
वेणि पाखें सोइ विणा ॥ ध्रु ॥
चिअ तथताम्वभावे षोहिअ,
भणइ जअनन्दि फुडणुअ णण होइ ॥ ध्रु ॥"

२१ तिलोपा (सिद्ध २२)

भगुनगर (? बिहार)मे इनका जन्म हुआ था। "स-स्क्य ब्क-बुम्" (ज० २८४ क)में इनको राजवशिक कहा गया है। भिक्षु-नाम प्रज्ञाभद्र था, किन्तु सिद्धचर्यामें यह तिल कूटा करते थे, इसी लिये नाम तिलोपा पड़ गया। गुह्यपाके शिष्य और कण्हपाके प्रशिष्य विजयपाद (या अन्तरपाद) इनके गुरु थे। विक्रमशिलाके महापण्डित और सिद्धाचार्य नारोपा इनके प्रमुख शिष्य थे। तन् जूरमें इनके ग्यारह ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न मगही-हिन्दीमे थे—१ अन्तर्बाह्यविषय-निवृत्तिभावनाक्रम (त० ४८।८८)। २ करुणाभावना-धिष्ठान [त० ४८।४६] । ३ दोहाकोष [त० ४७।२२]। ४ महामुद्रोपदेश [त० ४७।२६]। "चर्यागीति" [पृष्ठ ६२]की टीकामें इनका निम्न लिखित दोहा उद्धृत हुआ है, जो सम्भवत. इनके दोहाकोषका है—

"स सवेअन तन्तफल, तिलोपाए भणन्ति।
जो मण गोअर गोइया, सो परमथे न होन्ति ॥"

२२ नाड (नारो)पा (सिद्ध २०)

इनके पिता कश्मीरी ब्राह्मण थे और किसी कामसे मगधमें प्रवास करते थे। वहीं नाडपादका जन्म हुआ। भिक्षु होकर नालन्दामे पढ़ने लगे। असाधारण मेधावी होनेसे, सभी विद्याओंमें पारङ्गत हो, महाविद्वान् हो गये। पीछे विक्रम-शिला-विहारमें पूर्वद्वारके महापण्डित बनाये गये। इतना होनेपर भी यह पण्डिताईसे सन्तुष्ट न थे। अन्तमें सिद्ध

तिलोपाके विष्णुनगरमें आनेकी खबर पाकर वहाँ गये और उनसे दीक्षा ली। शान्तिपाद [सि० १२], दीपङ्कर श्रीज्ञान आदिके यह गुरु थे। भोटका मर-वा * लोचवा भी इन्हीं-का शिष्य था। नारोपाका देहान्त १०३९ ई० में हुआ था। तन्-जूरमें इनके तेईस ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न मगही हिन्दीमें थे—१ नाडपण्डितगीतिका [त० ४८।२६]। २ वज्रगीति [त० ४८।३०,३१]। नाडपादके नामकी कोई मूल गीति नहीं मिलती, तो भी "चर्यागीति" में ताडकपादकी एक गीति मिलती है। यह ताडकपाद नाडकपाद ही मालूम होते हैं। नामका सादृश्य भी है और ताडक नामका कोई सिद्धाचार्य भी नहीं देखा जाता। इनकी गीतिका नमूना देखिये। राग कामोद (३७)—

"अपणे नाहिं मो काहेरि शङ्का,
ता महामुदेरी टूटि गेलि कंखा ॥ ध्रु ॥
अनुभव सहज मा भोल रे जोई,
चोकोट्टि विमुका जइसो तइसो होइ ॥ ध्रु ॥
जइसने अछिले स तइछन अच्छ ।
सहज पिथक जोइ भान्ति माहो वास ॥ ध्रु ॥
वाण्ड कुरु सन्तारे जाणी ।
वाकपथातीत काँहि बखाणी ॥ ध्रु ॥
भणइ ताडक एथु नाहि अवकाश ।
जो बुझइ ता गले गलपास ॥ ध्रु ॥"

२३ शान्तिपा (रत्नाकरशान्ति)

(सिद्ध १२) मगधके एक शहरमें, ब्राह्मणकुलमें, इनका जन्म हुआ था। पीछे उड्न्तपुरी (बिहार शरीफ) के विहारमें सर्वास्तिवाद सम्प्रदायमें प्रव्रजित हुए। श्रावक [हीनयान] त्रिपिटक तथा अन्यान्य ग्रन्थोंको समाप्त कर विक्रम-शिलामें महापण्डित जेतारिके पास चले गये। वहाँ सिद्ध नाडपादके भी सत्सङ्गमें आये। विद्या समाप्त कर कुछ दिन सोमपुरी-विहारके स्थविर [महन्त] रहे। फिर मालवा चले गये और उधर ही सात वर्षोंतक योगाभ्यासमें रहे। जिस वक्त यह लौटकर मगध देशमें, विक्रम-शिला पहुँचे, उस समय सिंहलके राजदूतने अपने राजाका आग्रह-पूर्वक निमन्त्रण इनके सामने रखा। स्वीकृति देकर यह सिंहलकी ओर चल पड़े। रामेश्वरके पास इन्हें एक साथी मिला, जो पीछे सिद्ध होकर कुठालिपा [सि० ४४] के नामसे प्रसिद्ध हुआ। सिंहलमें जाकर इन्होंने ६ वर्ष धर्म-प्रचार किया। लौटकर घूमते घामते जब विक्रमशिला पहुँचे, तब महाराज महीपाल [९७४–१०२६] की प्रार्थना स्वीकार कर पूर्वद्वारके पण्डित बने। सिद्धोंमें ऐसा जबर्दस्त पण्डित कोई नहीं हुआ। इन्हें "कलिकाल-सर्वज्ञ" भी कहा गया है। १०० वर्षसे अधिक-की आयुमें इन्होंने शरीर छोड़ा। तन्-जूरमें दर्शन-विषयपर इनके नौम अधिक ग्रन्थ हैं। इन्होंने छन्दःशास्त्र-पर "छन्दोरत्नाकर" ग्रन्थ लिखा है। तन्त्रपर इनके २३ ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें सुखदुःखद्वयपरित्यागदृष्टि [४८।३७] मगहीमें था। "चर्यागीति"में इनके निम्न दो गीत मिलते हैं [राग रामक्री १५]—

"सअ-सम्बेअण सरुअ विआरे
ते अलक्खलक्खण न जाइ।
जे जे उजूवाटे गेला अनावाटा भइला सोई ॥ ध्रु ॥
कुल कुल मा होइरे मूढा उजूवाटे संसारा,
बाल भिण एकुवाकु ण भूलह राजपथ कण्टारा ॥ ध्रु ॥
माआ मोहा समुदारे अन्त न बुझसि थाहा,
आगे नाव न भेला दीसअ भन्ति न पुच्छसि नाहा ॥ ध्रु ॥
सुनापान्तर उह न दिसइ भान्ति न वाससि जान्ते।
एषा अटमहासिद्धि सिझए उजूवाट जाअन्ते ॥ ध्रु ॥"

* तिब्बतके सर्वोत्तम कवि और सिद्ध जे-चुन् मि-ला रे-पा (दीक्षा १०८६ ई०, सिद्धिप्राप्ति १०९३ ई०, मृत्यु ११२२,) के यह गुरु थे, जिनको आज भी तिब्बतका बच्चा बच्चा जानता और पूजता है।

बाम दाहिण दो बाटा चछाडी
शान्ति बुलथेउ संकेलिउ।
घाटन गुमा खड़तडि नो होइ
आखि बुजिअ बाट जाइउ ॥ ध्रु ॥"

राग शीवरी (२६)--

"तुला धुणि धुणि आँसुरे आँसु,
आँसु धुणि धुणि णिरवर सेसु ॥ ध्रु ॥
तउषे हेरुअ ण पाविअइ,
सान्ति भणइ किण समविअइ ॥ध्रु॥
तुला धुणि धुणि सुने अहारिउ,
पुन लइआं अपना चटारिउ ॥ ध्रु ॥
बहल बट दुइ मार न दिशअ,
शान्ति भणइ वालाग न पइसअ ॥ध्रु॥
काज न कारण जएहु जअति,
सँए सँवेअण बोलथि सान्ति ॥ ध्रु ॥"

अन्य सिद्धोंकी कुछ कविताएँ भी दी जा सकती थीं, किन्तु विस्तार भयसे उन्हें यहाँ नहीं दिया जा रहा है। भोटिया-ग्रन्थ संग्रह तन-जूरमें और भी बहुतसे भाषाकाव्य-ग्रन्थ अनुवादित हैं, जिनमें कुछको छोड़कर सभी मगही हिन्दीके हैं। दो देशोंसे इनमें कुछ ग्रन्थोंके अब भी मिलनेकी आशा है। एक तो नेपालसे, जहाँसे कि, महामहोपाध्याय स्व॰ प० हरप्रसाद शास्त्रीको बौद्ध-गान और दोहे मिले थे, और, दूसरे भोट [तिब्बतसे]। सिद्धोंकी कितनी ही कविताएँ भोटके स-स्क्य-मठमें अनुवादित हुई थीं। यह मठ अबतक सुरक्षित है और आज भी इसके पुस्तकागारमें सैकड़ों तालपत्रकी पुस्तकें राजकीय मुहरके अन्दर बन्द हैं। हो सकता है कि, किसी समय इस कोषके खुलनेपर कुछ ग्रन्थ मिल सकें। भोटमें और भी जहाँ-तहाँ कभी-कभी कोई-कोई पुराने भारतीय ग्रन्थ मिल जाते हैं। लेखक जिस समय तिब्बतमें था, उस समय टशील्हुन्पोमें एक वृद्धके लामाने भारतीय लामा जान कर एक ताल-पोथी प्रदान की थी। पुस्तकका नाम "वज्रडाक-तन्त्र" है और इसका अनुवाद भोटिया-कजूरमें वैशाली (बसाढ़, जि० मुजफ्फरपुर)के कायस्थ पण्डित गयाधरने, ग्यारहवीं शताब्दीके मध्यमें, किया था। कई कारणोंसे मालूम होता है कि, यह अनुवादकी मूल प्रति है।

यहाँ तन्-जूरमें अनुवादित कुछ भाषा-काव्यों और उनके कर्त्ताओंकी सूची दी जाती है, जिससे हिन्दी भाषा-भाषी समझेंगे कि, सिद्धोंने हिन्दीकी कितनी सेवा की है-

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूरम *
२४ अचिन्त	तीर्थिक चण्डालिका	त० ४८।६७
२५ अज्ञात कवि	गीतिका	त० ४८।२०,२३,२४
	डाकिनीतनुगीति	त० ४८।१११
	योगिनीप्रसरगीतिका	त० ४८।३२
	वज्रगीति	त० ४७।३२
	,,	त० ८४-२०
	,, । सिद्धयोगि-	त० ४८।१०६
२६ + अद्वयवज्र(मैत्रीपा)	अबोध-बोधक	त० ४७।३६

* यह पता *Cordier* के सूचीपत्रकी दूसरी-तीसरी जिल्दोंके तन्त्र-टीका-विभागका है।

+ इनका नाम अवधूतीपा भी है; यह दीपङ्कर श्रीज्ञान [जन्म ई० ९८२- १०५४ मृ०]के गुरु थे।

		गुरुमैत्रीगीतिका	त० ४८।१३
		चतुर्मुद्रोपदेश	त० ४७।३७
		चित्तमात्रदृष्टि	त० ४८।४५
		दोहानिधितत्त्वोपदेश	त० ४६।३३
		वज्रगीतिका। चतुर्-	त० ४८।१२
२७	अयो (अजो) गिपा (सिद्ध २६)	चित्तसम्प्रदायव्यवस्थान *	त० ४८।६१
		वायुस्थान-रोग-परीक्षा	त० ४८।८१
		विषनिर्वहण भावनाक्रम	त० ४-।६५
२८	इन्द्रभूतिपा [सि० ४२]	तत्त्वाष्टक-दृष्टि	त० ४८।४२
२९	कङ्कालमेखला [सि० ६६।६७]	सनातनावर्तत्रयमुखागम	त० ४८।८६
३०	कङ्कालिपाद [सि० ७]	सहजानन्तस्वभाव	त० ४८।६०
३१	कमरिपा [सि० ४५]	सोमसूर्यबन्धनोपाय	त० ४८।७१
३२	किलपाद [सि० ७३]	दोहाचर्यागीतिकादृष्टि	त० ४८।३५
३३	कुद्दालिपाद [सि० ४४]	अचिन्त्यक्रमोपदेश	त० ४६।१३
		चित्ततत्त्वोपदेश	त० ४८।८२
		सर्वदेवतानिष्पन्नक्रममार्ग	त० ४८।७०
३४	कुरुकुल्ला [?]	महामुद्राभिगीति	त० ४८।६६
३५	केरलिपा	तत्त्वसिद्धि	त० ४७।३, ८५।१५
३६	कोकलिपा [सि० ८]	आयु परीक्षा	त० ४८।९६
३७	गयाधर —कायस्थ पण्डित	ज्ञानोदयोपदेश	त० १३।६५
३८	गोरक्षपा [सि० ६]	वायुतत्त्वभावनोपदेश	त० ४८।४१
३९	घटापा [सि० ५२]	आलिकालिमन्त्रज्ञान	त० ४८।७८
४०	चमरिपा [सि० १४]	प्रज्ञोपायविनिश्चयसमुदय	त० ४८।४५
४१	चम्पकपा (सि० ६०)	आत्मपरिज्ञानदृष्ट्युपदेश	त० ४८।८६
४२	चर्पटीपा [सि० ५६]	चतुर्भूतभवाभिवासनक्रम	त० ४८।८५
४३	चेलुकपाद [सि० ५४]	षडङ्गयोगोपदेश	त० ४।३१
४४	चोरंगीपा [सि० १०	वायुतत्त्वभावनोपदेश	त० ४८।५२
४५	छत्रपा [सि० २३]	शून्यताकरुणादृष्टि	त० ४८।४०

* तिब्बती ग्रन्थोंमें अनुवाद-ग्रन्थकी मूल भाषाके लिये सिर्फ भारतीय भाषा लिखा रहता है, संस्कृत और भाषाका फर्क नहीं किया जाता। दोहा, गीति दृष्टि-शब्दवाले नामको भाषा-ग्रन्थोंके हैं, किन्तु यहाँ उन ग्रन्थोंको भाषामें गिना गया है, जो कि, भाषा-ग्रन्थोंके बस्ते (४८, ४७) में हैं या सिद्धोंसे सम्बन्ध रखते हैं।

४६ जगन्मित्रानन्द [मित्रयोगी]※	पदरत्नमाला	त० ८४।६
	बन्धविमुक्त्युपदेश	४८।१२६
	योगिस्वचित्तग्रन्थि	त० ४८।१२८
	विमोचकोपदेश	
४७ थगनपा [सि० १६]	दोहाकोषतत्त्वगीतिका	त० ४८।६
४८ दीपङ्कर श्रीज्ञान †	चर्यागीति	त० १३।४४
	धर्मगीतिका	त० ४८।३४
	धर्मधातुदर्शनगीति	त० ४७।४७
	वज्रासनवज्रगीति	त० १३।४२
४९ दृष्टिज्ञान [?]	गीतिका	त० ४८।१९
	वज्रगीतिका	त० ४८।१८
५० दोम्बिपा (सि० ६४)	चतुरक्षरोपदेश	त० ८२।१७
	महायानावतार	त० ४८।६०
५१ धर्मपा [सि० ३६]	कालिभावनामार्ग	त० ४८।७९
	सुगतदृष्टिगीतिका	त० ४८।९
	हुंकारचित्तबिन्दुभावनाक्रम	त० ४८।७४
५२ धहुलि (=डउलि)पा [सि० [illegible]०]	शोकदृष्टि	त० ४८।४४
५३ धेतन	चित्तरत्नदृष्टि	त० ४८।४१
५४ धोकरिपा (सि० ४६)	प्रकृति-सिद्धि	त० ४८।७५
५५ नलिनपाद [सि० ४०]	धातुवाद	त० ४८।५८
५६ नागबोधि [सि० ७६]	आदियोगभावना	त० ४८।८१
५७ नागार्जुन [सि० १६]	नागार्जुनगीतिका	त० ४८।३३
	स्वसिध्युपदेश	त० ४८।२६
५८ निर्गुणपा (सि० ५७)	शरीरनाडिका-बिन्दुसमता	त० ४८।४
५९ निष्कलंकवज्र	बन्धविमुक्तिशास्त्र △	त० ४८।१२३

※ गहड़वार महाराज जयचन्द्रके गुरु थे। देखिये अन्यत्र "मन्त्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध"।

† वैशाली [बसाढ़, जि० मुजफ्फरपुर]के रहनेवाले तथा अवधूतिपाके शिष्य थे। दीपङ्करके कालमें यह भी भोट गये और वहाँ बहुतसे ग्रन्थोंका भोटिया-भाषामें अनुवाद कर कई वर्षों बाद तीन सौ तोला सोनेकी बिदाईके साथ भारत लौटे थे।

△ भारतीय ग्रन्थोंका भोटिया-अनुवाद पण्डित और लोचवा [=भोटिया दुभाषिया] मिलकर किया करते थे। इस ग्रन्थके अनुवादमें पण्डित जगन्मित्रानन्द थे।

६०	नीलकण्ठ	अद्वयनाडिकाभावनाक्रम	त० ४८।६६
६१	पङ्कज [सि० ५१]	अनुत्तरसर्वशुद्धिक्रम	त० ४८।७७
		स्थानमार्गफलमहामुद्राभावना	त० ४८।६१
६२	पनहपा (सि० ७६)	चर्यादृष्टअनुत्पन्नतत्त्वभावना	त० ४८।९६
६३	परमस्वामी (नृसिंह) १	दोहाचित्तगुह्य	त० ४८।७३
		महामुद्रारत्नाभिगीत्युपदेश	त० ४८।१०५
		वज्रडाकिनीगीति	त० ४८।१०
		सकलसिद्धवज्रगीति	त० ४८।११३
६४	पुतलीपा [सि० ७८]	बोधिचित्तवायुचरणभावनोपाय	त० ४८।९२
६५	महासुखतावज्र [शान्तिगुप्त]	महासुखतागीतिका ॐ	त० ४८।३१
		योगगीता	त० ८६।८४
६६	मेकोपा (सि० ४३)	चित्तचैतन्यशमनोपाय	त० ४८।५४
६७	मेदिनीपा [सि० ५०	सहजाम्नाय	त० ४८।७६
६८	राहुलभद्र (सि० ४७)	अचिन्त्यपरिभावना	त० ४८।७३
६९	ललित [वज्र]	महामुद्रारत्नगीति	त० ४८।११२
७०	लीलावज्र (सि० २)	विकल्पपरिहारगीति	त० ४८।३
७१	लुचिकपा (सि० ५६)	चण्डालिकाबिन्दुप्रस्फुरण	त० ४८।८३
७२	वज्रपाणि ±	वज्रपद	त० ४६।४१
७३	वैरोचनवज्र	वीरवैरोचनगीतिका	त० ४८।२५
७४	शाक्य श्रीभद्र ॐ	चित्तरत्न-विशोधन-मार्गफल	त० ४८।१२५

१ यह भारतीय सिद्ध पण्डित थे। १०८१ ई० में भोट, ११०० ई० में चीन, ११९८ ई० में अन्तिम बार भोटमें गये। भोटियामें इन्हें पा-दम-पा [=शान्तिपाद] भी कहते हैं। इनका देहान्त १११७ ई० में हुआ।

ॐ इसका अनुवाद गुजरातके पण्डित पूर्णवज्र और लामा तारानाथने मिलकर किया। ग्रन्थकर्ता शान्तिगुप्त हुमायूँ और अकबरके समकालीन थे। इनका जन्म दक्षिण-देशके जलमण्डल [?] देशमें हुआ था।—"रत्नाकरजोपमकथा"।

± दीपङ्कर श्रीज्ञानके पीछे (१०६५ ई० में) यह तिब्बत गये और वहाँ बहुतसे ग्रन्थोंका अनुवाद किया।

ॐ शाक्यश्रीभद्र (जन्म ११२६ ई०) विक्रमशिलाके अन्तिम प्रधान स्थविर थे। महम्मद-बिन्-बख्तियार द्वारा विक्रमशिलाके नष्ट किये जानेपर यह उड़ीसा चले गये और वहाँ तीन वर्ष रहे। वहाँसे बिचारते नेपाल गये। वहाँसे ख्रोलोचवा [१२०४ ई० में] इन्हें तिब्बत ले गया। स-स्क्य-विहारका लामा इनका भिक्षु-शिष्य बना। बहुतसे ग्रन्थोंका अनुवाद एवम् धर्म-प्रचार कर सन् १२१२ ई० में यह अपनी जन्मभूमि कश्मीर लौट गये। वहीं १२२५ ई० में इनका देहान्त हुआ।

		वज्रपदगर्भसंग्रह	त० ५१३
		विशुद्धदर्शनचर्योपदेश	त० ४८।१२४
७५	शृगालपाद (सि० २७ ?)	रत्नमाला	त० ४८।५८
७६	सर्वभक्ष (सि० ७५)	करुणाचर्याकपालदृष्टि	त० ४८।४६
७७	संवरभद्र	वज्रगीतावबाद	त० ४४।२१
७८	सहजयोगिनीचिन्ता	व्यक्तभावानुगततत्त्वसिद्धि	त० ४६।७
७६	सागर (सि० ७३)	आलिकालिमहायोगभावना	त० ४८।८०
८०	समुद्र [सि० ८२]	सूक्ष्मयोग	त० ४८।६७
८१	सुखवज्र	मूलप्रकृतिस्थभावना	त० ४७।३६

भारतमें मानव-विकास

त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन

विज्ञानविद् ज्योतिषियोंका मत है कि, पचास खर्व वर्ष पूर्व अपने ग्रह उपग्रहों-सहित सूर्यका एक ही पिण्ड था। उस वक्त सूर्य और भी अधिक गर्म था। पृथिवी तथा मङ्गल आदि ग्रहोंकी निर्मापक सामग्री भी, वाष्प रूपमें होनेके कारण, सूर्यपिण्ड उस समय बहुत दूरतक फैला हुआ था। यद्यपि उस समय सूर्य आजसे बहुत अधिक बडा था, तथापि इसके कारण सारा आकाश आच्छादित न था। रातको दिखाई पडनेवाले अगणित तारोंमें भी करोडों तारे उस समयके सूर्यके बराबर हैं, किन्तु क्या उनसे आकाश आच्छादित हो गया है? यह तारे तो आकाशमे वैसे ही हैं, जैसे विशाल समुद्रमें तैरता एक जहाज! सूर्यके पासवाले भागके अतिरिक्त उस समय भी आजकी ही तरह सारा आकाश अत्यन्त शीतल था। किसी समय आकाशके किसी दूरवाले भागसे एक विशाल तारा सूर्यको ओर अग्रसर होने लगा। जैसे-जैसे वह सूर्यके अधिक समीप होने लगा, वैसे-वैसे सूर्यके वाष्पसमुद्रमें ज्वार-भाटा उठने लगा। समीपतम स्थानपर पहुँचनेके समय यह ज्वार-भाटा करोडों मील लम्बी सूर्यकी पूँछ बन गया। जब सूर्यसे वह तारा दूर जाने लगा, तब, जिस प्रकार ज्वारके वेगमे कितना ही फेन समुद्रसे बाहर फेंक दिया जाता है, वैसे ही वाष्पमय सूर्यका कुछ अंश अपने प्रधान पिण्डसे अलग फेंक दिया गया। यह फेंका हुआ भाग अब सूर्य-पिण्डकी चारों ओर घूमने लगा। यही सौर-मण्डलका ग्रह हुआ। करोड़ो वर्षोंके अन्तरपर कितने ही ऐसे तारे सूर्यके समीप पहुँचे, और, इस प्रकार अनेक सौर-ग्रहोंकी सृष्टि हुई। दो अरब वर्ष पूर्व उक्त प्रकारसे ही पृथिवी सूर्य-पिण्डसे अलग हुई (वैसे ही किसी आकाशीय ताराके कारण पृथिवीका एक भाग अलग होकर चन्द्रमाके रूपमें हो गया)।

पृथिवी पिण्डकी उष्णता निकल-निकलकर अब अपने चारों ओरके शीतल आकाशमें फैलने लगी। धीरे-धीरे ऊपरी भागपर पपड़ी (पर्पटी) पड़ने लगी, जिसकी चारों ओर उष्णतासे बने वायु-मण्डल और मेघ-मण्डल मँडराने लगे। कभी कभी वर्षा भी होती थी; किन्तु उस तप्त पपड़ीपर वह विलीन हो जाती थी। बीच-बीचमें पृथिवी थर्रा उठती थी और पपड़ी टूट-फूटकर ऊँची-नीची भूमि तैयार करती थी। जब पृथिवीका तापमान कुछ कम हुआ, तब वर्षाका जल उन खड्डोंमें ठहरने लगा। यही आदिकालीन समुद्र हुआ, जो खारा न था। यह पपड़ीवाले पत्थर ही आज स्फटिक आदि स्तररहित चट्टाने हैं। पीछे (किन्तु, जीवकल्पसे पूर्व) आस-पासके नंगे पहाड़ोंसे धुलकर जो तह-पर-तह कीचड़ जमने लगी, वही आजकल अजीव सस्तर पाषाण है। प्रथम समुद्रका जल बहुत गर्म था। जब लाखों वर्ष बाद पृथिवीका ऊपरी भाग कुछ और ठण्ढा हो गया, तब उसमें केंचुए जैसे अस्थि रहित जीव पैदा होने लगे। जीवका विशेष गुण है भीतरसे वृद्धि तथा प्रसव।

भूगर्भशास्त्री पृथिवीपर जीवकी उत्पत्ति हुए ३० करोड़ वर्ष मानते हैं, जिसे जीवकल्प कहा जाता है और इससे पहलेके समयको अजीवकल्प (*Azoic*)। धीरे-धीरे तापमान भी कम होने लगा। मृत जीवों तथा धुलकर आयी कीचड़के सम्मिश्रणसे अब और अधिक विकसित जीवोंका खाद्य तैयार होने लगा, जिससे केँकड़ा आदिकी तरह जन्तुओं तथा निम्न श्रेणीके वनस्पतियोंकी सृष्टि हुई। जब हम इस ३० करोड़ वर्ष पूर्व आरम्भ हुए पुराण जीवकल्पसे चलकर २० करोड़ वर्ष पूर्व आरम्भ हुए मध्य जीवकल्पमें आते हैं, तब पृथिवीपर गोधा और मगरकी जातिके विकराल सरीसृप दिखायी पड़ते हैं। पृथिवीके गर्भसे सौ सौ फीट लम्बी प्रस्तरीभूत इनकी हड्डियाँ मिली हैं। उसी समय पृथिवीके दलदलमें करीर जैसे पत्ते रहित विशाल वृक्ष पैदा हुए, जिनको ही आज हम कोयलेके रूपमें पाते हैं।*

सरीसृपोंके कालके अन्तमें पृथिवीके जल-वायुमें कुछ इस प्रकारका भयङ्कर परिवर्तन हुआ कि, उनकी अधिकांश जातियाँ नष्ट हो गयीं। लेकिन उस समय वृक्ष समुद्रके पासवाली शुष्क भूमिमें भी पैदा होने लगे थे। उधर जल, स्थल दोनोंमें निवास करनेवाले प्राणियोंसे एक ओर लोमधारी, स्तनधारी जन्तु और दूसरी ओर पक्षी उत्पन्न होने लगे थे।

वनस्पतियोंमें विकास होते होते जैसे जैसे भूमिके नीचेसे जल ग्रहण कर हरे-भरे रहनेवाले वृक्ष जलके तटसे दूरतक फैलते जा रहे थे और, जैसे-जैसे प्राणियोंके शरीरपर शीत उष्णके सहनके लिये विशेष लोम, पंख आदि निकलते आ रहे थे, वैसे-ही-वैसे भूचालोंसे समुद्रके गर्भकी, ऊपर उठ आयी, मृत्तिकासे युक्त भूमिपर वह जलसे दूर-दूर फैलते गये।

वैज्ञानिकोंका कहना है कि, इन्हीं लोमधारी, सस्तन प्राणियोंमें कुछ अपने शत्रुओंसे बचनेके लिये वृक्षोंपर चढ़नेका यत्न करने लगे। सैकड़ों पीढ़ियोंके सतत अभ्याससे उनके हाथ-पैर वृक्षोंपर चढ़नेके उपयोगी हो गये। इस प्रकार वृक्षारोहणमें पटु वानरोंकी सृष्टि हुई।

हम सरीसृपोंके युगसे नवजीव कल्पमें होते नवजीवकी उषा (*Eocene*) युगमें प्रवेश कर चुके

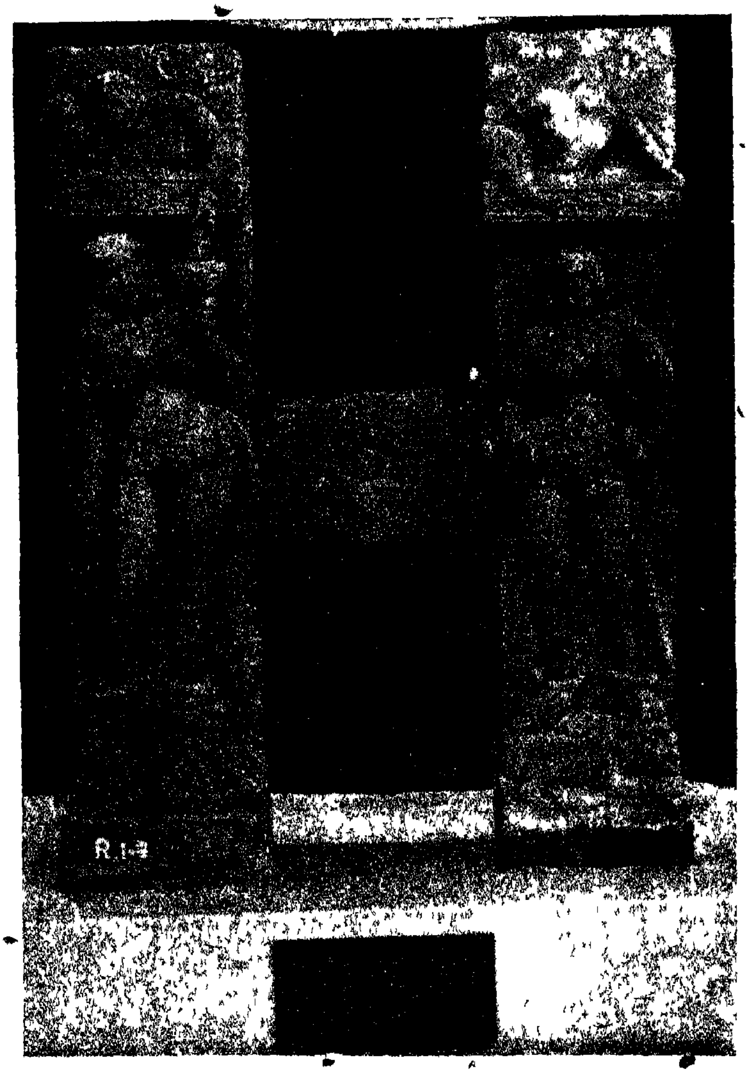
* एक प्रस्तरीभूत वृक्ष-खण्ड पटनाके सग्रहालयमें रखा हुआ है।



१५८—५०००० वर्ष पूर्वका नियाडर्थल पुरुष



१५९—५०००० वर्ष पूर्वकी नियाडर्थल स्त्री



१५७—कुषाण कालीन यक्षिणियोकी प्रतिमाए
(मथुरा म्युजियम)

अल्प-नवजीव उषाके समय भारतमें विन्ध्याचलसे दक्षिणवाला भाग ही समुद्रतलके बाहर था। हिमालय, तिब्बत और सारा उत्तरी भारत उस समय समुद्रके गर्भमें निमग्न था। मध्य-नवजीव-उषा [*Miocene*] युगमें प्रचण्ड भूचालोंका ताँता बँध गया, जिसके फल-स्वरूप हिमालय पृथिवीके गर्भसे ऊपर उठ आया। समुद्र-गर्भसे निकलनेके कारण हिमालयकी ऊँची चोटियोंतकपर आजकल सामुद्रिक जन्तुओंकी प्रस्तरीभूत अस्थियाँ मिलती हैं।

भूचालने सीधी तौरसे भूमिको नीचेसे ऊपर नहीं उठाया था, इसीलिये अजीवकल्पसे समुद्रके गर्भमें तह-पर-तह जमी मिट्टी सीधे एकके ऊपर एक न होकर आँडे बड़े गयी। यही कारण है, जो हम पहाड़ोंमे पत्थरोंकी तहोंको अस्त-व्यस्त पाते है। हिमालयसे वर्षाका जल अब समुद्रकी ओर बहने लगा। यही जल मार्ग नदियाँ बना। लाखों वर्षों तक नदियाँ अपने साथ अपार मृत्तिका राशिको समुद्रमे पाटता रहा। उधर इतस्ततः होनेवाले भूचालोंने भी समुद्रकी स्थिति पर प्रभाव डाला। इस प्रकार गङ्गा आदि नदियोंने लाखों वर्षोंके परिश्रमके बाद उत्तरी भारतके मदानको समुद्रासुरके जालसे बाहर निकाला।

जिस समय उत्तरी भारतका मैदान बनाया जा रहा था, उसी समय हिमालयके निम्न भाग सिवालिक (=सपादलक्ष)में नाना जन्तुओंकी वृद्धि हो रही थी। इसमे गारीला आदि कितने ही आजकल वहाँ न मिलनेवाले प्राणी भी थे, जिनकी प्रस्तरीभूत हड्डियाँ (*Fossil*) आज भी वहाँ मिलती हैं। नवजीवोषा-युगके इस भागको, प्राणियोंकी अधिकताके कारण, बहु-नवजीवोषा कहते है, जो कि, प्रायः तीस लाख वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ था। इसके अन्तिम भाग या आजसे ४-५ लाख वर्ष पूर्व सिवालिकमें ऐसे वनमानुष थे, जिनकी अस्थियोंसे पता लगता है कि, वह मानवताकी ओर अग्रसर हो रहे थे। तीन-चार लाख वर्ष पूर्व, अतिशय नवजीवोषा युगमे, हिमालयका नीचेवाला भाँगर प्रदेश बन रहा था। उसमें मिली प्रस्तरीभूत अस्थियोंसे पता लगता है कि, वहाँ कितने ही इस प्रकारके घोड़े, गाय, गैंडे, दरियाई घोडे आदि रहते थे, जिनकी जाति वहाँ लुप्त हो गयी। इसी समय सिवालिकमें मनुष्य और वनमानुषके बीचकी स्थितिके प्राणी रहते थे। यह वही समय था, जिस समय कि, जावाका नर-वानर (*Pithecanthropus erectus*) निवास करता था।

दो लाख चालीस हजार वर्ष पूर्व पृथिवीपर एक भयङ्कर हिमप्रलय उपस्थित हुआ। इसके कारणके लिये वैज्ञानिक कई अनुमान लगाते हैं। कोई कहते है, इसी समय सौरमण्डलसे बाहरका कोई तारा पृथिवीके समीपसे होकर गुजरा, जिसके कारण पृथिवीकी भ्रमणधुरी तिरछी होगयी, जिससे ऋतुओंमें फर्क पड गया (अथवा सौरजगत् ही घूमते-घूमते आकाशके किसी अत्यधिक शीतल प्रदेशमें पहुँच गया)। अन्य वस्तुओंसे जलमे यह विशेषता है कि, जहाँ अन्य वस्तुएँ सर्दीकी अधिकताके कारण सिकुडने लगती हैं, वहाँ जल अतिशय सर्दीके कारण जमता जरूर है; किन्तु उससे वह सिकुडनेकी जगह फैलने लगता है। यदि आज पृथिवीके सारे समुद्र जम जाँय, तो उनका जल बर्फ बनकर, पृथिवीपर सब जगह सैकड़ों हाथ मोटा होकर, फैल जाय। उस समय पृथिवीकी भ्रमण-धुरीके तिरछी हो जानेसे सर्दीकी अधि-

कता हो गयी और उत्तरी गोलार्द्धमें जहाँ बर्फकी टोपी उत्तरी ध्रुवसे बढ़ती समस्त उत्तरी यूरोप, और, न्यूयार्कतक उत्तरी अमेरिका, बारहो मासके लिये, हिमसे ढक गये, वहाँ दक्षिणी गोलार्द्धमें टस्मानिया, न्यूजीलैंड आदिकी भी वही दशा हुई। भारतमें हिमालयकी हिमानियाँ (ग्लेसियर) जो आज दस हजार फीटसे नीचे कहीं नही हैं, पोठवार (कश्मीर)में दो हजार फीट (समुद्र-तलसे ऊपर)तक चली आयी। उस समय कल-कत्तेमें लदन जैसी सर्दी पडने लगी थी। कारण कुछ भी हो, इस हिमयुगने सारे भूमण्डलपर अपनी अचल छाप छोडी है।

प्रथम हिम-युग हजारो वर्षों तक रहा। फिर दूसरा हिम-युग आया। एक लाख वर्ष पूर्व तीसरा हिम युग और पचास हजार वर्ष पूर्व चौथा हिम युग आया। इन हिम युगोने पृथिवीके प्राणी-जगत्‌में घोर उथल पुथल उत्पन्न की। कई प्राणि जातियाँ, इसके कारण, पृथिवीतलसे सदाके लिये विलुप्त हो गयी। जिन्होने आत्मरक्षाके लिये शरीर और मनका पूरा उपयोग किया, वह साधन सम्पन्न बनकर अपने अस्तित्वको कायम रखनेमें सफल हुई। कोई एक लाख वर्ष पूर्व, अन्तिम हिमयुगसे बहुत पूर्व, यूरोपमें एक प्रकारकी मनुष्य-जातिका पता लगता है, जिसे हाइडेल-वर्गीय मनुष्य कहते हैं। वैसे गोरीला और बबून भी डडे या पत्थर फेंककर मारते देखे जाते हैं, किन्तु हाइडेलबर्गीय मनुष्य तोड़-फोडकर तेज बनाये ऊबड-खाबड़ पत्थरके हथियारोंका प्रयोग किया करता था। पचास हजार वर्ष पूर्व, चतुर्थ हिमयुगके समय, यूरोपमे नियाण्डर्थल मनुष्य-जातिका पता लगता है। सर्दीकी अधिकताके कारण इसे पहाडोकी प्राकृतिक गुफाओमें शरण लेनी पडी थी। यह पत्थर और लकडीके हथियारोंका प्रयोग करता था। सर्दीसे बचनेके लिये जहाँ वह आगका प्रयोग जान गया था, वहाँ मारे हुए जानवरोकी खालोको भी लपेटता था। इसके शरीरकी बनावटसे मालूम होता है कि, अभी यह वाणीका प्रयोग करना बिल्कुल ही नही, अथवा अत्यल्प, जानता था। अभी इसे धर्म, देवता आदि-की कल्पना नही हुई थी। हाँ, उस समय लगूरोंकी भाँति सबसे अधिक शक्तिशाली मनुष्य सभी स्त्रियो (माँ, बेटी, बहनतक) का स्वामी होता था। पुत्र युवावस्थातक पहुँचते पहुँचते या तो कुटुम्ब-पति द्वारा मार डाला जाता था, अन्यथा उसे जान बचाकर अपने जैसे भगोडोकी जमायतमे शामिल हो जाना पडता था। कुटुम्बपतिकी शक्ति जैसे ही क्षीण होने लगती थी, वैसे ही उसका काम तमाम कर दूसरा बलशाली पुरुष उसकी जगह ले लेता था। इसी कारणसे उस समय कुटुम्बपति चालीस वर्षसे अधिक शायद ही जी पाता था।

जिस समय यूरोपमें नियाण्डर्थल मनुष्य गुफाओमे निवास करता था, उसी समय दक्षिणी भारतके कडपा, गुन्तूर, कर्नूल आदिकी गुफाओमे मनुष्य वास करता था। दोनोकी स्थितिमे फर्क यह था कि, जहाँ चतुर्थ हिमयुगके कारण यूरोपमें असह्य सर्दी पड रही थी, वहाँ दक्षिण भारतमे सह्य सर्दी पडती थी। चालीस हजार वर्ष पूर्वसे पचीस हजार वर्ष पूर्वतक धीरे धीरे युरोपसे हिमकी कठोरता जाती रहा भारतमे भी इसका प्रभाव उसीके अनुसार हुआ।

पचीस हजार वर्ष पूर्व यूरोपके स्पेन आदि देशोंमें मनुष्योकी एक जाति बसती थी जिसे क्रोमेग्नन

(*Cromagnon*) कहते है। नियाडर्थल मनुष्य उस समय भी मौजूद था, तो भी दोनोका रक्त-संमिश्रण न होना शायद नियाडथल की कुरूपता और बीभत्सताके कारण हो। क्रोमेग्नन मनुष्य शिकारी था। एक प्रकारके छोटे घोडे उसके प्रधान खाद्य थे। जिनके लाखो कङ्काल सोलुत्र आदि स्थानोमें मिले है। स्पेनकी गुफाओमे इनके बनाये अनेक चित्र भी मिले है। ये चित्र बहुत ही अधेरी जगहमें हैं, जिससे पता लगता है कि, ये दीपकका भी प्रयोग करना जान गये थे। यह मुर्दोंको दबाया करते थे। मिट्टीके खेलौने बना लेते थे, किन्तु इन्हें बरतन बनानेका ज्ञान न था। इससे अनुमान होता है कि, अभी मास आदि भोजन पकाकर ये खाना नहीं जानते थे। जिस समय क्रोमेग्नन-जाति दक्षिण पश्चिमीय यूरोपमें वास करती थी, उसी समय मिर्जापुरके सिंगनपुर तथा दूसरे प्रदेशोंमें भी आदमी निवास करते थे। इन्होंने भी अपनी गुफाओंमें अनेक चित्र और छिले पाषाणोंके हथियार छोड़े है। दोनोके चित्रोमे जगली जानवरो तथा शिकारके दृश्य ही मिलते है, जिनसे मालूम होता है, अभी इन्हें देवताओं और धर्मकी कल्पना नही हुई थी। शायद अभी यह भाषाको विकसित न कर सके थे। भाषाके बिना परम्परा और पुरानी कथाओंको एक पीढीसे दूसरी पीढीमें कैसे पहुँचाया जा सकता है? परम्परा और कथाएं ही तो देवताओं और धर्मकी सृष्टि करती है।

बारह हजार वर्ष पूर्व मनुष्योंमें एक नयी प्रगति दिखायी पडती है। अब मनुष्य छिले पत्थरोके हथियारके स्थानपर घिसकर चिकने किये पत्थरके हथियारोका बर्ताव करता था। इसी कारण इस युगको नव-पाषाणयुग (*Neolithic*) कहते हैं। इस युगके साथ भूरे रंगकी इबेरियन जाति (द्रविड़-जाति, जिसकी कि, एक शाखा कही जाती है) इस युगमें अगुआ है। कहते हैं, इस जातिका मूल स्थान वही प्रदेश था, जहाँ आज भूमध्यसागर है। चतुर्थ हिमयुगसे पूर्व यह प्रदेश बहुत ही हरा, दो विशाल झीलोंका सुन्दर, देश था। हिमके अधिक पिघलने-से अटलांटिक-महासागर जलतल भूमध्य-प्रदेशके तलसे बहुत ऊँचा होता गया। पानीने अपनी शक्ति लगाकर जिब्राल्टरके जल विभाजकको काट दिया। अब अटलांटिकका जल भूमध्यकी द्रोणीमे पड़ने लगा। जैसे-जैसे समय बीतता गया, जलमार्गकी वृद्धिके साथ जल भी अधिक मात्रामे आने लगा। यह जलप्लावन प्राय ई० पू० १३०००–८००० वर्षों तक होता रहा। भूमध्य-वासी भूरी जाति तबतक अपनी भाषाको किसी हद्तक विकसित कर चुकी थी। उसकी सन्तान जब इस प्रकार अशरण हो उत्तर, दक्षिण और पूर्वकी ओर भागने लगी, तब अपने साथ इस जल-प्लावनकी कथाको भी लेती गयी। इस जातिने यूरोपमें जाकर क्रोमेग्ननका स्थान ग्रहण किया। सुमेरियन, सिन्धु उपत्यका (मोहञ्जोदारो) के निवासी तथा प्राचीन मिश्री भी सम्भवत. इन्हीकी सन्तान थे। चिकने पाषाणके अस्त्रोके अतिरिक्त इसने धनुष् वाणका भी आविष्कार किया। पहले, जब (ई० पू० ४००० से पूर्व) धातुका पता न लगा था, तब चकमक पत्थरको रगडकर तेज किये टुकडे ही वाणके फरके स्थानपर प्रयुक्त किये जाते थे। शिकारमें लगातार पहुँच जानेवाले कुत्तोको इसने पहले-पहल पालतू जानवर बनाया। पीछे गाय, भेंड आदिको भी पालतू बनाया। जानवरोंके खानेके लिये घास काटकर जहाँ रख दी जाती थी

वहाँ भूमिके सरस होनेपर उन्होंने लम्बी लम्बी घासोंको उगते देखा। इस प्रकार पहले चारेके लिये ही कृषिका आरम्भ हुआ। पीछे, अनाजकी उपयोगिताको जाननेपर, उसकी खेती भी आरम्भ हुई। खेतीके फन्देमें पड़नेके साथ-साथ मनुष्य वन-वन विहरनेवाले स्वच्छन्द प्राणीके स्थानपर खूँटेपर बँधे पशुकी तरह एक जगह बस गया। अब पशुपालन कृषक-जीवनका एक गौण अङ्ग रह गया। अपने शत्रुओं (कृषकों और पशुपालकों, दोनों) से रक्षा पानेके लिये वह ग्राम (झुंड) बनाकर रहने लगा। शत्रुकी सख्याकी वृद्धिके साथ जहाँ अपनी सख्या बढ़ाकर वह नगर बसाने लगा, वहाँ पारस्परिक लड़ाइयोंमें वीर और अधिक समझदार नेताओंका प्रभाव बढ़ते-बढ़ते राजाका पद कायम हुआ। सूसा [ईरान] के ध्वंसावशेषके प्राचीनतम स्तरमें शिकारी कृषक जीवनका चिह्न मिला है। अब तकके निकले ध्वंसावशेषोंको देखकर विद्वानोंका कहना है कि, पहला ग्राम मेसापोटामियामें बसा था और उसी समय वहीं कृषि भी आरब्ध हुई थी। यह समय ई०पू० १० हजारके करीब होगा।

बहुत पुराने समयमें, जब अभी उत्तरी-भारतके सहित हिमालय समुद्रके गर्भमें था, दक्षिणी भारत अफ्रीका और लङ्काके आगेतक फैले महाद्वीपका एक भाग था। इस बातका प्रमाण उनके पाषाणों और पुराण जीवधारियोंकी प्रस्तरीभूत अस्थियोंकी समानतासे मिलता है। चतुर्थ हिमयुगके बाद जिन मनुष्य जातियोंका हम भारतमें निवास पाते हैं उनमें सबसे पुरानी दो जातियाँ हैं—एक हब्शी जैसी (*Negroid*) दूसरी प्राग्द्राविडीय (वेद्दा, मुंडा आस्ट्रेलियन आदि)। आदि चन्नलूर (मद्रास) में मिली खोपड़ीकी कपाल सख्यितियाँ (*Cephalic indices*) वेद्दा लोगों जैसी हैं। चित्रोंके सादृश्य आदिके देखनेसे सिंगनपुरके चित्रकार भी उक्त आस्ट्रेलियन आदि जातियोंसे सम्बन्ध रखते मालूम होते हैं। नव-पाषाणकाल (१०,००० ई० पू० से पहले) यही दो जातियाँ भारतमें बसी मालूम होती हैं। नवपाषाणयुगमें भूमध्यदेशीय भूरीजातिका,* मालूम होता है, स्पेन, मिश्र, मेसापोटामिया, ईरान और भारतसे चीनतक दौरदौरा था। चिकने पाषाणके हथियारोंके अतिरिक्त इसी जाति द्वारा सूर्य-नाग-पूजा तथा स्वस्तिकका चारों ओर प्रचार हुआ था। पाँच हजार वर्ष पूर्व यहाँ सिन्धु उपत्यकाके मोहञ्जोदारो तथा हरप्पा जैसे नगरोंमें रहा करता था। विद्वानोंका कहना है कि, यही वह असुर-जाति थी, जिससे २००० ई० पू० में भारत पर हमला करनेवाले आर्योंका सघर्ष हुआ, और, आजकलकी द्रविड तथा उत्तरीय भारतकी भर आदि जातियाँ उसीकी सन्तानें हैं। मालूम होता है, भूमध्य-देशीय* भूरी-जाति, जलप्लावनके समय, बहुत अधिक सख्यामें भारतमें नहीं आयी थी, इसी लिये उसपर बहुत शीघ्र मुंडा और हब्शी रंगकी छाप पड़ गयी। तभी तो असुरजाति को सुचतुर नागरिक मानते हुए भी आगन्तुक आर्योंने 'चिपटी नाकवाली' तथा कृष्णकाय कहा। इस द्रविडजातिके सुसभ्य होनेका पता तो इससे भी लगता है, जो उसने छोटानागपुरके प्राग-

* इस भूजातिमें समेटिक (प्राचीन असीरियन, फिनीशियन तथा आधुनिक यहूदी और अरब) हमेटिक (प्राचीन मिश्री और उनके वंशज आधुनिक कूप्त), ईबेरियन, प्राचीन केल्ट, यूरोपके बास्क, सिन्धु उपत्यकाके निवासी एवम् आधुनिक द्रविड़ हैं।

द्राविड़ीय ओरावोंको उनकी भाषाके स्थानपर अपनी भाषा बोलनेको बाध्य किया; जैसा कि पीछे प्राग्द्राविडीय भीलों एवं द्राविड़ भरोंको आर्यभाषा-भाषी बनाकर आर्योंने किया। पाँच हजार वर्ष पूर्व द्रविड-सभ्यता कहाँतक उन्नत थी, यह मोहञ्जोदारो और हरप्पाके सम्बन्धमें अन्यत्र प्रकाशित लेखोंसे मालूम होगा। जिस समय दक्षिणी यूरोपमें बास्क लोगोंके पूर्वज, क्रीटमें वहाँके सभ्य निवासी, मिश्रमें प्राचीन मिश्री, मेसोपोटामियामें सुमेरीय लोग निवास करते थे, और, अन्तिम तीन जातियाँ उस समयकी दुनियामें सबसे अधिक सभ्य जातियाँ थीं, उसी समय मध्य एशियासे काले सागरके उत्तरी तटतक शिकार और पशुचारण करती एक जाति निवास करती थी, जिसे ऐतिहासिक लोग आर्यके नामसे पुकारते हैं।× यूरोपनिवासी, अमेरिका, अफ्रीका, और आस्ट्रेलिया आदिकी गोरी जातियाँ, ईरानी, अफगान तथा उत्तरी भारतके निवासी इन्हीं आर्योंकी सन्तान हैं। इस आर्यजातिकी उत्पत्ति कैसे हुई, इसमें कई मत हैं। कोई-कोई मानते हैं कि, प्राचीन गोरी (आर्य), भूरी [सुमेरीय, द्रविड आदि], पीली [मंगोल], काली [हब्शी] और दाक्षिणात्य [वेद्दा,मुंडा आदि] सभी मनुष्य जातियाँ एक ही मनुष्य जोड़ेकी सन्तानें हैं, और, लाखों वर्षोंतक भिन्न-भिन्न जलवायुओं एवं भिन्न भिन्न परिस्थितियोंमें रहनेके कारण उनमें इतना फर्क हो गया। उनके मतसे मनुष्य-सृष्टि पृथ्वीके एक स्थानपर हुई थी, किन्तु अधिकांश विद्वान् चारों पाँचों मनुष्य-जातियोंके मूल पुरुषोंको अलग अलग मानते हैं।

पाँच हजार वर्ष पूर्वके आर्य किस अवस्थामें थे, इसका कुछ पता हमें भारतीय आर्योंके पुरातन ग्रन्थ वेद, ईरानी आर्योंके पुरातन ग्रन्थ अवस्ता और सभी आर्योंके समान कथानकोंसे कुछ-कुछ मिलता है। गायों, भेड़ोंके अतिरिक्त ये लोग घोड़ोंको भी पाला करते थे। घोड़ोंका पालन यह प्रथम सवारीके लिये न करके दही-दूधके लिये करते थे, जैसे कि दक्षिण-पूर्वी रूसके लोग आज भी अधिकतर कूमिस्के लिये उन्हें पालते हैं। सहस्राब्दियों तक चरवाहोंका जीवन बिताकर ई०पू० २५०० में इनका एक दल हिरात [उत्तरी अफगानिस्तान] के आस-पासके प्रदेशमें आ गया। दूसरा दल अपना कुछ भाग पामीरसे उत्तर-पश्चिमके प्रदेशमें [जहाँ कि, पुराने तुखारी आर्य बसते थे] छोड़कर रूसके रास्ते पश्चिमकी ओर बढ़ता गया। संख्या-वृद्धिके साथ उन्हें नये चारागाहोंकी खोजमें और भी आगे बढ़ना पड़ा। हिरातमें रहते हुए, मालूम होता है, आर्योंमें फूट पड़कर उनके दो दल हो गये थे। एककी सन्तान वैदिक आर्य थी और दूसरेकी ईरानी आर्य। ई०पू० २००० के करीब वैदिक आर्योंकी एक शाखा ईरानके रास्ते मेसोपोटामिया पहुँची और वहाँ सभ्य सुमेरीय जातिको परास्त कर उसने अपना अधिकार जमाया। यह मित्तन्नी (आर्य)-जाति, जिसने सभ्य दुनियामें सर्वप्रथम घोड़ेका प्रवेश कराया, ईरानी आर्योंके अन्तर्गत न होकर वैदिक आर्योंकी शाखा थी, यह मित्तन्नी (*Mittani*) राजा मत्ति-उ-अजा और सेमेटिक-जातिके हित्ताइत (*Hittite*) राजा सुब्बि-लु-लि-

×आदिम आर्य-निवासके पूर्व मंगोल जातिका आदिनिवास था, जिसकी सन्तानें तिब्बत मंगोलिया, चीन, कोरिया, जापान आदिके लोग हैं।

उमाके बोगज़ कोई (*boghaz-kui*) [मेसोपोटामिया] से प्राप्त अभिलेखसे मालूम होता है, जिसमें ईरानी आर्यो के असम्मत इन्द्र आदि वैदिक देवताओंका सम्मानपूर्वक नाम आया है । जान पड़ता है, जिस समय मित्तन्नी आर्य मेसोपोटामिया-की ओर गये, उसके बाद हा ईरानी आर्यों के पूर्वज भी पश्चिमकी ओर चल पड़े ।

भारतीय आर्य जब सुवास्तु [स्वात, अफगानिस्तान] की उपत्यकामे पहुंचे, तभीसे सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्य जातिसे उनका मुकाबिला शुरू हुआ। इन्हो दोनो जातियों का संघर्ष हमारे वेद और पुराने साहित्यमे देवासुर-संग्रामके नामसे प्रसिद्ध है। असुर (द्राविड) यद्यपि अधिक चतुर और सभ्य थे, तो भी हजारों वर्षों से नागरिक जीवन बिताते हुए वह अधिक व्यसनी तथा सैनिक प्रकृतिसे हीन हो गये थे। यही कारण था कि, वह अपने सैकड़ा किलेबन्द नगरो और शिक्षित सैनिकों के होते हुए भी, अशिक्षित, किन्तु लड़ाकू, आर्यो द्वारा पराजित हुए। इतिहासमे खानाबदोश असभ्य जातियाँ अक्सर विजयी होते देखी गयी हैं।

विजयी होकर अब आर्य पराजित द्राविडोके संसर्गमे आकर धीरे-धीरे सभ्य बननेके साथ अपने सरल और परिश्रमी जीवनको त्याग कर उनके आराम-पसन्द जीवनको अपनाने लगे। असुरोंके पुरोहितोकी नकलपर इन्होंने भी अपनेमें ब्राह्मण-पुरोहितोंकी सृष्टि की । युद्धके बाद जब दोनों जातियाँ सिन्धु उपत्यकामे बस गयी, तब विजेता और पराजितके झगड़ने एक दूसरा ही रूप धारण किया। आर्यों ने कृष्णयोनि* (काली जाति) चिपटा नासिकावाली या निर्णास, खर्बकाय आदि कहकर पराजितोसे घृणा करनी शुरू की। आजकल के अमेरिकाके गोरो और हब्शियों की भाँति उन्होंने वर्ण (रङ्ग)का प्रश्न उठाकर अनार्यो से ब्याह शादीकी कड़ी मनाही कर दी। तो भी इसका मतलब यह नही कि, आर्य अपने रक्तको शुद्ध रख सके। यह होना सम्भव ही कैसे था, जब कि, उनके घरों में अनार्य दासों का प्रवेश निरबाध होता था और उनके आस-पास अनार्यो की बस्तियाँ अधिक थी।

मोहञ्जोदारोकी खोदाईमे लोहेका कही पता नही है। आर्यो के पुराने साहित्यमे भी लोह और आयस शब्द ताँबे और लोहे, दानोके लिये प्रयुक्त हुए हैं, इसीलिये केवल लोहेके लिये कृष्ण-आयस् और केवल ताँबेके लिये ताम्र-लोह शब्दोको गढना पडा। लोहेका आविष्कार ई० पू० १००० के आस-पास हुआ था । उससे पूर्व ताँबे और पीतलके ही हथियार सिन्धु, मेसोपोटामिया, मिश्र, क्रेत, सभी जगह व्यवहृत होते थे। आर्योंके आनेसे पूर्व ही सिन्धु उपत्यकाके लोग एक प्रकारकी चित्रलिपिका व्यवहार करते थे। उसके बादकी किसी लिपि (जो सम्भवत. हालमे सम्भलपुर जिलेके गॉगपुरमे मिली शिला-लिपि-सी थी)से आर्यों ने अपनी ब्राह्मी-लिपि तैयार की। भारतमे आनेसे पूर्व ही भय और वीर-पूजाने आर्यो के लिये अनेक देवी-देवता पैदा कर दिये थे, सिन्धु-उपत्यकाके संसर्गने उनमे कई अनार्य-देवोकी वृद्धि की।

हम पहले कह आये है कि, अति पुरातनकालमें भारतमे हब्शी और आस्ट्रिक या दाक्षिणात्य प्राग्द्राविडीय (मुंडा आदि) जातियाँ वास करती थीं। फिर ७, ८ हजार वर्ष पूर्व अल्पसंख्यक, किन्तु सुसभ्य, भूरी द्राविड-जाति आयी । अब आर्योंके

* देखिये ऋग्वेद (२।२०।७)।

आनेसे एक चौथी जातिका समागम हुआ। इनमें आर्य गौरवर्ण, दीर्घकाय, तुङ्गनास (ऊँची नाकवाले), अभिनील नेत्र तथा भूरे बालोंवाले थे। बाकी तीन जातियाँ बहुत कुछ आपसमें मिल गयी थीं। वह कृष्णकाय, चिपटी नासिकावाली, खर्वदेह, होती थीं। इसके अतिरिक्त उनमेंसे किन्हीं-किन्हींमें अँगूठिया बाल, स्थूल ओष्ठ तथा आगे निकला मुँह—यह हब्शी शरीर-लक्षण भी मिलता था, यद्यपि हब्शी रुधिरकी प्रचुरता न होनेके कारण वह अधिक न दिखाई पडता था।

मानव तत्त्वके पण्डितोंने भिन्न-भिन्न जातियोका शरीराकृतिकी परीक्षा कर उनमे अनेक भेदक लक्षण या अभिव्यञ्जन (*Index*) पाये हैं। इनमें जो अभिव्यञ्जन अधिक स्थिर रहता है, उसे व्यवस्थित अभिव्यञ्जन कहते हैं, जो नही, उसे अव्यवस्थित अभिव्यञ्जन कहते हैं। (१) लम्बाई (कद), (२) कपाल-सस्थिति और (३) नासिका सस्थिति, ये तीन व्यवस्थित अभिव्यञ्जन कहे जाते हैं।* इनमे भी पहलेसे दूसरा और दूसरेसे तीसरा अधिक प्रामाणिक है। अव्यवस्थित अभिव्यञ्जन है शरीर आँखों और बालोके रंग तथा आँखों और बालोंके आकार प्रकार आदि। आर्य अनार्यके अव्यवस्थित व्यञ्जनोके बारेमे हम पहले कुछ कह चुके हैं। यहाँ उनके व्यवस्थित व्यञ्जनोंके बारेमे कुछ अधिक लिखनेकी आवश्यकता है। कपाल संस्थितिसे मतलब कपालकी लम्बाईको १०० मानकर उसकी चौडाईका परिमाण मालूम करना। नासिका-संस्थितिमें भी नाककी लम्बाईको सौ मानकर नथुनोंपर नाककी चौडाईका अनुपात लगाया जाता है। लम्बाई नापते वक्त भौंके नीचे नाकके दबे हुए भागसे आरम्भ कर नासाग्रतक नापना चाहिये। ठीक परिणामपर पहुँचनेके लिये यह आवश्यक है कि, एक जातिके रक्त-सम्बन्धियोके सौ-डेढ सौ व्यक्तियोंको विना किसी चुनावके लिया जाय।

नापसे मालूम हुआ है कि, भूमण्डलके आर्योंकी लम्बाई प्राय: १६१० मिलीमीटर (५ फीट ४·४ इंच)से नीचे नहीं होती। कपाल संस्थिति ७१·३ और नासिका-सस्थिति ७५ से ऊपर नही जाती। अनार्योंका कद १५४० मिलीमिटर (५ फीट १·६ इंच)तक छोटा तथा कपाल और नाककी सस्थितियाँ क्रमश: ७५·६ और ७० से कम नही होती। आर्योंमे कपाल सस्थितिमे गोल सिर भी पाया जाता है, जैसे भारतमे गुजरातियो और मराठोके सिर तथा दक्षिणी यूरोपकी कुछ जातियोके सिर, इसलिये बाकी दो बातोका भी खयाल रखना चाहिये।

विभिन्न स्थानोके आर्योंके निश्चित कायमान इस प्रकार पाये गये है—

	लम्बाई (मिलीमीटर)†	कपाल	नासिका
सिन्धु अफगान	१६४२ से १६८३ तक	८० से ८२·८	६७·८ से ७४·३

* ५ फीट ७ इंचसे अधिक ऊँचा आदमी दीर्घाकार आर्य कहा जाता है, ५ फीट ५ इंच—५ फीट ७ इंच मध्यमाकार, ५ फीट ३ इंच—५ फीट ५ इंच अनुमध्यमाकार, ५ फीट ३ इंचसे कम खर्वाकार। ८० से अधिक कपालसंस्थितिवाला आयत (गोल) शीर्ष, ८०-७५ मध्यशीर्ष, ७५ से कम लम्बशीर्ष। ७० नासिकासंस्थितिवाला तुङ्गनास आर्य होता है, मध्यनास [द्रविड], ७०-८५ और आयतनास [मगोल] ८५ से अधिक सस्थितिवाले होते है।

† २५ मिलीमीटर =१ इंच।

	लम्बाई [मिलीमीटर]	कपाल	नासिका
सिन्धु-ईरानी	१६४२—१६८३	८०—८२·८	६७८—७३·३
ईरान- भूमध्यदेशीय	१६३३—१७४५	७६·२—७६·८	५६·६—७३ ३
अर्मेनियन-पामीर	१६६०—१७०८	८४·१-८९·५	६२·६—८२
जार्जियन	१६४६ – १६५८	८२ ५—८४·२	५७·६—६४·५

उत्तरी भारतके आर्यों के कुछ कायमान देखिये—

	लम्बाई	कपाल	नासिका
राजपूत (राजपुताना)	१७४८	७२ ४	७१·६
पंजाबी	१६८४	७४·२	७० २
सिक्ख	१७०६	७२·७	६८ ८

इसकी तुलना भारतकी कुछ आर्य-भिन्न जातियों से कीजिये-

	लम्बाई	कपाल	नासिका
बेद्दा (सीलोन)	१५७१	७५·१	८४ १.८
मुंडा	१५८६	७४·५	८६ ६
नामिल	१६३६	७५·६६	७६·६७
द्रविड-हिन्द	१६२३	७५ २	८२ ३७

हिमालय, बङ्गाल और आसामके भारतीयोंमें काफी मगोल-रुधिर है। यहाँ कुछ मगोल जातियों के अभिव्यञ्जन देखिये —

	लम्बाई	कपाल	नासिका
बुर्यत् (साइबेरिया)	१६?१	८४·५	७२·५
लदाखी(कश्मीर)	१६३४	७६·७६	७?·५४
लिपचा(दार्जिलिंग)	१५७०	७६ ६	६७·२
जापानी	१५८४	७७ ६५	७२ ६४

वदिक आर्यों के बाद भी, सिकन्दरके समय, हजारो यूनानी, सीथियन [मग शक], जाट, गूर्जर आभीर आदि आर्य जातियाँ भारतमें आती गयीं और उत्तर-भारतीय आर्योंमें मिलती गयो। द्रविड तथा दूसरी अनार्य-जातियाँ या तो विजेताओंके आज्ञाकारी और दास बनतो गयी अथवा मध्यकी पहाडियों और दक्षिणकी ओर हटती गयी। इन जातियोंके समागमसे रक्त-सम्मिश्रण होना अनिवार्य था। फर्क इतना जरूर रहा कि, पंजाब और राजपुतानेसे हम जितना ही अधिक पूर्वकी ओर बढते हैं, उतनी ही हम आर्य-रक्तकी मात्राको कम होते देखते हैं, और द्रविड-रक्तकी मात्राको बढते देखते हैं। विहारकी सीमा पार कर बंगाल और आसाममें फिर उत्तरसे आयी मंगोल जाति का रक्त सम्मिश्रण होने लगता है। यह रक्त सम्मिश्रण सभी जातियो में एक-सा नही है। उदाहरणार्थ

पूर्वीय युक्तप्रान्त और बिहारकी अहीर-जातिको ले लीजिये। उनमें और जातियोंकी अपेक्षा आप अधिक गोरे रंग और भूरे बालोंको पायँगे। व्यवस्थित अभिव्यञ्जनों [लम्बाई, कपाल और नासिकाके मानों]को भी देखनेसे आपको मालूम होगा कि, उन प्रदेशोंमे यही एक जाति है, जिसमे सबसे अधिक आर्य-रुधिर है।

उपसंहार

वैज्ञानिकोंने जो मनुष्यके विकासको मत्स्य, मण्डूक, सरीसृप, पक्षी और स्तनधारी आदि क्रमसे माना है, वह विशेषतः दो बातोंके आधार-पर है। जीव-कल्पके पाषाणोंकी तहोंमें हम उसी क्रमसे उन्हें पाते हैं। यह पाषाण समकालीन घटनाओंके इतिहास-ग्रन्थ हैं, जिनका एक-एक स्तर उस ग्रन्थका एक-एक पन्ना है। फर्क इतना ही है कि, बीच-बीचमे आनेवाले हजारों प्रचण्ड भूकम्पोंने इस ग्रन्थके पन्नोंको तोड-फाड डाला है। अमेरिकाकी पश्चिमी रियासतोंके कुछ स्थानों-की भाँति पृथ्वीपर कहीं-कहीं करोड़ो वर्षोंके पाषाणस्तर अक्षुण्ण मिलते हैं। वहाँ ऊँट, घोड़े आदिकी भिन्न-भिन्न कालकी हड्डियाँ इस विकास-सिद्धान्तकी अच्छी पुष्टि करती है। प्रस्तरी-भूत हड्डियोंके बाद दूसरा प्रमाण स्वयं प्राणियोंकी आरम्भिक गर्भ आदि अवस्थाओंमें मिलता है। मेंढक चूँकि मछलीसे विकसित हुआ है, इसलिये उसको मेँढकके रूपमें आनेसे पूर्व मछलीका रूप धारण करना पड़ता है। उस वक्त उसकी आकृति ही मछलीकी तरह नहीं होती है, बल्कि वह मछलीकी ही भाँति, फटे गलेसे, पानीके भीतर भी साँस ले सकता है। अपनी वर्तमान अवस्था तक पहुँचनेके लिये मनुष्य-जातिको जिन-जिन मंजिलोंको पार करना पड़ा, अब भी प्रत्येक मनुष्यको गर्भाशय और शैशवमें उन सभी अवस्था-ओंसे गुजरना पड़ता हैं। गर्भमें वह, आरम्भिक अवस्थामें, मछलीकी तरह रहता और अन्यान्य अवस्थाओंसे गुजरते ४—५ मासकी अवस्थामें वह सपुच्छ वानर-सा रहता है। प्रसवके समय वनमा-नुषकी भाँति उसके हाथ बड़े-बड़े होते हैं। शैशवमें वह कितने ही विकसित वानरोंकी भाँति चतुष्पद और द्विपद, दोनोंकी तरह चलता है और, शायद सोचता भी है। यहाँतक कि, तीन चार वर्षकी अवस्थामें कितनी ही शारीरिक और मानसिक क्रियाओंमे पचास हजार वर्ष पूर्वके अपने चालीस वर्ष बूढ़े पूर्वजोंकी अवस्थाकी आवृत्ति करता है। ज्योतिषियोंका कहना है कि, आजसे दस खर्व वर्ष बाद पृथ्वी क्रमशः ठंडी होते-होते इतनी सर्द हो जायगी कि, भूमध्यरेखाका ताप-मान ध्रुवके समान ठंडा हो जायगा। कितनी ही बातोंमे जैसे हमने अपने पूर्वजोंसे प्रगति की है, उसी तरह करके आजसे दस हजार वर्ष बाद आनेवाली हमारी सन्तान १० ही वर्षकी उम्रमे हमारे चालीस वर्षके पण्डितोंकी तरह सोचने लगेगी और भूत कालके अनुभवोंसे फायदा उठावेगी।

पृथिवी जब ठंडी तथा प्राणि-वनस्पति-शून्य हो जायगी, उस समय यदि फिर किसी महान् आकाशीय पिण्डने आकर पृथिवी या सौरमण्डलमें भयङ्कर आग लगा दी, तो उक्त घटनाचक्र फिर आरम्भ हो जायगा। *

* गणित जैसे कुछ विज्ञानोंको छोड़कर वैज्ञानिक, अपनी सभी वैज्ञानिक खोजोंके लिये, सत्यके समीपतम होनेका ही दावा करते है। संशोधन-खण्डनको स्वीकार करनेके लिये वह हमेशा तैयार रहते है। धर्मानुयायी लोग इसे उनकी निर्बलता

महत्त्वके कुछ कालोंकी सूची इस प्रकार है –

२ अरब वर्ष पूर्व पृथिवीकी उत्पत्ति। ३० करोड वर्ष पूर्व प्राणीकी उत्पत्ति। २ करोड पूर्व विकराल सरीसृपोंकी उत्पत्ति। ३० लाख पूर्व सिवालिकके जन्तु। ४—५ लाख पूर्व सिवालिकका नर-वानर। ३—४ लाख पूर्व जावाका नर वानर, हिमालयकी तराईके भाँगरकी उत्पत्ति। ३ लाख पूर्व (?) प्रथम हिमयुग। २ लाख पूर्व (?) द्वितीय हिमयुग। १—१॥ लाख पूर्व हाइडल वर्गीय मनुष्य। १ लाख पूर्व तृतीय हिमयुग। ५० हजार पूर्व चतुर्थ हिमयुग, नियाण्डर्थल और कडपा तथा कर्नूलके मनुष्य। ४०००० २५००० पूर्व चतुर्थ हिमयुगका दबना। ३००००–२५००० पूर्व दक्षिणी यूरोपमे क्रोमेग्नन् मनुष्य, सिगनपुर मिर्जापुरमें प्राग्द्राविडीय (?) मनुष्य, वास्तविक मनुष्य के इतिहासका आरम्भ। ई० पू० १३०००-८००० जल-प्लावन, भूमध्यसागरका निर्माण। ई० पू० १२०००—८००० सूर्य—नाग-पूजा और स्वस्तिक-चिह्नके अनुयायियोंका यूरोप, भारत, चीन, अमेरिका आदिमें फैलना। ई० पू० १०००० नवपाषाणयुग, पशुपालन, कृषि और मिट्टीके बर्तनोंका आरम्भ; ग्राम बसाना; सभ्यताका आरम्भ। ई० पू० ७००० (?) धनुर्बाणका आविष्कार। ई० पू० ४,००० ताँबेका आविष्कार। ई० पू० ३,००० मोहञ्जोदारोकी सभ्यता। ई० पू० २५०० पीतलका आविष्कार, हिरातमें आर्योंका आना। ई० पू० २००० सुवास्तुमें आर्योंका बसना, मितन्नी आर्योंका मेसोपोटामिया पहुँचना, आर्यों के नेतृत्वका आरम्भ। ई० पू० १,५०० आर्योंका सिन्धु उपत्यकापर अधिकार, आर्योंका यूनान (ग्रीस) पर अधिकार। ई० पू० १,००० लोहेका आविष्कार। ई० पू० ५६३—४८३ गौतम बुद्ध [बुद्धिवादके आचार्य] ई० पू० ५३० सिन्धुप्रदेशपर ईरानियोंका अधिकार। ई० पू० ३२३ यूनानी आर्योंका भारतमें आना। ई० पू० २ ० चीनमें कागजका आविष्कार। ई० पू० १००—ई० २०० शक, मग आदिका भारतमें आना।

संसारकी भाषाएँ

साहित्याचार्य मग'

जिस वस्तुकी आवश्यकता हमें प्रतिपल हुआ करती है, उसका कुछ ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है। प्राणिमात्रके लिये भाषा कितनी उपयोगिनी वस्तु है, यह बतानेकी जरूरत नहीं।

वैज्ञानिकोंका कहना है कि, सृष्टि हो जानेके बाद भी मनुष्य मौन था, केवल इशारोंसे ही अपने मनोभावोंको व्यक्त करता था। इस तरह जब काम नहीं चला, तब धीरे-धीरे शब्द बनने लगे, क्योंकि आवश्यकता ही नयी वस्तुओंकी सृष्टि करती है। शब्द तैयार करनेकी कोशिशें होने लगीं, पर सहसा नहीं शब्द बन सका। इस असफलतापर अचानक उन कोशिश करनेवालोंके मुँहसे जो "हा" आदि शब्द निकले, वे ही दुःखबोधक

कहेंगे, किन्तु यहीं उनकी सबसे बडी शक्ति निहित है। विज्ञान कभी धर्मोंकी दोहाई नहीं देने जाता, किन्तु धर्म विज्ञानकी दोहाई देता फिरता है। क्या यह विज्ञानकी प्रबलताको नहीं सिद्ध करता ?

कहलाये। इस तरह शब्द बन गया। खुशी हुई। मुँहसे फिर शब्द निकले। अबके ये सुखबोधक कहलाये। शनैः-शनैः शब्द बनने लगे। पेड़से पत्ता गिरा। 'पत' आवाज हुई। उसका नाम पड़ा पत्र। पत्रोंके द्वारा खाने-पीनेमें सुविधा हुई; अतः जिन-जिन वस्तुओंके द्वारा खाने-पीनेमें सुविधा हुई, उन सबका नाम रखा गया--पात्र। इतना ही नहीं, जिस मनुष्यके द्वारा कुछ सुविधा मिली, वह भी कहलाया "सुपात्र"। हिन्दू-शास्त्रोंके मतमें प्रथम ध्वनि, नाद या स्फोट हुआ है; अनन्तर भाषा हुई है।

अभिव्यक्ति द्वारा अपने मनोभावोंको, दूसरेको, समझा देनेका नाम भाषा है अथवा कण्ठ-तालु-जिह्वा आदिके सहारे जो वर्णात्मक मनोभाव-व्यक्तकारी शब्द निकलते हैं, उनके यथायथ निवेशको भाषा कहते हैं। संस्कृत, लैटिन, हिन्दी आदि अनेक भाषाएँ हैं और सब भाषाओंकी वाक्य योजनामें कुछ-कुछ पार्थक्य है।

पशु-पक्षियों और कीट-पतंगोंकी भी भाषा होती है। त्रस्त बछड़ेका शब्द सुनकर गाय उसके पास दौड़ पड़ती है, सिंहके गर्जनको सुनकर बनैले जानवर एकबारगी ही सहम जाते हैं और अपने वर्गकी बोली सुनकर सब जानवर खुश हो जाते हैं। कोयलकी कुहू-कुहूपर दूसरी कोयल कूकने लगती है और माँके आनेपर छोटी चिड़ियाँ खुशीसे "चुनमुन" करने लगती हैं। इससे यह परिज्ञात होता है कि, पशुओंकी भी भाषा है। परन्तु, मनुष्योंकी भाषा अपेक्षाकृत स्फुट और सर्वावयव-पूर्ण है।

संसारस्थ सब विभागोंके मनुष्योंकी भाषाओंके भेदोप भेदोंको दायरेके अन्दर ले आना कुछ हँसी-खेल नहीं है; अतः इस छोटेसे निबन्धमें मैं केवल भाषाओंके मुख्य-मुख्य अङ्गोंपर ही प्रकाश डालता हूँ। नहीं तो, भाषाका रूप चार-चार कोसोंपर ही बदलता रहता है और दुनियामें न मालूम ऐसे कोसोंकी कितनी चौयुगियाँ होंगी!

भारतकी आदिम आर्यभाषा वैदिक संस्कृत है। वेदोंमें भी ऋग्वेदका स्थान पहला है। दूसरे वेदोंकी भाषा ऋग्वेदसे नहीं मिलती। ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद्, आरण्यक और सूत्रग्रन्थ आदिकी संस्कृत भी ऋग्वेदसे बहुत-कुछ भिन्न है।

बोलचालकी भाषासे साहित्यिक भाषा भिन्न होती ही है। जैसे होमरकी भाषा ग्रीक-भाषासे और शेलीकी कवितागत भाषा लैटिनसे पृथक् है, वैसे ही उन दिनोंकी वैदिक भाषा भी लौकिक भाषासे पृथक् थी। मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी, पुरोहितोंकी, अध्वर्युओंकी और याजकोंकी भी भाषा छन्दोगत भाषासे भिन्न थी। बोलचालकी भाषा में सन्धि और प्रत्ययके कुछ भेद रखे जाते थे, व्यावहारिक भाषाका शब्दकोष भी भिन्न था, व्याकरणकी उतनी पाबन्दी नहीं थी। इसकी बदली, कहीं शब्दोंके रूपान्तरमें प्रवेशसे, कहीं प्रकृति-प्रत्ययके अनूठे संश्लेषसे और कहीं उधार लेकर 'नीचों'की भाषासे, हुई थी। "प्रगल्भ, वल्मीक, शल्क, गर्भ" आदि-आदि शब्द बोले जाते थे, जिन्हें माहेश, यास्क, पाणिनि आदिने 'प्रगल्भ, वल्मीक, शल्क, गर्भ' आदि लिखा है। कुछके विचारसे उन दिनों भी प्राकृत भाषा बीज रूपमें थी।

कहते हैं, अगर प्राकृत नहीं रहती, तो इस भाषाका नाम संस्कृत क्यों पड़ता। सन् ईसाके पहले, चौथी सदीमें, महावैयाकरण मुनि पाणिनिने, जब भाषाको इधर-उधर भड़कते देखा, तब उन्होंने इसे सूत्रोंकी कड़ियोंमें बाँधकर नये सिरेसे संस्कृत किया। बस, प्राकृतकी प्रतिद्वन्द्विता में इसका नाम "संस्कृत" पड़ गया। नहीं तो, सन् ईस्वीके पाँचवें शतकमें वर्तमान निरुक्तकार यास्कने इस भाषाको लक्ष्य कर केवल कहा है—'इमां भाषां' और पतञ्जलिने संस्कृत-भाषियोंको केवल 'शिष्ट' ही कहा है। मेदिनी आदि कोष-कारोंने संस्कृतको "लक्षणोपेतम्" कहा है यानी संस्कृत वही है, जो लक्षणकी कसौटीपर कसी गयी है। भरतके विचारसे "पाणिन्यादि-

कृत-व्याकरणसूत्रेणोपेत उपगतो लक्षणोपेत.' है यानी पाणिनि-आदिकृत व्याकरण-सूत्रके द्वारा सिद्ध, साधु शब्द ही संस्कृत है।

यद्यपि संस्कृत ग्रन्थकी ही भाषा थी, पर थी सर्व-सुलभ। प्राकृत बोलनेवाले नीच पात्र भी संस्कृतको आनन्दसे समझ जाते थे। बात यह थी कि, प्राकृतकी शैलीसे वैदिक भाषा मिलती-जुलती थी। हम देखते हैं कि, तृतीयाके बहुवचनमें, वैदिक भाषामें, "देवेभिर्महि षस्य च, यज्ञेभिरीमहे, पूर्वेभि, देवकर्मेभि' इत्यादि व्यवहृत होते हैं और प्राकृतमें भी "भिसो हि" सूत्रके बल 'पुव्वेहि देवेहि, देवकम्मेहि" आदि प्रयुक्त होते हैं। पञ्चमीके एक वचनमें, वैदिक भाषामें, "निहितास उच्चा नक्रम्, उच्चा, नीचा, पश्चा" आदि जिस तरहके शब्दरूप होते हैं, ठीक उसी तरह प्राकृतमें भी "वच्छा, पच्छा" आदि होते हैं। वैदिक भाषामें, चतुर्थीके स्थानमें, "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" षष्ठी विकल्पसे होती है और प्राकृतमें तो चतुर्थीकी जगह षष्ठी ही होती है। प्राकृत सदा द्विवचनकी जगह बहुवचनको ग्रहण करती है और वैदिक साहित्य भी यत्र-तत्र इसी परिपाटीको स्वीकार करता है, जैसे, "इन्द्रावरुणौ"की जगह "इन्द्रावरुणा", "मित्रावरुणौ"के स्थानमें "मित्रावरुणा" और "यौ सुरथितमौ दिविस्पृशावश्विनौ"के बदले "या सुरथितमा दिविस्पृशा अश्विना" इत्यादि। वैदिक भाषामें बहुतायत से अन्त्य व्यञ्जनका लोप हो जाता है, जैसे "पश्च, पश्चा" आदि और प्राकृतमें "यावदादिषु वस्य"के अनुसार "जाव, ताव" यावत्, तावत् आदिके स्थानमें होता है। वैदिक साहित्यमें सन्धि इच्छाधीन रखी गयी है, "तिरो अह्नात्, देवासो आदिह, स इद्देवेषु, ते नो अवन्त" और प्राकृत में भी "दुस्सन्द अकन्द, का अम्हो परित्तायो एत्थ, पढम उग्घोसिम, मुणिजणो अत्ताण अणुग्गहीदु" इत्यादि प्रयुक्त होते हैं। षष्ठीके बहुवचनमें वैदिक साहित्य "गोनाम्, देवानाम्, ऋषीनाम्, ऋनूनाम्" आदिको ग्रहण करता है और प्राकृतने उस "नाम्"को जरा मरम्मत कर "णं" बनाकर अपनाया है। इसी प्रकार अन्य कतिपय स्थलोंमें प्राकृत भाषा वैदिक भाषासे बहुत मिलती-जुलती है।

यह तो निर्विवाद है कि, पहले छान्दस संस्कृत मृत-भाषा नहीं थी, इसकी चलती भारतमें खूब जोर-शोरसे थी। लेकिन देश-भेदसे इस भाषामें भी भेद हो गया था। नहीं तो, उत्तर-देशीय तथा पूर्वदेशीय विद्वान् पाणिनिके सूत्रों द्वारा सिद्ध प्रयोगोंको वैकल्पिक क्यों मानते? मतलब यह कि, उन देशोंमें पाणिनि-सिद्ध वे प्रयोग उस तरह बर्ते नहीं जाते थे, पर पाणिनिकी धाक सर्वत्र थी। सबने उनका सम्मान किया और उन प्रयोगोंको वैकल्पिक मान लिया। प्रादेशिक प्रयोगोंका उल्लेख पाणिनिने तो किया ही है, बल्कि यास्क, वररुचि और पतञ्जलिने भी किया है। ऋग्वेद आदिमें भी 'कृणु, कुणु' आदि रूपभेद मिलते हैं।

संसार परिवर्तनशील है। कुछ-न-कुछ रद्दोबदल हमेशा होता ही रहता है। अगर एक मनुष्य कुछ ही दिनोंके लिये दूसरे प्रान्तमें जा बसता है, तो उसकी पहली भाषा विकृत हो जाती है। संस्कृत आदि भाषाओंमें, जो नियमकी कड़ियोंमें जकड़ी हैं, भले ही अब कुछ विकार पैदा न हो, परन्तु उच्चारण-वैषम्य तो उनके लिये भी अनिवार्य है। मैथिल 'पट'को 'खट्' कहते हैं, बङ्गाली 'पत्नी'को 'पत्नी' बोलते हैं और आर्यसमाजी 'यज्ञ'का 'यज्ञ' उच्चारण करते हैं। संस्कृत-श्लोकोंका उच्चारण जिस प्रकार बंगाली करते हैं, उस प्रकार महाराष्ट्रीय नहीं।

संस्कृत और प्राकृतके शब्द संश्लेषणात्मक हुआ करते हैं यानी विभक्ति आदि उनसे पृथक् नहीं जोड़ी जाती। रामाश्रमाचार्यने बताया है—"विभक्त्यन्त पदम्" और पाणिनिने कहा है—"सुप्तिङन्त पदम्"। संस्कृतकी ही तरह संश्लेषणात्मिका होती हुई भी प्राकृत व्याकरणकी

जाल आँखें नहीं सहती है। प्रातिपादिक और धातुओंके रूपोंमें इसने बहुत कुछ कमी कर दी है। सरलताके खयालसे व्यञ्जनोंके क्लिष्ट संयोगोंको और असुखोच्चारण वर्णोंको (कगचजतदपयवा प्रायो लोपः) इसने छोड़ दिया। वररुचिने इसके चार भेद किये हैं--महाराष्ट्री या प्राकृत, शूरसेनी, पैशाची, मागधी।

किसी समय भारतमें पाली-मागधी बोली जाती थी। ईसाके पूर्व पाँचवीं-छठी शताब्दियोंमें भगवान् बुद्धने इसी (मागधी) भाषामें उपदेश दिया था। राज-भाषा यही थी — अशोककी आज्ञाएँ इसीमें थीं। साहित्यिक भाषा भी यही थी—काव्य, ज्योतिष, गणित आदिके ग्रन्थ इसीमें रचे गये थे।

बहुतोंके विचारसे पाली ही संस्कृतकी ज्येष्ठा कन्या है। यद्यपि पाली और प्राकृतमें बहुत कम अन्तर है, तथापि व्याकरणकी स्वत्व-रक्षा प्राकृतकी अपेक्षा पालीमें कुछ अधिक है। कहते हैं, जब कि, उत्तर भारतमें, संस्कृतकी चलती कम होने लगी, तब कथित भाषा यानी बोलचालकी भाषामें पाली ही साहित्यक्षेत्रमें उतरी। ऐसा ही विचार मि० बर्नुफ और लासेनका भी है।

बौद्धोंका धर्मग्रन्थ "धम्मपद" पाली-भाषामें लिखा गया है। पाली-भाषाका श्लोक--

'न मोनेन मुनी होती मुल्ह-रूपो अविद्दसु।
यो च तुल पग्गयूह वरमादाय पण्डितो॥'

प्राकृतमें— 'न मोणेण मुनी होइ मूढरूवो अविद्दसु
यो च तुन घेत्तूण वर पण्डितो॥"

संस्कृत —"न मोनेन मुनिः भवति मूढरूप अविद्वान्
यः च तुल्यं प्रगृह्य वरमादाय पण्डितः॥"

मतलब यह कि, पालीने संस्कृतका अनुधावन किया है और प्राकृतने पालीका पीछा किया है। इसके अनन्तर प्राकृतका भी अपभ्रंश होने लगा। यह अपभ्रंश प्राकृत-ग्रन्थ लिखनेके काममें बहुत कम आयी है।

इसके बाद दसवीं सदीमें हिन्दीका अभ्युत्थान हुआ। बारहवीं सदीमें चन्द बरदाईने "पृथ्वीराजरासो" लिखा, जिसमें पश्चिमी हिन्दी प्रयुक्त हुई है। खड़ी हिन्दीकी नींव यद्यपि बहुत दिनोंसे पड़ चुकी थी, तथापि उसका जन्मकाल शाहजहाँके समय (१६२७ ई०)में माना जाता है। शाहजहाँके बसाये शाहजहानाबादके बाजारमें ही केवल उस समय हिन्दी बोली जाती थी, जिससे इसका एक नाम उर्दू भी पड़ गया। तुर्कीमें उर्दू शब्द लश्कर या छावनीके बाजारको कहते हैं।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओंका वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है—१—केन्द्रस्थ या आभ्यन्तर-प्रदेशस्थ भाषा (पश्चिमी हिन्दी)। २—मध्यवर्ती या अवान्तरवर्ती भाषाएँ (पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी, पहाड़ी, पूर्वीय हिन्दी)। बाह्य-प्रदेशस्थ भाषाएँ (उत्तर-पश्चिमी भाषाएँ—सिन्धी, लहँडा काश्मीरी, कोहिस्तानी)। दक्षिणी भाषा—मराठी। पूर्वी भाषाएँ (बँगला, आसामी, बिहारी, उड़िया)।

आजकलकी जनगणना विवरणके अनुसार भारतमें १४० प्रकारकी भाषाएँ प्रचलित हैं, जिनमें जंगलियोंकी भी भाषाएँ परिगणित हुई हैं।

भाषातत्त्वविदोंने रहस्यको प्रकाशमें ले आनेके लिये यानी भाषाओंका वर्गीकरण करनेके लिये भाषा-परिवारकी खोज निकाली है। पहला हिन्दू-यूरोपीय भाषा-परिवार है, जिसमें प्रथम भारतीय भाषावर्ग है; और, जिसका संक्षिप्त परिचय मैंने ऊपर दे दिया है। प्राचीन जगत्‌की महत्त्वपूर्ण संस्कृत, ग्रीक और लैटिन भाषाएँ इसी भाषा-परिवारसे सम्बन्ध रखती हैं। इस परिवारका विस्तार समस्त यूरोप, अमेरिकाके कुछ भाग, ईरान और उत्तरीय भारतवर्षमें है।

इसी वर्गमें प्राचीनतम ईरानी भाषावर्ग है, जो दो भागोंमें विभक्त है। एक पूर्व ईरानकी भाषा और द्वितीय पश्चिम ईरानकी भाषा। पूर्वीय ईरानकी भाषाका नाम जन्द (छान्दस) है, जिसमें (१४०० बी० सी०) पुस्तक अवेस्ता लिखी गयी है। इस अवेस्ताके ऊपर भी भाषा-तत्त्वज्ञोंका ध्यान बहुत अधिक आकृष्ट हुआ है; क्योंकि इसकी भाषा वैदिक भाषासे बहुत कुछ मिलती-जुलती है। लेकिन संस्कृत-साहित्यकी तरह न तो इसका साहित्य ही विस्तृत है और न व्याकरणकी तरह इसका व्याकरण ही प्रौढ़ है।

अवेस्ता पारसियोंका धर्मग्रन्थ है। इसके रचयिताका नाम है ज़रथुस्त्र। अवेस्ताका प्रथम भाग, जिसमें केवल गाथाएँ या गीत हैं, वही, ज़रथुस्त्रका रचा है, इसीसे वैदिक भाषाका साम्य है, भाषा ही नहीं भावका भी। ए० वी० विलियम्स जैक्सनने अपने "अवेस्ता ग्रामर"में इस निम्नांश को उद्धृत किया है-"*Təm amavantəm yazatəm, surəm dāmohu səvištəm, mithrəm yazai zaothrābyo*"

तनिक हेर-फेर कर कोई भी इसे इस प्रकार वैदिक रूप दे सकता है- "तम् अमवन्त यजतम्, शूरम् धामसु शविष्ठम्। मित्र यजै होत्राभ्य।"

(तम्) उसे (अमवन्त) बलवान् (यजतम्) यजन करने योग्य (शूरं) वीर (धामसु) तेजमें यानी प्राणियोंके लिये (शविष्ठम्) उपकारी (मित्र) मित्र देवताकी (होत्राभ्यः) आहुतियों द्वारा (यजै) पूजा करता हूँ।

जन्दभाषामें, चवर्गमें केवल 'च, ज', टवर्ग एकदम साफ, वर्गोंके द्वितीय और चतुर्थ सोष्म स्पर्शोंका भी अभाव और आनुनासिक व्यञ्जनोंका कुछ ही अंशोंमें संस्कृतसे मेल खाता है। जन्दमें 'ल' भी नहीं मिलता। हाँ, संस्कृतकी ही तरह तीनों वचन और सम्बोधन लगाकर आठों विभक्तियाँ हैं। धातु-रूपोंमें भी संस्कृतकी ही तरह, इसमें काल, क्रिया-प्रकार और वाच्य आदि होते हैं। संस्कृत और जन्दकी घनिष्ठता स्पष्ट करनेके लिये मैं कुछ उदाहरण दिये देता हूँ—

अहम् *Azəm*, वयम् *Vaəm*, यज् *Yaz*, विश्व *Vispa*, अश्व *Aspa*, पुत्र *Puthra*, हृद् *Zard*, सोम *Haoma*, सप्त *Hapta*, असि *Ahi*, अस्मि *Ahmi*। इन शब्दोंका जो अर्थ संस्कृतमें है, वही अर्थ जन्दमें भी है।

पश्चिमीय ईरानकी पुरानी भाषाका नाम प्राचीन फारसी है। यह फारसी पुराने लेखोंमें पायी जाती है। जिन लेखोंको कीलकाक्षरोंमें, डेरियस आदि राजाओंने, ईसा पूर्व ५२१-४८५ तकमें, खोदवाया था, वे पुरानी फारसीमें ही हैं। इसकी भाषामें अनेक बातें जन्दकी ही तरह हैं। वर्णमाला भी जन्दकी अपेक्षा सीधी-सादी है। जैसे—संस्कृत यदि, जन्द *Yezi*, प्राचीन फारसी *Yadiy*
संस्कृत हस्त, जेन्द *Zasta*, प्राचीन फारसी *Dasta*
" अहम्, " *Azəm*, " " *Adam*

मध्यकालीन फारसीको पहलवी भी कहते हैं। अवेस्ताके कई भागोंका अनुवाद इसी पहलवी-भाषामें हुआ है। पहलवी प्रायः करके सेमिटिक लिपिमें लिखी जाती थी। जहाँ पहलवीके शब्दोंको लिखनेमें दिक्कत होती थी, वहाँ उनके अर्थोंके बोधक समिटिक शब्द ही रख दिये जाते थे। मध्यकालीन फारसी अर्वाचीन फारसीसे कुछ-कुछ मिलती-सी है।

अर्वाचीन फारसीका सबसे पुराना रूप ९४० से १०२० ईस्वी तकमें, महाकवि फिरदोसीकी भाषामें, पाया जाता है। धीरे-धीरे इसपर अरबीका रंग चढ़ने लगा और कुछ दिनोंमें यह रंग गहरा हो गया। परिवर्तित कुछ शब्दोंको मैं पेश कर रहा हूँ—

संस्कृत	ज़न्द	पहलवी	अर्वाचीन फारसी
स्व	*Hvato*	*Khot*	*khud*
अप्	*Ap*	*Ap*	*Ab*

इन दिनों आधुनिक फारसीके बहुतसे प्रादेशिक भेद हो गये हैं। ईरानी भाषा-वर्गसे सम्बन्ध रखने वाली और भी भाषाएँ हैं। जैसे काकेशसमें बोली जानेवाली ओसेटिक, बिलोचिस्तानकी तथा पामीरकी बोलियाँ और कुर्दी या कुर्दिश। इन सभी भाषाओंपर ज़न्दकी एक हलकी छाप, गौर करनेवालोंकी नजरमें, आ जाती है।

आर्मीनियन भाषाके साहित्यको ईसाई पादरियोंने चौथी सदीमें नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। बड़ी दिक्कतसे अब कुल बीस लाइनें देखनेको मिलती हैं। बादके साहित्यमें सेमिटिक भाषाकी पालिश इसपर चढ़ गयी और एशिया माइनरके किनारेके आर्मीनियन-भाषा-क्षेत्रपर फारसीका नृत्य होने लगा। बाहरसे घुसे हुए शब्दोंको हटा देनेपर विशुद्ध आर्मीनियन भाषा बाल्टिक-स्लैवोनिक भाषावर्ग और भारत-ईरानी भाषावर्गके बीचकी भाषा प्रतीत होती है। इसके स्वरोंमें यूरोपीय भाषाओंसे समता है और व्यञ्जनोंमें भारत-ईरानी-भाषा-वर्गसे। आर्मीनियनका *Tasn* शब्द लैटिन *Decem* और ग्रीक *Deka* की अपेक्षा संस्कृत दशन् और फारसी दहसे अधिक मिलता है।

एशिया माइनरकी भारत-यूरोपीय भाषाएँ प्राचीन फ्रिजियन और लिसियन भाषाओंका हिन्दू-यूरोपीय भाषापरिवारसे ही सम्बन्ध था। लिसियन भाषाके अनेक प्राचीन लेख मिलते हैं और फ्रिजियनके भी कुछ प्राचीन लेख फ्रिजियामें मिले हैं।

यूरोपकी समस्त भाषाओंमें हिन्दू-ईरानी-भाषावर्गसे ग्रीक-भाषावर्गका ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसने प्राचीन मूल भाषाके स्वरोंको बहुत अधिक सुरक्षित रखा है; किन्तु मूल व्यञ्जनोंकी विकृतिपर इसने ध्यान नहीं दिया—बहुत हेर-फेर हो गया। मूल भाषाके घ, ध, भ के स्थानपर इसमें ख, थ और फ का प्रयोग होता है। जैसे—धूमः *Thumo's*, भरामि *Phero*, दीघ *Dolikho's*

ईसासे ८०० या १००० वर्ष पूर्व होमर इसी भाषामें कविता करता था। किन्हींका यह भी विचार है कि, उसकी भाषा साहित्यिक थी, बोलचालकी नहीं। ईसा पूर्व पाँचवीं सदीमें एस्काइलसने भी ग्रीक भाषामें बहुत कुछ लिखा था।

ग्रीक भाषावर्गकी सबसे मुख्य भाषाओंमें आइओनियन (यावनी) और डोरिक ग्रीक हैं। आइओनियनमें ऐटिकाकी भाषा भी है, जिसमें एस्काइलस, सोफोक्लीज, प्लेटो और अरिस्टाटिलने लिखा है। इसी ऐटिकाके आधारपर पीछेसे ग्रीस-देश भरमें हेलिनिस्टिक ग्रीकका जन्म हुआ। ईसाइयोंकी धर्मपुस्तक (*New Testament*) इसी भाषामें लिखी गयी है। स्पार्टाके निवासियों या लेसीडेमोनियनोंकी भाषा डोरिक ग्रीक थी। ये सब ग्रीसके दक्षिणी प्रायद्वीपमें बसे थे। इस भाषाके कवि पिंडरके कुछ गीत, कुछ खण्ड-काव्य और दुःखान्त नाटकोंमें कोरस ही मुख्य साहित्य हैं।

अल्बानियन भाषामें प्राचीन साहित्य एकदम नहीं है।

इटैलिक भाषावर्गकी प्राचीन साहित्यिक भाषा लैटिन थी। यही भाषा प्राचीन समयमें, इटलीमें, बोली जाती थी। इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली आस्कन और अम्ब्रियन जैसी कुछ भाषाएँ भी वहाँ चलती थीं। आस्कन दक्षिण इटलीमें और अम्ब्रियन उत्तरीय भागमें बोली जाती थी। इन दोनो पुरानी भाषाओंके प्राचीन लेख अब भी अवशिष्ट हैं। इसके सिवा उत्तरीय इटलीमें यत्र-तत्र केल्टिक, टस्कनीमें एट्रुस्कन और कहीं-कहीं ग्रीक भी बोली जाती थी।

हाँ, किसी जमानेमें विजयी रोमने विश्वके कतिपय भू-भागोंमें लैटिनको जबर्दस्ती बिठा दिया था। इस

लैटिनके सामने, इटैलिक भाषाएँ, फ्रांसकी केल्टिक और स्पेनकी आइबीरियन आदि भाषाएँ पनाह माँगने लगी थीं। रोमन सेनाओंके जवान गाँवोंके बाशिन्दे थे, अत उनकी विकृत लैटिनसे फ्रेंच, स्पेनिश, रुमानियन आदि भाषाएँ उत्पन्न हुईं।

फ्रेंच भाषाका केन्द्र पेरिस है। इसकी गणना संसारकी एक उन्नत भाषामें है। इसका गद्य-साहित्य श्लाघनीय है। इटलीके सबसे बड़े कवि दान्तेने १२६५ ईस्वीमें जन्म लेकर इटलीके साहित्यकी बहुत कुछ श्रीवृद्धि की थी। इनकी भाषा फ्लारेंस नगरकी फ्लारेंटाइन थी। स्पेनिश और पोर्तुगीज भाषाओंका पारस्परिक भेद प्रदेशिक-सा मालूम पड़ता है; किन्तु स्पेन देशके अतिरिक्त भी दक्षिणी अमेरिकामें व्यवहृत होनेसे स्पेनिशकी इज्जत अधिक है। रुमानियन-भाषापर स्लाव भाषाका बहुत प्रभाव है।

केल्टिक भाषावर्गमें प्राचीन गालिक, आयरिश, वेल्श, मैंक्स, गेलिक, ब्रेटन और कार्निश आदि भाषाएँ हैं। केल्टिक भाषाका इटैलिक भाषासे साम्य मालूम पड़ता है।

ट्यूटानिक भाषावर्गकी एक भाषा अँग्रेजी है। इस भाषावर्गके तीन अवान्तर भेद हो सकते हैं—गाथिक भाषा, स्कैंडिनेवियन भाषा और पश्चिमी जर्मेनिक भाषाएँ। गाथिक भाषामें केवल एक बाइबिल (३११-३८१ ई०) मिलता है और इसका प्रचार तो कबसे ही बन्द है। स्कैंडिनेवियन भाषाओंमें डैनिश, स्वीडिश, नार्वेजियन और आइसलैंडिक भाषाएँ सम्मिलित हैं। पश्चिमी जर्मनिक भाषाओंमें लो जर्मन और हाई जर्मन नामक दो भेद हैं। लो जर्मनमें ऐंगलो-सैक्सन या प्राचीन अँग्रेजी, हालैंडकी भाषा डच, बेल्जियम और फ्लैंडर्सकी भाषा फ्लेमिश और उत्तरीय जर्मनीकी फ्रिजियन भाषा सम्मिलित हैं। ऊपरी जर्मनमें दक्षिणीय जर्मनीकी बोलियाँ हैं। यही जर्मनीकी प्रधान साहित्यिक भाषा है।

बाल्टिक-स्लावोनिक भाषावर्गके दो खण्ड हैं—बाल्टिक भाषावर्ग और स्लावोनिक भाषावर्ग। इन दोनों भाषाओंमें अत्यधिक साम्य दृष्टिगोचर होता है। प्रथममें लिथुआनियन, लेटिश और प्राचीन प्रशियन भाषाएँ हैं। लिथुआनियन और लेटिश अब भी रूसके पश्चिमीय देशोंमें बोली जाती हैं। हाँ, प्राचीन प्रशियन अब बोल-चालमें नहीं रही। इसके भाषावर्गमें रूसी, पोलिश, चेक और इल्योरियन आदि भाषाएँ हैं। रूसी भाषामें तुर्की या तातारी शब्दोंका बहुत-कुछ सम्मिश्रण है।

तोखारिश-भाषा पूर्वीय तुर्कीस्तानमें प्रचलित थी—सेमिटिक भाषा-परिवारमें मेसोपोटामियाकी द्वितीय प्राचीन भाषा असीरियन, हिब्रू, अरबी और सीरिऐक भाषाएँ हैं। असीरियन भाषाके लेख पकाये हुए मिट्टीके छोटे-बड़े टुकड़ोंपर, कीलकाक्षरोंमें, लिखे हुए मिलते हैं। हिब्रू यहूदियोंकी भाषा है। प्राचीन समयमें यह पैलेस्टाइनमें बोली जाती थी। बाइबिलका *Old Testament* इसी भाषामें लिखा गया है। इसके बाद वहाँ आरमेइक भाषा भी चल पड़ी। हिब्रूका अपभ्रंश यिद्दिश भाषा है, जिसे यूरोपके यहूदी लोग आपसमें बोला करते हैं। अरबी कुरानकी भाषा है। यह अरब, मेसोपोटामिया, सीरिया, मिश्र और उत्तरीय अफ्रीकामें इन दिनों बोली जाती है। अरबीका प्रभाव फारसी, उर्दू, तुर्की, स्पेनिश, अँग्रेजी और हिन्दीपर खूब पड़ा है। सीरिऐक भाषामें भी ईसाई-धर्मके कई अनुवादित ग्रन्थ मौजूद हैं।

इस हेमिटिक भाषापरिवारमें प्राचीन मिश्री भाषा (इसके अक्षर चित्रलिपिके थे) और इससे निकली हुई कुप्ती भाषा, उत्तरीय अफ्रीकाकी लिबियन या बर्बर नामकी बोलियाँ और पूर्वीय अफ्रीकाकी इथियोपिक या एबिसिनियन नामकी बोलियाँ हैं।

यूराल-अल्ताई या तुर्कीसम्बन्धी भाषापरिवारमें अरबी और फारसीके अत्यधिक शब्द पाये जाते हैं। "तुजकि-बाबरी" नामक पुस्तकमें बाबरने अपना वृत्तान्त

इसी भाषामें लिखा है। इसके कितने ही शब्द उर्दू में भी बर्ते जाते हैं।

द्राविड़-भाषापरिवार तामिल, तेलगू, कनाडी और मलयालम भाषाएँ हैं। तामिलभाषाका साहित्य सुसमृद्ध है। R Caldwell और लो० तिलकके मतानुसार "नीर, मीन, पल्ली, अटवी" आदि शब्द द्राविड़-भाषासे ही संस्कृतमें गये हैं। दक्षिणीय भारतमें इसका प्रचार है। कलके समीप छोटेसे पहाड़ी प्रदेशमें रहनेवाले कुछ ईरानी की तरह लोग ब्राहुई भाषा बोला करते हैं, जो द्राविड़-भाषापरिवारसे एकदम भिन्न जाती है।

छोटानागपुरमें और उसीके आसपास सन्थाली लोग मुण्डा-भाषापरिवारमें मुण्डा बोलते हैं; लेकिन इसका साहित्य नहीं है।

तिब्बत-बर्मीय-भाषापरिवारका साहित्य पाली और संस्कृतके आधारपर लिखा गया है। इसमें मिजकी भी कुछ कथा-कहानियाँ हैं। हिमालयकी अनार्य-भाषाओंका समावेश भी इसी परिवारमें किया जाता है।

चीनी भाषा परिवारमें चीनी-भाषा सबसे प्रधान है। इसका साहित्य भी अच्छे परिमाणमें है।

अभीतक भाषा-वैज्ञानिकोंको आत्मविश्वास नहीं हुआ है कि, हमने ठीक ठीक भाषाओंका वर्गीकरण कर लिया है। फिर भी, जहाँतक जो उपलब्ध है, उसे संक्षिप्त रूप देकर इस छोटेसे निबन्धमें मैंने रखनेका प्रयास किया है।

लेखनोपकरण

ठाकुर अच्युतानन्द सिंह 'अतरसनी'

आजकलकी तरह पुराने जमानेमें कागज नहीं मिलता था। कागज बनानेका हाल पहले-पहल अभी ई० पू० दूसरी सदीमें चीनवालोंने ही जाना। पीछे, ई० सन् ७५१ में, चीनियोंसे समरकन्दकी लड़ाई जीतनेके बाद मुसलमानोंने जाना और बहुत दिन बाद भारतीयोंने मुसलमानोंसे यह कला सीखी।

पहले लिखनेकी वस्तुओंमें ताडपत्र काममें आता था। उबालनेके बाद धूपमें सुखाकर ताडका पत्ता किसी चिकनी चीजसे घोट दिया जाता था और लिखनेके काममें लाया जाता था। लेखक गोल मुँहवाली लोहेकी कलमसे उसके ऊपर अक्षर कुरेद देते थे और स्याही पोत देते थे। कुरेदे अक्षरोंमें स्याही बैठ जाती थी। कोई-कोई स्याहीसे ही लिखते थे। इसी प्रकार पुस्तक-की-पुस्तक लिख ली जाती थी। बाइंडिंगका ढंग भी निराला था। पुस्तकोंमें हासिया बीचमें छोड़ा जाता था और वहीं छेद बनाकर डोरी पहना दी जाती थी। उस डोरीका लगाव जिल्दकी तख्तीसे रहता था। लम्बी-लम्बी डोरीके सबबसे पाठकोंको पन्ने उलटनेमें कठिनता नहीं होती थी। इस प्रकारकी पुस्तकोंमेंसे, ई० सन्की दूसरी सदीमें, ताडपत्रपर लिखे गये किसी नाटकका कुछ अंश डा० लूडर्सको मिला है, जिसे उन्होंने छपा दिया है। चौथी सदीमें लिखे गये ताड़पत्रोंके कुछ टुकड़े मि० मार्कटूनको मिले हैं। जापानके होरियूजी-मठमें भी दो ग्रन्थ रखे हुए हैं, जो ताडपत्रपर, छठी सदीमें, लिखे गये थे। नेपालके ताड़पत्रके पुस्तक-संग्रहमें भी इसी प्रकारका एक स्कन्दपुराण है, जो सातवीं सदीमें ताड़पत्रपर

लिखा गया था। दसवीं सदीके कुटिलाक्षरमें ताड़-पत्रपर लिखा हुआ वज्रडाक-तन्त्र पूज्यपाद त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायनजीके पास भी है।

हिमालयकी तरफ भूर्जवृक्ष बहुत अधिकतासे मिलते हैं। उन्हींकी लम्बी-लम्बी छालोंको तेल लगाकर, लेखक, घोट लेते थे और स्याहीसे लिखा करते थे। अलबरूनीने अपने लेखमें इसकी चर्चा की है। ऐसी पुस्तकोंपरकी बाइंडिंग भी ताडपत्रकी ही तरह थी, लेकिन मुलायम होनेके सबबसे ये पत्र पाटियोंपर लपेट दिये जाते थे। मोगलोंके समयसे इनपर आजकलकी ही तरह चमड़ेकी जिल्द बँधने लगी थी। यद्यपि ये भोजपत्र ताड़के पत्तेकी तरह टिकाऊ नहीं होते हैं तथापि पत्थरोंके नीचे दब जानेके कारण या स्तूपोंके भीतर, निर्वात प्रदेशमें, रहनेके कारण इन दिनों भी कई एक भोजपत्रोंपर लिखे पुराने ग्रन्थ देखनेको मिलते हैं। ई० सन् दूसरी या तीसरीमें खरोष्ठी-अक्षरों द्वारा भोजपत्रपर लिखा गया "धम्मपद" ऐसे ही ग्रन्थोंमें है, जो खोतान-प्रदेशके खडलिक ग्राममें मिला है। यहाँसे एक "संयुक्तागमसूत्र" भी भूर्जपत्रपर लिखा हुआ मिला है, जिसका लेखनकाल चौथा शतक समझा जाता है। भूर्जपत्रपर लिखी पुस्तकें कश्मीर, पूना और उड़ीसा आदिमें अधिकतासे मिलती हैं। छठी सदीके गुप्ताक्षरमें लिखी गयी भूर्जपत्रकी कुछ पुस्तकें गिलगिटमें भी मिली हैं।

कागजपर लिखी पुरानी पुस्तकें भारतमें तेरहवीं, चौदहवीं शताब्दियोंकी मिलती हैं, लेकिन इन पुस्तकोंपर भी ताडपत्रकी पुस्तकोंका खुलासा अनुकरण दीखता है; क्योंकि इन पुस्तकोंके मध्यका स्थान लिखावटसे शून्य है और ऊपरसे नीचेतक छेद भी है। यही क्यों, लेई आदि लगाकर कागज खूब घोंटा भी गया है। इसी तरहकी चार पुस्तकें मि० वेबरको मध्य एशियाके यारकन्द नगरके आसपास, जमीनमें गड़ी हुई, मिली हैं। ये पुस्तकें गुप्त-लिपिमें लिखी हुई हैं और इनका लेखनकाल पाँचवाँ शतक है।

कपड़ोंके ऊपर भी लिखनेकी चाल थी। लोग कपड़ोंको लेई लगाकर कड़ा कर लेते थे और घोंटकर लिखा करते थे। यज्ञ आदिके समय सर्वतोभद्र, लिङ्गतोभद्र आदि भी इसी तरहके कपड़ोंपर लोग बनाते थे। जैनियोंके यहाँ इस तरहका रवाज जोर-शोरसे था। पाटण [अणहिलवाडा]के किसी जैन-पुस्तक-भण्डारमें १३ इंच लम्बे और पाँच इंच चौड़े कपड़ेपर ९३ पृष्ठोंमें श्रीप्रभसूरि-रचित "धर्मविधि" पुस्तक, टीकाके साथ, लिखी हुई है। रेशमी कपड़े-पर लिखनेकी भी प्रथा थी। ऐसी पुस्तकें मूल्यवान् समझी जाती थीं। डा० बुहलरको रेशमकी पट्टीपर लिखी हुई जैन-सूत्रोंकी सूची जैसलमेरके जैन पुस्तक-भाण्डारमें मिली थी। इसी पुस्तक-भाण्डारमें चर्म-पत्रपर भी कुछ लिखा हुआ बुहलरको मिला था। अतः चमड़ेपर भी यत्र-तत्र लिखा जाता होगा, ऐसा अनुमान किया जाता है। मिश्रकी प्राचीन राजधानी मेमफिसमें चमड़ेपर लिखी हुई कई पुस्तकें मिली हैं।

पीपलकी गोंद और दीयेकी कालिखसे काली-स्याही बनती था। यह स्याही पक्की होती थी। कच्ची स्याही कालिख, कत्था, बीजाबोर और गोंद मिलाकर बनायी जाती थी। भोजपत्रपर लिखनेकी स्याही बादामके छिलकेको जलाकर, गोमूत्रमें उबालकर, बनायी जाती थी। रंगीन स्याहीका भी उपयोग, स्थान-विशेषमें, किया जाता था। सुनहली और रुपहली स्याहियाँ भी होती थीं। ई० सन् तीसरी सदीके कई पत्र स्याहीके लिखे मिले हैं।

लोहेकी कलम, नरकटकी कलम आदि भी होती थी। अजन्ताकी गुफाओंके चित्र महीन बालोंकी कलमोंसे लिखे गये हैं।

कागजोंपर पङ्क्तियाँ सीधी-समान करनेके लिये रेखापाटी होती थी। जैनियोंके पास अभी भी सुन्दर-सुन्दर रेखापाटियाँ हैं। चिपटी रूलें भी लाइनें खींचनेके लिये होती थीं। अक्षर सुधारनेके लिये बच्चे काठकी पाटीपर आजकलकी ही तरह, लिखा करते थे। बौद्धोंकी जातककथामें काष्ठ-फलकका उल्लेख है।

पत्थरोंपर वे ही शिलालेख खुदवाये जाते थे, जिन्हें अधिक दिनोंतक रखना होता था। निर्णीत लेखोंको सुलेखक अच्छे पत्थरोंपर स्याही आदिसे लिख देता था और खोदनेवाला टाँकीसे उसे धीरे-धीरे खोद देता था। खोदते समय अगर पत्थरके चटखनेसे अक्षर उड़ जाते थे, तो किसी धातुके लेपसे वह स्थान भर दिया जाता था और उसी लेपमें फिरसे अक्षर खोद दिये जाते थे। ऐसी शिलाएँ राजपूताना म्युजियम, अजमेरमें रखी हैं, जिनमें चौहान राजा बीसलदेव द्वारा रचित "हर-केलिनाटक" खुदा है। लिखनेमें अगर भूल हो जाती, कोई शब्द या अक्षर छूट जाता था, तो वहाँ × या ∧, इस तरहके चिह्न लगाकर छूट हासियेपर लिख दी जाती थी और अगर अक्षर ज्यादा हो जाता था, तो वह टेढ़ी-मेढ़ी लकीरोंसे काट दिया जाता था। छोटे-मोटे लेख कीमती पत्थरोंपर भी खुदवाये जाते थे। भट्टिप्रोलुके स्तूपसे एक ऐसी ही स्फटिक-शिला निकली है, जिसपर लेख खुदे हैं।

बौद्ध लोग ईंटोंपर भी लेख खोदवाया करते थे। वे ईंटें इस तरहकी होती थीं कि, पङ्क्तिबद्ध करनेसे उनके खुदे अक्षर आशययुक्त लेखके रूपमें परिणत हो जाते थे। चौथी सदीकी लिपिमें, खोदी हुई कई ईंटें गोरखपुरके गोपालपुर गाँवमें मिली हैं। इसी तरहकी और भी ईंटें पहली सदीकी मिली हैं, जो मथुरा म्युजियममें रखी हैं। मिट्टीके बर्तनोंपर भी लेख खुदे मिलते हैं। छठी सदीका एक ऐसा ही बर्तन काठियावाड़ जिलेमें मिला है।

धातुओंके पत्तरोंपर भी लेख लिखे जाते थे। जनरल कनिंघमको तक्षशिलाके गागू नामक स्तूपसे एक सोनेका पत्तर मिला है, जिसपर खरोष्ठी-लिपि लिखी है। बर्मामें भी पाँचवीं सदीके आस-पासकी लिपिमें लिखे हुए सोनेके दो पत्तर मिले हैं। इसी तरहके कुछ चाँदियोंके भी पत्तर, तक्षशिलामें, मिले हैं।

ताँबेके ऊपर तो खास तौरपर लेख लिखे जाते थे, जो दानपत्र या ताम्रशासनके नामसे प्रसिद्ध थे। दानपत्र अगर बड़ा होता था, तो वह कई पत्तरोंपर लिखा जाता था। पत्तरोंपर पत्राङ्क भी रहता था। इसके बाद वे कड़ेमें डाल दिये जाते थे और कड़ेकी जोड़पर मुहर कर दी जाती थी। विजय-नगरके वेंकटपतिदेव महारायका मदुरासे प्राप्त ई० १५८६ का दानपत्र इसी प्रकारका है।

आबू पहाड़पर अचलगढ़के जैनमन्दिरोंमें जो पीतलकी मूर्त्तियाँ हैं, उनके आसनपर सोलहवीं सदीके लेख खुदे हैं। मन्दिरोंमें लटकनेवाले काँसेके घंटोंपर भी कहीं-कहीं लेख खुदे हुए मिलते हैं।

मतलब यह कि, आजकलकी तरह पहले कागज नहीं था, लिखनेकी सुविधा नहीं थी, पर लोगोंको लिखनेका शौक जरूर था। वे अथक परिश्रम कर पत्थरोंको खोदते थे, ईंटोंको लिख-लिखकर पकाते थे और एक भूर्जपत्र या ताड़पत्रके पत्तेको लेखनोप-युक्त बनानेके लिये बहुत श्रम किया करते थे।

गुप्तकालीन विदर्भ

पं० यशवन्त खुशाल देशपाण्डे एम० ए०, एल-एल० बी०

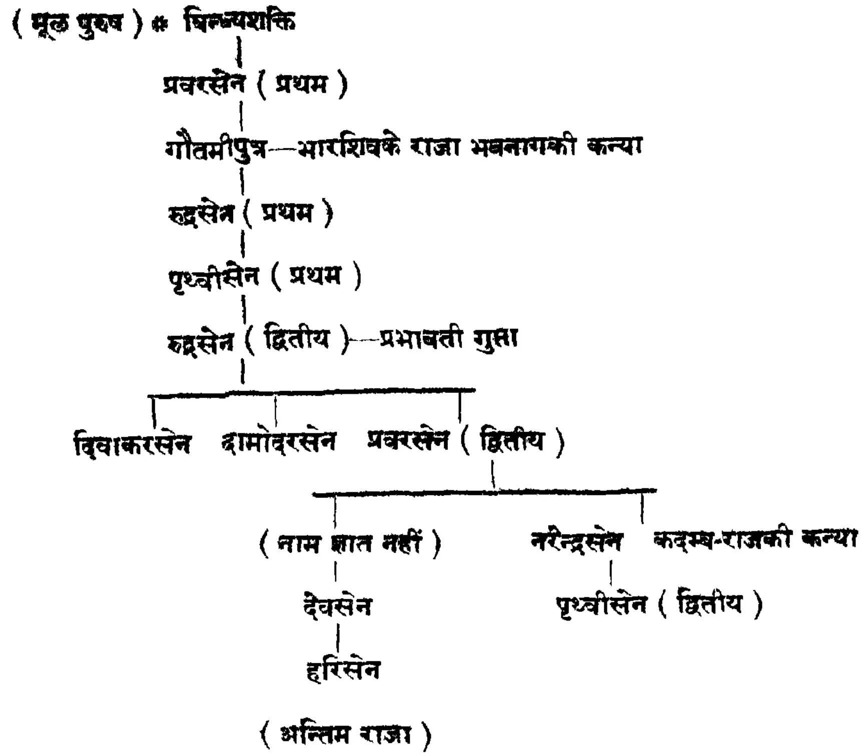
विदर्भ-देश, जिसे आजकल बरार कहते हैं, बहुत प्राचीन है। उसका उल्लेख ऋग्वेदादि प्राचीन ग्रन्थोंमें पाया जाता है। रामायण-महाभारतादि पुराण-ग्रन्थोंमें भी उसका वर्णन है। वात्स्यायनके कामसूत्र (पृ० २८७ और २९४)में, जिसका काल विद्वानोंने ईसाकी तीसरी शताब्दी बताया है, वत्स-गुल्मक और वैदर्भ लोगोंका वर्णन है। संस्कृत-साहित्यमें वर्णित "वैदर्भी-रीति" तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। "बृहत्कथा"का रचयिता गुणाढ्य, "मालती-माधव" आदि प्रसिद्ध नाटकोंका कर्ता भवभूति, "काव्य-मीमांसा"का प्रणेता राजशेखर आदि महान् ग्रन्थकार भी इसी विदर्भ देशमें हुए थे। इस लेखमें—गुप्तकालमें विदर्भ देशपर कौनसा राजवंश राज्य करता था, गुप्त राजाओंसे उसका क्या सम्बन्ध था और आजकल बरारमें कौनसे गुप्त-कालीन अवशेष पाये जाते हैं—आदि-आदि बातोंका विवेचन संक्षेपमें पाठकोंके सम्मुख हम उपस्थित करते हैं।

विदर्भ-देशके विदर्भ, कैशिक, क्रथकैशिक, भोज, भोजकट, महाराष्ट्र, वरदा-तट आदि विभिन्न नाम प्राचीन ग्रन्थों और शिलालेखोंमें पाये जाते हैं। हम जिस कालका इतिहास यहाँ दे रहे हैं, उस कालमें यह देश प्रायः विदर्भ या भोजकट* नामसे सम्बोधित होता था। आरम्भमें इस देशकी सीमा उत्तरमें नर्मदासे लेकर दक्षिणमें कृष्णातक थी। "प्रतिष्ठान" के आन्ध्रभृत्योंका शासन नष्ट होनेके बाद इस देशमें एक-दो शताब्दियोंतक अराजकता फैली थी और इसी कालमें आभीरों का उत्थान हुआ था। उनके बाद तीसरीसे छठी शताब्दीतक इस देशपर वाकाटक वंशका × राज्य था। इस वंशका नामोल्लेख किसी ग्रन्थमें नहीं पाया जाता। इसके विषयमें जो कुछ बातें मिली हैं, वे केवल शिलालेखों और ताम्रशासनोंसे ही प्राप्त हुई हैं। इस राजवंशका पता अजन्ता † की सुप्रसिद्ध गुफाओंमेंसे सोलह नम्बरकी गुफाके एक शिलालेखसे चला था। पीछे इस वंशके राजाओंके विषयमें अनेक शिलालेख और ताम्रशासन उपलब्ध हुए। इन सबकी सहायतासे इन राजाओंके वंशवृक्षका जो पता चला है, वह इस प्रकार है—

* "चम्मक" ताम्रशासन (श्रीयुत या० मा० कालेका बरारका इतिहास, पृ० ६५)।

× *Dr Dubreuil A H D P, (Trans Dikshit) pp 71*

† *Archaeological Survey of Western India, Vol IV and IX.*



अजन्ताकी गुफाओंके लेखसे यह ज्ञात होता है कि, वाकाटकोंका मूल पुरुष विन्ध्यशक्ति अभिषिक्त राजा नहीं था। उसके पुत्र प्रवरसेन प्रथमको "महाराज"की उपाधि लगायी गयी है। प्रवरसेन प्रथमने अश्वमेधयज्ञ किया था। गौतमीपुत्र भी शायद अभिषिक्त राजा नहीं था, ऐसा दीख पडता है। भारशिवके राजा भवनागने अपनी कन्या उससे ब्याही थी। भारशिव ग्रामका पता अबतक नहीं लगा। बरारमें "बारसी टाकली" नामक एक गाँव है। इस गाँवमें प्राचीन कालके खँडहर और जीर्ण शीर्ण मन्दिर इत्यादि अवशिष्ट पाये जाते हैं। सम्भवतः यही भारशिव होगा। रुद्रसेन प्रथमके विषयमें अबतक कोई विशेष जानकारी नहीं प्राप्त हुई। पृथ्वीसेन प्रथमने कुन्तल यानी कर्णाट-देशके कदम्ब-राजपर चढ़ाई कर उसे परास्त किया था। रुद्रसेन द्वितीयके शासनकालसे वाकाटकोंके राज्यकी वृद्धि होने लगी थी। गुप्तवंशी देवगुप्त अर्थात् महाराज चन्द्रगुप्त † विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय)की कन्या प्रभावती गुप्तासे रुद्रसेन द्वितीयका विवाह हुआ था। प्रभावती गुप्तासे × रुद्रसेन द्वितीयको दिवाकरसेन, दामोदरसेन और प्रवरसेन नामक तीन पुत्र हुए थे। रुद्रसेनके पश्चात् रानी प्रभावती गुप्ताने ही अपने पुत्रोंकी

*—प्रो० कालेका बरारका इतिहास, पृ० ६८

† *Ep Ind Vol XV, pp 39—44.*

× *Indian Antiquary, Vol III pp 48. Dr Aiyangar's Wakatakas in Gupta History, pp 6, the Journal of Indian History, Vol V, part III*

अज्ञानावस्थामें राज्यकी बागडोर सम्हाली थी। नरेन्द्रसेनका विवाह कदम्बकी राज-कन्यासे हुआ। वाकाटकोंका राज्य हिन्दुस्थानके बीचमें होनेके कारण उनका उत्तर तथा दक्षिण भारतसे बराबर सम्बन्ध रहता था। उन्होंने कोसल, मालव, कुन्तल, त्रिकूट, लाट आदि देशोंके राजाओंको परास्त कर उन्हें अपना सामन्त बनाया था। वाकाटकोंका अन्तिम राजा हरिसेन ¦ था। उनके बाद नलवंशीय * राजाओंका अभ्युदय हुआ था। कलचुरि, राष्ट्रकूट और चालुक्य-राजवंश इनके बाद हुए थे। सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ डा० कृष्णस्वामी आयंगरके मतानुसार पुराणोंमें वर्णित विन्ध्यशक्ति और वाकाटकोंका मूल पुरुष- यह दोनो एक ही होनेका अनुमान किया जाता है। पुराणों तथा रामदासके ग्रन्थके आधारपर डा० आयंगरने लिखा है कि वाकाटक और गुप्त-राजवंशोंमें, स्वामित्वके लिये, लगातार कई झगड़े होते रहे, किन्तु अन्तमें उन दोनोंमें सुलह हो गयी। गुप्त-महाराज समुद्रगुप्तने अपनी दक्षिणकी दिग्विजयमें अनेक राजाओंपर चढ़ाई की थी। किन्तु वाकाटक-राजाओंसे उसका कोई युद्ध-विषयक सम्बन्ध नहीं आया। अनन्तर महाराजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यने जब अपनी कन्या प्रभावती गुप्ताका रुद्रसेन द्वितीयसे विवाह किया, तबसे इन दोनो राजवंशोंमें मित्रभाव दृढ़तम हुआ। रुद्रसेन द्वितीयके बाद प्रभावती गुप्ताके प्रचारित किये हुए दो † ताम्रशासन उपलब्ध हुए हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि, उसके तीन पुत्र, दिवाकरसेन, दामोदरसेन और प्रवरसेन, जब नाबालिग थे, तब रानी प्रभावती गुप्ता ही राज्यकी देख भाल करती थी। प्रभावती गुप्ताको अपने पितृवंशका बड़ा अभिमान था, यह भी उक्त ताम्रशासनमें लिखी हुई राज-प्रशस्तिसे ज्ञात होता है। वाकाटक और गुप्त-राजवंशोंमें घनिष्ठ मित्रभाव था, इसका एक और प्रमाण मिला है, और, उसे प्रकाशित करनेका श्रेय × डा० आयंगरको ही है। "सेतुबन्ध" नामक महाराष्ट्री-भाषामें लिखा हुआ एक काव्य-ग्रन्थ है। उसका प्रणेता प्रवरसेन है, जो वाकाटक-वंशमें प्रवरसेन द्वितीयके नामसे प्रसिद्ध है। इस काव्यपर रामदास नामक ग्रन्थकारने "रामसेतुप्रदीपम्" नामक टीका लिखी है। उससे यह ज्ञात होता है कि, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यका आश्रित महाकवि कालिदास, अपने स्वामीकी आज्ञाके अनुसार, प्रभावती गुप्ताके पुत्रोंको पढ़ानेके लिये, विदर्भमें आया था। राजा प्रवरसेनके "सेतुबन्ध" काव्यका उसने संस्करण किया था। कालिदासके "मेघदूत" काव्यसे भी उसके विदर्भमें आनेकी बात सिद्ध होती है। पाठकोंको यह मालूम होगा कि, मेघदूतका कथानक "रामगिरि" पहाड़ीके वर्णनसे शुरू होता है। यह रामगिरि आजकल "रामटेक" के नामसे मशहूर है। यह एक छोटासा शहर है, जो मध्यप्रान्तके नागपुर जिलेमें, नागपुरसे लगभग २५ मील दूरीपर, स्थित है। इसी रामगिरिसे वाकाटक-

¦ *The Wakatakas in Gupta History, pp 12*

* भारत इतिहास-संशोधक मण्डलका त्रैमासिक *S. No 15, pp 115 and 116*

† पूना-ताम्रशासन और रिद्धपुरन्त ताम्रशासन।

× *Annals of the Bhandarkar Institute, Vol V, part 1, 1923–24, pp 31–54 and the Journal of the Mythic Society, Vol XV, No 2 pp 153*

राजाओंके दो तीन ताम्रशासन प्रचारित हुए थे। उनमें लिखा है—"रामगिरिस्वामिनः पादमूलात्।" डा० आयंगर अनुमान करते हैं कि, यह रामगिरि वाकाटकोंकी राजधानी थी। परन्तु यह सम्भव नहीं जान पडता; क्योंकि वाकाटकोंके और भी कई ताम्रशासन हैं, जो "प्रवरपुर" नामक नगरसे प्रचारित हुए थे। सम्भवतः यही प्रवरपुर उनकी राजधानी होगी। इस प्रवरपुरका पता अबतक नहीं चल सका। जनरल कनिंघम † का तर्क है कि, मध्यप्रान्तके चन्द्रपुर या चाँदा जिलेमें "भान्दक" नामक जो गाँव है, वह वाकाटकोंकी राजधानी था। भान्दकमें प्राचीन कालके अवशेष भी बहुत मिले हैं। यहाँ जो बुद्धकालीन गुफाएँ है, उनमें पहली और दूसरी शताब्दियोंके प्रस्तर-लेख थे, ऐसा जनरल कनिंघमने लिखा है। परन्तु यहाँ वाकाटकोंकी राजधानी होनेके चिह्न नहीं प्रतीत होते। टीकाकार रामदासका कथन है कि, महाराज प्रवरसेनको भोजदेव भी कहा जाता था। ऐतरेय-ब्राह्मण (१४) के कालमें विदर्भके लोगोंको भोज कहते थे। ऋग्वेद-में भी भोज लोगोंका नामोल्लेख पाया जाता है। उसके बाद कौटिल्यके * अर्थशास्त्र और वात्स्यायन के कामसूत्र (२४) में भी भोज लोगोंका उल्लेख मिलता है। महाराज प्रवरसेनके प्रचारित किये हुए 'चम्मक" नामक ताम्रशासनसे ज्ञात होता है कि, वाकाटक राजाओंका भोजकट-विषय नामक एक विषय यानी प्रान्त था। बरारके अमरावती जिलेमें "भातकुली" नामक एक गाँव है। कहा जाता है कि, उसका प्राचीन नाम भोजकट था। इस नामसे प्रवरसेनको भोजदेव कहनेकी बात असम्भव नहीं जान पडती। महाकवि कालिदास × धारा-निवासी राजा भोजके दरबारमें थे, यह मिथ्या प्रवाद भी शायद इसी बातसे प्रचलित हुआ होगा; क्योंकि प्रवरसेनको भोजदेव कहते थे। वास्तवमें धारा-निवासी राजा भोज ११ वीं और १२ वीं शताब्दियोंमें और कालिदास ५ वीं शताब्दीमें हुआ था अर्थात् इन दोनोंका एक ही समयमें होना नितान्त असम्भव है। गुप्त ‡ और वाकाटक-राजाओंमें परस्पर मित्र-भाव तथा विवाहादि सम्बन्ध होनेके कारण दोनों देशोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ था। फलस्वरूप गुप्त-साम्राज्यकी उच्चतम संस्कृति विशेषकर संस्कृत-साहित्य इत्यादि—का विदर्भ देश तथा तन्निकटस्थ सारे दक्षिणापथपर काफी प्रभाव पडा था। ४ थी और ५ वीं शताब्दियोंमें वाकाटकोंके राज्यका विस्तार हुआ था। अतः दक्षिणापथमें इस कालको वाकाटकोंका काल कहना उचित होगा।

विदर्भ-देशपर वाकाटक-राजवंशका राज्य ३ री से ६ ठी शताब्दीतक था। चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे प्रभावशाली गुप्त-राजाओंसे उन्होंने विवाह सम्बन्ध किया था, इससे उनके वैभव एवं उत्कर्षकी कल्पना हो सकती है। वाकाटकोंने अनेक देशोंपर चढाई कर वहाँके राजाओंको अपना सामन्त बनाया था; किन्तु, इतना होते हुए भी, उनके नामोनिशान नहीं मिलते। केवल शिलालेखों और ताम्रशासनोंसे ही उनकी कुछ अधूरी एवं बिखरी हुई बातें मिलती हैं।

† *Chanda District Gazetteer.* * *English Translation of Arthashastra by Shama Sastry, Introduction, pp XI* × *Dr Aiyangar on the Wakatakas by Mr. Y R Gupte--Journal of Indian History Vol V part III, S No 15*

‡ *Dr Dubreuil A H. D. P, pp 75.*

यहाँतक कि, उनकी राजधानीका भी पता अभीतक निश्चित रूपसे नहीं चल सका। केवल अनुमानोंके भरोसे ही काम चल रहा है। बरारमें अबतक खोजका कार्य बहुत कम हुआ है। जो शिलालेख या ताम्रशासन उपलब्ध हुए हैं, उनका वाचन और प्रकाशन भी पूरी तौरसे नहीं हो पाया है। मध्यप्रान्त और बरारके लिये सरकारका कोई स्वतन्त्र पुरातत्त्व विभाग नहीं है। इन प्रान्तोंका शुमार मध्य पुरातत्त्व-विभाग (*Central Division of Archaeology*)में किया गया है और उसका दफ्तर भी यहाँसे सैकड़ों मील दूर पटनामें है। इस विभाग द्वारा अभीतक उत्खनन (खोदाई) के कार्यमें हाथ नहीं लगाया गया। बरारमें उत्खनन करने योग्य प्राचीन संस्कृतिके खँडहर या टीले किन स्थानोंमें पाये जाते हैं, इसकी जाँच पड़ताल करनेके लिये गवर्नमेंट आफ् इंडियाके आर्कियालाजिकल डिपार्टमेंटकी ओरसे श्रीयुत के० एन० दीक्षित (डिपुटी डाइरेक्टर आफ आर्कियालाजी) पिछले वर्षके मार्च महीनेमें यहाँ पधारे थे। उस समय हमें उनके साथ भ्रमण करनेका सुअवसर प्राप्त हुआ था। लगभग एक सप्ताह तक हम उन स्थानोंके दर्शन करते रहे, जहाँ हमें कोई प्राचीन अवशेष मिलनेकी सम्भावना थी। ऐसे स्थानोंमें विदर्भकी प्राचीन राजधानी कुण्डिनपुरके टीले, पवनार, माहुरझरी, मनसार, रामटेक आदि स्थान उल्लेख योग्य हैं। यहाँ हम केवल उन्हीं स्थानोंका कुछ परिचय देंगे, जहाँ गुप्तकालीन अवशेष प्राप्त हुए हैं या भविष्यमें प्राप्त होनेकी सम्भावना है। गुप्तकालीन ईंटे तो इन सभी स्थानोंमें पायी जाती हैं। पवनार गाँवके आसपास विशाल प्राचीन टीले हैं, जहाँ शेषशायी भगवान्, नन्दी आदिकी प्राचीन मूर्त्तियाँ पायी गयी हैं। यह गाँव प्राचीन विदर्भके मध्यमें स्थित है। पवनार नाम प्रवर नगरसे साम्य रखता है। सम्भव है, इन टीलोंकी खोदाई करनेपर इस गाँवके प्रवरपुर होनेके विषयमें कुछ प्रमाण भी मिल जायँ। नागपुरसे ६ मीलपर माहुरझरी नामक एक मौजा है, जहाँ प्राचीन बस्तीके अवशेष पाये जाते हैं। यहाँ खेतों और जङ्गलोंमें भिन्न-भिन्न रंगोंके पत्थरोंसे बनाये हुए छोटे-मोटे मणि मिलते हैं। इसी स्थानपर एक सालके पहले नागपुरके मारिस कालेजके इतिहासके प्रोफेसर डा० हंटर महोदयको एक लाल पत्थरकी छोटी सी मुद्रा (*Seal*) मिली थी। इस मुद्रापर गुप्तकालीन लिपिमें "अप्रमाद" अक्षर खुदे हुए हैं। इस मुद्राकी लाखसे बनायी हुई एक प्रतिलिपि हमारे पास मौजूद है। रामटेकमें, जिसका प्राचीन नाम रामगिरि था, बहुतसे प्राचीन अवशेष हैं। रामटेककी निकटवर्ती पहाड़ीपर राम और लक्ष्मणके प्राचीन मन्दिर हैं। इन्ही मन्दिरोंके अहातेमें वाराहकी एक विशालकाय मूर्त्ति है। यह मूर्त्ति पत्थरकी है और इसके उदर-देशमे, प्राचीन लिपिमे, कुछ खुदा हुआ है। परन्तु वह लेख बहुत पुराना है एवं घिस जानेके कारण नही पढ़ा गया। रामटेक एक प्रसिद्ध क्षेत्र है। यहाँ कोई राजवंश हुआ होगा, ऐसा वहाँके अवशेषोंसे नहीं प्रतीत होता। रामटेकके दक्षिणमें, ६ मीलपर, मनसार नामक एक गाँव है। यहाँ एक पुराना तालाब है। उस तालाबके चारो बाजुओंमें गुप्तकालीन ईंटों के बनाये हुए कुछ टीले हैं। उनमेंसे एक-दो टीले बौद्ध ढगके प्रतीत होते हैं। यहाँ चट्टानोंमें खुदे हुए छोटे-छोटे लेख भी मिले हैं। उनकी लिपि प्राचीन है। जिस प्रकार महाराजा समुद्रगुप्तके अश्वमेध

वाले * पत्थरके घोड़ेकी पीठपर अक्षर खुदे हुए हैं और उन अक्षरोंके चारों बाजुओंमें बेलपत्तियोंकी तरह कुछ रेखाएँ और वर्तुल बनाये गये हैं, उसी प्रकार यहाँ भी अक्षरोंके चारों बाजुओंमें रेखाएँ और अर्द्ध-वर्तुल बनाये गये हैं। यह लिपि ४थी और ५वीं शताब्दियोंकी प्रतीत होती है। खोदाई होनेपर यहाँकी संस्कृतिके सम्बन्धमें कुछ और ज्ञातव्य बातें प्रकट होनेकी बहुत सम्भावना है। यहाँ कई मूर्त्तियाँ यत्र तत्र पड़ी हुई दीख पड़ती हैं। जान पड़ता है कि, उस समय यह भी एक विशाल नगर रहा होगा। पुरातत्त्व-विभागकी ओरसे यहाँ खोदाईका काम शुरू करनेका आयोजन होनेवाला था। किन्तु वर्त्तमान आर्थिक परिस्थितिके कारण उसे कार्यरूपमें परिणत करना असम्भव हो गया। हमारा अनुमान है, इन दो-तीन स्थानोंमें खोदाई करनेपर विदर्भके गुप्तकालीन इतिहासपर बहुत कुछ प्रकाश पड़ेगा और वाकाटक तथा गुप्त-राजवंशोंका जो इतिहास इस समय उपलब्ध हुआ है, उसमें पर्य्याप्त वृद्धि होगी। तीन सालके पहले मध्यप्रान्तके दमोह जिलेके एक मौजेके पास किसी खेतमें चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यका एक सोनेका सिक्का मिला था। यह सिक्का इस समय हमारे "शारदाश्रम"में मौजूद है। विगत वर्ष पटनामें ओरियंटल कान्फरेन्सका जो वार्षिक अधिवेशन हुआ था, उसमें हमने इस सिक्केके सम्बन्धमें एक नोट लिखकर भेजा था। बरारमें खोज और अनुसन्धान होनेपर गुप्तकालीन इतिहासकी और बहुतसी बातें उपलब्ध हो सकेंगी। आशा है, विद्वानोंका ध्यान इस ओर विशेष रूपसे आकृष्ट होगा।

अनुवादक—पं० आनन्दराव जोशी

गुप्तवंश

साहित्याचार्य पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ

स्मृतियोंमें वैश्योंके नामोंके पीछे "गुप्त" शब्द जोड़नेका आदेश दिया गया है। इसीसे एक पक्षवाले गुप्तवंशी नरेशोंको वैश्य-जातिका अनुमान करते हैं। उनका कहना है कि, यदि ये नरेश वैश्य न होते, तो चन्द्रगुप्त प्रथम अथवा उसके उत्तराधिकारियोंको अपने लिच्छवि-क्षत्रियोंके साथके सम्बन्धको इस प्रकार घोषित करनेकी आवश्यकता ही न प्रतीत होती। परन्तु दूसरे पक्षवाले इसको नहीं मानते। वे ब्रह्मस्फुट-सिद्धान्तके लेखक प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् ब्रह्मगुप्त जैसे ब्राह्मणका नाम उपस्थित कर कहते हैं कि, नामके अन्तमें "गुप्त" जुड़ा देखकर ही किसीको वैश्य समझ लेना भ्रम मात्र है। रही लिच्छवियोंके सम्बन्धकी घोषणाकी बात, सो, वह वंश गुप्तोंसे करीब ८०० वर्ष पूर्व वैशालीमें राज्य कर चुकनेके कारण एक प्राचीन और प्रतिष्ठित राजघराना समझा जाता था। इसीसे उस समयके नरेश उसे आदरकी दृष्टिसे देखते होंगे।

जो कुछ भी हो, आधुनिक ऐतिहासिकोंका अनुमान

* देखिये श्रीयुत के० पी० जायसवालका "नागरी-प्रचारिणी पत्रिका" में प्रकाशित "समुद्रगुप्तका अश्वमेधीय घोड़ा" नामक लेख।

है कि, इस वंशके नरेश पहले साधारण शासकोंमें ही गिने जाते थे। परन्तु चन्द्रगुप्त प्रथमका विवाह लिच्छवि-वंशकी कन्या कुमारदेवीके साथ होनेके बाद ही उसका प्रभाव और प्रताप बढ़ा था, और, उसे महाराजाधिराजकी उपाधि धारण कर तिरहुत, दक्षिणी बिहार, अवध और उसके आस-पासके प्रदेशोंपर शासन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। कुछ ऐतिहासिक इसमेंके बहुतसे प्रदेशोंका लिच्छवियोंसे दहेजमें मिलना भी अनुमान करते हैं।

इस वंशका राज्य पूर्वमें हुगलीसे पश्चिममें यमुना और चम्बलतक तथा उत्तरमें हिमालयसे दक्षिणमें नर्मदा तक फैला हुआ था। इसके अलावा एक समय इस वंशके नरेशोंकी विजय-पताका आसाम, गङ्गाके मुहाने, हिमालयकी तराई, राजपूताना, मालवा और समग्र दक्षिणी भारततकमें फहरा चुकी थी। कन्धार, काबुल और-आक्सस्के कुषाणवंशी नरेश और सीलोन (लङ्का) आदिके शासक भी इनसे राजनीतिक सम्बन्ध रखते थे।

चन्द्रगुप्त प्रथमने अपने राज्यारोहणकी यादगारमें जो संवत् चलाया था, वह 'गुप्त संवत्"के नामसे प्रसिद्ध हुआ। इसका प्रारम्भ ईसवी सन् ३२० की २६ फरवरी से निश्चित किया गया है। के० बी० पाठक गुप्त-संवत्का और शक-संवत्का अन्तर २४१ वर्षोंका मानकर इसका प्रारम्भ उपर्युक्त दिवससे एक वर्ष पूर्व अनुमान करते हैं। इस संवत्के प्रारम्भसे ही इस वंशकी प्रभाव-वृद्धिका अनुमान किया जा सकता है। यह संवत् करीब ६०० वर्षोंतक प्रचलित रहकर गुप्तराज्यके अस्त हो जानेपर वलभी-संवत् कहलाने लगा था।

इस वंशके नरेश वैदिक धर्मके अनुयायी थे और अपनेको "परम भागवत" (वैष्णव) लिखा करते थे।

वि० सं० से ४२ (ई० स० से १४१) वर्ष पूर्व स्वर्गगमन करनेवाले शुङ्गवंशी पुष्यमित्रके बाद विक्रम-संवत्की पाँचवीं (ईस्वी सन्की चौथी) शताब्दीमें पहले पहल इसी वंशके प्रतापी नरेश समुद्रगुप्तने और इसके बाद इसके पौत्र कुमारगुप्त प्रथमने अश्वमेध-यज्ञ किया था।

आर्यभट्टका "आर्यशतक" और "दशगीतिका", वराहमिहिरकी "पञ्चसिद्धान्तिका", कालिदासके "रघुवंश," "कुमारसम्भव", "मेघदूत", "ऋतुसंहार", "शकुन्तला", 'मालविकाग्निमित्र", "विक्रमोर्वशीय" और विशाखदत्तका "मुद्राराक्षस" इन्हींके राज्यकालमें बने थे।

चीनी यात्री फाहियानके यात्रा-विवरणसे ज्ञात होता है कि, उस समय नालन्दाके विश्वविद्यालयमें १०००० विद्यार्थियोंके रहने और पढ़नेका प्रबन्ध था।

समुद्रगुप्तके लेखों और वीणाङ्कित सिक्कोंसे प्रकट होता है कि, वह स्वयं विद्वान् और सङ्गीतज्ञ था।

इन बातोंसे सहज ही उस समयकी विद्योन्नतिका अनुमान किया जा सकता है।

अमरावती, सारनाथ और नेपालके स्तूपों, पृथ्वीसे निकली उस समयकी मूर्त्तियों, देहलीके पासके लोहस्तम्भ और इस वंशके सिक्कोंको देखनेसे प्रकट होता है कि, उस समय शिल्पकलाने भी अच्छी उन्नति की थी।

चन्द्रगुप्त द्वितीयके गुप्त-संवत् ८८ (ई० स० ४०७) के लेखसे विदित होता है कि, उस समय एक ब्राह्मणको नित्य भोजन प्रदान करनेके लिये १० दीनारों (सुवर्ण-मुद्राओं)का ब्याज पर्याप्त होता था।

इसकी पुष्टि चन्द्रगुप्त द्वितीयके ई० स० ४१२ के लेखसे भी होती है।

साँचीसे मिले ई० स० ४५० के लेखमें एक "भिक्षु" के नित्यके भोजनके लिये १२ दीनारोंका ब्याज और मन्दिरमें नित्यके दीपकके लिये एक दीनारका ब्याज पर्याप्त माना गया है। सम्भव है, कुमारगुप्त प्रथमके अन्तिम समयकी हूणोंकी चढ़ाई आदिके कारण खाद्य वस्तुओंकी दर चढ़ गयी हो।

क्षत्रपवंशी उषवदातके शक सं० ४२ (वि० सं० १७७, ई० स० १२०) के लेखसे प्रकट होता है कि, उस समय सुवर्ण चाँदीसे दस गुना अधिक मूल्यवान् समझा जाता था। गुप्तोंकी सुवर्ण-मुद्राएँ तोलमें करीब ८ माशेकी होती हैं। ऐसी हालतमें क्षत्रपों और गुप्तोंके राज्यकालके बीच सोने और चाँदीकी खरीद-फरोख्तकी दरमें थोड़ा उलट-फेर मानकर भी ५ सुवर्ण-मुद्राओंके बदले करीब ५० तोले चाँदीका मिलना अनुमान किया जा सकता है। दक्षिणके शातवाहनवंशियोंके लेखोंसे अनुमान किया गया है कि, उनके जमानेमें ब्याजकी दर ५) से ७॥) सैकड़े तक थी। यदि इसकी औसत दर ६) सैकड़े मान ली जाय, तो ५० तोले चाँदीका ब्याज एक आदमीके नित्यके भोजनके लिये काफी समझा जाता था।

वैसे तो मथुरासे कनिष्क के २४ वें राज्य वर्ष (ई० स० २०१) का और क्षत्रप रुद्रदामा प्रथमका (ई० स० १५० का) लेख संस्कृत-भाषामें लिखा गया है, परन्तु फिर भी यह मानना पड़ता है कि, इस भाषाका प्रचार फिरसे इस वंशके नरेशोंके समय ही हुआ था।

इनके लेखों, ताम्रपत्रों, सिक्कों और मुहरोंपर ब्राह्मी-लिपिका प्रयोग मिलता है। इसीका परिवर्तित रूप यह आजकलकी नागरी-लिपि है। परन्तु उस समय आजकलकी तरह दहाईके लिये जुदा जुदा दो और सैकड़ेके लिये तीन अङ्कोंके लिखनेकी आवश्यकता नहीं होती थी। उनके लिये १ से ६ की तरह ही भिन्न-भिन्न अङ्क नियत थे।

इस वंशके कुछ सिक्कोंपर चीनी-लिपिकी तरह ऊपरसे नीचेकी ओरको लिखे अक्षर भी मिलते हैं।

इनके समयके करीब ३० लेख और ताम्रपत्र मिले हैं; परन्तु उनमें लेखोंकी संख्या ही अधिक है। इसी प्रकार इनके सोने, चाँदी, ताँबे और मुलम्मेवाले सैकड़ों सिक्के मिले हैं; परन्तु उनमें सुवर्णके सिक्कोंकी ही संख्या अधिक है। ये भिन्न-भिन्न प्रकार और वजनके हैं तथा इनके सुवर्णमें मिलावट भी भिन्न-भिन्न परिमाणमें पायी जाती है। इन सुवर्णके सिक्कोंको निम्न लिखित श्रेणियोंमें बाँट सकते हैं—

गरुडध्वजाङ्कित, धनुर्धराङ्कित, विवाह-बोधक, परशुधराङ्कित, कचाङ्कित, व्याघ्रवधाङ्कित, वीणाङ्कित, अश्वमेधिक, सिंहासनस्थनृपाङ्कित, छत्रधराङ्कित, सिंहवधाङ्कित, अश्वारोह्यङ्कित, खड्गधराङ्कित, मयूराङ्कित, प्रतापाङ्कित, गजारोह्यङ्कित, लक्ष्म्यङ्कित, सिंहारवारोह्यङ्कित, परिचारिका-द्वयाङ्कित (अथवा राजलीलाङ्कित) और वृषभाङ्कित।

इनके चाँदीके सिक्के क्षत्रपोंके सिक्कोंके आकार-प्रकारके (छोटे) होते हैं। इनका विभाग इस प्रकार किया जा सकता है—गरुडाङ्कित, वृषभाङ्कित, अग्निकुण्डाङ्कित और मयूराङ्कित। इनके ताँबेके सिक्के तीन प्रकारके मिले हैं—गरुडाङ्कित, अग्निकुण्डाङ्कित और कलशाङ्कित।

इस वंशके नरेशोंके चाँदीके मुलम्मेवाले गरुडाङ्कित सिक्के भी मिले हैं।

इस वंशका पहला नाम गुप्त और दूसरा नाम घटोत्कचगुप्त मिला है। इन दोनोंकी उपाधि "महाराज" थी। इससे ज्ञात होता है कि, ये दोनों साधारण नरेश थे। महाराज गुप्तका समय साधारणतया ई० स० ३००के आसपास अनुमान किया गया है।

चन्द्रगुप्त १म इस वंशका पहला प्रतापी राजा था। गुप्तोंके लेखादिकोंमें पहले-पहल इसीके नामके साथ महाराजाधिराजकी उपाधि लगी मिलती है। इसका विवाह लिच्छवि-वंशकी कन्या कुमारदेवीसे हुआ था। महरौली (देहलीसे नौ मील दक्षिण) के लोह-स्तम्भपर चन्द्रका बङ्गालकी विजय करना लिखा है। सम्भव है, वह चन्द्र यही हो। इसने ई० स० ३२० में अपना नया संवत् चलाया था।

चन्द्रगुप्त प्रथमने समुद्रगुप्तको अपने पुत्रोंमें योग्यतम

देखकर ही अपना उत्तराधिकारी बनाया था। इसने पहले उत्तरी भारतके अधिकांश प्रदेशोंको विजय कर अपने राज्यका विस्तार किया और इसके बाद दक्षिणको विजय कर वहाँके नरेशोंसे कर वसूल किया। समुद्रगुप्तकी इस दो तीन हजार मीलकी युद्ध-यात्रामें कम-से-कम दो वर्ष अवश्य ही लगे होंगे। वी० ए० स्मिथ इस घटनाका समय ई० स० ३५० के निकट अनुमान करते हैं। इसने इस युद्ध-यात्राके बाद अश्वमेध यज्ञ भी किया था, यह बात इसके उस अवसरके बने सुवर्णके सिक्कोंसे प्रकट होती है। सिक्कोंपर विजय-सूचक वाक्य लिखे होनेसे कुछ विद्वान् अनुमान करते हैं कि, इसने अपनी दक्षिणकी विजययात्रामें इकट्ठे किये सुवर्णसे ही लौटनेपर सिक्के बनवाना प्रारम्भ किया था।

इसका दूसरा नाम "काच" था। होर्नले इसका तीसरा नाम "धर्मादित्य" भी अनुमान करते हैं।

चन्द्रगुप्त २ य योग्यतम होनेके कारण ही समुद्रगुप्तने अपना उत्तराधिकारी चुना था। इसके लेखोंमें गुप्त-संवत् लिखा होनेसे इसका राज्याभिषेक ई० स० ३८० के करीब और मृत्यु ई० स० ४१३ के करीब अनुमान की जा सकती है।

इसने (ई० स० ३९३) के करीब पश्चिमी क्षत्रपोंको जीतकर उनके राज्य गुजरात, सोरठ और पश्चिमी मालवाको अपने राज्यमें मिला लिया था। इसी प्रकार पूर्वी मालवापर भी इसने अधिकार कर लिया था।

सम्भवतः इसने अपने चाँदीके सिक्के पश्चिमी क्षत्रपोंकी विजयके बाद ही प्रचलित किये थे। वे आकारमें क्षत्रपोंके सिक्कोंके समान ही हैं; परन्तु उनपर चैत्यके स्थानमें गरुडकी मूर्त्ति बनी है।

बाणभट्टने "हर्षचरित"में लिखा है कि, "शत्रुके नगरमें दूसरेकी स्त्रीकी कामना करनेवाले शकपतिको स्त्रीके वेशमें छिपे चन्द्रगुप्तने मार डाला।" शायद इस वाक्यका सम्बन्ध इसी चन्द्रगुप्तकी शकोंपरकी विजयसे हो।

फाहियानके लेखसे प्रकट होता है कि, उस समय भारतमें सुख, सम्पत्ति और सदाचार व्याप्त था। फाँसीकी सजा किसीको भी नहीं दी जाती थी।

हाँ, राजद्रोहियों और लुटेरोंका दाहिना हाथ काट दिया जाता था। लोग राज्यकी भूमि जोतकर उपजका कुछ अंश कर-स्वरूपमें दे दिया करते थे। राज-कर्मचारियोंको बँधा वेतन मिलता था।

मि० विन्सेंट स्मिथके मतानुसार चन्द्रगुप्तने बंगालसे बिलोचिस्तानतकका देश भी विजय किया था। इसीसे इसका राज्य इसके पिताके राज्यसे बढ़ गया था। इसकी उपाधि विक्रमादित्य थी और शकों (पश्चिमी क्षत्रपों) के राज्यको नष्ट करनेके कारण लोग इसीको शकारि भी समझते हैं।

विद्वानोंका अनुमान है कि, प्रसिद्ध कवि कालिदास इसीके समय हुआ था।

चन्द्रगुप्त द्वितीयका दूसरा नाम देवगुप्त और देवराज मिलता है। इसकी एक रानीका नाम ध्रुवस्वामिनी और दूसरीका कुबेरनागा था। राजशेखरकी "काव्यमीमांसा"के एक श्लोकसे ज्ञात होता है कि, राजा शर्मगुप्तने खसोंसे हारकर अपनी रानी ध्रुवस्वामिनीको उनके स्वामीको दे डाला। यदि यहाँपरकी ध्रुवस्वामिनीसे उपर्युक्त ध्रुवस्वामिनीका ही तात्पर्य हो, तो चन्द्रगुप्तका एक नाम शर्मगुप्त होना और उसका शकोंसे हारना भी सिद्ध होता है।

कुमारगुप्त १म चन्द्रगुप्त द्वितीयका पुत्र और उत्तराधिकारी था। इसका समय ई० स० ४१३ से ४५५ तक माना गया है। इसके आश्वमेधिक सिक्कोंसे प्रकट होता है कि, इसने भी अपने दादाकी तरह अश्वमेध-यज्ञ किया था। परन्तु फिर भी इसके अन्तिम समयमें हूणोंके आक्रमणके कारण इसके राज्यका पश्चिमी प्रदेश इसके हाथसे निकल गया था। इसकी रानीका नाम अनन्तदेवी था।

स्कन्दगुप्त चन्द्रगुप्त द्वितीयका पुत्र और उत्तराधिकारी था। इसका राज्याभिषेक ई० स० ४५५ में हुआ था। इसने राज्याधिकार प्राप्त करते ही हूणोंके आक्रमणके कारण फैली हुई अराजकताको दूर कर राज्यमें एक बार फिर शान्ति-स्थापन करनेका प्रचण्ड उद्योग किया था। इसने पिताकी आज्ञासे आगे बढ़कर पुष्यमित्रोंको भी हराया था। डाक्टर फ्लीट इनको नर्मदा-तटके निवासी अनुमान करते हैं। परन्तु इस विषयमें निश्चय पूर्वक कुछ कहना कठिन है।

यद्यपि स्कन्दगुप्तने राज्यपर बैठते समय हूणोंको हरा दिया था, तथापि ई० स० ४७० के करीब उन्होंने दोबारा आक्रमण कर गुप्त-राज्यकी जड़तकको हिला दिया। फलतः गुप्त नरेशोंका अधिकार अधिकतर अपने राज्यके पूर्वी प्रान्तोंपर ही रह गया।

कुछ लोग कुमारगुप्त द्वितीयको स्कन्दगुप्तका उत्तराधिकारी अनुमान करते हैं। परन्तु वी० ए० स्मिथका अनुमान है कि, स्कन्दगुप्तके बाद उसका भाई पुरगुप्त और उसके बाद उसका पुत्र नरसिंहगुप्त राज्यके अधिकारी हुए थे। उनके मतानुसार इन्होंने बहुत ही थोड़े समयतक राज्य किया था और नरसिंहगुप्तके बाद उसका पुत्र कुमारगुप्त द्वितीय राज्यका स्वामी हुआ था। उस समय सम्भवतः उत्तरी बंगाल, सारनाथ और मालवापर इसीका अधिकार था। इसके बाद इस वंशके नरेश बुद्धगुप्त और भानुगुप्तके नाम मिलते हैं। इनका अधिकार कम-से-कम उत्तरी बंगाल-पर तो अवश्य ही था। परन्तु ये हूणोंके सामन्त रहे हों, तो आश्चर्य नहीं।

ई० स० ५३४ के बाद किसी समय यशोधर्माने हूणवंशी मिहिरकुलको हराकर अपनेको उत्तरी भारतका सम्राट् घोषित कर दिया। इससे रहे-सहे गुप्तराज्यकी भी समाप्ति हो गयी।

गुप्तवंशके कुछ नरेशोंके नाम और उपाधियाँ और भी मिली हैं। परन्तु उनका पूर्वापर सम्बन्ध आदि अज्ञात है।

हिन्दुओंकी वर्षगणनाएँ

कुमार गंगानन्द सिंह एम० ए०

जिस प्रकार क्रिस्तानी देशोंमें ईसामसीहके जन्मदिनसे (ईस्वी *A D*) वर्षगणना करना प्रचलित है और मुसलमानी देशोंमें मुहम्मद साहबके मक्का छोड़नेके दिनसे वर्षगणना प्रचलित है, उसी प्रकार हिन्दुओंकी वर्षगणनाएँ धार्मिक भित्ति-पर कभी प्रचलित नहीं हुईं। साधारणतया तो यह देखा जाता है कि, मुसलमानी राजकालसे पूर्व, भारतवर्षके भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें, भिन्न-भिन्न वर्षगणनाएँ, भिन्न-भिन्न समयोंमें, प्रचलित रहीं और उन गणनाओंका सम्बन्ध भिन्न भिन्न नरपतियोंके राज्यकालसे था। शिलादि-लेखोंमें, ताम्रादि पत्रोंमें, स्तम्भ-लेखोंमें, पुराणोंमें या उन प्राचीन ग्रन्थोंमें (जिनसे हमें भारतवर्षके इतिहासका कुछ भी पता चल सकता है) हम केवल यही देखेंगे कि, अमुक राजाने इतने वर्षोंतक राज्य किया था; अमुक राजाके राज्यकालके अमुक वर्षमें अमुक घटना हुई। यही कारण है कि, भारतवर्षके प्राचीन इतिहासके सम्बन्धमें इतने मतमतान्तर उत्पन्न होते हैं और घटनाविशेषका काल-निरूपण करना कठिन हो जाता है। पर इतनी वर्षगणनाओंके

रहते हुए भी हिन्दुओंकी कुछ ऐसी वर्षगणनाएँ हैं, जो अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित हैं, और, उनका व्यवहार हिन्दुओंके द्वारा अब भी बहुधा किया जाता है, पर उनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें, पुरातत्त्वज्ञोंके बीच मतैक्य नहीं पाया जाता। इस लेखमें साधारण पाठकोंके लिये पाँच ऐसी वर्षगणनाओंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें, यथासम्भव संक्षेप तथा सरल रीतिसे, ऐतिहासिक मतमतान्तरोंका उल्लेख किया गया है। पुरातत्त्वज्ञ विद्वान् इसमें विशेष नवीनता नहीं पायेंगे। उन्हें सामग्रियोंके सङ्कलन मात्रसे जो कुछ सन्तोष होना सम्भव है, प्रायः होगा।

(१) विक्रमाब्द

ईसामसीहके जन्मसे ५८ वर्ष पहलेसे यह वर्षगणना प्रारम्भ होती है और उत्तरीय भारतवर्षमें यह अधिक ऐतिहासिक प्रसिद्धि पा चुकी है। विद्वानोंका मत है कि, जिस प्रकार ज्योतिषियोंने अपना काम चलानेके लिये "कलियुग"को मान लिया और उसका प्रारम्भ-काल ईसामसीहके जन्मसे ३१०२ वर्ष पहले बताया, उस प्रकारकी मनगढन्त बातें इस वर्षगणनाके सम्बन्धमें नहीं हैं। इसका आधुनिक प्रचलित नाम "विक्रम-संवत्" भले ही हो, पर इसका प्रमाण नहीं मिलता कि, इसी नामसे यह गणना आदिकालसे ही प्रचलित थी अथवा ईसाके जन्मसे ५८ वर्ष पहले राजा विक्रमने ही इसे प्रचलित किया। आधुनिक संज्ञा उत्पत्तिका प्रमाण नहीं हो सकती। पुरातत्त्वज्ञोंने खोजकर यह पता लगाया है कि, सन् ३७२ ई० में यह केवल "कृत" *के नामसे प्रसिद्ध थी। ४०५ से लेकर ८७९ पर्यन्त यह मालवगणोंकी गणना कही जाती है।‡ सन् ४३६ के बाद "कृत"का उल्लेख हम नहीं पाते, और, तबसे मालवगणोंकी गणनाके रूपमें इसकी प्रसिद्धि पायी जाती है। यद्यपि सन् ८७९ तक मालवगणोंके साथ इस वर्षगणनाका सम्बन्ध पाया जाता है, पर जैकदेवके धेनिक-पत्र-लेखमें (जो सन् ७३७ का है) हम सबसे पहले इस गणनाका सम्बन्ध "विक्रम" नामसे पाते हैं।

३७२ ई०से पहले इस गणनाका नाम क्या था? कोई तबतक इसका उत्तर नहीं दे सकता, जबतक यह मालूम न हो जाय कि, अपनी उत्पत्तिकी प्रथम शताब्दीमें यह किस नामसे जानी जाती थी। डाक्टर फ्लीटका कहना है कि, भारतीय वर्षगणनाके सम्बन्धमें हम इतना ही जान सकते हैं कि, किसी राजाके द्वारा इसकी उत्पत्ति हुई। उनका मत है कि, राजा कनिष्कने इस गणनाको प्रचलित किया। उनकी एक राजधानी [मथुरा] मालवोंके देशसे दूर नहीं थी। पर डाक्टर एफ० डब्ल्यू० टामस इस मतसे सहमत नहीं हैं। वे शकोंको इसका प्रचलित करनेवाला बताते हैं, और, राजा मोग तथा गंडोफरनेसके कालसे इसका सम्बन्ध स्थापित करनेका प्रयास करते हैं। डाक्टर मार्शलका कहना है कि, प्रायः एजेस प्रथमके द्वारा यह वर्षगणना प्रचलित की गयी और उसके मथुराके सुबेदारोंके परिवारके द्वारा यह अपनायी गयी। पर दूसरे विद्वानोंको प्रतिभासित

* C f सिद्ध कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेषु अष्टविंशेषु (विजयगढ़-स्तम्भपरके लेखमें)। विश्ववर्म्मनके गंगाधर-लेखमें "वत्सरेषु" के आगे "कृतेषु" पाया जाता है।

‡ मन्दसोर-लेख (ई० स० ४०५) में "कृतसंज्ञित" तथा "मालवगण" नाम कहा गया है।

होता है कि, मालवाके किसी राजाके द्वारा (जिसने शक आक्रमणकारियोंको खदेड़कर निकाल बाहर किया) इसकी उत्पत्ति हुई। पर अभीतक यह निश्चित रूपसे कहना कठिन है कि, वास्तवमें इसकी औत्पत्तिक घटनाएं किस प्रकारकी हैं।

(२) शकाब्द।

जिस प्रकार विक्रम-संवत् उत्तर भारतवर्षमें विशेष रूपसे प्रचलित है, उसी प्रकार शक-संवत् दक्षिण भारतवर्षमें। इस वर्षगणनाका सर्वप्रथम निश्चयात्मक उल्लेख एक ज्योतिर्ग्रन्थ * में पाया जाता है। उसमें ४२७ वें वर्षका "शक-काल" कहकर उल्लेख है। पर यह वर्षगणना ४१ वें वर्षसे लेकर ३१० वे वर्षतक नहपान तथा उसके क्षत्रप उत्तराधिकारियोंके लेखोंमें विना किसी नामके व्यवहारमें लायी गयी है। उत्तर भारतवर्षमें इस वर्षगणनाका उल्लेख, निश्चयात्मक रूपसे, सर्वप्रथम युक्तप्रान्तके देवगढमें प्राप्त सामग्रीमें किया गया है। वह ८६२ ई०की है।

अलबरूनी (१०३०ई०)का कहना है कि, शक-सवत् विक्रम-संवतसे १३५ वर्ष बाद प्रारम्भ होता है और उसकी प्रसिद्धि इस कारण हुई कि, लोग अत्याचारी शककी मृत्युकी खबर सुनकर अत्यन्त आनन्दित हुए और उसे एक नवीन युगका प्रारम्भ माना। पर यह बात सच नहीं जँचती। बदामी-लेख×(ई०५७८) का काल उसमें शक राजाके राज्याभिषेकके पाँच सौ वर्षके बाद अङ्कित है। पुनः आइहोलके लेख‡(स०ई०६३४—३५) में उसका काल "शकराजाओंके ५५६ वर्ष राज बीतनेपर" अङ्कित है। इन सब प्रमाणोंकी ओर दृष्टि देनेपर यह मालूम पड़ता है कि, अलबरूनीका कथन कि, शक राजाके पराजय-कालसे यह वर्षगणना प्रारम्भ हुई, ठीक नहीं है। प्रत्युत् उपर्युक्त लेखोंसे तो यह ज्ञात होता है कि, शक-राजाके राज्याभिषेक कालसे इसकी उत्पत्ति हुई हो।

अब प्रश्न यह है कि, वह शक राजा कौन था, जिसके राज्याभिषेकके कालसे यह वर्षगणना प्रारम्भ हुई? श्रीयुत राखालदास बनर्जीकी रायसे यह राजा कनिष्क था। उनका कहना है कि, सीथिया-निवासियोंको फरासीसीगण "शक" कहा करते थे। संस्कृतमें "शक' शब्द फरासीसियोंसे ही लिया जाकर व्यवहृत होने लगा; पर इस भाषामें इसका अर्थ और भी व्यापक बन गया। भारत-वासियोंके लिये कुषाण-वंशीय कनिष्क, पार्थियन गंडोफरनैस तथा सोकमोअस आदि सबके सब "शक" राजा ही थे, जो "सभ्य संसार"की सीमाके बाहरसे आये हुए थे, मिस्टर रैप्सनकी भी राय है कि, यह वर्षगणना कनिष्कके कालसे ही प्रारम्भ हुई। सौराष्ट्रके शक-राजागण पहले कुषाण-वंशीय राजाओंके सुबेदार थे। लगभग तीन शताब्दियोंतक उन्होने इसका व्यवहार किया और इसीसे यह इस प्रचलित नामसे प्रसिद्ध है। डाक्टर टामसका मत है कि, यह वर्षगणना कुषाण-वंशीय राजा कनिष्क-द्वारा शकोंके पराजित होनेके उपलक्षमें प्रचलित की गयी, और, वे इस सम्बन्धमें अलबरूनीके मतको पुष्ट करते हैं। पर डाक्टर फ्लीट इस मतको ठीक नहीं समझते। वे बदामी तथा आइहोलके लेखोंके आधार पर बताते हैं कि,इस वर्षगणनाको नहपानने चलाया। उसका राज्यकाल सन् ७८ से लेकर १२५ तक था;

* देखिये वाराहमिहिरकी "पञ्चसिद्धान्तिका।"

× "शकनृपतिराज्याभिषेकसंवत्सरेषु अतिक्रान्तेसु पञ्चसु शतेषु।"

‡ "शकानाम सुमुजम..."

और, अपने राज्यकालके प्रारम्भके अवसरसे ही इस वर्षगणनाको भी उसने प्रारम्भ किया। उसने पहले काठियावाड़में अपने राज्यको सुदृढ़ किया और क्रमशः गुजरात, उज्जैन, नासिक और खानदेशपर भी अपना अधिकार जमाया। सन् १२५ के थोड़े ही दिनोंके बाद नहपान गौतमीपुत्र शातकर्णीके द्वारा पराजित हुआ और उसके वंशजोंका नामो-निशान मिट गया। गौतमीपुत्र शातकर्णीने अपना अधिकार, कुछ कालके लिये, नहपानके समस्त राज्यपर फैलाया; पर चष्टन-वंशीय क्षत्रपोंने शीघ्र ही फिर नर्मदा-नदीके उत्तरीय भागोंमें नहपानका जितना राज्य था, उसे जीत लिया और नहपानके राज्याभिषेकके कालसे, जो शक-सवत् प्रारम्भ किया गया था, उसे प्रचलित रखा।

प्रो० जेभोदुबरैल भी कनिष्कको इस वर्षगणनाका प्रवर्तक माननेको तैयार नहीं है। उनकी शंकाएँ नीचे दी जाती हैं। साथ साथ डाक्टर हेमचन्द्र राय चौधरीने "*Political History of Ancient India*" में जिस प्रकार उनकी शंकाओंका समाधान किया है, वह भी उल्लिखित है।

जेभोदुबरैलकी शंकाएँ

(क) यदि हम मान लें कि, कजुल कैडफाइसिस और हरमेइओंने ५० ई०में राज्य किया और कनिष्क ७८ ई० में शकाब्दका प्रवर्तक था, तो प्रथम कैडफाइसिसके राज्यकालके अन्त तथा द्वितीय कैड फाइसिसके सम्पूर्ण राज्यकालके लिये केवल २८ वर्ष रह जाते हैं।

डा० राय चौधरीके समाधान-

(क) २८ वर्षकी अवधि इस खयालसे थोड़ी नहीं है कि, जब प्रथम कैडफाइसिसका देहान्त हुआ, तब उसकी आयु ८० वर्षसे ऊँची थी और उसका लड़का द्वितीय कैडफाइसिस तब काफी वृद्ध हो चुका होगा। अतएव उसका अधिक दिनोंतक राज्य करना असङ्गत है।

(ख) मि० मार्शलके अन्वेषणसे तक्षशिलाके चिरस्तूपमें एक पत्र प्राप्त हुआ है, जिसकी तारीख १३६ है। विक्रमाब्दसे गिने जानेपर वह ७९ ई० का प्रतीत होता है और उसमें कनिष्कका जिक्र नहीं है। यह प्राय प्रथम कैडफाइसिसका है।

(ख) पहले तो यह निश्चित नहीं है कि, वह गणना विक्रमाब्द ही है। पर यदि ऐसा मान भी लिया जाय, तब भी "देवपुत्र"-रूपी सम्बोधन, जैसा कि, तक्षशिलाके पत्रमें पाया जाता है, कनिष्क आदि कुषाण वंशीय राजाओंके कायदेके अनुसार है, न कि, कैडफाइसिस आदिके। इसमें राजाका नाम नहीं है, इससे यह नहीं समझना चाहिये कि, प्रथम कुषाण-राजाका ही बोध होता है। कई लेखोंमें कुमारगुप्त, बुद्धगुप्त आदि केवल गुप्त-नृप कहे गये हैं। अतएव यह कनिष्कके ७८ ई०की वर्षगणनाके प्रवर्तक होनेके विश्वासको दृढ़तर करता है।

(ग) मि० स्टेन कोनो बताते हैं कि, तिब्बतीय और चीनी पत्रोंसे कनिष्कका द्वितीय शताब्दीमें राज्य करना प्रमाणित होता है।

(ग) हो सकता है कि, यह दूसरा कनिष्क हो, जिसका उल्लेख आर लेख (४१ वे वर्षका) में है। यदि शकाब्दके हिसाबसे देखा जाय, तो ४१ वाँ वर्ष द्वितीय शताब्दीमें पड़ेगा। फिर स्टेन कोनो साहबका "पोटिआओ" प्रथम वासुदेवके उत्तराधिकारियोंमेंसे एक होगा। डा० स्मिथ और राखालदास बनर्जीके मतसे एकसे अधिक वासुदेव हुए, और, वासुदेवके नामका सिक्का उसके देहान्तके बाद भी चलता रहा।

(घ) मि॰ स्टेन कोनोने दिखाया है कि, कनिष्क-कालके लेखों और शकाब्दके लेखोंमें देनेकी प्रणालीमें भिन्नता है।

(घ) पर उसी विद्वान्‌ने तो यह भी बताया है कि, कनिष्क-कालके लेखोंमें भी तारीख देनेकी प्रणाली एक-सी नहीं है। कनिष्कके खरोष्ठी-लेखोंमें शक-पल्लवोंकी प्रणालीका अनुसरण किया गया है। महीने और दिनके नाम उनमें पाये जाते हैं। ब्राह्मी-लेखोंमें कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियोंने प्राचीन भारतीय प्रणालीका अनुसरण किया है। तब जेभोदुबरैल साहबकी शंकाके हेतुको हम यदि मान ले, तो प्रश्न यह उठता है कि, क्या खरोष्ठी-लेख और ब्राह्मी लेखोंमें भिन्न-भिन्न वर्षगणनाएं है? यदि नहीं, तो यह कैसे असम्भव हो सकता है कि, जिस कनिष्कने दो प्रकारकी प्रणालियोंसे तारीख देना प्रचलित किया, वह तीसरी प्रकारकी प्रणाली नहीं प्रचलित कर सकता है, जो पश्चिमीय भारतवर्षकी परिपाटीके अनुकूल हो? स्टेन कोनो साहब स्वयं कहते हैं कि, शकाब्दकी तारीखोंमें, खरोष्ठी-लेखोंके सदृश, हम महीनेका नाम पाते हैं, और, उसके अलावे पक्षका नाम, जो उस प्रदेशकी परिपाटीके अनुकूल था। सुतराम् यह असम्भव नहीं है कि, जिस प्रकार कनिष्कने सीमान्त देशोंमें पुरानी शक-पल्लव परिपाटीका अनुसरण किया और हिन्दुस्तानमें प्राचीन भारतीय परिपाटीका, उसी प्रकार पश्चिमीय भारतमें उसके कर्मचारियोंने उस प्रदेशकी परिपाटीके अनुसार "पक्ष"का उल्लेख भी करना प्रारम्भ किया।

जेभोदुबरैलके मतसे ओल्डेनबर्ग, फर्गुसन आदि विद्वान् भी सहमत नहीं हैं; और, वे कनिष्कको ही शक-संवत्‌का प्रवर्तक मानते हैं।

४०० ई॰ के लगभग हिन्दुओंका सम्पर्क ग्रीस-देशीय ज्योतिर्ग्रन्थोंसे हुआ और उन्होंने कलियुग नामक गणनाका निर्माण किया। ईसाके जन्मसे ३१०२ वर्ष पूर्वसे उसका प्रारम्भ-काल रखा गया। पर इस गणनाको बड़ी-बड़ी ज्योतिर्गणनाओंके लिये छोड़, वे किसी ऐसी गणनाकी खोजमें पड़े, जिसका व्यवहार छोटे-छोटे ग्रन्थोंमें कर सकें और साधारण रूपसे काममें लावें। सम्भवतः इसका चुनाव पश्चिम भारतवर्षमें ही हुआ। उन लोगोंने काठियावाड़, गुजरात तथा उस प्रान्तके अन्य स्थानोंमें प्रचलित इस वर्षगणनाको (जिसका प्रारम्भ-काल ७८ ई॰ से है) इस हेतु अपनाया।

१३ वीं शताब्दीमें इस वर्षगणनाका एक नाम "शालिवाहन-शक" पड़ा, यद्यपि शालिवाहन अथवा शातवाहन राज्यवंशोंसे इसके प्रारम्भ-कालका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। प्रायः यह उसी प्रकार पड़ा, जिस प्रकार ईसाके जन्मसे ५८ वर्ष पहलेसे जो वर्षगणना प्रचलित हुई, उसका नाम ४०५ ई॰ से मालवगणना तथा ७३६ ई॰ से विक्रम-संवत् पड़ा तथा गुप्तवंशीय संवत्‌का नाम बलभी-संवत् और त्रैकूटक-संवत्‌का नाम कलचुरि अथवा चेदि-संवत् पड़ा।

(३) कलचुरि-संवत्

त्रैकूटक, कलचुरि या चेदिकी वर्षगणना २४८—४९ ई॰ से प्रारम्भ होती है। पर इसकी उत्पत्तिके विषयमें कुछ निश्चित रूपसे कहना अभी कठिन है। डाक्टर रमेशचन्द्र मजुमदारका मत है कि, राजा कनिष्क इसके प्रवर्तक थे। पर आचार्य जेभोदुबरैल बताते हैं कि, यह सम्भव नहीं है। उनका कथन है कि, कुषाण-वंशके अन्तिम राजा वासुदेवका राज्य-काल कनिष्कके राजकालके प्रारम्भसे १०० वर्ष बाद समाप्त होता है। विविध लेखोंसे यह भी निश्चित

रूपसे ज्ञात होता है कि, वासुदेव मथुरामें राज्य करते थे। साथ-साथ यह भी निश्चित रूपसे जाना गया है कि, ३५ ई० में यौधेय तथा नाग वंशके राजाओंका अधिकार वासुदेवके साम्राज्यके ऊपर हो गया था। नागवंशीय राजाओंकी राजधानियाँ मथुरा, कान्तिपुर और पद्मावतीमें थी, और, कमसे कम १०० वर्ष राज्य करनेके बाद वे लोग समुद्र-गुप्त द्वारा पराजित हुए। अतएव कनिष्कका २४८–४६ ई० में होना असङ्गत है। फिर भी तिब्बतीय परम्परागत किंवदन्तीके अनुसार कनिष्क खोतनके राजा विजयकीर्तिके समकालीन थे और हुविष्क भारतीय-परम्परागत किंवदन्तीके अनुसार कोसलके शातवाहन-वंशज नागार्जुनके। इस शातवाहन-वंशका राज्यकाल तृतीय शताब्दीके पूर्वार्द्ध में समाप्त हुआ। अतएव इनसे भी डाक्टर मजुमदारका मत पुष्ट नहीं होता। इसके अलावे चीनी त्रिपिटकके सूचीपत्रसे ज्ञात होता है कि, एन-शी काओ (१४८—१७० ई०) ने संघरक्षाके "मार्गभूमिसूत्र" का अनुवाद किया था। यह संघरक्षा कनिष्कका पुरोहित था। सुतराम् कनिष्क १७० ई० से बहुत दिन पहले राज्य करते होंगे। इन तर्कोंसे डाक्टर मजुमदारके मतका खण्डन तो होता ही है, साथ ही सर रामगोपाल भंडारकरका भी यह अनुमान कि, कनिष्कका राज्याभिषेक २७८ ई० में हुआ होगा, ठीक नहीं जँचता।

(४) गुप्त-संवत्

यह वर्षगणना ई० स० ३२० से प्रारम्भ होती है। इसके प्रवर्तक थे गुप्त-साम्राज्यके प्रथम सम्राट् घटोत्कचगुप्तके पुत्र महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त (प्रथम)। उनके राज्यकालके प्रारम्भसे ही यह गणना प्रचलित हुई।

पहले इस विषयमें भी खूब तर्क-वितर्क हुआ है, पर बन्धुवर्म्माके मंडसोर-लेखके मिलनेपर इसके समाधानका श्रीगणेश हुआ। इसमें प्रथम कुमार-गुप्तके राज्यकालके सम्बन्धमें एक गणना मिली, जो गुप्तराजाओंके कालके लेखोंमें उल्लिखित वर्षगणनाओंसे भिन्न थी। उस गणनाके सम्बन्धमें जितनी चर्चा चली, उससे इसी बातकी पुष्टि हुई कि, वह गणना विक्रमाब्द है। इस ओर ध्यान आकृष्ट करनेका श्रेय फ्लीट साहबको है। जबतक यह लेख नहीं मिला था, तबतक अलबरूनीका लेख मात्र ऐसी सामग्री था, जिसके बलपर इस सम्बन्धमें कुछ कहा जा सकता था, और, भिन्न भिन्न पाश्चात्य विद्वान्, भिन्न-भिन्न रूपसे, उस कथनका अनुवाद कर भिन्न मतोंका प्रतिपादन करते थे। फर्गुसनका कथन था कि, गुप्त संवत्का प्रारम्भ-काल ३१८-१९ ई० से होता है। प्रिंसेप साहबका मत था कि, स्कन्दगुप्तके देहान्तके बाद गुप्त वंशकी राज्य लक्ष्मी हरण करनेके उपलक्षमें यह गणना चलायी गयी। टामसके मतानुसार यह बलभी संवत् था और इसके प्रवर्तक गुहसेन थे। गुप्तराज्यकाल इससे कुछ समय पूर्वतक था, और, बलभीवालोंने गुप्त नाम तो रखा, पर वास्तवमें उनके संहार कालसे इसे चलाया। पर डाक्टर ओल्डेनबर्गने बहुत छान-बीन कर पता लगाया कि, गुप्तराज्यका ३१६ ई०में प्रारम्भ हुआ और ४८० ई०में अन्त। डाक्टर सर रामगोपाल भंडारकरने भी अपने "*Early History of Deccan*" में यह बताया है कि, गुप्त-संवत् ३१८-१९ ई० में प्रारम्भ होता है, पर पीछे आकर इसका नाम बलभी-संवत् पड़ा। मंडसोर-लेखके मिलनेपर इस प्रकारके मतमतान्तर नहीं रहे। यह निश्चित रूपसे जाना गया कि, अलबरूनीका कथन कि, गुप्तराज्यकालका अन्त ३१९ ई० में

हुआ, मिथ्या है। बुधगुप्तका एरन-स्तम्भ-लेख, परिव्राजक महाराजाओंके पत्र, प्रथम शिवदेव तथा नेपालके मानदेवके लेख आदिसे यह पता चल गया है कि, इस गणनाका प्रारम्भकाल ३२० ई० है। आचार्य लेवीका समुद्रगुप्त तथा लंकाके मेघवर्णको समकालीन निरूपण करना इस मतको और भी पुष्ट करता है। अब यह निश्चित है कि, इस वर्षगणनाको वलभी-वंशके किसी राजाने प्रचलित नहीं किया। पहली छः-सात पीढ़ियोंतक वलभी-वंशके नृपति सेनापति वा महाराज मात्र कहे जाते थे और उन्हें किसी वर्षगणनाको प्रचलित करनेका अधिकार नहीं था। महाराज ध्रुवसेन (प्रथम) के समयमें २०७ वें वर्षका उल्लेख है। ये दूसरी पीढ़ीमें थे। अतएव इससे यह सिद्ध होता है कि, यह गणना इनके पिताके अधिकार पानेके बहुत दिन पहलेसे ही प्रचलित थी। गुप्तवंशके प्रथम दो व्यक्ति केवल करद महाराज मात्र थे। इन्हें भी किसी वर्षगणनाको प्रचलित करनेका अधिकार प्राप्त नहीं था। एलन साहबके कथनसे ज्ञात होता है कि, गुप्त-संवत्‌का प्रथम वर्ष २६ फरवरी ३२० ई० को प्रारम्भ हुआ और १५ मार्च ३२१ ई० को अन्त, और, यह प्रथम चन्द्रगुप्तके राज्यकालका भी प्रथम वर्ष था। विन्सेन्ट स्मिथका यह कथन कि, अपने राज्याभिषेकोत्सवकालसे (राज्यकालके वास्तविक वर्षसे नहीं) चन्द्रगुप्तने इस गणनाको प्रचलित किया, ठीक नहीं जँचता। चन्द्रगुप्तके देहान्तके बाद भी उसके उत्तराधिकारियोंने इस गणनाको प्रचलित रखा; जैसा कि, द्वितीय चन्द्रगुप्तके गढ़वा-लेखके "चन्द्रगुप्तराज्यसंवत्सरे ८०८" वाक्यसे प्रमाणित होता है। यह अधिक सम्भव है कि, चन्द्रगुप्तने अपने राज्यको कुछ बढ़ाकर कुछ कालके अनन्तर "महाराजाधिराज" पदवीको ग्रहण किया। अपने राज्यकालसे (अभिषेक-कालसे नहीं) वर्षगणना प्रचलित करना कोई नयी बात नहीं है। हर्षवर्द्धनने भी ऐसा ही किया। उसने भी अपने राज्यकालके प्रारम्भ ६०६ ई० से (अभिषेक काल ६१२ ई० से नहीं) ही अपनी वर्षगणनाको चलाया।

(५) लक्ष्मणाब्द

आचार्य किलहार्नने यह प्रमाणित किया है कि, इस वर्षगणनाका प्रथम दिन ७ अक्तूबर ११११ ई० है।

साधारणतया लोगोंका खयाल है कि, बंगालके सेन-वंशीय राजा बल्लालसेनके पुत्र राजा लक्ष्मणसेनने इसको चलाया। यदि ऐसा हो, तो लक्ष्मण सेन ११११ ई० मे सिंहासनासीन हुए और ११७० ई० से पहले इनका देहान्त हुआ, कारण, इस वर्षगणनाके ५१ वर्षके बोधगया-लेखमे इनके राज्यकालके "अतीत" होनेकी बात लिखी है। कुछ विद्वानोंकी राय यह भी है कि, लक्ष्मणसेनके पहलेके राजाके राज्याभिषेक-कालसे यह वर्षगणना चली आती है।

पर यह मानी हुई बात है कि, दानसागर और अद्भुतसागरके रचयिता, लक्ष्मणसेनके पिता, बल्लालसेन बताये जाते हैं। इन दोनो ग्रन्थोंमें जो रचनाकाल दिये गये हैं, उनसे प्रतीत होता है कि, बल्लाल सेन शक-संवत् १०६०-६१ (अर्थात् स० ई० ११६८-६६) में जीवित थे। अतएव लक्ष्मणसेन ११११ ई० में कदापि सिंहासनासीन नहीं हुए। ११६६ ई० के बाद ही उनका राज्यकाल प्रारम्भ हुआ। पर बा० राखाल दास बनर्जी इन दो ग्रन्थोंमे दिये गये रचनाकालवाले श्लोकोंको प्रामाणिक नहीं मानते, और, उन्हे आशंका है कि, ये पीछे जोड दिये गये हैं। पर वे "नवकानिनासिरी"के रचयिता मिनहाजिसिराजके

उल्लेखको अप्रामाणिक नहीं बता सकते। वह मुसलमानी संवत् ६५८ * अर्थात् १२६० ई०में लिखा गया। उसमें लिखा है कि, जिस समय मुहम्मद-बिन-बख्तियारने नदियापर मुसलमानी वर्ष ५८९के बाद और ६०१के "कुछ दिन पूर्व" (अर्थात् सन् ११९३ और १२०५ के बीच) आक्रमण किया, उस समय बंगाल पर "राए लखमिनिया"(राजा लक्ष्मण)का शासन था।

इन प्रमाणोंको देखकर लक्ष्मणसेनका राज्य-काल ११९९ ई० मे प्रारम्भ हुआ, ऐसा प्रतीत नहीं होता। अब वे लोग, जिनका ख्याल है कि, लक्ष्मण-सेनके पहले किसी राजाने इसे प्रचलित किया, इस बातपर गौर करते कि, इस वर्षगणनाका उल्लेख लक्ष्मणाब्द या लक्ष्मणसेन-वर्ष कहकर, अनेक हस्तलिखित पुस्तकोंमें, किया गया है, और, बोध-गयाके लेखमें इस वर्षगणनाके ५१वें वर्षमें लक्ष्मण-सेनका राज्य "अतीत" कहा गया है। उनका ध्यान इस बातपर भी जाता नहीं दीखता कि, बंगालके राजागण अपने-अपने राज्यकालकी ही गणनासे काम चलाते थे, न कि, किसी दूसरे राजाकी प्रचलित की गयी किसी गणनाका व्यवहार करते। उनके समयके लेखोंको देखनेपर इसका पूरा प्रमाण मिल जाता है।

साथ ही यह बात भी जानी गयी है कि, बिहारमें भी सेन-वंशीय राजागण राज्य करते थे और वे लोग "पिथिपति" कहे जाते थे। जानीबिगहाके लेखसे पता चलता है कि, पिथिके अधीश्वर राजा जयसेनने वज्रासनको एक गाँव, दानमें, दिया, जिसके नायक मंगलस्वामी नामके एक सिंहली भिक्षु थे। यह राजा जयसेन बुधसेनके पुत्र कहे गये हैं और यह लेख लक्ष्मणसेन-संवत् ८३ का है। श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल महोदयने यह बताया है कि, रामचरितके व्याख्याताने "पिथिपति" की व्याख्या "मगधाधिप" कहकर की है। अतएव जयसेन दक्षिण बिहारके राजा थे। जयसेनके पिता बुधसेन भी "पिथिपति" के नामसे, बोधगयाके एक लेखमें, सम्बोधित हुए हैं, और, हिमालय-प्रान्तके राजा अशोकचल्लके समकालीन बताये गये हैं। इस राजा अशोकचल्लके लेख बोधगयामें पाये गये हैं, और, वे लक्ष्मणसेन-संवत् ५१ और ७४ के हैं। महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री महोदयकी खोजसे ५७ हस्तलिखित ग्रन्थोंका पता लगा है, जिनमे लक्ष्मणसेन-संवत्का व्यवहार किया गया है। उनमेंसे अधिकांश ग्रन्थ मैथिलीमें लिखे हैं, और, उनमे पुरानेसे पुराना, जो लक्ष्मणसेन-संवत् ९१ तथा ११६ का है, मिथिला-देशका ही है। इन सब बातोंसे यह निर्विवाद हो जाता है कि, इस वर्षगणनाका व्यवहार आदिमें बिहारमे होता था। यह भी देखा गया है कि, बंगालके सेन वंशीय राजाओंमेसे किसीने इस वर्षगणनाका व्यवहार नहीं किया। इसके अलावे हम यह भी देख चुके हैं कि, बिहारमे जिन सेन-वंशीय राजाओंने राज्य किया, उनके लेखोंमे इस वर्षगणनाका व्यवहार किया गया है। अतएव हम यह कह सकते हैं कि, इस वर्षगणनाके पूर्वतक बंगालके राजा बल्लालसेनके पुत्र लक्ष्मणसेन नहीं, "पिथिपति" जयसेन तथा बुधसेनके पूर्वज लक्ष्मण-सेन थे। प्रायः यही अपने वंशमे राज्यके संस्थापक थे। इनके मरनेके बाद भी यह वर्षगणना प्रचलित रही पर "अतीतराज्ये" वाक्यका व्यवहार होने लगा। बङ्गालकी हस्तलिखित पुस्तकोंमें इस वर्षगणनाका व्यवहार इसके १७२ वे वर्षमें हुआ, और, गौडके राजाओंसे इस गणनाका सम्बन्ध इसके ४३२ वे वर्षतक नहीं था।

* मुसलमानी संवत १६ जुलाई ६२२ ई० को प्रारम्भ होता है और करीब-करीब ३५४ दिन ८ घटेका एक वर्ष होता है। इसकी गणना चन्द्रमाकी गतिसे की जाती है।

संसारके संवत्सरोंका सिंहावलोकन

पं० सुरेश्वरप्रसाद मिश्र

प्राचीनतम कालमें वर्षोंकी गणना ऋतुओंके आधारपर की जाती थी। एक वर्षाऋतुके प्रारम्भसे दूसरी वर्षाऋतुके पुनः आरम्भ होनेतकके बीचके समयको वर्ष कहते थे। न केवल वर्षाऋतु, अपितु प्रत्येक ऋतुके चक्र-परिवर्तनसे वर्षकी गणना की जाती थी।

आजकल भी छः ऋतुओंमें चाहे किसी भी ऋतुसे वर्षकी गणना की जाय, उसके अन्तर्निहित कालमें (वर्षमें) छः ऋतुओंका विकास होता ही है; किन्तु काल-गणनाके अर्वाचीन मतानुयायी ऐतिहासिक खोजके आधारपर ही वर्षकी गणना करते हैं। अनुमानसे यह अर्वाचीन वर्ष-गणना बिलकुल अधूरी नहीं, तो प्राचीन वर्ष-गणनाकी प्रणालीकी अपेक्षा अधूरी अवश्य है। इतिहासके निर्माण-कर्त्ता अथवा संग्रहकर्त्ता मनुष्य हैं और मनुष्य गलती करता ही नहीं, यह हो नहीं सकता। आधुनिक प्रचलित इतिहासोंमें परस्पर मतभेद ही इसके लिये प्रचुर प्रमाण हैं। इधर ऋतुचक्रकी ओर ध्यान देनेसे उसके परिवर्तनका आधार सूर्यकी गति सिद्ध होता है। सूर्यकी गतिमें गलतीका लेशमात्र भी स्थान मिलना कठिन ही नहीं, असम्भव है। तब प्रकृत बातको छोड़कर हम काल्पनिक बातोंका आश्रय क्यों कर लें? संस्कृतमें अथवा वैदिक भाषामें सूर्यको सविता कहते हैं, और, ऋतु-उत्पादक होनेके कारण "पिता" भी। प्रत्येक ऋतुके चक्रको "वत्स" कहते हैं। इनके उत्पादक "पिता" सूर्य हैं। इसी "वत्स"से "वत्सर" या "संवत्सर" नाम पड़ा। संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर और उद्वत्सर नामक पाँच ऋतु-चक्र होते हैं। इन्हीं पाँच ऋतु-चक्रोंके गणित द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुसन्धानके लिये "पञ्चाङ्ग"का निर्माण किया गया। वैदिक कालमें ऋतु-चक्रके पाँच अङ्गोंका विश्लेषण पञ्चाङ्गसे ही होता था। भारतवर्षमें अतीत कालकी गणना और युगोंका हिसाब इसीसे लगाया जाता है।

पश्चिमीय सन्-संवत्—यूरोपमें कालकी गणना कुछ दिनोंसे सौर वर्षके आधारपर की जाती है। इसके पहले ईसवी सन् रोमन संवत्‌के आधारपर ही चलता था। यूनानमें प्रचलित ओलम्पियद नामक संवत्, जो जुलाईमें आरम्भ होता था, रोममें सर्वप्रथम संवत्सर माना गया और २१ वीं अप्रेलसे इसका आरम्भ माना जाता है। पहले यह संवत् ३६० दिनोंका माना जाता था, किन्तु रोमन सम्राट् जुलियस सीजरने इस संवत्‌को "३६५¼" दिनका करार दिया। उसने प्रत्येक चार वर्षपर एक दिन बढ़ाकर हर एक सालको ३६५ दिनोंका और प्रत्येक चौथे वर्षको ३६६ दिनोंका माननेके लिये नियम बनाया। इस हिसाबसे असल सालसे यह वर्ष बहुत अधिक होने लगा; और, विक्रम-संवत् १६३९में, इस वर्षमें, ११ दिनकी बढ़ती हो गयी। तब पोप ग्रेगरीने वर्षमें ३६५ दिन ५ घंटे, ४९ मिनट और १२ सेकेंड मानकर इस बढ़तीको दूर किया और केवल ४०० से पूरी बट जानेवाली शताब्दियोंमें ही ३६६ दिनोंको माना।

जब ईसवी सन्‌का मूलाधार रोम-संवत् है, तब आधुनिक प्रचलित अंग्रेजीके १२ महीनोंका आधार भी रोमन संवत् ही होगा, चाहे उच्चारण-भेदसे जो मानें। अपोलोके पुत्र जेनसकी स्मृतिमें जनवरीका नाम पड़ा। विक्रम-संवत्‌के ४०० वर्ष पहले फरवरी वर्षका अन्तिम मास माना जाता था। उस समय रोममें, वर्ष भरमें, १० ही महीने प्रचलित थे। विक्रम-संवत्‌के ३८६ वर्ष पहले

रोममें वर्षका पहला महीना जनवरी और दूसरा फरवरी माना गया, और, तब वर्षमें १२ महीने हुए। मार्च महीनेसे ही पुराने रोमन वर्षका आरम्भ होता था। अप्रेलको दूसरा, मईको तीसरा और जूनको चौथा महीना, प्राचीन रोमन सवत्में, माना जाता था। जुलाईका नाम जुलियसके समयकी स्मृतिपर पड़ा। अगस्तका नाम रोमन-सम्राट् आगस्टसके शासन-कालको प्रकट करता है। सितम्बर अर्थात् प्राचीन रोमन सवत्‌का सातवाँ अम्बर (महीना) है, अक्टूबर आठवाँ महीना, नवम्बर नवाँ महीना और दिसम्बर दसवाँ महीना माना जाता था। यही अँग्रेजी १२ महीनोंका संक्षिप्त इतिहास है।

१ वैदिक सवत्—कोई-कोई इसे आर्य-संवत् तथा सृष्टि-संवत् भी कहते हैं। इसकी उत्पत्ति सृष्टि-कालसे मानी जाती है। हिन्दुओंके सकल्प-पाठके अनुसार यह श्वेत वाराह-कल्प है। इस कल्पके ६ मन्वन्तर बीत चुके हैं। यह कल्प ब्रह्माके दिनका दूसरा पहर है। सातवें मन्वन्तरकी २८ वीं चतुर्युगीमें कलियुगका ५०३३ वाँ वर्ष बीत रहा है। चार युगोंकी एक चतुर्युगी और ७१ चतुर्युगीका एक मन्वन्तर होता है। मन्वन्तरोंके सन्धिकालके सब साल मिलाकर वैदिक संवत अथवा कल्पाब्दको हम उपर्युक्त नियमसे गणित करनेपर १९७२९४९०३१ वर्षका मान सकते हैं। इस सवत्‌का प्रयोग केवल ज्योतिःशास्त्रमें किया गया है। हिन्दुओंमें यह सर्वप्रधान सवत् गिना जाता है। इस सवतका पौर्णमान्त चान्द्र मासके अनुसार होता है, किन्तु दक्षिण और पश्चिम भारतमें अमान्त मासका ही हिसाब होता है।

२ कलि-संवत्—कलियुगके आरम्भसे इस सवतका प्रचलन माना जाता है। कोई-कोई इसे युधिष्ठिरीय सवत् भी कहते हैं; क्योंकि युधिष्ठिरके वानप्रस्थी होनेके ३६ वर्ष पहले इसका प्रचार हुआ था। इस समय विक्रम-सवत् १९८९ में इसकी गणना ५०३३ वर्षकी की जाती है इस संवत्‌का प्रारम्भ मेषसंक्रमणमें चैत्र-शुक्ला प्रतिपत्‌से होता है। सम्भवत यह संवत्, जिस समय इसका सर्व प्रथम प्रारम्भ माघशुक्ला पूर्णिमा शुक्रवारको मध्याह्नमें माना जाता था, फाल्गुन वदी प्रतिपत्‌से ही गिना जाता था। युधिष्ठिरीय सवत्‌के विषयमें वराहमिहिरने अपने ग्रन्थमें लिखा है—"षड्द्विकपञ्चद्वियुत शककालस्तस्य राज्ञश्च।" शक कालमें २५२६ मिला देनेसे युधिष्ठिरीय सवत्‌का पता लगता है।

३ सप्तर्षि-सवत्—इस सवत्‌को पहाड़ी सवत् भी कहते हैं, क्योंकि इसका प्रचार पहाड़ी प्रदेशोंमें है। इसका प्रारम्भ कलिके प्रारम्भसे २५ वर्ष बादका माना जाता है। जब २७०० वर्ष पूरा हो जाता है, तब फिर इसकी गिनती १ से चलती है। वैदिक सवतके सिवा अन्यान्य सब सवतोंसे यह सवत् प्राचीन माना जाता है। जब सिकन्दरने भारतपर चढ़ाई की थी, तब उसके सहयात्रियोंने अपने ग्रन्थमें इस सवत्‌का वृत्तान्त लिखा। कनिंघमने अपने "*The Indian Eras*" में लिखा है कि, पंजाबके निवासी अपने पूर्वज बैकसके समयसे लेकर सिकन्दरकी चढ़ाईतकके समयको लगभग ६४५१ वर्ष बताते हैं। इन ६४५१ वर्षोंमें सिकन्दर-विक्रमके अन्तर २७० वर्षको जोड़नेसे ६७२१ वर्ष होते हैं। पहले ही लिखा जा चुका है कि, यह सवत् २७०० वर्षोंमे पूरा होता है; अतः ६७२१ में २७०० घटा देनेसे ४०२१ बचता है। इससे मालूम होता है कि, सप्तर्षि सवतकी पुनरावृत्ति ४०२१ में हुई थी। ज्योतिःशास्त्रमें अश्विनीसे नक्षत्र-गणनाके सिद्धान्तसे ४०२१ वि० पू० में यह सवत् चला था, ऐसा सिद्ध है। अब ४०२१ में २७०० (सप्तर्षि संवत्‌का पूरा होना) जोड़ दिया जाय, तो यूनानी लेखकोंका कथन भी करीब-करीब ठीक जँचता

* यह ग्रन्थ सिकन्दरके सहयात्रियोंके लेखोंके आधारपर लिखा गया है।

है। उन्होंने भारतमें इस सवत्का प्रचलन वि० पू० ६७२० और ई० पू० ६६६३ वर्ष माना है। उन दिनों भारतमें इस संवत्को देव-संवत् अथवा ब्यौकस-संवत् (नक्षत्र-संवत्) भी कहते थे। इसी 'ब्यौकस' शब्दको यूनानियोंने बेकस लिखा है। इस सवत्की मास-गणना कलि-संवत्की तरह होती है।

४ बुद्ध-संवत्—शाक्यसिंहकी स्मृतिमें एक सवत् चलाया गया, जिसको बुद्ध-संवत् कहते हैं। लंका, चीन, ब्रह्मा, श्याम आदि देशोंमें बौद्ध धर्मकी प्रधानताके कारण जो सवत् चलता है, उसकी गिनती बुद्धके निर्वाणकी तिथिसे होती है। उपर्युक्त बौद्ध-प्रधान देशोंमें बुद्धका निर्वाण-काल विक्रमाब्दसे ४८७ वर्ष पूर्व (५४४ ईसा पूर्व) माना जाता है। जनरल कनिंघम और आसामके बौद्ध-मतावलम्बियोंका भी यही मत है। डाक्टर बुहलर और फर्गुसन आदि प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता बुद्धका निर्वाणकाल ४५०, ४८१, ४८७, ४७८ ई० पूर्व मानते हैं। "प्राचीन भारत" नामक पुस्तकसे बुद्धका निर्वाणकाल ४८७ ई० पू० सिद्ध होता है। बोधगयाके सूर्य-मन्दिरपर प्राप्त शिलालेखसे डाक्टर भगवानलालने निर्वाणकाल ६३८ ई० पू० बताया है।

विक्रमाब्दसे ५१८ वर्ष पूर्व इस सवत्के प्रचारका काल है। विक्रम-सवत् १९८९ में ५१८ जोड़ देनेपर २५०७ वर्षसे बुद्ध-संवत्का आरम्भ है। इस संवत्का पञ्चाङ्ग भी विक्रम-संवत्के पञ्चाङ्गसे बहुत मिलता-जुलता है।

५ जिन-सवत्—जैन-मतके तीर्थङ्कर महावीर स्वामी थे। श्वेताम्बर और दिगम्बर, दोनों सम्प्रदाय महावीर स्वामीकी मोक्षप्राप्तिका समय विक्रम-संवत्से ४७० वर्ष पूर्व मानते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय वाले एक खास तिथि अर्थात् दीपावलीके दिन महावीर स्वामीकी मोक्षप्राप्तिका दिन मानते हैं। विक्रम संवत् १९८९ में ४७० जोड़नेपर २४५९ वर्ष जैन-संवत्की गणना मानी जाती है। यह संवत् शुक्ल पक्षकी प्रतिपदासे बदलता है।

६ मौर्य-संवत्—कलिंग देशके प्रतापी जैन-सम्राट् खारवेलके हाथी-गुफासे प्राप्त शिलालेखसे इस सवत्का पता चलता है। मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्तने इस सवत्को चलाया था। जैनियोंके प्रसिद्ध विद्वान् हेमचन्द्रसूरिने महावीर स्वामीके निर्वाणसे १५५ वर्ष बाद मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्तका शासनकाल सिद्ध किया है। विक्रमाब्दसे ४७० वर्ष पहले महावीर स्वामीका निर्वाणकाल माना गया है। अत: ४७० मेंसे १५५ घटा देनेसे बाकी ३१५ बचता है। इससे यही सिद्ध हुआ कि, विक्रमाब्दसे ३१५ वर्ष पहले यह संवत् चला था। अब प्रचलित १९८९ विक्रमाब्दमें ३१५ जोड़नेसे २३०४ वर्षका यह संवत् सिद्ध होता है। यह संवत् कार्तिक शुक्ल और चैत्र शुक्ल, दोनों रीतियोंसे शुरू होता है। पूर्व और उत्तर भारतमें चैत्र शुक्लसे और दक्षिण तथा पश्चिम भारतमें कार्तिक शुक्लसे इसकी गिनती होती है।

७ सेल्युकसका संवत्—महाबली सिकन्दरकी मृत्युके १२ वर्ष बाद सेनापति सेल्युकसने यह सवत् चलाया। यही पहला विदेशी सवत् था, जिसको भारतीय पञ्चाङ्गमें स्थान मिला था। विशेषतः यह सवत् सिक्कोंपर मिलता है। इसका पहला दिन अक्टूबरकी पहली तारीखसे माना जाता है। यह संवत् ई० पू० ३१२ से प्रचलित है। इस सवत्का पञ्चाङ्ग यूनानी पञ्चाङ्गके अनुसार होता है।

८ पार्थियन संवत्—यद्यपि भारतीय इतिहासमें इस संवत्का नाम भी नहीं मिलता, तथापि बौद्धोंके समयके इतिहासमें कहीं-कहीं इसका उल्लेख मिलता है। विक्रमाब्दसे १९० वर्ष पहले द्वितीय ऐण्टीओकसकी मृत्युके बाद फारसके निवासी पार्थ लोगोंने इस संवत्को चला कर अपनेको स्वतन्त्र उद्घोषित किया। सर्वप्रथम स्मिथ साहब ने इस संवत्का पता लगाया था। इस सवत्का नया वर्ष

अभेबसे आरम्भ होता है। यह ई० पू० १४७ के आस-पास आरब्ध हुआ है।

९ विक्रमाब्द—भारतवर्षका ऐसा कोई भी प्रान्त न होगा, जिसमें इस संवत्का प्रचार न हो। फर्क इतना ही है कि, किसी स्थानपर इसका वर्षारम्भ चैत्र-शुक्ला प्रतिपदासे और कहीं कार्तिक-शुक्ला प्रतिपदासे होता है। नर्मदा नदीके उत्तरी भाग और गुजरात प्रान्तके सिवा भारतमें सर्वत्र यह संवत चैत्र-शुक्ला प्रतिपदासे चलता है। इस संवत्का काल कोई तो ५७ ई० पू० और कोई ५८ ई० पू० मानते हैं। पुरातत्त्वज्ञोंकी खोजसे यह सिद्ध होता है कि, ३७२ ई०में इस संवत्की प्रसिद्धि "कृत" नामसे थी। ४३१ ई० के बाद यह संवत् मालवगणकी वर्ष-गणनाके रूपमें परिणत हुआ। ७३७ ई० में विक्रम-संवत्के नामसे यह प्रसिद्ध हुआ। ३७२ ई० से पहले इसके सम्बन्धमें कुछ भी पता नहीं चलता।

अबतक ४१८ से ८४० विक्रमाब्दतकके प्राप्त शिला-लेखोंसे यह संवत् मालवगणीय संवत् ही सिद्ध हुआ है। ८९२ विक्रमाब्दमें सर्व-प्रथम प्राप्त शिला-लेखमें विक्रमादित्यका नाम भी लिखा मिलता है।

१० शक या शालिवाहन-संवत्—यह संवत् विक्रमाब्दसे १३५ वर्ष बादका है। यह सर्वत्र चैत्र शुक्ल एवम् मेषसे गिना जाता है। इसके सम्बन्धमें अबतक कोई भी मत निर्णीत नहीं किया गया है, क्योंकि ई० सन् ५०० के आसपाससे लगाकर शक-संवत १२६२ (ई० स० १३४०) तक यह संवत् किसी शक-राजाके राज्याभिषेकसे चला हुआ या किसी शक-राजा अथवा शकोंका चलाया हुआ माना जाता था और उस समयतक शालिवाहनका नाम इसके साथ नहीं जुड़ा था।

११ कलचुरि-संवत्—कलचुरि अथवा चेदि-संवत्-का दूसरा नाम त्रैकूटक भी है। २४८–४९ ई० पू० से इसका प्रारम्भकाल माना जाता है। त्रिपुरीके कलचुरि-राजा नरसिंहदेवके दो लेखोंमें कलचुरि संवत् मिला है। यह संवत् अधिकतर कलचुरियों (हैहयों)के लेखोंमें मिलता है।

कलचुरि या कलत्सूरि-राजवंशका उल्लेख चालुक्य-नरेश मंगलीशके समयके उत्कीर्ण लेखमें मिलता है। संवत् ७२९से ९३४ तकके अनेक शिलालेखोंमें इसका उल्लेख मिलता है। कहते हैं, यह सब लेख महाराज उच्चकल्पको दानप्रशस्ति हैं और इनमें कलत्सूरि-वंशके महाराज सर्वनाथका नाम भी मिलता है। डाक्टर किल-हार्न कहते हैं कि, इस संवतका आरम्भ चैत्र-शुक्ला प्रति-पदा संवत् ३०५ विक्रमाब्दसे होता है। इस बातको कनिंघम साहब भी मानते हैं। इसकी मासगणना अमान्त और पौर्णमान्त, दोनों तरहसे की जाती है।

१२ गुप्त-संवत—डाक्टर ओल्डेनबर्गने इस संवतका सन् ३११में आरम्भ और सन् ५८०में अवसान सिद्ध किया है। डाक्टर फ्लीटने सन् १८८७ में इसका काल सन् ३१९–२० के पूर्व निर्धारित किया है। विसेंट स्मिथ और सिल्वेन लेवीने भी इस मतका समर्थन किया है। डाक्टर फ्लीटने गुप्त-संवतको वलभी-संवत् सिद्ध किया है। किन्तु हुएनसांग (६२९–६४८)के वर्णनसे डाक्टर फ्लीटके मतका खण्डन होता है। गुप्त-संवतका पता लगानेके लिये सबसे बढ़िया साधन काठियावाड़से प्राप्त जयङ्कका मोर्वी-दानपत्र है। ३७७ विक्रमाब्दसे ही यह सिद्ध होता है। इस संवत्की मासगणना विक्रम-संवत्के अनु-सार ही होती है। यह नेपालसे काठियावाड़तक चलता था। इसका अन्तिम लेख गुप्त-संवत् ९४५ (ई० १२६४) तकका मिला है।

१३ पूर्वर्द्धमान गङ्ग-राजवंशका विजयराज्य-संवत्सर—गंग-वंशने गंगा और गौतमीके भूभागपर ७वीं सदीसे १५वीं सदीतक राज्य किया था। इस वंशके प्रथम

राजा नरसिंहदेव थे। इनके पाँच पुत्रोंमें सबसे ज्येष्ठका नाम कामार्णव था। उसने कलिंगके माठर-वंशीय अन्तिम राजा सबलादित्यको परास्त कर दन्तपुरमें अपनी राजधानी बनायी। उसके पुत्रोंके समयमें भी यह संवत् प्रचलित था। इस संवत्का प्रवर्त्तक बड़ा भाई कामार्णव था। गुणार्णवके पुत्र देवेन्द्रवर्माके ताम्रपत्र और प्राचीन पञ्चाङ्गोंको ध्यानपूर्वक देखनेसे सन् ७०२ से इस संवत्का आरम्भ सिद्ध होता है।

१४ उत्कलका कपिल-संवत्—गङ्ग-राजवंशका अन्तिम राजा सन (छोटे) नरसिंह जेन अपने शत्रुओंके हाथ मारा गया। तब कपिलेश्वरदेव राजा हुआ। यह मृत नरसिंह जेनके मित्र शङ्करभानुकी प्रधान रानीका भाई था। इसीके नामसे यह संवत् चला। इस संवत्का आरम्भ १४३५ ई०से माना जाता है।

१५ ग्रीसका पृथ्वी (*Manes*)-संवत्—यह संवत् ई० पूर्व ५५६८ से आरम्भ हुआ था। तुर्किस्तानमें भी इस तरहका एक संवत् चला आया है, जिसका आरम्भ-काल ई० पू० ५५०८ वर्ष माना जाता है।

कोई भी संवत् किसी घटनाविशेषसे तथा किसी युग-प्रवर्त्तक महात्माके मृत्युकालसे प्रारम्भ होता है। बाइबिलसे यह पता चलता है कि, आदमकी १० वीं पीढ़ीमें नोह हुआ था। वेदों और पुराणोंसे यह सिद्ध है कि, सावर्णि मनु ब्रह्माकी २९ वीं पीढ़ीमें हुए थे। कुरानमें नोहको नुह कहते हैं। मिश्र-देशके धर्मग्रन्थोंमें इसे मेनस कहते हैं। हो सकता है, यह नोह और नुह, जिसका पहला नाम मेनस था, 'मनु' शब्दका अनुकरण-मात्र हो। इससे यही सिद्ध होता है कि, कुरानमें वर्णित नुह, बाइबिलका नोह, मिश्र-देशका मेनस और वेद-पुराणोंमें कथित मनु—ये चारों नाम एक ही अर्थके प्रतिपादक हों। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि, ग्रीस-देशीय *Munden Era* (पृथ्वी-संवत्) मेनसके समयसे ही प्रचलित है।

१६ वलभी-संवत्—यह संवत् लगभग ९ वर्षतक पश्चिमी भारतमें प्रचलित था। इस संवत्के अनेक अङ्क ताम्रपत्रों और उत्कीर्ण लेखोंमें मिलते हैं। यह और गुप्त-संवत् एक हैं। गुजरात और काठियावाड़में प्रचलित पञ्चाङ्गकी मास-गणनाके अनुसार इसकी भी मास-गणना की जाती है। इतिहासमें इसका विशेष वर्णन नहीं मिलता।

१७ श्रीहर्ष-संवत्—इस संवत्के प्रवर्त्तक महाराज हर्षवर्द्धन थे। इसका प्रचार विशेषतः मध्यदेशमें था। अलबरूनीके लिखनेके अनुसार महाकवि बाणने अपने ग्रन्थ "श्रीहर्ष-चरित" में हर्षवर्द्धनके राज्याभिषेकका वर्णन लिखा है। उसीके आधारपर इस संवत्का उल्लेख दानपत्रों और शिलालेखोंमें होने लगा था। विक्रम-संवत् ६६४ में इस संवत्का प्रचार हुआ था। इसके मासादिकी गणना चान्द्र माससे की जाती है।

१८ नेपालका संवत्—आजकल यद्यपि नेपाल एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य समझा जाता है, तथापि प्राचीन कालसे उसकी गणना हिन्दुस्तानके एक भागके रूपमें ही की जाती है। इस संवत्को नेवार या नेवारी संवत् भी कहते हैं। इसका वर्षारम्भ कार्तिक-शुक्लपक्षसे होता है। विक्रमाब्द ८२१ में इस संवत्का प्रवर्तन राजा राघवदेवने किया था। विक्रमाब्द १८२३ में महाराज पृथ्वीनारायण शाहने इस संवत्के बदले नेपालमें शकाब्दका प्रचार किया था। इस समय इस संवत्का १०६२वाँ वर्ष बीत रहा है।

१९ कोलंब-संवत्—इस संवत्को परशुराम-संवत् भी कहते हैं। सप्तर्षि-संवत्की तरह इस संवत्का भी परिवर्तन होता रहता है। इस संवत्का नूतन क्रम एक हजार वर्ष बीत जानेपर चलता है। इन दिनों इसका चतुर्युग चल रहा है। सर्वप्रथम इस संवत्का आरम्भ विक्रमाब्दसे १११९ वर्ष पहले हुआ था। इसकी वर्षगणना सौरसंवत्के अनुसार होती है। इसका नया वर्ष १३ या १४ अप्रेलसे चलता है।

२० चालुक्य-संवत्—यह संवत् ११३३ विक्रमाब्द-तक के शिलालेखोंमें मिलता है। इस तरहका एक नवीन संवत् चालुक्य-राज महाराज विक्रमादित्य त्रिभुवनमल्लने चलाया था, जिसको "चालुक्य-विक्रम-वर्ष" कहते हैं। महाराज कदम्बराज तैलप्पदेवके राज्यमे भी इसका पूरा प्रचार था। ई० सन्से इसका १०७६ वर्षोका अन्तर है।

२१ सिंह-संवत्—डा० भगवानलाल इन्द्रजीके कथनानुसार यह संवत् ईस्वी सन् १११३ से चला है। सन् १९२ में ११५३ घटा देनेसे यह संवत् ८९९ वर्षसे चला आ रहा है। इसका नूतन वर्ष कार्तिक शुक्ला प्रतिपदासे आरम्भ होता है। बहुतोंको रायमें इस संवतका प्रवर्तक शिवसिंह था। इस कारणसे इसे शिवसिंह-संवत् भी कहते हैं।

२२ लक्ष्मणाब्द—बंगालके सेनवंशीय राजा बल्लालसेनके पुत्र लक्ष्मणसेनने यह संवत् चलाया था। आचार्य किलहार्नके मतसे इस संवत्का प्रथम दिन ७ अक्टूबर १११९ ई० है। श्रीयुत् काशीप्रसाद जायसवालने "रामचरितमानस"के व्याख्याताके कथनके आधारपर लक्ष्मणसेनको बिहारका राजा सिद्ध किया है। म० म० डाक्टर हरप्रसाद शास्त्रीने लगभग ४७ हस्त-लिखित ग्रन्थोंके प्रमाणकी खोज लगाकर यह साबित किया है कि, लक्ष्मणसेन बल्लालसेनका पुत्र नहीं था। वह मिथिपति जयसेन तथा बुद्धसेनका पूर्वज था, जो बिहारमें राज्य करता था। जिन पुस्तकोंमें इसके राज्यका वर्णन मिलता है, वह सभी मैथिली भाषामें लिखी गयी हैं। अबुलफजलके मतसे इस संवत्को ११७६ विक्रमाब्दमें बल्लालसेनने चलाया था। "लघुभारत"के प्रमाणोंके आधारपर उसने यह सिद्ध किया है कि, बल्लालसेनको मिथिला-जयके अनन्तर जब अपने पुत्र लक्ष्मणसेनके जन्मकी खबर मिली, तब उसने इस शुभ समाचारके हर्षोपलक्ष्यमें यह संवत् चलाया। तबकात-इ-नासिरीके लेखकका अभिप्राय है कि, ११७६ विक्रमाब्दमें बख्तियार खिलजीने नदियाको अपने दखलमें किया। लक्ष्मणसेनकी उम्र उस समय ८० वर्षकी थी। इससे लक्ष्मणसेनका जन्म १०९६ विक्रमाब्दमें हुआ, यह सिद्ध होता है। कोलब्रुक साहबके मतसे यह संवत् ११०४ ई० में चला है। इस मतका समर्थन बुकानन साहबने भी किया है। कनिंघम साहब ११६४ विक्रमसे इस संवत्की गणना मानते हैं। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्रका भी यही मत है। किलहार्न साहब इस मतका खण्डन करते हुए ११७६ विक्रमाब्दमें इस संवत्का प्रचार मानते हैं।

२३ शिव-संवत्—इस संवत्के प्रवर्तक महाराज शिवाजी थे। उन्होंने अपने राज्याभिषेककालसे इस संवत्को चलाया था। १६५१ विक्रमाब्दकी ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशीको शिवाजीका राज्याभिषेक हुआ था। इस संवत्को १९८९-१६५१ = ३३८ वर्ष आरम्भ हुए होते हैं। महाराष्ट्र मे इस संवतका प्रचार है।

२४ दयानन्दाब्द—स्वामी दयानन्दका जन्म १८८१ विक्रमाब्दमें हुआ था। उनकी मृत्यु १९४० विक्रमाब्दमें, दीपावलीके दिन, हुई थी। पहले यह संवत स्वामीजीकी मृत्युसे गिना जाता था, किन्तु १९८१ विक्रमाब्दमें "महर्षि दयानन्द-शताब्दी"के नामसे एक उत्सव मनाया गया और उसी समय इस संवतका आरम्भ, उनकी जन्मतिथिसे, माना जाने लगा। प्राचीन नियमके मुताबिक यह अब्द १९८१ में ४२ था और नवीन नियमके अनुसार १०१ था।

२५ ब्रह्मदेशका संवत्—बर्मामें इस संवतका प्रचार है। इस संवत्का थोड़ा-सा विवरण बौद्धोंके साहित्यमें मिलता है।

२६ मागी-संवत्—मागी-संवत्को १२६ विक्रमाब्दमें पाप्याचान राहनने चलाया था। बर्मामें समुद्रराजने भी इसी समय ऐसा संवत् चलाया था। गौतमके पितामह

अशनने, ७४८ विक्रमाब्दमें, इसी प्रकारका एक संवत् चलाया था, जिसे महाब्द कहते हैं। ब्रह्मा आदि देशोंमें मागी-सवत्‌की गिनती ६८६ विक्रमाब्दसे की जाती है।

२७ रोम संवत्—कहते हैं कि, रोम नगरकी स्थापनाके दिनसे एक संवत् चला, जिसको रोम संवत् कहते हैं। रोम नगर कब स्थापित हुआ, इसका ठीक-ठीक निर्णय अभीतक नहीं हो सका है। कोई रोम नगरकी स्थापनाका समय ६९० वि० पू०, कोई ६९२ वि० पू०, कोई ६९४ वि० पू० और कोई ७६५ वि० पू० बतलाते है। इस संवतका सांकेतिक चिह्न *A U C* (*Anno urbis Conditoe, or ab urbe Condita*) है, जिसका अर्थ है "नगरकी स्थापनासे छः वर्ष बाद।" इस संवत्‌का वर्षारम्भ २१ अप्रेलसे होता है। रोम नगरके निवासी महीनेके पहले दिनको कलेण्डस और अपने पञ्चाङ्गको कलेण्डर कहते थे। हर एक महीनेमें २९ या ३० दिन होते थे और ३५४ दिनका वर्ष होता था। महीनेके प्रथम दिन एक निर्दिष्ट स्थानपर नगरके निवासियोंकी सभा हुआ करती थी, जिसमें नये पञ्चाङ्गका निर्णय होता था।

२८ यूनानी संवत्—अति प्राचीन कालमें यूनानमें अनेक प्रजातन्त्र राज्य थे। उन राज्योंका एक एक प्रधान पदाधिकारी होता था और उन सबोंके नामसे संवत् चलते थे। नये अधिकारीके राज्याभिषेकके दिन नया-नया संवत् चलता था। इस तरहके संवतोंको "अभिषेक सन्" कहते थे। ३०० ई० पू० में यूनानके इतिहास-लेखकोंने देशभरमें ओलिम्पियद वर्षका प्रचार प्रारम्भ किया। यूनानमें ओलिम्पिया नामका एक विस्तृत मैदान है, जहाँपर यूनानी नवयुवक, प्रति चार सालके बाद, राष्ट्रीय रंगभूमिका निर्माण कर मल्लयुद्ध, घुड़दौड़, वीणा-वादन, रथदौड़ आदि अनेक खेल करते थे। राष्ट्रीय रंगभूमिके इन खेलोंको स्त्री और गुलाम नहीं देखने पाते थे। उन दिनों सम्पूर्ण देशमें युद्ध बन्द हो जाता था। रंगभूमिमें विजय-श्री लाभ करनेवाले खेलाड़ियोंको ताम्रमण्डित तथा हाथी-दाँतकी तिपाईपर बैठा, विजय-वार्त्ता सुनाकर, उन्हें उत्साहित तथा सम्मानित किया जाता था। इस तरहके उत्सव ४४८ विक्रमाब्दतक होते रहे। पहला उत्सव ७१९ विक्रमाब्दमें हुआ था और अन्तिम उत्सव ४४८ विक्रमाब्दमें।

२९ ईस्वी सन्—भारतवर्षमें प्रचलित विदेशी संवतोंमें सर्वप्रधान विदेशी संवत् यही है। अँग्रेजी राज्यके कारण भारतकी अदालतोंमे इसके व्यवहारकी प्रधानता है भारतमें चिट्ठी-पत्रीसे लेकर विवाहोत्सवोंके निमन्त्रणपत्रतकपर भी अँग्रेजी तिथि ही लिखी जाती है। ईस्वी सन् रोमन संवत्‌ने चला है, और, पोप ग्रेगरीने रोमन् संवत्‌के वर्षारम्भकी तिथि २५ मार्चको पहली जनवरी करार देकर रोमन संवत्‌में प्रचलित १० महीनोंके वर्षकी जगह १२ महीनेके वर्षका प्रचार किया। इस संशोधनको ईसाई राष्ट्रके रोमन-कैथोलिक-सम्प्रदायने ग्रहण कर लिया। इस संशोधनको हालैंड और डेनमार्कने १६३९ विक्रमाब्दमें, स्वीट्जरलैंडने १७५७ विक्रमाब्दमें, इंगलैंडने १८०९ विक्रमाब्दमें और रूसने १८५९ विक्रमाब्दमें स्वीकार किया था।

ईसाई लोग ईस्वी सन्‌को महात्मा ईसाके जन्मसे मानते हैं, किन्तु असलमें इसकी गणना ईसाके जन्मसे ३ वर्ष बाद हुई थी। इस संवतका प्रारम्भ ५७ विक्रमाब्दमें हुआ माना जाता है। आधुनिक विक्रमाब्द १९८९ में ५७ घटा देनेसे बाकी १९३२ बचता है, जो आधुनिक ईस्वी सन् है। ईस्वी सन्‌के पञ्चाङ्गमें ईस्टर पर्वके निर्णयसे ही सब पर्वोंका निर्णय होता है। ईस्टर ईसाइयोंका सबसे बड़ा पर्व है, और, उनके मतसे इसी दिन महात्मा ईसा मृत्यु-शय्यासे उठकर स्वर्गमें गये थे।

३० जावा और बाली द्वीपोंके संवत—प्राचीन कालमें

भारतके निवासी, संसारके सब देशोंमें, धर्म-प्रचारके लिये, जाते थे। पूर्वी द्वीपोंमें जावा और बाली—ये दो द्वीप विशेष मशहूर हैं, जहाँ भारतवासी जाया करते थे। कुछ दिनोंके बाद भारतवासी उक्त द्वीपोंमें बसने लगे, और, उपनिवेश-स्थापनाकी स्मृतिमें दोनों द्वीपोंमें संवत चला। जावामें १३० विक्रमाब्दसे और बालीमें १३८ विक्रमाब्दसे संवत् गिने जाते हैं।

३१ हिजरी सन्—मुहम्मद साहब श्रावण शु० १ गुरुवार तदनुसार १५ जुलाई सन् ६२२ ई० को, दुश्मनोंसे बचनेके लिये, मक्कासे मदीना गये थे। यह सन उसी यादगारमें चला था। मुसलमानोंका यह मजहबी संवत् है। यह किसी भी पञ्चाङ्गके आधारपर नहीं चलता। इसकी गणना चान्द्र माससे की जाती है और चन्द्रोदयसे इस संवत्का महीना और वर्ष भी गिना जाता है। वर्षमें ३५४ या ३५५ दिन होते हैं। हिन्दू लोग सूर्योदयसे दिन मानते हैं, अँग्रेज लोग रातके १२ बजेसे दिन मानते हैं, किन्तु मुसलमान लोग सूर्यास्तसे ही अपना दिन बदलते हैं। उन लोगोंका दिन चाँदकी पहली, चाँदकी दूसरी आदि कहकर गिना जाता है।

इतिहासमें मुहम्मद साहबके मक्केसे मदीनेको प्रस्थान की तिथि आश्विन शु० ३ संवत ६७९ तदनुसार १३ सितम्बर सन् ६२२ ई० मानी जाती है। वस्तुतः हिजरी सन् १६ जुलाई ६२२ ई० से माना जाता है।

३२ ईरानी-संवत्—पारसी लोगोंकी आदिभूमि ईरान है। ईरानके सर्वप्रथम शासकके राज्यकालसे ईरानी संवतका प्रादुर्भाव-काल माना जाता है। कोई-कोई इसे पारसी-संवत् भी कहते हैं। इस संवतमें भी १२ महीनेका वर्ष और ३० दिनका महीना होता है। पारसी लोग अपने तीसों दिनोंको भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारते हैं। वर्षमें ३६० दिनमें ५ दिन बढ़ाकर ३६५ दिनका वर्ष मानते हैं। वर्षमें बढ़ाये गये ५ दिनोंके नाम भी अलग-अलग हैं।

पहले ईरानी ज्योतिषी वर्षका प्रारम्भ मेषसे किया करते थे। ६८९ में यज्दीजर्दने ३६५ दिनका एक नया ईरानी संवत चलाया। इस नये संवत्के प्रति चौथे वर्ष एक दिन बढ़ जानेके कारण ऋतुओंके मिलानमें बड़ी गड़बड़ी हो गयी। गड़बड़ीको दूर करनेके निमित्त खुरासानके बादशाह सुलतान जलालुद्दीन मलिकने जलाली संवतकी स्थापना की। विक्रमाब्द १९८९ में यज्दीजर्द-संवतका १३०० वाँ वर्ष और जलाली-संवत्का ८५३ वाँ वर्ष बीत रहा है।

३३ चीनी-संवत—चीनियोंसे भारतवर्षका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। चीनी यात्री भारतमें और भारतीय यात्री चीनमें आया-जाया करते थे और भारत तथा चीनकी तत्कालीन उल्लेखनीय बातोंको अपने भ्रमण-वृत्तान्तोंमें लिखते थे। चीनी-संवतको सम्प्रति १९८९ में चीन-देश-वासी ९६००२४३१ वर्षका मानते हैं। वे इसका प्रारम्भ काल चीनके प्रथम शासकसे मानते हैं। चीनको फारसीमें खता कहते हैं। इसीलिये चीनी-संवतको "खताई संवत" भी कहते हैं। चीनी पञ्चाङ्गमें वर्षगणना सौर तथा चान्द्र, दोनों रीतियोंसे की जाती है।

३४ तुर्की संवत—प्राचीन इतिहासमें कहीं-कहीं तुर्की-संवत्का जिक्र भी मिलता है। तुर्कीके कुस्तुनतुनिया नगरमें इस संवतका सर्वप्रथम प्रारम्भ हुआ था। तुर्क लोग इसकी गणना सृष्टिसे करते हैं। यही संवत ईसाइयोंके ग्रीक चर्चवाले सम्प्रदायमें भी प्रचलित है।

तुर्कोंमें एक दूसरा संवत् भी प्रचलित है, जिसकी गणना गाजलम बादशाहसे की जाती है। वर्षगणना चान्द्र माससे की जाती है। तुर्की भाषामें वर्षको "आई" कहते हैं। इसलिये तुर्की-संवत्के प्रत्येक महीनेमें "आई" शब्द लगा रहता है। हर तीसरे सालमें एक अधिक मास गिना जाता है। वर्षारम्भ जिस महीनेमें कुम्भकी संक्रान्ति होती है उसी महीनेकी अमावास्यासे होता है। युगको कान भी कहते हैं और १२ वर्षका युग मानते हैं। वर्षको

"ईल" कहते हैं। भाषा-तत्त्वज्ञोंने अँग्रेजीके '*Year*' शब्दकी उत्पत्ति इसी "ईल" शब्दसे मानी है।

३५ सूर-संवत्--इस संवत्को छत्रपति शाहजीके नामसे शाह-सवत् भी कहते हैं। जब सूर्य मृगशिरा नक्षत्रमें रहते हैं, तब ७ अथवा ८ जूनको इस संवत्का वर्ष बदलता है। इस समय इस संवत्का ५८६ वाँ वर्ष बीत रहा है। फस्ली सन्से सिर्फ ६ वर्षका अन्तर पड़ता है। इसका प्रचार बम्बई और महाराष्ट्रमें है।

३६ बँगला सन्—यह एकप्रान्तीय संवत् है और केवल बंगालमें ही इसका प्रचार है। इस संवतका वर्षारम्भ मेष संक्रमणकी १४ अप्रेलसे होता है। बहुतोंका कथन है कि, यह संवत् अकबरने चलाया था, किन्तु अकबरके सिंहासनारूढ़के समय अर्थात १६०३ विक्रमाब्दसे पूर्व ही बंगला सन्का उल्लेख, कितने ही ग्रन्थोंमें, मिलता है। विक्रमाब्दमें ६५० वर्ष घटानेसे बंगला-सन निकल आता है। विक्रमाब्द १९८९ में ६५० घटा देनेसे १३३९ बंगला-सन निकल आता है।

३७ फस्ली-सन्-- इन सनके प्रचारसे फसल और राजकीय करका बहुत कुछ सम्बन्ध है, ऐसा प्रसिद्ध ऐतिहासिक अबुलफजलका कथन है। अकबरके शासनकालमें प्रचलित हिजरी-सन्के हिसाबसे फसलके मुताबिक ऋतुओंकी गणना नहीं हो सकती थी। इसी कारण अकबरने इस फस्ली-सन्को चलाया, जिसको हम आज भी भू-कर-विभागके सरकारी कागजातमें देखते हैं।

अकबरका राज्याभिषेक १५५६ ई० १४ फरवरी शुक्रवारको हुआ था। फस्ली सन्को प्रचलित करते हुए उसने हुक्म दिया कि, उसके राज्यारोहणके पूर्वसे ही यह सन् गिना जाय, किन्तु उसकी मृत्युके बाद जहाँगीर और औरंगजेब तथा मुहम्मदशाहके शासनकालमें हिजरी और फस्ली सन्में कुछ दिनोंके अन्तर पड़नेके कारण आज दिन फस्ली सन्से हिजरी सन्का ११ वर्षका फर्क आ जाता है। इस समय हिजरी सन् है १३५१ और फस्ली सन् है १३४०।

३८ इलाही-सन्--अकबरने अपने नये "इलाही" धर्मके प्रचारार्थ इस सन्को चलाया था। विक्रमाब्द १६४२ में इस सन्का प्रचार हुआ था।

३९ जुलूसी सन्--उपर्युक्त सन्-संवतोंके सिवा नौरोज़, कमरी और जुलूसी संवत् भी हैं। मोगल-बादशाहोंने अपने-अपने राज्याभिषकके दिन हिजरी सन्को रोककर जुलूसी सन् चलाया था। राज्याभिषेकके दिन जुलूस निकलता था, और, जुलूसके प्रथम दिनसे जुलूसी सन गिना जाता था।

४० आदिलशाही सन्--बीजापुरमें मुसलमानी शासनका आधिपत्य जमानेवाला शिया-सम्प्रदायका यसुफ आदिलशाह था। उसीने १५१३ विक्रमाब्दमें यह सन चलाया था।*

* पुरातत्त्व-वेत्ताओंने इस क्रमसे संसारके प्रसिद्धतम संवतोंको माना है—

ईसा पूर्व १, ६७, २९, ४७, ८०१ सृष्टि-संवत्, ई० पू० ९,६०,०२,४६६ चीनी-संवत, ई० पू० ५,५६८ ग्रीक पृथिवी, ई० पू० ४,००८ सप्तर्षि, ई० पू० ३, १०१ कलि, ई० पू० ६३३ रोम, ई० पू० ५४४ बुद्ध, ई० पू० ५२७ जिन, ई० पू० ३२२ मौर्य, ई० पू० ३१२ सेल्यूकस, ई० पू० ३०० ओलिम्पियद, ई० पू० २४७ पार्थीय, ई० पू० ५७ विक्रम, ईसवी ७४ जावा, ई० ७५ बाली, ई० ७८ शाक, ई० २४८ कलचुरि, ई० ३२० गुप्त और वलभी, ई० ५९२ अमली, ई० ५९२ फस्ली, ई० ५९३ बँगला, ई० ६०० शाहूर, ई० ६०७ हर्ष, ई० ६२२ हिजरी, ई० ६२३ मासिक संवत्, ई० ६३२ यज्दीगर्द, ई० ६३८ मागी (बर्मी), ई० ६८९ (?) ईरानी

हाँसीके किलेकी सूर्य-प्रतिमा

पं० प्रभुदयालजी

यह आदित्यकी मूर्ति हाँसी (जि० हिसार)के पुराने किलेकी पूर्व दीवारके पास मिट्टीमें दबी हुई संवत् १९८० विक्रममें, एक शोरा निकालनेवाले कुम्हारको, मिट्टी खोदते वक्त, मिली थी। कुदाल लगनेसे इसका एक हाथ भी टूट गया था। वह इसे अपने घर ले गया। पता लगनेपर शहरके मुखिया लोग पहुँचे और उसे उठाकर वहाँसे एक देवीके मन्दिरमें ले गये। विचित्र सुन्दर और शिल्पकारीका विचित्र नमूना होनेसे दूर-दूरके दर्शकोका मेला लगने लगा। जयपुरके कारीगरोंको बुलाकर हाथ जुडाया गया। रोजाना सौ दो सौ चढावा चढने लगा। पुजारीको कई हजार रुपयेका लाभ हुआ। सरकारी कर्मचारी इसे यहाँसे, पुरातत्त्व-विभागके कानून द्वारा, ले जाना चाहते थे। लाहौर या विलायत भेजनेकी तजवीज थी। परन्तु सारा नगर इसके विरुद्ध था। चौ० शेरसिंह रईसकी कोशिशोंसे आखिर सरकारने, कुछ शर्तोंपर, उसे यहाँ छोडना मंजूर कर लिया। इसके लिये एक कमिटी बनी। कुछ रुपया धर्मार्थ पंचायतमें जमा था। उसी रुपयेसे एक पंचायती मन्दिर, शहरके चौराहेके पास, बनाया गया है। इसीमें यह मूर्त्ति रखी जायगी। पुजारियोंने इसे विष्णुकी प्रतिमा कहना शुरू किया है।

सूर्य-सहित इसमें २३ चित्र हैं। ऊपर ९ ग्रहोंका चक्कर बना है। दोनों बगलोंमें, ऊपरसे नीचेको, दायें-बायें तीन तीन मूर्त्तियाँ बनी हैं, दोनो तरफकी मिलाकर ६ हैं। एक छोटी-सी मूर्त्ति पाँवोंके बीचमें है। सब चित्रोंमें टोपीके समान टोप है। किसीके सिरपर पगडी या साफा नहीं है, यह ध्यान देने योग्य बात है।

भविष्यपुराणादिके प्रमाणसे यह प्रतिमा पूषा या सूर्यकी है। पूषाके दोनों हाथोंमें कमल होनेका ही लेख है। सिरपर करंड मुकुट, कानोंमें कुण्डल, गलेमें हार, रक्त वस्त्र (जिसमेंसे अङ्ग दीख पडे), हाथोंकी मुट्ठी, कमल पकडे, कन्धेसे लगी होनेका उल्लेख है। कन्धेपर यज्ञोपवीत भी चाहिये। सो सब है। इस मूर्त्तिमें डण्डियों सहित कमल हैं। तीन कलियाँ बिना खिली हैं। हाथोंके पास कपडा (पटका) लिपटा दिखाया गया है। पर विचित्र वस्त्र और पाँवोंमें बूट हैं। कहा जाता है, सूर्यका अङ्ग विकृत हो गया था, विश्वकर्माने उसे ठीक कर दिया। पाँवमें कमी रह गयी थी, अतः यहाँ

(पारसी), ई० ४७० गंग (प्रवर्धमान विजयराज्य), ई० ८२४ कोलब, ई० ७७८ नेपाल, ई० १,०७६ चालुक्य, ई० १,०७६ जलाली, ई० १,११३ सिंह, ई० १,११९ लक्ष्मण, ई० १,२४९ आदिलशाही, ई० १,३४१ पैडुवैपु, ई० १,३४३ सूर, ई० १,४१५ कपिल, ई० १,५५५ इलाही, ई० १,६०४ शिव, ई० १,६०३ तुलसी, ई० १,८२४ दयानन्द, ई० १,८५७ रूसी क्रान्ति। इनके सिवा कुछ और संवत भी हैं, जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक नहीं हैं। —"गङ्गा"-सम्पादक।

ढाक दिया गया है। सूर्यके पाँव देखने और पूजनेका निषेध है। उत्तर भारतमें इस प्रकारकी खडी और बूटसे ढके पाँवकी प्रतिमाएं मिली हैं।

इसमें नवो ग्रह हैं। प्रथम सिहासनारूढ चन्द्र है। हाथमें कुमुद, आभूषण पहने, सोनेका जनेऊ धारे, पताका लिये, दोनो स्त्रियोके सहित है। मंगल अगार-समान है। बुध सिहासनारूढ हैं। बृहस्पति कमण्डलु पुस्तकधारी हैं। शुक्र सबके बीचमें हैं। एक हाथमे पुस्तक और एकमें निधि है। शनैश्चरका काला रग, काले वस्त्र, सिरपर करंड-मुकुट, नाना आभूषण भूषित, एक पाँव लँगड़ा और शरीर छोटा दिखाया गया है। सूर्य नवग्रहोमें मुख्य है। राहु सिहासनपर है, खेटक धारे, एक हाथ खाली और एकमे कम्बल या पुस्तक है। केतुके सिरका भाग केतु माना जाता है। वही यहाँ दिखाया गया है। यहाँ हाथ सहित धड सिर-सहित है। सबके सिरोपर टोपके समान मुकुट और सब भूषण-धारी हैं।

केतुसे नीचे बायीँ तरफ विष्णु हैं, जिनके एक हाथमे शङ्ख, दूसरेमे गदा है। इनके सामने दायी तरफ ब्रह्मा है, जिनके हाथमें गदा, या स्रुक् जान पडती है। इनके ही नीचे दायीँ तरफ शिव है, जिनके हाथमें खट्वाङ्ग है। खट्वाङ्ग भुजा या टाँगकी हड्डीसे बनता है, जिसके सिरपर मनुष्यकी खोपडी जोड़ी जाती है। यह दो शस्त्र, शूल और खट्वाङ्ग, शिवके प्रिय हथियार है। इनके मुकाबले बायीँ ओर जो प्रतिमा है, हमें नही समझ पडी। इससे नीचेकी दोनो प्रतिमाएँ धनुर्वाण लिये हैं। दायेँ निक्षुभा और बायें राज्ञी है। यह सूर्यकी पत्नियाँ हैं।

पाँवोंके पास, बायें-दाये, दोनो किनारोंपर घोड़ेके मुखवाले दोनो अश्विनीकुमार है। इनके हाथमे औषधि है। इनके बाद दोनो तरफ बीचमें यम हैं, जिनके सिरपर मनुष्यके चेहरेका आकार बना है। हाथमें खड्ग हैं। यमके सिरपर मनुष्य-कपालका ही टोप है, जो उसका खास निशान है। आडा तिलक केवल पुजारीकी कृति है। दायीँ तरफ पिगंल अग्नि रुद्रके अवतार हैं, जिनके टोपसे विचित्र अग्नि-शिखा निकल रही है। दाढी भी मालूम पडती है। हाथमें कलम है। एकमें लम्बा कागज है, जिसपर नागरी अक्षरमे "आदिदेव" लिखा है। हमने यह अक्षर गौरसे पढे है। यह नागरी भाषाके वर्तमान अक्षरोके समान हैं, इसपर मुझे शक है। कई लोगोने यह बताया है कि, यह अक्षर हमने उसी समय देखे थे, जब कि यह पुजारीके मन्दिर, देवीके स्थानमें, लायी गयी थी। अक्षर प्रतिमाके अनुरूप सुन्दर नही हैं। कुछ छिलेसे निशान भी है, अतः मुझे इनपर कुछ सन्देह बना हुआ है। बायीँ तरफ, पाँवके पास, हाथमें सुन्दर दण्ड लिये कार्तिक है। दण्डका आकार सुन्दर है। २३ वी छोटी पतलीसी अन्तिम प्रतिमा दोनों पाँवोके बीचमे है, इसे भी हम नही जान सके है। हम इसे सूर्यका सारथि अरुण कहते है। परन्तु इसकी छातीके उभारोका आकार इसे जनाना सिद्ध करता है, जो शायद सूर्यकी पत्नी छाया हो। सारी प्रतिमाओको भूषणोंसे सजाया गया है। भुजापर बाजूबन्द हैं, जो अधिकतर सिहके चेहरेके है। सूर्यकी भुजापर यह साफ नजर आ रहे है।

कृष्ण पुत्र साबको कुष्ठ हुआ था। उसने चन्द्रभागापर साबपुर बसाया, और, वहीं एक बडा सूर्यका मन्दिर बनाकर उसमें सोनेकी सूर्य-प्रतिमा स्थापित की। भारतके ब्राह्मणोंने सूर्यकी पूजासे

इनकार किया। नारदकी सम्मतिसे शाकद्वीप (फारस) से १८ कुलोंके बालक लाये गये, जिनमेंसे ६ को यादवोंकी कन्या ब्याही गयी, और, उनकी सन्तान 'मग' कहलायी। बाकीने शक कन्या ब्याही, और, वह 'भोजक' कहाये। उसी समयसे यहाँके ब्राह्मण पुजारीपन तथा सूर्य-पूजाका निषेध कर चुके थे। इस प्रतिमाके विष्णु-प्रतिमा बनानेका यही कारण हुआ है।

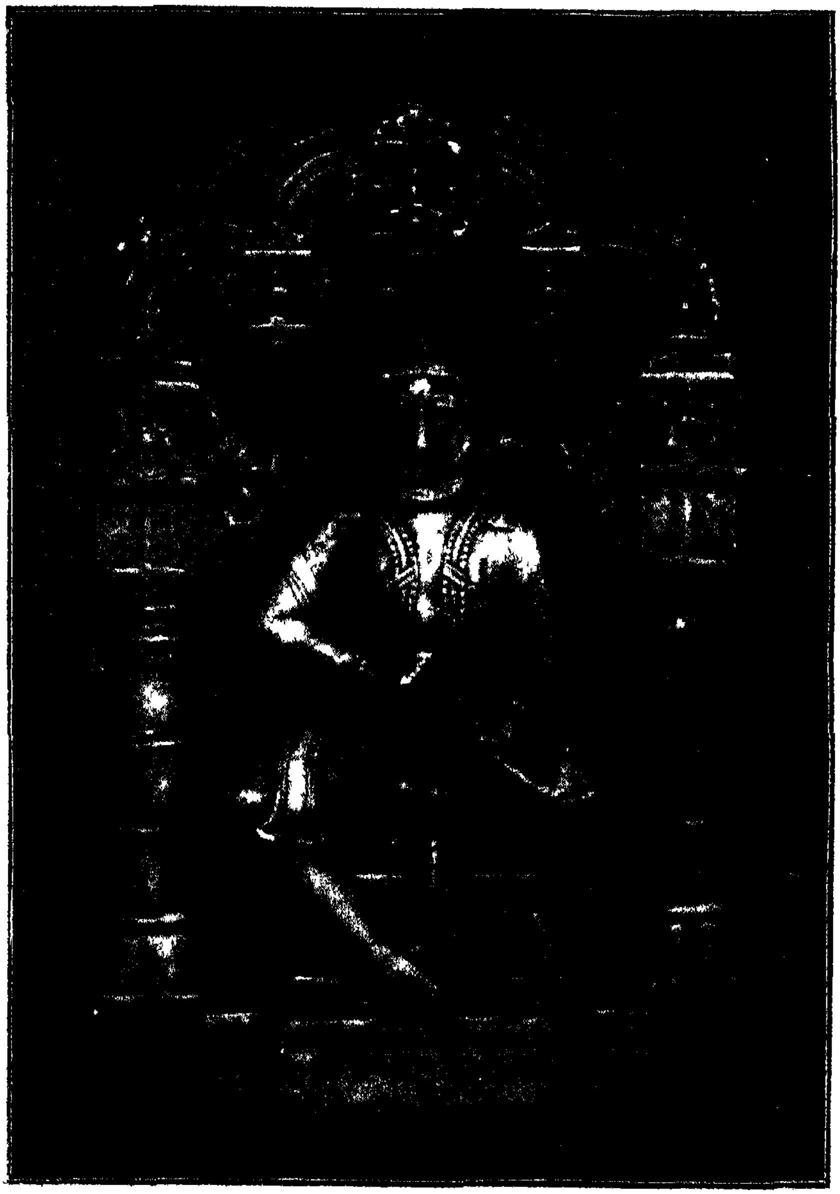
मद्रासका गवर्नमेंट म्युजियम

बा० श्रीमद्भागवतप्रसाद वर्मा

सर्वप्रथम, सन् १८१६ ई० में, मद्रासमें संग्रहालय (म्युजियम) खोलनेकी बात चली। दस वर्षों तक इसे कार्यरूपमें परिणत करनेकी चेष्टाएँ होती रहीं। सन १८३० ई० मे मद्रास-प्रायद्वीपके अनुसन्धानकर्त्ताओं द्वारा सगृहीत बहुमूल्य सामग्रियोंको एक स्थानमें सुरक्षित रखने और उनसे विज्ञान-सम्बन्धी खोजोंमें सहायता मिलनेकी आवश्यकताका अनुभव ईस्ट इंडिया कम्पनीने किया। मद्रास की तत्कालीन लाइब्रेरी, सोसायटी तथा रायल एशियाटिक सोसायटीकी शाखा द्वारा भेंटमें दिये गये संग्रहोंको उसने सहर्ष स्वीकार किया। सन् १८५१ ई० में मद्रास-सरकारको, एक संग्रहालयकी नींव डालनेकी शर्त्तपर, कम्पनीने अबतककी संगृहीत वस्तुओंको दे डाला। इसी साल लन्दनमें होनेवाली विश्व-विश्रुत प्रदर्शनीमें यहाँकी कुछ बहुमूल्य निधियाँ भेजी गयी थी, जिन्हें प्रदर्शनीके अधिकारियोंने बड़े चावसे अपनाकर, मद्रास सरकारको इस ओर विशेष प्रोत्साहित किया। फलत इसी साल, सेंट जार्जके किलेमें, म्युजियमकी स्थापना भी हो गयी। संगृहीत सामग्रियोंकी बहुलताके कारण, सन् १८५४ ई० में, पेंथियन रोडपर म्युजियमका स्थान-परिवर्त्तन हुआ। तबसे संग्रहालयका स्थायी भवन यही है।

प्रतिवर्ष खोजकी सामग्रियाँ अधिकाधिक बढ़ने लगीं। बड़ी मुस्तैदीके साथ अन्यान्य उत्साही विद्वानोंने हाथ बटाया, और, संग्रहालयकी पुरानी इमारतसे लगा हुआ एक नया भवन बना। पुरानी इमारत और नये भवनके बीचमें ही कोन्नेमरा सार्वजनिक-पुस्तकालय (*Connemara Public Library*) का भी जन्म हुआ। तबसे इन नये-पुराने—दोनों भवनोंको आवश्यकतानुसार, संग्रहालयके अधिकारी, बढ़ाते ही रहे हैं। इस प्रकार पूरा संग्रहालय पुराने और नये दो भवनोंमें बँटा हुआ है।

संग्रहालयके पुराने भवनोंमें पुरातत्त्व, प्राणि-विज्ञान तथा उद्भिद्विद्या-सम्बन्धी तीन विभाग हैं। नये भवनमें कला, उद्योग-धन्धा तथा नृवंशविद्या-सम्बन्धी संग्रह, प्राचीन शस्त्रास्त्र, प्रागैतिहासिक तथा मूल प्रारम्भिक इतिहास-सम्बन्धी वस्तुएं हैं। इस नये भवनसे सलग्न संग्रहालयकी वक्तृता और अभिनय शाला है, जिसमें, समय समयपर, शिक्षा-सम्बन्धी अभिनय किये जाते हैं। इसकी विधायिका मद्रास सरकार है।



१२३—जैनमूर्त्ति संवत् १२४२ की)
(बखान, धारकर, सिन्धसे प्राप्त)



१२४ प्रस्तरीभूत वृक्ष
(पटना म्युजियम)



१२५ दो स्त्रियोंकी मृत्तिका-मूर्तियाँ
(पाटलिपुत्र, मौर्यकाल)
(पटना म्युजियम)



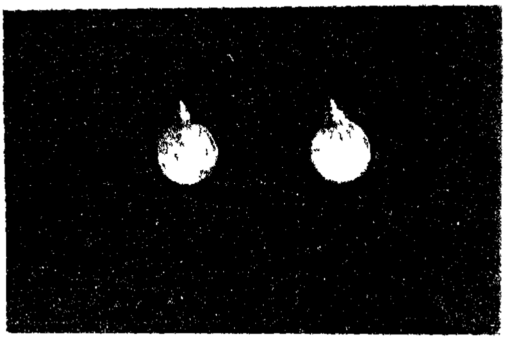
१२६ चामर-धारिणीकी मूर्ति
(शुंगकाल, दीदारगंज)
(पटना म्युजियम)



१२७ ईंटपर रामायणका एक दृश्य
(चौसा, शाहाबाद)
(पटना म्युजियम)



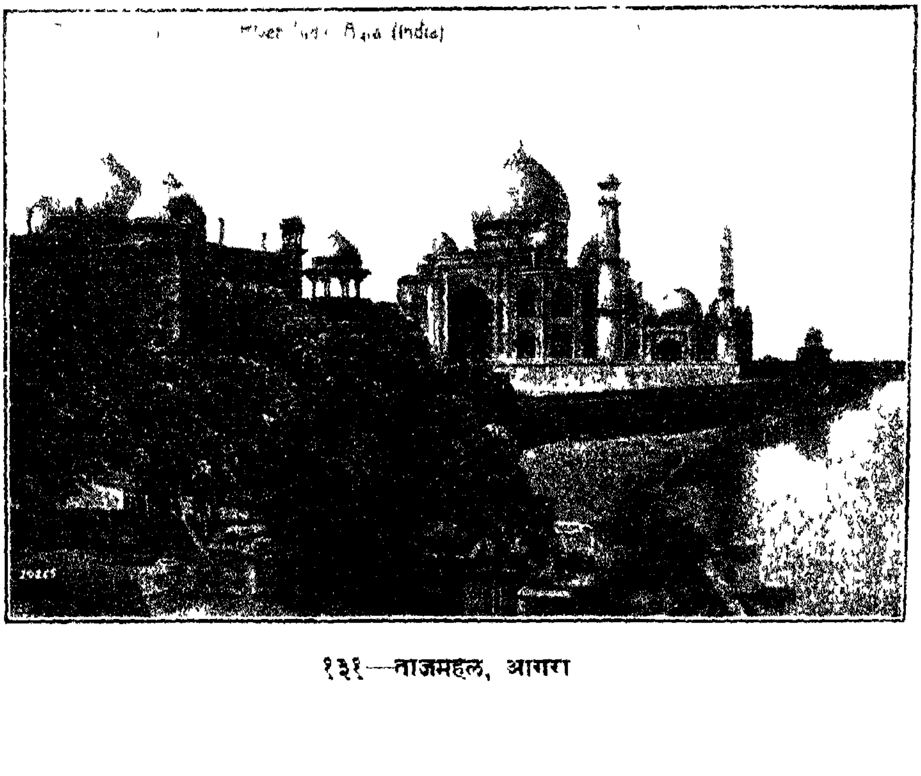
१२८ मृण्मयी नागिनी
(मौर्यकाल पाटलिपुत्र)
(पटना म्युजियम)



१२९ जहाँगीरकी स्वर्ण-मुद्राएँ
(पटना म्युजियम)



१३० बोधि सत्त्व प्रतिमा
(गान्धार-शिल्प, पेशावर)
(प्रिन्स आफ वेल्स म्युजियम, बम्बई)



१३१—ताजमहल, आगरा



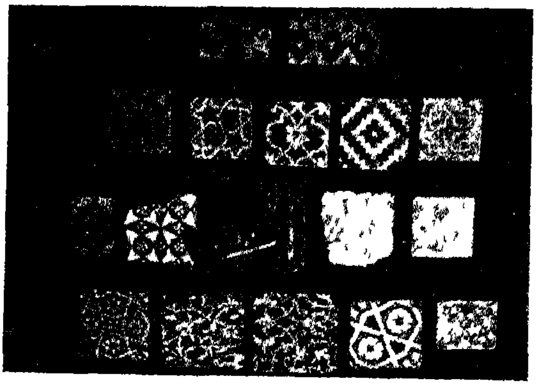
१३२--गरुडमुखी देवप्रतिमा
(असीरिया, ईसासे पूर्व ९वीं शताब्दी)
(प्रिन्स आफ वेल्स म्युजियम, बम्बई)



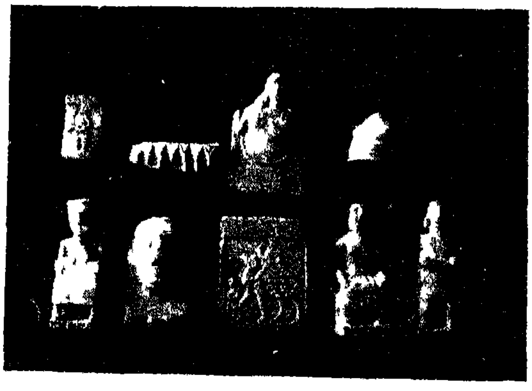
१३३ असीरियाका राजा असुर-नसीरपाल (ईसासे पूर्व ८८५-८६०)
(बम्बई म्युजियम)



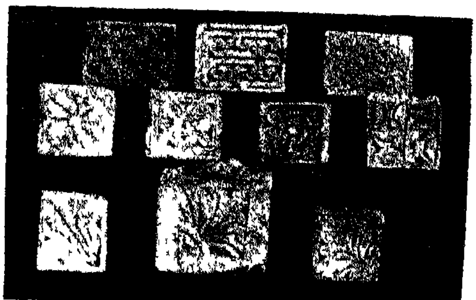
१३४—असीरियाकी देव मूर्त्ति
(ईसासे पूर्व ९वीं शताब्दी)
(बम्बई म्युजियम)



१३५—सिन्धकी १६ वीं सदीकी मुसलमानी ईंट
(प्रिन्स आफ वेल्स म्युजियम, बम्बई)



१३६--ईसासे पूर्व ६ ठी शताब्दीकी अरब-देव-मूर्त्तियाँ
(बम्बई म्युजियम)



१३७—४ थी सदीकी उत्कीर्ण बौद्ध ईंटे (ब्राह्मणाबाद, मीरपुरखास , सिन्ध) (बम्बई म्युजियम)

पुरातत्त्व-विभागमे मुख्यत जैन, बौद्ध और हिन्दू-शिल्प कला-सम्बन्धी सग्रह है। संगृहीत वस्तुअ मे सबसे महत्त्वपूर्ण हैं बौद्ध स्तूपोमें मिली छोटी-छोटी बहुमूल्य चीजे, जिनमें अमरावती (गून्तूर जिला) की, ईसासे २००-२५० वर्ष पूर्वतककी सामग्रियाँ, विशेष महत्त्वकी है। ईसासे पूर्व २०० वर्षकी भट्टीप्रोलूकी सामग्रियोमे बिल्लौर पत्थर (स्फटिक)की डिबिया है जिसमे एक अस्थिका टुकडा पाया गया है। लोग उसे गौतम बुद्धकी ही अस्थि समझते है। यह अस्थि स्फटिककी डिबियाके साथ कलकत्ता-स्थित महाबोधि सोसायटीको, सन १९२२ ई० मे, भेंट कर दी गयी। इस विभागको अन्यान्य उल्लेखनीय सामग्रियोमे दक्षिण भारतके मन्दिरोके चित्र हैं, जिनसे प्राचीन द्रविड वास्तुविद्या पर बहुत प्रकाश पडता है। इसके अतिरिक्त पत्थरकी छोटी छोटी वैष्णव तथा शैव मूर्त्तियाँ अनेक बहुमूल्य ताम्रपत्र तथा दक्षिण भारतीय राजवंशो और ईस्ट इंडिया कम्पनीकी कई प्राचीन मुद्राएँ भी है।

शस्त्रास्त्रोकी गैलेरीमे अधिकांशत. तंजोर राजप्रासादके शस्त्रागार और सेंट जार्ज किलेके भाँति भाँतिके हथियार सुसज्जित और सुरक्षित है। कई तरहकी तोपो और बन्दूकोके अतिरिक्त बहुतसे दक्षिण भारतीय हथियार भी है, जिनपर अच्छी नक्काशीके काम है।

दक्षिण भारतकी धातु-मूर्त्तियोमें कई चोल-शासनकालकी है। ताण्डव नृत्य करते हुए नटराज (शिव) की मूर्त्ति और राम, सीता, लक्ष्मण तथा हनुमान्की मूर्त्तियाँ देखने ही योग्य है। नेगापटममें प्राप्त कई सुन्दर बौद्ध मूर्त्तियाँ भी यहाँ रखी गयी हैं। यहाँकी धातु मूर्त्तियोका सग्रह भारतमें सर्वोत्तम है।

यह सग्रहालय ग्रेट ब्रिटेनके सग्रहालयोके संघका एक सदस्य है। शुक्रवारको छोडकर अन्य सभी दिन यह जनसाधारणके लिये, ७ बजे प्रात - कालसे ५ बजे सन्ध्यातक खुला रहता है। प्रति मासके प्रथम शनिवारको, १२ बजेके बाद, पर्दानशीन औरतोके लिये खुला रहता है। प्रति दिनके आगन्तुकोकी औसत सख्या १०० है।

एफ० एच० ग्रेव्ली, डा० एस-सी० महोदय म्युजियमके वर्त्तमान सुपरिंटेंडट है। सभी विभागोकी देख रेख ये ही करते हैं। पुरातत्त्व विभागके सहायक कार्यकर्त्ता श्रीयुत रामचन्द्रन एम० ए० हैं। मुद्राविद्या-सम्बन्धी विभाग (*Numismatic Section*)के लिये भी एक अलग सहायक कार्यकर्त्ता है।

पटनेका संग्रहालय

बा० लक्ष्मीनारायण बी० ए०

पटनेके सग्रहालयका प्रारम्भ अल्प कालसे है। बिहार और उडीसाके एक भिन्न प्रान्त बननेके तीन साल पश्चात, १९१५ ई०के जुलाईमें, एक कमिटी प्रान्तीय सग्रहालयके सस्थापनके निमित्त, एक प्रणालीनिश्चित करनेके लिये, नियुक्त हुई, जिसकी रिपोर्ट उसी वर्षके अक्टूबर महीनेमें प्रकाशित हुई थी। किन्तु, भवननिर्माणका प्रश्न आर्थिक कठिनाईके कारण, स्थगित रहा। उसी समयसे सग्रहालयकी सामग्रियोंका सग्रह प्रारम्भ हुआ और यह ठिकानेसे रखी जाने लगीं। ये नाईकोर्ट-भवनके सटे उत्तरवाले मकानके नीचेके तल्लेमें बद रखी जाने लगीं। सन् १९१३ ई०की ३ री अप्रेलमें राय

बहादुर शरच्चन्द्रराय एम० ए०, बी० एल० इसके अध्यक्ष नियुक्त हुए और इसी तिथिसे पटना-संग्रहालयका जीवन आरम्भ होता है।

राय बहादुर शरच्चन्द्र रायने इस पदसे ता० १० अप्रेल १९१८ ई०को इस्तीफा दे दिया। उनके स्थानापन्न पटना कालेजके प्रोफेसर जे० एन० समाद्दार बी० ए० हुए, और, इसके पश्चात् राय साहब मनोरंजन घोष एम० ए० ने ४ थी अक्टूबर १९१८ को चार्ज लिया, जो अबतक इसके अध्यक्ष हैं।

इस संस्थाके सर्व प्रथम सभापति आनरेबुल मिस्टर ई० एच० सी० वाल्स थे, जिनके पश्चात् आनरेबुल सर एच० मैकफर्सन हुए। इनके पश्चात् आनरेबुल मिस्टर एल० एफ० मार्टिन हुए। उपर्युक्त दोनों सभापति बोर्ड-आफ-रेवेन्यूके सदस्य भी थे। इनके पश्चात् पटना हाईकोर्टके जज आनरेबुल जस्टिस सर जान ए० बकनिल, ४थी अप्रेल १९२१से अपनी मृत्यु ता० ५ वीं अक्टूबर १९२६ ई० तक, सभापति रहे। इनके पश्चात् बैरिस्टर मिस्टर पी० सी० मानुक अपने इस्तीफेतक सभापति रहे। मिस्टर मानुकका स्थान १२वीं जून १९३० से बा० काशीप्रसाद जायसवाल एम० ए० (*Oxon*) ने ग्रहण किया है। इन दिनों जायसवालजी ही सभापति हैं।

मिस्टर पी० सी० मानुकके सभापतित्व-कालमें ही पटनेके संग्रहालयका नया भवन निर्मित हुआ और ७ वीं मार्च १९२९ ई०को प्रान्तीय गवर्नर सर ह्यूस्टीफेनसनके द्वारा यह भवन खोला गया।

यह नया भवन राजपूत-मोगल-समयकी शिल्प-शैलीके ढगपर बना है और इसमें कुल ३,२०,००० रुपये लगे हैं। चित्रमें भवनके तीन भाग दीख पड़ते हैं।

संग्रहालयमें दीवारोंके मध्य भागोंमें और टेबुलोंपर सामग्रियोंके रखनेके स्थान हैं। इस संस्थाके निम्न लिखित विभाग हैं—(१) पुरातत्त्व, (२) भूतत्त्व, (३) प्राणितत्त्व, (४) कला-कौशल, (५) व्यवसाय (६) प्राचीन कालके शस्त्रादि और रण-चिह्न। पुरातत्त्व-विभाग दो भागोंमें बँटा हुआ है—मुद्रा-विभाग और अभिलेख-विभाग। इस विभागका संग्रह सिक्के और अन्य दो वस्तुओंके साथ दो शालाओं (*Hall*), पाँच कोठरियों और संग्रहालयके बरामदेमें है। इसमें सबसे चित्ताकर्षक वस्तु एक स्त्रीकी मूर्त्ति है, जो दीदारगंज (गंगा-तटपर)में १९१७में पायी गयी थी। यह बलुआ (चुनार) पत्थरकी बनी है और ऊपर मौर्यकालीन पालिश है। यह मूर्त्ति एक चौरीका धारण किये हुए है। गढ़ाईकी उत्तमतामें और भारतभरके संग्रहालयोंकी कोई भी पत्थरकी मूर्त्ति इससे अधिक सुन्दर नहीं है। स्त्री साड़ी पहने हुई तथा चद्दर ओढ़े हुए है, कलाई और पाँवमें जेवर तथा गलेमें एक माला और अनेक शिरोभूषण लगे हैं। वक्ष-भागके भारसे ऊपरका हिस्सा कुछ झुका हुआ है और मूर्त्तिकी भावभंगी नेत्राकर्षक है। बुलन्दीबागसे प्राप्त अतिप्राचीन कालका स्तम्भ है, जिसका निम्न भाग घटाकार है। दूसरी सुन्दर वस्तु एक त्रिभुजाकार पत्थर है, जो पटनेके दरगाहसे प्राप्त हुआ है और जिसपर ब्राह्मी लिपिमें अतिप्राचीन चिह्न भी हैं। गान्धार-शिल्पशैलीकी वस्तुओंके अतिरिक्त कुछ उड़ीसाके मध्ययुगकी मूर्त्तियाँ और तीन कुर्कीहार (गया) की मूर्त्तियाँ हैं, जिनमें दो बोधिसत्त्वकी और एक बुद्धदेवकी मूर्त्ति है। प्राचीन कालकी सुन्दर वस्तुओंमें बिहार-शरीफसे प्राप्त एक स्तम्भ भी है, जिसपर स्कन्दगुप्तके कालका शिलालेख है। यह बरामदेमें रखा हुआ है। अन्यान्य वस्तुओंमें मिट्टीकी मुद्राएँ हैं जो बसाढ़-से प्राप्त हुई हैं। नीचेके तल्लेमें एक बड़े दालानमें प्रागैतिहासिक युगके पत्थरके अस्त्र हैं। वहाँ प्रस्तर और लौह, दोनों युगोंकी वस्तुएँ हैं और ताँबेमें मढ़े कुल्हाड़े भी संगृहीत हैं। भरहुत (बघेलखंड)की बेष्टनीकी नकल, जो सिमेंट और पलिसकी मिट्टीसे बनायी गयी है और जिसका असली रूप इस समय भारतीय संग्रहालय (कलकत्ता)में है, रखी

है। बोधगयाके स्मारककी नकल भी दर्शनीय है। डा० स्पूनर द्वारा की हुई पाटलिपुत्रकी खोदाईसे मनोहर मिट्टीके साँचकी ढली मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें एक स्त्रीका शिरोभाग एक हँसता हुआ बालक और एक सर्पका सम्पूर्ण भाग विशेष दर्शनीय है। बक्सरकी खोदाईसे भी, जो डा० ए० पी० बनर्जी शास्त्रीने सम्पादित करायी थी, बहुत ही सुन्दर साँचकी ढली मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें ऊँचे-ऊँचे शिराभूषण हैं। वर्तमान अध्यक्षने इसी प्रकार साँचकी ढली एक पुरुष-मूर्ति पायी थी। राय साहब मनोरंजन घोषने बुलन्दीबागकी खोदाई करायी थी। उसमें इनको काष्ठनिर्मित एक सुरंग वैसी ही प्राप्त हुई थी, जैसी कि, कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें वर्णित है। राय साहब द्वारा की गयी अन्तिम खोदाईमें दो और सुन्दर स्त्रीकी मूर्तियाँ मिली थीं। इधर कुछ पीतलकी मध्ययुगकी जैन मूर्तियाँ भी मिली हैं। रामायणके दृश्योंको दिखलानेवाला एक (बनुष्काण धातुका) टुकड़ा वर्तमान अध्यक्षको सीमामें मिला था। यह कलाका एक सुन्दर नमूना है और गुप्त-कालका बना हुआ है।

इस संग्रहालयके पास सुवर्ण और पीतलकी मूर्तियोंका अच्छा संग्रह है, जो कुर्किहार (गया जिले)से मिली हैं, और, जिनमें बुद्ध, बोधिसत्त्व तथा बौद्ध देवताओंकी मूर्तियाँ हैं। इनकी विशद व्याख्या तब ही जा सकेगी, जब गवर्नमेंट द्वारा यह चीजें प्राप्त होंगी।

मुद्रा-विभागमें प्राचीन कालसे मोगल कालतकके सोने, चाँदी और ताँबेके सिक्कोंका भी अच्छा संग्रह है। बादशाह जहाँगीरका वह सोनेका सिक्का भी है, जिसमें मदिरा-पात्र अंकित है और जो बहुत ही दुर्लभ है। यहाँ शिलालेखोंका, बहुत प्राचीन कालके प्रसिद्ध लेखोंका, संग्रह भी है। प्रसिद्ध खारवेल शिलालेखकी प्रतिलिपि और उड़ीसाके अन्य राजाओंके ताम्रपत्र भी यहाँ मौजूद हैं। प्राणितत्त्व-विभागमें साँचीके उराँव और मुण्डोंके दो चित्र हैं। उनके हथियार, भूषण तथा गानेकी सामग्रियाँ भी हैं।

भूतत्त्व-विभागमें सबसे अधिक चित्ताकर्षक वस्तु एक प्रस्तरीभूत वृक्ष (*fossil tree*) है, जो आसनसोलमें पाया गया था। यह ५४ फीट लम्बा तथा प्राचीनतामें संसारमें अपना तीसरा नम्बर रखता है। इस विभागमें भिन्न-भिन्न प्रकारके धातु-पदार्थ और पत्थर हैं, जो वैज्ञानिक ढंगसे सुसज्जित हैं।

कला-विभागमें राजपूत और मोगल-कालके सुन्दर और रंगीन चित्र हैं। मिस्टर मानुकने, म्युजियमको, एक फारस-देशीय खपड़ (*tile*) और बगीचेके दृश्यका चित्र भी दिया है।

प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम, बम्बई

(पुरातत्त्व विभाग)

श्रीयुत रणछोड़लाल ज्ञानी एम० ए०, एम० आर० ए० एस०, असिस्टेंट क्युरेटर

इस म्युजियमके पुरातत्त्व-विभागमें, सबसे पहले, दो चीजें ही रखी गयी थीं। इनमेंसे एक पूनाके पुरातत्त्व-संग्रहालयसे और दूसरी रायल एशियाटिक सोसायटीकी स्थानीय शाखाकी कृपासे मिली थी। सन् १९०९ई० में जब इस विभागके लिये संग्रहालयसे संलग्न भवन बना, तब इस प्रान्तके भिन्न-भिन्न जिलोंसे सामग्रियाँ यहाँ संगृहीत होने लगीं।

यह विभाग पाँच गैलरियोंमें बँटा हुआ है। भवनमें प्रवेश करनेपर ज्यों ही दर्शक दायीं ओर मुड़ता है, त्यों ही उसे एक बड़ा हाल मिलता है, जिसमें केवल ब्राह्मण-

मूर्तियाँ ही गजी सजायी रखी हुई हैं। काठ, पत्थर और पीतलकी सभी मूर्तियाँ त्रिदेवों ब्रह्म, विष्णु तथा महेश-की दृष्टिसे अलग-अलग रखी हुई हैं।

चार बड़े बड़े छतके तस्वीरदार चौखटें, जो शायद बीजापुर जिलेके बादामीवाली गुफाओंसे लाये गये थे, गैलरीके प्रवेश द्वारों (पूर्व और पश्चिम) की दीवारोंमें लगे हुए हैं। इनमेंसे एकमें कमलपर बैठे हुए ब्रह्मा, दूसरेमें शेषशायी विष्णु तथा तीसरे और चौथेमें सपरिवार महादेव हैं। तीसरा और चौथा भवनके मुख्य दोनों प्रवेश-द्वारोंमें लगे हैं। यह प्रारम्भिक (५ वीं और छठी सदियों) चालुक्य-चित्रकलाके सर्वश्रेष्ठ एवं अद्भुत नमूने हैं। इनके बाद चतुर्मुख ब्रह्माकी ऊर्ध्वकायप्रतिमा (*bust*), भगवान् विष्णु, महिषासुरमर्दिनी (शक्ति) और पार्वतीकी मूर्तियों-का स्थान आता है। नवीं सदीकी हाथी-गुफाओंसे यह आलय-सामग्रियाँ मिली है। यह मूर्तियाँ इस खूबीके साथ बनी हैं कि, देखते ही पहचानी जा सकती है। गुजरातसे जितनी मूर्तियां मिली है, उनमें प्रायः अधिकाश १२वीं और १३वीं सदियोंकी हैं। वरुणकी मूर्ति बड़ी सुन्दर है। वे दायीं ओर अपनी स्त्री लिये मकरासीन है। मूर्तिमें दायीं ओर मेघ और बायीं ओर पाशको ऐसा सुन्दर और स्पष्ट दिखलाया गया है कि, मूर्तिको वरुणकी मूर्ति मानने-में कोई सन्देह ही नहीं रह जाता। गुजरात कलाकारोंने अपनी देव मूर्त्तियोंमें वह कौशल दिखलाया है कि, उनमेंसे देवत्व—दैवी सौन्दर्य और आकर्षण—भरा हुआ जान पड़ता है। इन दक्षिण-भारतीय मूर्त्तियोंकी अपेक्षा शोलापुर और धारवार जिलेकी १४ वीं सदीकी मूर्तियाँ कहीं अधिक कलापूर्ण और सुन्दर है मूर्तियोंके अङ्ग-धनमें उत्कृष्ट कलाकारोंका आभास दीख पड़ता है। इन्हें देखकर मूर्ति-पूजकोंके हृदयमें सहसा भक्तिके भाव उदित होते हैं सही, किन्तु गुजरातकी देव मूर्त्तियोंकी भाँति इन दैवी सौन्दर्य-का हम अभाव पाते हैं।

बीचके चार ऊँचे-ऊँचे स्थानोंमेंसे एकमें पीतलकी मूर्तियाँ सजायी हुई हैं। इनमें अधिकांश मूर्तियाँ दक्षिण भारतकी हैं। वैष्णव-मूर्त्तियोंका रुख पूर्वकी ओर और शैव-मूर्तियोंका पश्चिमकी ओर है। इन पीतलकी मूर्तियोंका प्रचलन पाँचवीं या छठी सदीसे आरम्भ हुआ था, जब दक्षिण भारतमें बौद्ध धर्मका खूब दौरदौरा था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, आदिकालमें कच्ची और पक्की मिट्टी-की मूर्तियाँ पश्चिम भारतमें और पत्थरकी मूर्तियाँ पूर्वमें, सङ्कल्प या अनुष्ठानादिके लिये, व्यवहृत होती थीं। देशमें बौद्धधर्मका प्रभुत्व उठ जानेपर भी पीतलकी वैष्णव और शैव - चल-विग्रह और उत्सव - मूर्तियाँ, हिन्दू-जनतामें सना-तनधर्मका प्रचार करने और हिन्दू-धर्मके महोत्सवोंके अवसर-पर, यात्राओं (जुलूसों) में घुमानेके लिये, अधिक व्यवहृत होती थीं। सनातनधर्मके प्रचारक ऐसी मूर्तियाँ सदा अपने साथ रखते और हिन्दू-जनतामें उन्हें दिखा-दिखाकर हिन्दू-धर्मका महत्त्व बतलाया करते थे।

इन पीतलकी मूर्त्तियोंको ढालनेके लिये, उन दिनों, लाह या मोमसे साँचे बनाये जाते थे, और, इस कारण, कलाकार साँचोंमें अपनी पूरी मूर्त्तिनिर्माणकलासे काम लेनेमें समर्थ हो सकते थे। वे अपने मँजे हुए हाथोंकी सफ़ाई दिखानेमें कृतकार्य होते थे। यही कारण है कि, भारतीय कलाके ये सर्वोत्कृष्ट नमूने, देश-विदेशोंमें भी, प्रशंसाके पात्र हो रहे हैं। दक्षिण भारतसे प्रायः जितनी पीतलकी सुन्दर देव-मूर्त्तियाँ मिली हैं, उनमें नटराज, सोमस्कन्ध, षण्मुख और पार्वतीकी मूर्तियाँ अपना सानी नहीं रखतीं।

बीचके बाक़ी तीन खानोंमें विभिन्न कालकी पूजाकी धातु-सामग्रियां—दीप, दीपाधार, मूर्त्तितल (चौकी) आदि—रखी हुई है।

पाषाण-शिलालेखोंके लिये कोई खास गैलरी नहीं होनेके कारण, कभी सभी बहुमूल्य ताम्रपत्र, इसी गैलरीमें

उत्तरकी ओर टेबुल केसोंमें, कालक्रमानुसार, सजाकर रखे हुए हैं। इनमेंसे कुछ तो स्थानीय रायल एशियाटिक सोसायटीसे उधार लिये गये हैं और कुछको संग्रहालयने खुद खरीदा है। इन ताम्रपत्रोंमें ब्राह्मणों, शिवालयों तथा धार्मिक संस्थाओंमें दिये गये दानोंके उल्लेख हैं। इन दानपत्रोंमें सबसे प्राचीन (४९६ और ५१० ई० के) दानपत्र हैं त्रैकूटक-शासकोंके, जो पर्दी और सूरतमें मिले हैं।

बड़े हालके उत्तर-पश्चिमकी ओर जो छोटी कोठरी है, उसमें केवल प्राचीन काष्ठ सामग्रियाँ ही रखी जाती हैं। गुजरातके एक प्राचीन जैन-मन्दिरमें प्राप्त सुन्दर चित्रकारी किया हुआ, जो छत्र वहाँ धरा है, उसे सरकारी पुरातत्त्व-विभागके डायरेक्टर जनरल महोदयने ही भेंटमें दिया था।

काफी जगह होनेके कारण, इस गैलरीमें कई प्रकारके सग्रह हैं, जिनसे प्राचीन कला-कौशल एवं वस्तु निर्माण-विद्यापर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

दायीं ओरकी दीवारके पास केवल प्राचीन जैनमूर्त्ति-विद्याके ही नमूने रखे गये हैं। इनमें सबसे मूल्यवान् वस्तु मथुरास्थित जैन-स्तूपके "क्रास बार" और कुछ मूर्तियोंके शिरोभाग हैं, जिन्हें लखनऊ-संग्रहालयने भेंट-स्वरूप प्रदान किया है। सिन्धमें मिली १२ वीं सदीकी, श्वेत सगमरमरकी खुदी मूर्त्ति तथा खानदेशसे मिली पीतलकी सुन्दर मूर्त्ति, दोनों ही, इस गैलरीके बहुमूल्य सग्रह हैं। खानदेशवाली मूर्त्तिकी पीठपर जो उल्लेख खुदा है, उसे देखनेसे पता चलता है कि, वह ११ वीं सदीकी है।

बीचके दो खानों और उत्तर ओरकी दीवारके खानोंमें दक्षिण भारतके प्राचीन मिट्टीके बर्त्तनोंका संग्रह है। आध्याधान मिट्टी (*Necropolitan Pottery*) की यह वस्तुएँ मद्रास-संग्रहालयसे भेंटमें मिली हैं। इनमें कई पात्र तो इतने बड़े हैं कि, उनमें मनुष्य-शरीरकी सारी हड्डियाँ अँट सकती हैं; किन्तु कई ऐसे भी हैं कि, उनमें छोटी-से-छोटी हड्डी भी नहीं अँट सकती। जान पड़ता है कि, ऐसी वस्तुओंमें पहले मरे हुए लोगोंकी सारी हड्डियाँ या एक-आध हड्डी ही रखकर वह जमीनमें गाड़ दी जाती थीं। ऐसी (शवके जल जानेपर अस्थि-सञ्चय कर तथा अलग किसी वस्तुमें रखकर गाड़ देनेकी) प्रथा आज भी इस देशके हिन्दुओंमें वर्तमान है। गैलरीके उत्तर पूर्वके कोनेमें, बीचवाले खानेमें, हड्डियोंसे भरा मिट्टीका एक ऐसा ही "अस्थ्य.धान" है। डाक्टर सर जीवनजी जमशेदजी मोदी इसे फारससे लाये थे। इसका आकार देखनेसे तो जान पड़ता है कि, इसमें शव नहीं अँट सकता। सम्भव है, शवको कुछ दिनोंतक सूख या गल जानेपर ही उसकी हड्डियाँ इसमें रख दी जाती हों। यह प्रथा जरथुस्त्र-धर्मके माननेवालों (*Zoroastrians*) में आज भी वर्तमान है।

इसी कोठरीमें, पश्चिम ओर, दीवारसे लगे हुए, पत्थरकी पट्टियोंपर असीरियाकी तक्षणकलाके सगमरमरी नमूने सजाये हुए हैं। यह बहुत बड़े-बड़े और वजनी हैं। आजसे ३००० वर्ष पूर्व असीरिया-देशीय कलाके यह शेष संस्मरण-चिह्न हैं। इनमेंसे अधिकांश, असीरियाके राजा असुर नसीरपाल द्वितीय (ई० पू० ८८३-८५३) के समयके हैं, जिसके शासनकालमें उस देशकी कला उन्नतिकी चरम सीमाको पहुँची हुई थी।

इनमेंसे अधिकांश, मोसलकी सन् १८४५ की खोदाईमें, तत्कालीन बम्बईके गवर्नर सर जार्ज क्लार्कको मिली थीं। उन्होंने तो इन्हें स्थानीय (बम्बईके) रायल एशियाटिक सोसायटीको भेंटमें प्रदान किया था; किन्तु सग्रहालयने सोसायटीसे उधार लेकर इन्हें अपने यहाँ रखा है।

दायीं ओरसे सर्वप्रथम तीन सगमरमरी पट्टियोंपर पैदल और रथोंमें बैठकर आपसमें युद्ध करते हुए वीरोंके चित्र बने हैं, वे हाथोंमें धनुर्बाण लेकर लड़ रहे हैं। शेष पट्टियोंमें कुछपर राजा असुरनसीरपालका चित्र खुदा है और कुछमें पखदार पोशाक पहने हुए पुजारियोंका।

असीरियाके पुजारी इन दिनों विशेष धर्मोत्सवके अवसरों-पर ऐसा ही वस्त्र पहना करते थे। एकमें एक नकाबपोश पुजारीका भी स्वरूप है, जिसके माथेपर एक चिड़िया बैठी हुई है; पुजारी खजूरके पेड़को फलान्वित करनेके निमित्त अनुष्ठान करते दिखाये गये हैं। छठी और ग्यारहवीं पट्टियोंमें सुन्दर और आकर्षक चित्र हैं। इनमें राजा असुर नसीरपाल, हाथमें पाँच कलियोंवाली एक टहनी लिये, दिखलाया गया है। अन्तमें जो दो पट्टियाँ हैं, उनमें एकमें एक मनुष्य अपने बायें हाथमें एक बकरा लिये — शायद बलिके लिये — जा रहा है। चौथी और सातवीं पट्टियोंमें शिलालेख भी होनेके कारण विशेष मूल्यवान् एवं महत्त्वपूर्ण हैं। शिलालेखकी लिपि असीरियाकी प्राचीन लिपि जैसी है। इन शिलालेखोंमें या तो उपर्युक्त राजाके गुणगान गाये हैं या मूर्ति-सम्बन्धी पट्टियोंमें खुदे हुए चित्रोंके वर्णन हैं।

मिश्रदेशीय दो चित्रपटोंमें दो मनुष्योंका परस्पर आलिङ्गन दिखलाया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ काठ, कुछ पक्वमृत्तिका (*Terracotta*) और कुछ एलबेस्टर (*Alabaster*)* पाषाणकी बनी प्राचीन वस्तुएँ भी हैं, जो नील नदीकी उपत्यकाओंमेंसे प्राप्त हुई हैं। इन वस्तुओंमें तरह-तरहकी मूर्तियाँ, दीपाधार और ताम्बूलाकारकी मुहरें हैं।

पहली सदीके कुछ गण्डोदक चित्र (*Fresco painting*), पूनाके कोङ्करवाड़ाकी दीवारोंसे, मिले हैं। गैलरीकी दक्षिणी दीवारके खानेमें यह चित्र सजाये हुए हैं। चित्रमें भगवान् विष्णुके भिन्न-भिन्न अवतार दिखलाये गये हैं।

किसी भी व्यक्ति या राष्ट्रकी सभ्यताको, उन्नति-क्रमानुसार, कई अवस्थाओं या युगोंको पार करना पड़ता है। भारतीय सभ्यताकी अबतककी अवस्थाओं या युगोंको चार भागोंमें विभक्त किया जा सकता है— (१) पेलियोलिथिक या आदिकालीन रुक्ष पाषाणयुग, (२) नियोलिथिक या परिष्कृत पाषाणयुग, (३) आरम्भिक लौह-युग और (४) पाश्चात्कालीन लौह-युग।

सभ्यताकी प्राथमिक अवस्थामें मनुष्य किसी भी धातुसे परिचित नहीं थे—यही नहीं, वे ऊबड़-खाबड़ पत्थरों तकको काटने और चिकना करना नहीं जानते थे। वर्षोंके बाद उन्हें यह युक्ति सूझी, और, वे पत्थरोंके हथियार तथा खाने-पीनेके बरतन आदि बनाने लगे। प्रारम्भिक लौह-युगमें वे लोहेको गलाने और उससे भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बनानेमें असमर्थ थे। पश्चात्कालीन लौह-युगमें वे अनेक प्रकारके यन्त्रादि बनाने लगे और सोने, चाँदी तथा टीनसे परिचित हो गये।

संग्रहालयके इस पुरातत्त्व-विभागको आदिकालीन रूक्ष पाषाणयुग और परिष्कृत पाषाणयुगकी सामग्रियाँ कुछ एच० एस० कार महाशय द्वारा और कुछ लखनऊ तथा मद्रास संग्रहालयोंसे मिली हैं। इनके अतिरिक्त जी० ई० एल० कार्टर आई० सी० एस० (पशनयाफता) महोदय द्वारा भी बहुत-सी सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं, जिन्हें उन्होंने बड़े परिश्रमसे, इस प्रान्तके भिन्न-भिन्न स्थानोंसे, ढूँढ़ निकाला था।

दो तल्लेपर, बायीं ओर, बौद्ध सामग्रियोंकी गैलरी है। बौद्ध सामग्रियोंको तीन श्रेणियोंमें बाँटा जा सकता है। उत्तरकी ओर, दीवारके पास, अमरावती (जि० गुंटूर) स्थित स्तूपकी कलापूर्ण सामग्रियाँ रखी हुई हैं। अमरावतीका यह स्तूप, बेजवाड़ासे २० मील उत्तरकी ओर, कृष्णानदीके तटपर, स्थित है। अमरावतीमें आन्ध्रोंके जो सिक्के मिले हैं, वे सन् ११४ - २०० ई० के हैं। अतः जान पड़ता है, स्तूप मौर्यकालमें ही बना था।

गैलरीके बीचोबीच, मेजपर लगभग पाँचवीं सदीके,

* *Sulphate of lime* का प्रकारान्तरिक रूप।

छोटे छोटे स्तूप और पट्टियाँ, वर्ष तथा उन्नति-क्रमानुसार रखी हुई हैं। यह सामग्री मीरपुरखास (सिन्ध)के स्तूपों मेंसे मिली है। कच्ची मिट्टीकी भी दो-एक पट्टियोंमें स्तूपके नक़शे हैं, जिनके आधे भागमें, बुद्ध भगवानको भिन्न-भिन्न रूपोंमें, दिखलाया गया है।

उत्तरकी ओर दीवारवाले खानों [*cases*]में ध्यान-मुद्रामें बैठे हुए बुद्ध भगवान्की चार (पक्की) मिट्टीकी मूर्त्तियाँ और मीरपुरखासके स्तूप-सम्बन्धी पत्थरकी सामग्रियाँ रखी हुई हैं, और, बाकी जगहोंमें बौद्धधर्म सम्बन्धी गान्धारकी प्राचीन कलाकारीके नमूने हैं। इनमें अधिकांशमें, भगवान बुद्धसे सम्बन्ध रखनेवाली भिन्न-भिन्न घटनाओंके दृश्य हैं। अभी हालमें, पेशावर महासंग्रहालयसे प्राचीन तक्षणकला-सम्बन्धी जो ६२ वस्तुएँ लायी गयी हैं, उनसे इस संग्रहालयका महत्त्व बढ़ गया है। इनमें, कइयोंमें, जातक कथाएँ चित्रित हैं।

इस गैलरीके अन्तिम छोरपरकी एक कोठरी खासकर फारस और अरबके प्राचीन हस्तलेखोंके लिये ही अलग कर दी गयी है। दीवारके केसमें, हिब्रूके प्राचीन हस्तलिखित दो लम्बे लम्बे पुलिन्दे हैं। वहीं फारसी और अरबीके प्राचीन कवियों और लेखकोंके हस्तलेख हैं। बीजापुरके आदिलशाहका लिखा हुआ "नौरस"नामक ग्रन्थ भी दूसरे केसमें सुरक्षित रखा गया है।

लिफ्टकी पासवाली तंग राहसे होकर दर्शक उस स्थान पर पहुँचता है, जहाँ पुरातत्त्व-सम्बन्धी अन्यान्य संग्रह हैं। कुछ ही वर्ष हुए, सिन्धके कीर्त्ति-स्तम्भोंसे, जिनकी देख-रेख बराबर भारत सरकार करती है—विविध भाँतिके सुन्दर-सुन्दर खपड़ोंको ढूँढ लानेके लिये, इस म्युजियमने एक आफिसर भेजा। इन्हें गैलरीके पूर्वार्द्ध भागमें, क्रमानुसार, रखा गया है। इनपर कई रंगकी मीनाकारी की गयी है, जो आज भी ताजी मालूम होती है। इनमें कई पट्टियाँ ऐसी हैं, जिनपर बेल-बूटे कढ़े हुए हैं। इन्हें देखकर हम उन दिनोंके कुम्हारोंके बुद्धि वैचक्षण्यकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते।

जिस जगह ऊपरकी पट्टियाँ रखी हैं, ठीक उनके सामनेवाले दो टेबुल-केसोंमें मिट्टीके बर्तनोंके टुकड़े रखे हुए हैं। यह सामग्री सिन्ध-प्रदेशके भिन्न-भिन्न प्राचीन स्थानोंसे मिली है। इन्हें देखनेसे पता चलता है कि, इस देशमें मिट्टीके रंगीन बर्तन बनानेकी कला किस अधोगतिको प्राप्त हो गयी है। गैलरीकी दूसरी ओर, दीवारके केसोंमें, बौद्धकालीन कुछ मिट्टीके बर्तन और खुदी हुई ईंटें रखी हुई हैं। यह सब वस्तुएँ ब्राह्मणाबाद, मीरपुरखास तथा सिन्धकी और जगहोंकी खोदाइयोंसे मिली थीं। बर्तनोंमें अधिकतर खाने-पकानेके ही बर्तन हैं। इनके अलावा दीयाधार और खिलौने हैं, जिनमें तरह-तरहके फल और जानवर दिखलाये गये हैं। इन वस्तुओंमें पक्की मिट्टीका हाथी, तर्पण सम्बन्धी शिला-फलक (*libation slab*) और बढ़िया नक्काशवाली कलसी अधिक महत्त्वकी सामग्री हैं, जो बड़ी ही सुन्दर है। सिन्धमें ऐसी ऐसी प्राचीन कलाकारी और नक्काशीके नमूनोंकी कमी नहीं है। इन वस्तुओंमें कितनी तो चौथी और पाँचवीं सदियोंकी बनी हुई हैं।

बायीँ ओरके तीन टेबुल-केसोंमेंसे आखिरवाले टेबुल-केसमें करामाती प्याले रखे हुए हैं, जो मिश्रित धातुके बने हैं। इनमें अच्छी नक्काशी की गयी है, सभी निराले ढंगके हैं और सबमें कुरानके अङ्क और उद्धरण दिये हैं। इनके बारेमें यह तारीफ सुनी जाती है कि, इनमें पानी भरकर पीनेसे कई तरहके रोग और शिकायतें दूर हो जाती हैं।

बायीँ ओरके बाकी दो टेबुल केस प्राक्-इस्लामकालकी मूर्त्तियों और दक्षिण अरबकी प्राचीन वस्तुओंके लिये रखे गये हैं। इनमें कुछ हिमेराइट लिपि (*Hymyarite character*) में खुदे हुए हैं। इनका निर्माणकाल ई० पू० ८०० वर्षसे ६०० वर्ष बादतक है, जिन दिनों

अरबपर सेबेन (*Saben*) और हिमेराइट राजाओंका अधिकार था और जिन्हें कुरानमें "अभिमानके अवतार" कहा गया है। यह सामग्री हिटलैंड, मर्वा या सावा, अदन तथा दक्षिण अरबके अन्य स्थानोंसे मिली है। सेंट जग (*Saint Zagh*) ऊँटपर सवार हैं और दोनों ओर रुपयेके थैले लटके हुए हैं तथा आगे आगे नकीब दौड़ा जा रहा है। प्राक इस्लामकालीन अरबके देवता, बाद और कई खड़े और बैठे हुओंके बीच मिश्र-देशीय देवी सेखेट (*Goddess Sekhet*) की मूर्त्तियाँ, कला और प्राचीनताकी दृष्टिसे, बड़ी मूल्यवान हैं।

उपर्युक्त गैलरीको पार कर जानेपर दर्शक सामनेवाली गैलरीके बरामदेमें पहुँचते हैं। यहाँ भिन्न-भिन्न लिपियोंमें खुदे हुए शिलालेख संगृहीत किये जाते हैं। भारतवर्षमें ऐसे बहुत कम संग्रहालय हैं, जहाँ अरब, फारस और पश्चिम भारतके शिलालेखोंका ऐसा सुन्दर संग्रह है।

दसवीं सदीके आरम्भसे लेकर अठारहवीं सदीके अन्ततकके शिलालेख कूफी, नस्ख तथा नस्तलिक-लिपियोंमें हैं। शिलालेख वर्षक्रमानुसार रखे गये हैं और उनपर खुदी हुई बातोंका मर्म उनमें लगी हुई स्लिपोंपर लिख दिया गया है। इस तरह दर्शक आसानीके साथ, प्रत्येक शिलालेखके विषयमें साधारण जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

अरबी भाषाकी कूफी लिपिमें खुदे हुए जैसे चार शिलालेख यहाँ रखे हुए हैं, वैसे इस देशमें शायद ही कहीं देखनेको मिलें। शेष शिलालेखोंसे गुजरातके सुलतानों तथा मोगल शासकोंके अधीन पश्चिम भारतके इतिहासपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इनमें कई अभी अच्छी दशामें हैं।

बम्बईके समीप सोपर स्तूपके स्थानसे प्राप्त सम्राट् अशोककी आठवीं राजाज्ञा, वाजपेय यज्ञके यूप (याज्ञिक स्तम्भ) का एक खुदा हुआ लकड़ तथा (सम्भवतः मथुरासे प्राप्त) बौद्ध-प्रतिमाका पद-तल, जिसमें कुषाणवंशीय शासक हुविष्क (सन् १२३ ई०) के समयका लेख खुदा है, बरामदेकी दूसरी छोरपर रखा हुआ है। आफिसके कमरेके सामनेवाले टेबुल केसपर सिक्कोंके नमूने तथा पाषाण-शिलालेखोंके छोटे छोटे टुकड़े इस भाँति रखे गये हैं कि, दसवीं या ग्यारहवीं सदियोंसे बादकी देवनागरी लिपिका क्रमशः विकाश सहजमें ही जाना जा सकता है। दूसरे दीवार केसोंमें लगभग पचास सुपाठ्य और कुछ टूटे-फूटे शिलालेख और दक्षिण अरबसे प्राप्त सबा और हिमेराइट लिपिमें खुदे हुए ताम्रपत्र रखे हुए हैं। यह अरबके प्राक-मुस्लिमकालकी चीजें हैं। दाखिरवाले केसमें असीरिया और बेबिलोनके लगभग एक दर्जन पत्थर और पक्की मिट्टीकी छोटी छोटी पट्टियाँ हैं, जिनपर ईसासे नवीं सदीसे छठी सदी पूर्वकी लिपिमें लेख हैं। यह नेब्यूगदनजर और असुर नसीरपाल जैसे शक्तिशाली राजाओंके अधीन तत्कालीन बेबिलोनकी सम्पन्नताके मौन साक्षी हैं। इस तल्लेके पूर्वी कोनेपर एक गहरा कमरा है, जिसमें मुस्लिम और अमुस्लिम सिक्के रखे हैं। यहाँ इस देशके सभी समयके तरह तरहके सिक्के नमूने रखे गये हैं।

शिलालेखोंवाली गैलरीके पास चक्करदार सीढ़ीसे नीचे उतरनेपर दर्शकोंको दो टेबुल-केस मिलेंगे जिनमें पुरातत्त्वविभाग (मानव तत्त्व-सम्बन्धी) सोसायटी द्वारा उधार मिले हुए कुछ नमूने रखे गये हैं। उनमें पारसियोंके "*Tower of Silence*" (श्मशान) का भी एक नमूना है।

सामनेके खुले हुए बरामदोंमें भी छोटी और अन्यान्य वस्तुएँ सजायी गयी हैं। ठोस और भारी स्मारक स्तम्भ और वीरोंके कीर्ति-स्तम्भ (जो दक्षिण भारतसे मिले हैं) तथा पोर्त्तुगीजोंके कुछ शिलालेख पूर्वकी ओर बरामदेमें रखे हुए हैं। पश्चिमकी ओर बरामदेमें मध्ययुगकालीन मूर्त्तियाँ और तक्षणकलाके नमूने हैं, जो दोहद और तैयबपुरसे, अभी थोड़े ही दिन हुए, लाये गये हैं। यह ग्यारहवीं या बारहवीं सदियोंकी गुजराती वस्तु-निर्माणकलाके सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं।



१—निवेदन

हिन्दीसाहित्यमें जिस विषयका अभाव है, उसपर विशेषाङ्क निकालना, गम्भीर साहित्यकी सृष्टि करना और हिन्दू-संस्कृति तथा सभ्यताका महत्त्व दिखाना आदि 'गङ्गा'के उद्देश्य हैं। इन्हीं उद्देश्योंसे प्रेरित होकर "पुरातत्त्वाङ्क" निकाला जा रहा है। इस विशेषाङ्कको प्रकाशित करनेका प्रस्ताव त्रिपिटकाचार्य राहुल साङ्कृत्यायन-का था। आपने आचार्य नरेन्द्रदेवजीके साथ, कृपा-पूर्वक, इसका सम्पादन-भार भी स्वीकार किया था। अस्वस्थता और राजनीतिक कार्यमें पड़ जानेके कारण नरेन्द्रदेवजी सम्पादन-कार्यमें सहयोग नहीं दे सके—यह दुःखकी बात है, परन्तु साङ्कृत्यायन-जीने सम्पादन-कार्यमें, सदा, प्रत्येक प्रकारका, साहाय्य दिया कई लेख लिखे, दूसरोंसे कुछ लेख लिखाये, कई कापियोंका संशोधन किया, कुछ फार्मोंका प्रूफ देखा—जहाँ कहीं रहे, सदा विशेषाङ्कको सफल बनानेकी चेष्टा करते रहे। अन्तको, विदेशसे लौटनेपर, तो आप एक मासतक सुलतानगञ्जमें, इसी कार्यके लिये, रहे भी। इसमें सन्देह नहीं कि, आपने इसके लिये इतना परिश्रम न किया होता, तो यह ऐसा सुन्दर नहीं बन सकता। इसलिये इस विशेषाङ्कको प्रायः आपकी ही कृपाका फल समझना चाहिये।

इस विशेषाङ्कका कार्यारम्भ १५ महीने पहले किया गया था। तबसे मुझे इसमें लगा रहना पड़ा। साङ्कृत्यायनजीकी अनुपस्थितिमें मुझसे जो कुछ हो सका, किया। कितने ही अप्राप्य चित्र मँगाये गये, एक हजार रुपयेसे अधिकके ब्लाक बनवाने पड़े, महीनों लिखा-पढ़ीकर भारत सरकारसे, पुरा-तत्त्व-विषयक कई चित्रोंको छापनेके लिये, हुक्म लेना पड़ा और अधिकारी विद्वानोंसे लेख मँगानेमें लगभग एक वर्षतक लगातार खत-किताबत करनी पड़ी। इन सब कामोंमें पानीकी तरह रुपये बहाने पड़े। "गङ्गा"के प्रधान संरक्षक बनैलीराज्याधिपति साहित्य-विभूषण कुमार कृष्णानन्द सिंह बहादुर और आपके विद्वान् प्राइवेट सेक्रेटरी पण्डित गौरी-नाथ झा, व्याकरणतीर्थने 'पुरातत्त्वाङ्क'को सर्वाङ्ग-सुन्दर बनानेके लिये दिल खोलकर रुपये खर्च किये। आप लोगोंकी हिन्दी-हितैषिता और उदारा-तिशयताके ही कारण हिन्दीसंसारमें "पुरातत्त्वाङ्क" निकल सका है। शायद संसारकी किसी भी भाषामें पुरातत्त्व विषयक विशेषाङ्क नहीं निकला था।

"गङ्गा"का वार्षिक मूल्य ५) रु० है। इसमें ३) रु०का तो यह विशेषाङ्क ही, ग्राहकोंको, दिया जा रहा है। ।≋) का सालभर टिकट देना पड़ेगा—पत्रव्यवहारमें भी कुछ खर्च करना पड़ेगा। इस तरह अधिकसे अधिक १॥~) में ही "गङ्गा"के इस ३रे वर्षके अवशिष्ट ११ अङ्क, ग्राहकोंको, देने

पड़ेंगे। यह सब बनैली-राज्याधिपतियों और प० गौरीनाथ झाजीकी साहित्यगतप्राणताका ही फल है। इसलिये आप लोग समस्त हिन्दीसंसारके धन्यवाद-भाजन हैं।

हिन्दीसंसारको विदित है कि, आप लोग सनातनधर्मानुयायी हैं। मैं भी सनातनधर्मी विचारका आदमी हूँ। इस दशामें "गङ्गा"में सनातनधर्मके विरुद्ध कोई लेख छपना कुछ पाठकोंको खटकता है। परन्तु खटकनेकी कोई बात नहीं। हमारे दर्शनोंमें, शाङ्कर भाष्यमें और अन्यान्य शास्त्र ग्रन्थोंमें चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि अनेक विरोधी मतोंका उल्लेख, पाठकोंके विचार और खण्डनके लिये, किया गया है। फिर भी "गङ्गा" एक मासिक पत्रिका है। इसके पाठक विभिन्न विचारोंके हैं। उनके लिये, अन्य पत्रिकाओंकी तरह, विविध विचारोंके लेखोंको छापना "गङ्गा"का कर्त्तव्य है। हाँ, सम्पादकीय विचार सनातनधर्मके विपरीत नहीं हो सकते।

कुछ लोगोंका मत है कि, पुरातत्त्व सनातनधर्मका कुछ विरोधी है, परन्तु यह मत ठीक नहीं। मेरे विचारसे तो पुरातत्त्व-विषयक खोजें सनातनधर्मका सर्वाधिक समर्थन करती हैं। भारतकी किसी भी खोदाईमें सनातनधर्म या आर्य-संस्कृतिकी विरोधिनी कोई भी चीज नहीं मिली है। हाँ, हरप्पा और मोहञ्जोदारोकी खोदाइयोंसे निकली वस्तुओंको लेकर अवश्य कुछ मतभेद है। कुछ अंग्रेज विद्वानों और उनके अनुयायी भारतीय पण्डितोंकी राय है कि, इन दोनों स्थानोंकी खोदाइयाँ सुमेरियन या द्रविड़ सभ्यताके गौरवका समर्थन करती हैं और यह सभ्यता आर्यसभ्यतासे प्राचीनतर है। परन्तु यह मत सर्व-मान्य नहीं। अनेक विद्वानोंके मतसे वैदिक सभ्यतासे बहुत पीछेकी यह सभ्यता है। इस सम्बन्धकी जितनी युक्तियाँ हैं, उन्हें जाननेके लिये पाठकोंको इस अङ्कमें प्रकाशित डा० लक्ष्मण-स्वरूप, डा० अविनाशचन्द्र दास, डा० नरेन्द्रनाथ लाहा आदिके लेखोंको, ध्यानसे, पढ़ना चाहिये। इन विद्वानोंकी युक्तियाँ जान मार्शल या वाडेल साहबकी युक्तियोंसे कमजोर नहीं। मेरी तो धारणा है कि, भारतकी किसी भावी खोदाईमें यदि मोहञ्जोदारो और हरप्पासे भी प्राचीनतर वस्तुएँ मिलेंगी, तो वह भी सनातनधर्म या आर्य-सभ्यताका अनुमोदन करनेवाली ही होंगी। भारतका प्रत्येक अणु हमारी संस्कृतिके अनुकूल है। भारतकी खोदाइयोंमें ही क्यों, मेसोपोटामिया (बोगाजकुई), पेरू (अमेरिका), ईजिप्ट आदिकी खोदाइयोंमें जो इन्द्र, वरुण, स्वस्तिक, सूर्य आदिके नाम, प्रतिमाएँ और चिह्न आदि मिले हैं वे भी सनातनधर्म और आर्य-सभ्यताकी महिमाके संवर्द्धक हैं। फलतः पुरातत्त्वकी खोजों और इस विषयके साहित्यके प्रचारसे हमारे धर्म, सभ्यता, इतिहास और संस्कृतिको महान् लाभ होगा।

हाँ, इस अङ्कमें दो-चार लेख ऐसे हैं, जिनसे हमारी सभ्यता और संस्कृतिका विरोध होता है, परन्तु इन लेखोंमें या तो पाश्चात्त्य विद्वानोंके विचारोंका अनुधावन किया गया है या इनके विचार भूगर्भशास्त्रके हैं। पाश्चात्त्य विद्वानोंके विचार हमारे ही सम्बन्धमें ऐसे नहीं, ईरानियों, चीनियों आदिके बारेमें भी ऐसे ही हैं। विधर्मियोंसे अपनी संस्कृतिके समर्थनकी आशा भी बहुत नहीं करनी चाहिये। हमारे विरुद्ध जो भूगर्भशास्त्रकी बातें हैं, वे भी विवादास्पद हैं। यह शास्त्र अभी बिलकुल अधूरा है। जिस भूगर्भशास्त्रकी बातोंसे पाश्चात्त्य

विद्वान् और उनके भारतीय अनुगामी ऋग्वेदका काल १२०० बी० सी० मानते हैं, उसी शास्त्रके आधारपर डा० अविनाशचन्द्र दास ऋग्वेदका काल २५००० वर्ष। इस सम्बन्धमें जो सज्जन अधिक जानना चाहें, वे "गङ्गा"के "वेदाङ्क"की सम्पादकीय टिप्पनियाँ पढें। यहाँ, स्थानाभावके कारण, इतना ही लिखा जा सकता है कि, भूगर्भशास्त्रकी बातें पूर्णत विश्वसनीय नही। समय मिलने पर इस सम्बन्धमे "गङ्गा"के अगले अङ्कोमे विशेष लिखा जा सकेगा। पाठकोको यह सुनकर भी प्रसन्नता होगी कि, सांकृत्यायनजीका भी मत है कि, पुरातत्त्व-विषयक खोज मूर्त्तिपूजाकी विरोधिनी नही है।

यहाँ यह लिखना भी मैं नही भूल सकता कि, "पुरातत्त्वाङ्क"मे कई सज्जनोंने तरह तरहकी सहायताएँ दी है। भारत सरकारके पुरातत्त्व विभागाध्यक्ष राय बहादुर प० दयाराम साहनीने कई सरकारी चित्रोंको छापनेकी स्वीकृति देनेकी कृपा की, इसलिये वे साधुवादके पात्र है। राय साहब मनोरञ्जन घोष एम० ए०, कामरूप-अनुसन्धान समितिके उपमन्त्री प० सर्वेश्वर शर्मा कटकी, प० काशीनाथ दीक्षित एम० ए०, डा० लक्ष्मणस्वरूप एम० ए०, काशी नागरी प्रचारिणी सभाके मन्त्री महोदय, आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी, प० लोचनप्रसाद पाण्डेय आदि आदिने जो साहाय्य दिया है, वह सदा स्मरणीय रहेगा। आप लोगोको जितना धन्यवाद दिया जाय, थोडा है।

हा, नालन्द नहीं, नालन्दा शब्द है, परन्तु खेद है कि, डा० हीरानन्द शास्त्रीके लेखमे, प्रूफ-रीडरकी गलतीसे, नालन्द ही छप गया है!

खेद है कि, अनेक सुयोग्य विद्वानोसे आग्रह करके जो लेख मँगाये गये थे, उनमेसे कितने ही, स्थानाभावके कारण, इस अङ्कमे नहीं जा सके, कई सम्पादकीय विचार भी नही प्रकाशित किये जा सके। जो हो, परन्तु ये लेख "गङ्गा"के आगामी अङ्कोमे यथाशक्य शीघ्र छापे जायँगे। तबतक लेखकोंसे क्षमा-याचना है।

—रामगोविन्द त्रिवेदी

२—आवश्यक विनय

राज्यके कार्यमे अतीव व्यस्त रहने और आगामी अप्रेल माससे निकलनेवाले "हलधर" नामक साप्ताहिक पत्रके प्रबन्धका सारा कार्य हाथमे लेनेके कारण इन दिनो मुझे "गङ्गा"के सम्पादनका कार्य करनेका बिलकुल ही समय नहीं। इतने दिनो तक जो कुछ मुझसे बन पडी, "गङ्गा"की सेवा की; परन्तु आगे ऐसा करनेमे असमर्थ हूँ। फलत. अब मै सम्पादकीय विभागसे हट रहा हूँ। इसके लिये पाठकोसे क्षमा-याचना करता हूँ। हाँ, "गङ्गा" के सञ्चालन और स्वामित्वका भार मुझपर आगे भी बना रहेगा और इस नाते मैं हिन्दीसंसारकी सेवा करता रहूँगा।

—गौरीनाथ झा

3—"पुरातत्त्वाङ्क"के सम्बन्धमे

जिस समय मैंने "गङ्गा"के प्रधान सम्पादक प० रामगोविन्द शास्त्रीसे "पुरातत्त्वाङ्क" निकालनेके बारेमें कहा था, उस समय यह विश्वास नही हुआ था कि, हिन्दीमे, महत्त्वपूर्ण होनेपर भी, ऐसे उपेक्षित विषयपर विशेषाङ्क निकाला जा सकेगा। तो भी यह निकल ही गया। इस विशेषाङ्क द्वारा हिन्दीजनताके सामने साहित्यके एक अङ्गको पूर्ण करनेवाली यदि कोई बात

आयी हो, तो उसके लिये "गंगा"के संरक्षक, अध्यक्ष और प्रधान सम्पादक शास्त्रीजी ही साधुवादके पात्र हैं। आचार्य नरेन्द्रदेवके अस्वस्थ और कारा-प्रवासी हो जाने और मेरे भारतसे बाहर चले जानेके कारण एक तरहसे सारा ही भार शास्त्री-जीके ऊपर पड गया था, और, उन्होंने "फँसा कर चले गये" का उलाहना देते हुए भी उसे किया। 'पुरातत्त्वाङ्क"की जो विषय-सूची मैंने और आचार्य नरेन्द्रदेवजीने बनायी थी और जिसमें पाँच-सात विषयोंको प० गोपीनाथ कविराजने भी जोड दिया था, वह सब सिर्फ लेखकोंकी आसानीके लिये ही किया गया था, इसलिये यदि सभी विषयोंपर लेख नहीं आये, तो उसके लिये चिन्ता नही, किन्तु हम अच्छी तरह जानते हैं कि, भारतीय पुरातत्त्वके कई उपयोगी अङ्गोपर लेख नहीं दिये जा सके है। विशेषकर बृहत्तर भारत मध्य एशिया, अफगानिस्तान, जावा, इडो-चायना, लका आदि के विषयमें। लेखोके एक ही समय न आ जानेके कारण और छपाईमें देरी होती देख, लेखोमें न विषयका और न योग्यताका ही खयाल किया जा सका। ब्लाक भी जितना हम देना चाहते थे, उतना नही दे सके। समयाभावके कारण ही भारतकी पुरानी लिपियोका भी ब्लाक, बाहर, बनानेके लिये, नही भेजा जा सका एवम् उसे मनोऽभिलषित रूपमे प्रकाशित नही किया जा सका। स्थानाभाव और कालाभावसे आये हुए लेखोंमेंसे भी कितनोको ही इस अङ्कमे नहीं छापा जा सका। आशा है, लेखक महोदय क्षमा प्रदान करेगे। बचे हुए लेख सादर अगले अङ्कोमें प्रकाशित किये जायँगे। रा० सा०

४—पुरातत्त्व-साहित्यका महत्त्व

हिन्दीमें पुरातत्त्व-साहित्यकी कितनी आवश्यकता है, इसे इस अङ्कमें छपे विद्वानोंके गम्भीर लेखोंसे पाठक यदि नही समझ सकेंगे, तो हमारी (सम्पादक-द्वयकी) इन दो चार पङ्क्तियोसे नही समझेंगे। भारतके सच्चे इतिहासके निर्माणमें "पुरातत्त्व"की सामग्रियाँ अत्यन्त उपयोगी हैं, और, खोदाई आदिके द्वारा अभीतक जो कुछ किया गया है, वह दालमे नमकके बराबर है। उसकी जब हम यूरोपके सभ्य देशोंके कार्यसे तुलना करते है, तब उसे बहुत अल्प पाते है। काशीकी नागरी प्रचारिणी सभाने हिन्दीकी खोजकी रिपार्ट तथा 'प्राचीन मुद्रा' छापकर, और, उसकी पत्रिकाके योग्य सम्पादक श्रद्धेय ओझाजीने भी हिन्दीमे कुछ कार्य किया है। ओझाजी हिन्दीमे इस विषयके युगप्रवर्तक होनेसे चिरस्मरणीय रहेगे। इतिहासकी सबसे ठोस सामग्री ही पुरातत्त्व-सामग्री है, और, उस सामग्रीसे भारतका कोई जगह शून्य नही है। गाँवोंके पुराने डीहोंपर फेंके मिट्टीके बर्तनोंके चित्र-विचित्र टुकडे भी हमे इतिहासकी कभी कभी बहुत ही महत्त्वपूर्ण बाते बताते हैं। लेकिन उन्हें समझनेके लिये हमारे पास वैसा श्रोत्र और नेत्र होना चाहिये।

५—सर्वसाधारणके जानने योग्य कुछ बात

वैसे तो बहुतसी बाते हैं, जिन्हे एक पुरातत्त्व-प्रेमी और पुरातत्त्व-गवेषकको जानना चाहिये, किन्तु यहाँ कुछ ऐसी बाते गिना दी जाती है, जिनका साधारण पाठक भी यदि ध्यानमें रखे, और अपने आसपासकी सामग्रियोंके रक्षण और परीक्षणका खयाल करे, तो बहुत फायदा हो सकता है—

(१) शिला, ताम्रखण्ड और भग्न मूर्त्तियों तथा दूसरी चीजोंपरके लेखोंको जहाँ कहीं भी देखे, उन्हें अन्यत्र मुद्रित लिपियोंसे यदि मिलावें, तो उस से कालका ज्ञान हो सकताहै। यह खयाल रखे कि, पुरातन्त्वविद् न सर्वज्ञ हैं और न वह भारतमें सब जगह पहुँच ही सके हैं; इसलिये आपके गाँवके डीह या महादेव-स्थानपर ढेर की हुई खण्डित मूर्त्तियोके टुकडोमे भी कभी कोई हीरा निकल आ सकता है।

(२) अपने आसपासकी पहाडियोके पत्थरोसे भिन्न यदि किसी दूसरे रंगके पत्थरकी मूर्त्ति मिले, तो वह कभी-कभी और भी महत्त्वपूर्ण सूचना देनेवाली हो सकती है। मूर्त्तियोमे अक्सर आसन (पीठिका)के नीचे या प्रभामण्डल (सिरके चारो ओरके घेरे) या पीठपर लेख खुदे होते हैं।

(३) ईंटोंकी लम्बाईपर अलग लेख छप चुका है। जितनी ही असाधारण लम्बाईकी ईंटे मिले, उतनी ही उन्हे उस स्थानकी प्राचीनताको बतलानेवाली समझना चाहिये। भर सक अखण्ड ईंट खोज निकालने और उसका नाप लेनेकी कोशिश करनी चाहिये। बहुत छोटी ईंटे (लाहोरी या लाखोरी) मुसलमानी कालकी होती हैं। विचित्र आकार-प्रकारके खपडे, कुएँ बाँधनेकी चन्द्राकार पट्टियाँ आदि भी कभी-कभी बहुत उपयोगिनी होती है।

(४) मकानकी नींव, कुआँ या तालाब खोदनेमे यदि कोई चीज मिले, तो उसकी गहराईको नापकर चीजके साथ नोट कर लीजिये। यह गहराई प्रमाणकी एक बहुत ही उपयोगिनी कडी है। इसी तरह जो चीज जिस गाँवके जिस स्थानपर मिले, उसे भी नोट कर लेना चाहिये। स्मरण रहे, "स्थानहीना न शोभन्ते दन्ता केशा नखा नराः" की उक्ति इसपर और घटती है।

(५) कहीं-कहीं गाँवोंमें पीपलके नीचे या किसी टूटे-फूटे देवस्थानमें पत्थरके लम्बे चिकने टुकड़े मिलते है। उनमें कभी-कभी दस-बारह हजार वर्ष पूर्वके, हमारे पूर्वजोंके, हथियार भी सम्मिलित रहते हैं। यदि वह सगखारे या चकमक जैसे कड़े पत्थरके तथा नोकीले और तेज धार लिये हो, तो निश्चय ही समझिये कि, वे वही अस्त्र हैं, जिनसे हमारे पूर्वज शिकार आदि किया करते थे।

(६) कुएँ आदि खोदनेमें धरतीके बहुत नीचे कभी-कभी मनुष्यकी खोपडियाँ या हड्डियाँ मिल जाती है। हो सकता है, वह खोपड़ी कई हजार वर्षोंकी पुरानी, किसी लुप्त जातिके मनुष्यकी, हो, इस लिये उसकी छान-बीन करनी चाहिये और यदि आकृति असाधारण तथा हड्डी बहुत पुरानी या पत्थर जैसी मालूम होती हो, तो उसकी रक्षा करनी चाहिये या किसी विशेषज्ञसे दिखाना चाहिये। बहुत नीचे मिले मिट्टीके बर्तनोके बारेमें भी यही समझना चाहिये। ताँबे या पीतलकी तलवार या छुरा यदि कहीं मिल जाय, तो उसे धातुके भाव बेच न डालना चाहिये। हो सकता है, वह ५-६ हजार वर्षोंकी पुरानी चीज हो, और, कोई सग्रहालय उसे धातुसे कई गुने दामपर खरीद ले।

(७) (क) मिट्टीसे भठे तथा दब गये भीटोंवाले जहाँ तालाब हो, (ख) जहाँ आसपास पुराने देवस्थानों या पीपलोंके नीचे टूटी-फूटी मूर्त्तियाँ अधिक मिलती हों, (ग) जहाँ खेत जोतते या मिट्टी खोदते वक्त पुराने कुएँ या ईंटोंकी दीवार आदि निकल आती हों, (घ) जहाँ बरसातमे मिट्टीके धुल जानेपर ताँबे आदिके पैसे तथा दूसरी चीजें

मिलती हो (चौकोर या मूर्त्तिवाले सिक्के अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं, और, पानेवालेको, उनके कालके अनुसार, कई गुना अधिक दाम मिल सकता है), ऐसे स्थान पुरातत्त्वके लिये अधिक उपयोगी होते हैं। गढ या ऊँची जगहसे भी प्राचीनता मालूम होती है, किन्तु हजार वर्ष पूर्वसे जहाँ बस्ती फिर नही बसी, वहाँकी जमीन बहुत ऊँची नही मिलेगी।

(८) गाँवमें, साधारण लोगोमें, यह भ्रम फैला हुआ है कि, सरकार जहाँ-कही खोदाई करती है, वह किसी खजानेके लिये। उन्हे समझना चाहिये कि, पुरातत्त्वकी खोदाईमे सरकारने जितना खर्च किया है, यदि खोदाईमें निकले हुए सोने-चाँदीके दामसे मुकाबिला किया जाय, तो उसका शतांश भी न होगा। फिर भी सोने-चाँदी या कीमती पत्थरकी जो कोई चीज मिलती है, उसे न गलाया जाता है, न बेचा जाता है। वह तो भिन्न-भिन्न संग्रहालयोंमें, इतिहासके विद्वानो और प्रेमियोंके देखने और जाननेके लिये, रख दी जाती है। यदि गाँवमें इस तरहके सिक्के आदि किसीको मिले, तो उसे वह गला करके या तोड-फोड करके खराब न कर दे। सम्भव है कि, उससे उसकी अपनी जातिका कोई सुन्दर इतिहास मालूम किया जा सके। बहुतसे भूले वंशोके परिचय और गौरव स्थापन करनेमे इन चीजोंने बहुत सहायता की है। सम्भव है, ऐसी चीजको गलाने या तोडनेवाला अपने पूर्व पुरुषोंकी कीर्त्ति और इतिहासको अपनी इस क्रिया द्वारा गला और तोड रहा हो !

९—पुरातत्त्व और पाश्चात्त्य विद्वान्

पुरातत्त्वके विषयमें पाश्चात्त्य विद्वान् कितने उत्सुक है, इसका एक उदाहरण लीजिये। कोई बीस महीने हुए, काश्मीर-राज्यके गिलगित स्थानमें, १२-१३ सौ वर्ष पुराने अक्षरोंमें, भोजपत्रपर लिखे, बहुतसे संस्कृत ग्रन्थोका एक ढेर मिल गया। भारतके कितने ही विद्वान् तो उसके महत्त्वको उतना नही समझते, किन्तु उसके बारेमें सचित्र सुन्दर विवरण फ्रांसके आचार्य सिल्वेन लेवीने प्रकाशित कराया है ! उनके पास कुछ पन्ने पहुँच गये थे, जिनके पाठको, उन्होने, उसमें, छापा भी हैं। वह और उनके सहकारी डा० फुशे आदि उन हस्तलिखित ग्रन्थोके बारेमे इतने उत्सुक है कि, उन्होने कई बार काश्मीर-राज्यके अधिकारियोंके पास पत्र भी भेजे। वह व्यग्र है कि, कही असावधानीसे वह सामग्री नष्ट या लुप्त न हो जाय ! जब मैं (रा० सा०) पिछले नवम्बरमे पेरिसमें था, तब उन्हे काश्मीरसे पत्र मिला था, जिसमें लिखा था कि, हस्तलेखोका निरूपण (*decipher*) किया जा रहा है ! कहाँ वह आशा रखते थे कि, इन अठारह महीनोमे उन पुस्तकोंके नाम आदिके विषयमें कोई विस्तृत विवरण मिलेगा और कहाँ पत्र जा रहा है कि, गुप्त लिपिमे लिखे ग्रन्थोंका निरूपण किया जा रहा है ! यदि ग्रन्थोका प्रकाशन या विवरण तैयार न करके अठारह महीने सिर्फ निरूपणमे ही लग जाते है, तो कब उन्हें विद्वानो के सामने आनेका मौका मिलेगा ! आचार्य लेवीने कहा था कि, पूरे अठारह महीने हो गये, ऐसा अद्भुत ग्रन्थ समुदाय भारतमे मिला है, जिसे लोग केवल चीनी और तिब्बती अनुवादोसे ही जान सकते थे, परन्तु उसके बारेमे भारतमें इस तरहका आलस्य है, यह भारतके लिये लज्जाकी बात है !

भारतीय पुरातत्त्वके साहित्यके बारेमे यदि आप पूरी जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं, तो उसे आप हालैंड-निवासी डा० वोगल और उनके सहयोगियोंके परिश्रमसे निकलनेवाली वार्षिक पुस्तिका

"*The Annual Bibliography of Indian Archaeology*" से जान सकते हैं।

७—पुरातत्त्वोत्खननके लिये एक सेवक-दलकी आवश्यकता

पुरातत्व-सम्बन्धी खोज और खननका सारा भार हम सरकारपर ही नहीं छोड़ सकते। सभी सभ्य देशोंमें गैर सरकारी लोगोंने इस विषयमे बहुत काम किया है। आज कल तो अर्थ कृच्छ्रतासे यहाँ-तक हालत पहुंच गयी है कि, गवर्नमेंटने पुरातत्त्व-विभागके खर्चको बहुत ही कम कर दिया है। भारत सरकारके शिक्षा-सदस्यके भाषणसे यह भी मालूम होता है कि, सरकार विदेशी विश्वविद्यालयो तथा दूसरी विश्वसनीय संस्थाओंको भारतमें पुरातत्व-सम्बन्धी उत्खननके लिये अनुमति दे देगी। ऐसा करनेसे निश्चय ही भारतके इतिहासकी बहुतसी बहुमूल्य सामग्री-- जो आगे खोदाईमें निकलेगी, उसे-वह संस्थाएं भारतसे बाहर ले जायंगी। यद्यपि संस्थाओंके प्रामाणिक होनेपर, सामग्रियोका भारत से बाहर जाना, जहांतक विज्ञानका सम्बन्ध है, हानिकर नहीं है, किन्तु यह भारतीयोंके लिये शोभा नहीं देता। साथ ही यह भी तो उचित नहीं कि, हम बाहर जानेके डरसे उधर दूसरोंको भी खोदनेका काम न दें और न आप ही इस विषयमे कुछ करें। अस्तु। लक्ष्मीपात्रोंको चाहिये कि, पर्याप्त धन देकर किसी विश्वविद्यालय या सग्रहालय द्वारा खोदाई करावे। हिन्दी भाषा-भाषी राजाओ, जमीदारो और धनाढ्योंके विषयमे यह आम तौरसे शिकायत है कि, वह विज्ञान, कला तथा दूसरे संस्कृति सम्बन्धी कामोंसे उपेक्षा करते हैं और इसपर दूसरोंको कहनेका मौका भी मिलता है कि, यदि वह इन्हें नहीं कर सकते, तो उनका अस्तित्व ही निरर्थक है। वस्तुतः इस श्रेणीका भविष्य बहुत कुछ इस प्रकार-के कामों द्वारा जनताकी सहानुभूति प्राप्त करने ही पर निर्भर है।

हमारा देश गरीब है। बहुतसे आदमी होंगे, जो पुरातत्वके सम्बधमें कुछ कार्य करना चाहते हैं, किन्तु उनके पास धन नही, जिससे वह सहायता करें। ऐसे समझदार पुरातत्त्व-प्रेमी भी एक प्रकारसे उत्खननमें सहायता कर सकते हैं। आवश्यकता है, प्रत्येक प्रान्तमें ऐसे उत्साही लोगोका एक पुरातत्त्व-सेवा-दल कायम करनेको। दलमें कालेजोंके छात्र और प्रोफेसर तथा इस विषयमें उत्साह रखनेवाले दूसरे शिक्षित सज्जन सम्मिलित हों। सेवादलके सदस्य सालमे कुछ सप्ताह या मास जानकार नेताओंके नेतृत्वमें अपने हाथों खननका काम करें। निकली चीजोंको प्रदेशके सग्रहालय या अन्य किसी सार्वजनिक सुरक्षित स्थानमें रखा जाय। कैम्पका जीवन बिताते हुए अपने पाससे खर्च कर काम करनेवाले लोग आसानीसे मिल सकेंगे। वस्तुओंकी सुरक्षा और अभिज्ञ नेता होनेका विश्वास हो जाय, तो सरकार भी इस काममें बाधक नहीं होगी और जहाँतक होगा, उसमे वह सहलियत पैदा करेगी।

८----भारतीय पुरातत्त्व-वेत्ता

जिस प्रकार "वेदाङ्क"में वेदज्ञोंके पते प्रकाशित किये गये थे, उसी प्रकार यहाँ कुछ ऐसे देशी विदेशी पुरातत्त्व वेत्ताओंके पते प्रकाशित किये जा रहे हैं, जिनमे, आवश्यकता पड़नेपर, पुरातत्त्व-विषयक यथेष्ट अभिज्ञता प्राप्त की जा सकती है। हमने यथाशक्ति इस बातकी चेष्टा की हैं कि, भारतीय पुरातत्त्व क्षेत्रमें काम करने वाले विश्व विदित किसी भी पुरातत्त्व वेत्ताका नाम न छूटने पावे; तो भी, सम्भव है,

किसीका नाम छूट गया हो। यहाँ यह भी ध्यान देनेकी बात है कि, जिन विद्वानोंके नाम "पुरातत्त्वाङ्क"में आ चुके हैं, उनके नाम इस सूचीमें नहीं रखे गये हैं।

१ राय बहादुर पं० दयाराम साहनी एम० ए०,
डायरेक्टर जेनरल आफ आर्कियालाजी
इन इंडिया, दिल्ली और शिमला

२ डा० हीरानन्द शास्त्री एम० ए०, डी० लिट्,
गवर्मेंट एपीग्राफिस्ट फार इंडिया,
नीलगिरि, मद्रास

२ राय बहादुर रामप्रसाद चन्दा बी० ए०,
लेट सुपरिंटेंडेंट, आर्कियालाजिकल सेक्सन,
इंडियन म्युजियम, कलकत्ता

४ डा० आनन्दकुमार स्वामी डी० एस-सी०,
क्युरेटर, म्युजियम आफ फाइन आर्टस,
बोस्टन (अमेरिका)

५ खाँ बहादुर मौलवी जफर हसन बी० ए०,
सुपरिंटेंडेंट, आर्कियालाजिकल सर्वे, आगरा

६ महामहोपाध्याय पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द
ओझा, क्युरेटर, राजपुताना म्युजियम,
अजमेर

७ राय साहब मनोरञ्जन घोष एम० ए०,
क्युरेटर, पटना म्युजियम, पटना

८ श्रीयुत गणेशचन्द्र चन्द्र,
सुपरिंटेंडेंट, आर्कियालाजिकल सर्व,
सेंट्रल सर्किल, पटना

९ श्रीयुत एन० के० भट्टशाली एम० ए०,
क्युरेटर, ढाका म्युजियम, ढाका

१० पण्डित के० एन० सीताराम
एम० ए०, पी एच० डी०,
क्युरेटर, सेंट्रल म्युजियम, लाहोर

११ राय साहब प्रयागदयाल,
क्युरेटर, प्राविंशियल म्युजियम, लखनऊ

१२ श्रीयुत एम० डी० राघवन अवर्गल, बी० ए०,
सुपरिंटेंडेंट इन चार्ज, गवर्नमेंट म्युजियम, मद्रास

१३ श्रीयुत जी० वी० आचार्य बी० ए०
क्युरेटर, प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम, बम्बई

१४ श्रीयुत पं० माधवस्वरूप वत्स एम० ए०,
असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट, आर्कियालाजिकल सर्वे,
फ्रांटियर सर्किल, लाहोर

१५ श्रीयुत एम० गुप्त,
क्युरेटर, आर्कियालाजिकल म्युजियम, तक्षशिला

१६ श्रीयुत एम० बी० गर्दे एम० ए०,
सुपरिंटेंडेंट, आर्कियालाजी, ग्वालियर स्टेट

१७ श्रीयुत ए० एस० गदरे,
क्युरेटर, वाटसन म्युजियम, राजकोट

१८ श्रीयुत एम० नाजरीन,
आफिशियेटिंग सुपरिंटेंडेंट, आर्कियालाजिकल सर्वे,
वेस्टर्न सर्किल, पूना

१९ श्रीयुत एम० एच० कुरेशी,
आफिशियेटिंग सुपरिंटेंडेंट, आर्कियालाजिकल
सर्वे, महमडन एंड ब्रिटिश मानुमेंट्स,
नार्दर्न सर्किल, आगरा

२० डा० डी० आर० भण्डारकर
एम० ए०, पी-एच० डी०,
एडीटर, इंडियन एंटिक्वेरी, बम्बई

२१ डा० शम-सुल-उल्मा सर जे० जे० मोदी
के० सी० आई० ई०, पी-एच० डी०,
एडीटर, जर्नल आफ दि कामा ओरियंटल
इन्स्टीच्यूट, बम्बई

२२ श्रीयुत जी० यजदानी एम० ए०
डायरेक्टर आफ आर्कियालाजी, हैदराबाद (दक्खिन)

२३ श्रीयुत ओ० सी० गाङ्गुली,
सम्पादक, "रूपम्", कलकत्ता

२४ श्रीयुत टी० एन० रामचन्द्रन एम० ए०,
मद्रास म्युजियम, मद्रास

२५ श्रीयुत आर० सुब्बा राव एम० ए०,
एडीटर जर्नल आफ दि आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी, राजमहेन्द्री

२६ श्रीयुत हकीम सईद शमसुल्ला क़ादरी,
एडीटर, "तारीख", हैदराबाद

२७ प० जयचन्द्र विद्यालङ्कार, दारागंज, प्रयाग

२८ डा० रमेशचन्द्र मजुमदार एम० ए०,पी-एच०डी०,
यूनिवर्सिटी, ढाका

२९ डा० प्रबोधचन्द्र बागची एम० ए०, डी० लिट्,
यूनिवर्सिटी, कलकत्ता

३० डा० विजनराज चटर्जी
एम० ए०, पी-एच० डी०, मेरठ कालेज, मेरठ

३१ श्रीयुत एस० पर्णवितान,
एडीटर, एपीग्राफिया जीलोजिका, सिलोन

३२ डा० वेनीमाधव बरुआ एम० ए०, डी०लिट्,
यूनिवर्सिटी, कलकत्ता

३३ डा० सुनीतिकुमार चटर्जी एम० ए०,
पी-एच० डी०, यूनिवर्सिटी, कलकत्ता

३४ प्रिंसिपल विधुशेखर भट्टाचार्य एम० ए०,
शान्तिनिकेतन, बोलपुर, बीरभूम

३५ डा० ए० बनर्जी शास्त्री एम० ए०, डी० फिल,
पटना कालेज, पटना

३६ मि० पर्सी ब्राउन, गवर्नमेंट स्कूल आफ आर्ट्स, कलकत्ता

३७ सर जान मार्शल, भूतपूर्व डाइरेक्टर जनरल आफ इंडियन आर्कियालाजी, लंडन

३८ डा० एच० ल्यूडर्स, यूनिवर्सिटी, बर्लिन (जर्मनी)

३९ प्रो० सिल्वन लेवी, पेरिस यूनिवर्सिटी, पेरिस

४० प्रो० अम्ब्रोगियो बालिनो, मिलान (इटाली)

४१ डा० स्टेन कोनो,
एडीटर, ऐक्टा ओरियंटेलिया, ओस्लो (नार्वे)

४२ प्रो० जियन प्रिज़ुस्की, पेरिस

४३ डा० हर्मान गोएट्स पी-एच० डी०,
कनज़र्वेटर, कर्न इंस्टीच्यूट (हालैंड)

४४ सर एम० आरेल स्टाइन के० सी० आई० ई०,
C/o डा० पी० एस० एलन, आक्सफ़ोर्ड, इंगलैंड

४५ प्रो० ए० फूशे, पेरिस यूनिवर्सिटी, पेरिस,

४६ डा० जे० हाकिन, म्युजे गेमे, पेरिस

४७ प्रो० पाउल पेलियो, पेरिस यूनिवर्सिटी, पेरिस

४८ डा० एल० डी० बर्नेट, ब्रिटिश म्युजियम, लंडन

४९ प्रो० जार्ल शार्पेंटियर,
यूनिवर्सिटी, उपासला (स्वीडेन)

५० मि० चार्ल्स डुरवा सेल, भू०पू० सुपरिंटेंडेंट,
आर्कियालाजिकल सर्वे बर्मा सर्किल, रंगून

५१ सर जार्ज ए० ग्रियर्सन, सरी, इंगलैंड

५२ मि० जार्ज ग्रोसलिये, फ्नोंपेन्ह, कम्बोडिया

५३ डा० के० हमदा, टोकियो (जापान)

५४ श्रीमती स्टेला क्रामरिस, हालैंड

५५ मि० जार्ज मापेरो, पेरिस

५६ मि० माउँग मे, सुपरिंटेंडेंट,
आर्कियालाजिकल सर्वे, बर्मा सर्किल, माडले

५७ मि० तिन पे० माउंग, यूनिवर्सिटी, रंगून

५८ मि० अलेक्ज़ेंडर रिया, भूतपूर्व सुपरिंटेंडेंट,
आर्कियालाजिकल सर्वे, मद्रास

५९ मि० एच० ली० शटलवर्थ,
रायल एशियाटिक सोसायटी, लंडन

६० डा० ओटो स्टाइन,
यूनिवर्सिटी, प्राग, जेकोस्लोवेकिया

६१ प्रो० एफ० डब्ल्यू० थामस,
आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, लंडन

६२ डा० डान मार्टिनो डि जिल्वा विक्रम सिंह,
रायल एशियाटिक सोसायटी, कोलम्बो

६३ डा० एस० ओल्डेनबर्ग पी-एच० डी०
एकाडेमी आफ साइंस, लेनिनग्राड, रूस

६४ डा० विन्टर्निट्ज एम० ए०, पी-एच० डी०,
प्राग, जेकोस्लोवेकिया

६५ मि० फेंकलिन इजर्टन,
एडीटर, जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरियंटल सोसायटी, न्यू हेवेन, अमेरिका

६६ मि० जान एलन, ब्रिटिश म्युजियम, लंडन

६७ डा० जे० पी-एच० वोगल पी-एच० डी०,
एडीटर, ऐनुअल बाइब्लोग्राफी आफ इंडियन आर्कियालाजी, लीडेन, हालैंड

६८ डा० एन० जे० क्रोम पी-एच० डी०,
प्रोफेसर आफ इंडो जावानीज आर्कियालाजी, लीडेन, हालैंड

६९ मि० डब्ल्यू० पर्सिवल ईटस,
लेक्चरर इन चाइनेज आर्ट एंड आर्कियालाजी, यूनिवर्सिटी आफ लंडन, इंगलैंड

७० प्रो० जी० तुसी, यूनिवर्सिटी आफ रोम, इटाली

७१ प्रो० डा० लूई फिनो कालेज द फ्रांस, पेरिस

७२ मोशियो रेने ग्रूसे,
असिस्टेंट कनजर्वेटर, म्युजे ग्वेमे, पेरिस

७३ मि० जे० एफ० ब्लाकिस्टन सुपरिंटेंडेंट,
आर्कियालाजिकल सर्वे, फ्रांटियर सर्किल, लाहोर

७४ मि० ई० ए० डब्रो, एफ० जेड० एस०,
क्युरेटर, सेंट्रल म्युजियम, नागपुर

७५ मि० ए० एच० लांगहर्स्ट, सुपरिंटेंडेंट,
आर्कियालाजिकल सर्वे, सदर्न सर्किल, मद्रास

९—पुरातत्त्व-विषयक पुस्तक, रिपोर्टें और पत्र-पत्रिकाएँ

"वेदाङ्क"की ही तरह पुरातत्त्व-विषयक पुस्तकों आदिकी सूची, मूल्य, प्रकाशन-समय, प्राप्तिस्थान, निर्माण-काल आदिके साथ, प्रकाशित करनेका हमारा विचार था। इसके लिये हमने कई पुस्तक-प्रकाशकों और विद्वानोंसे पत्र-व्यवहार करना शुरू किया। कुछ सूचियाँ और पुस्तकें मगायीं भी। उन्हें देखनेसे मालूम हुआ कि, पुरातत्त्व-विषयक साहित्य वैदिक साहित्यसे कई गुना बड़ा है। यदि सूची प्रकाशित की जाय, तो सारा 'पुरातत्त्वाङ्क'ही भर जाय, इसलिये लेखकोंके नामके साथ कुछ बहुत ही उपयोगी पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओंकी सूची ही प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया। तदनुसार यह सूची प्रकाशित की जा रही है। यह सारी सूची प्रायः पंजाब यूनिवर्सिटीके डा० लक्ष्मणस्वरूप एम० ए०, डी० फिल (आक्सन) और आपके सहकारी ला० जगन्नाथ अग्रवाल एम० ए० की बनायी हुई है, इसलिये हम आप लोगोंके चिर ऋणी रहेंगे। सूचीमें फ्रेंच, जर्मन आदिकी भी पुस्तक-पत्रिकाएँ हैं।

1. Aiyangar, P. T. Srinivasa—(a) The Stone Age in India.
2. Aiyangar, S. Krishnaswami—(a) Ancient India.
3. Allan John,—(a) Catalogue of the coins of the Gupta Dynasty, (b) Catalogue of Indian Coins in the British Museum, (c) Catalogue of Coins in the Indian Museum, (d) Indian Coins.
4. Apte, Daji N.—(क) हिन्दू सुमेर-संस्कृति (मराठी)।
5. Aravamuthan, T. G.—(a) The Kaveri, the Maukharis and the Sangam Age.

6 Babelov, E--(a) Manual of Oriental Antiquities
7 Bagchi, Dr Prabodha Chandra—(a) Pre-Aryan and Pre-Dravidian
8. Banerji, R D—(a) The Origin of the Bengali Script, (b) প্রাচীন মুদ্রা।
9 Barnet, L D—(a) Antiquities of India.
10 Barth, M Auguste—(a) Inscriptions du Cambodge
11 Barua, Beni Madhava and Kumar Ganganand Singh—(a) Barhut Inscriptions, (b) Old Brahmi Inscriptions in the Udayagiri and Khandagiri Caves
12 Burwell Anna—(a) Buried treasures of Chinese Turkistan
13 Bergaigne, P M—(a) Les Inscriptions Sanscrites du Cambodge
14 Beylie De—(a) La Palais d' Angkor Vat, (b) L Architecture Hindone
15 Bhandarkar, D R—(a) Inscriptions of Ashoka, (b) Lectures in ancient Indian Numismatics
16. Bhattasali, Nalini Kanta M A—(a) Iconography of Buddhist and Brahmanical Sculptures in the Decca Museum
17. Bhattacharya, Benoytosh—(a) The Indian Buddhist Iconography
18 Bhau Da Ji.—(a) Literary Remains of Dr Bhau Da Ji
19 Bidya Benoda, B B—(a) Catalogues of coins in the Indian Museum
20 Binyon, Lawrence—(a) Examples of Indian Sculpture at the British Museum
21 Blagden, C O—(a) Mon Inscriptions.
22 Bloch, Th—(a) Supplementary Catalogue of the Archaeological Collections of the Indian Museum
23 Bosch, F D K—(a) De Prambanan Temples
24 Bose, Phanindra Nath—(a) The Indian Colony of Siam
25 Borovka, Dr Gregory—(a) Scythian Art
26 Boyer A M—(a) Kharosthi Inscriptions discoverd by Sir M A Stein
27 Brown, A. Coggin (a) Catalogue of Pre-historic Antiquties in the Indian Museum
28 Breeks, J W- (a) An account of the Primitive tribes and monuments of the Nilgiris
29 Brown, C J—(a) Catalogue of the coins in the Provincial Musuem of Lucknow
30 Brown, Percy—Indian Painting
31. Buhler, George—(a) Indische Palaeographise, (b) Bhagwanlal Indragi's 23 Inscriptions from Nepal
32 Burnett, A C - (a) The Elements of South Indian Palaeography
33 Burgess, James—(a) The Buddhist Stupas of Amaravati and Jagayyapeta, (b) The ancient monuments, temples and sculptures of India, (c) Cave Temples of India, (d) A Guide to Elura Cave Temples, (e) Digambar Jain Iconography
34. Bunbury, E H --(a) A History of Ancient Geography.

35 Callentels, Dr. P. V. Van Stein. (a) Reports on the inscriptional tours through Sumatra etc.

36. Cave, W. Henry (a) The ruined cities of Ceylon.

37. Chakravarty, Dr. Niranjan Prasad M. A.—(a) India and Central Asia

38 Chatterji, Dr. Bijan Raj —(a) Indian Culture in Java and Sumatra

39. Codrington, K. de B—(a) An introduction to the Mediaeval Indian Sculpture

40 Contenau, Dr. George—(a) Manuel d' archeologie orientale, (b) Les Antiquites Orientales, (c) L' Art de l' Asie orientale ancienne

41 Coomaraswami, A. K.—(a) History of Indian and Indonesian Art, (b) Bibliographies of Indian Art, (c) Catalogue of Indian collections in the Museum of Fine Arts, Boston

42 Cousens, Henry—(a) The Architectural Antiquities of Western India, (b) Antiquities of Sindh

43 Cunningham Sir Alexander—(a) The Ancient Geography of India, (b) Coins of Ancient India, (c) Coins of the Indo-Scythians, (d) The Bhilsa Topes, (e) Book of Indian Eras, (f) Corpus Inscriptionum Indicarum, (g) Ladak, (h) Example of Idian Sculpture at the British Museum, (i) Coins of Mediaeval India

44 Crawford, Q.—(a) Researches on Ancient and Mordern India

45 Chanda, Ram Prasad—(a) Catalogue of the Museum of Archaeology at Sanchi, (b) Bhoonja Dynasty of Mayurbhanj and their ancient capital.

46 Dey, Nundo Lal, M. A., B. L.—(a) The Geographical Dictionary of Ancient and Mediaeval India

47 Dhama B. L.—(a) A Guide to Khajuraho

48 Diskalkar, D. B.—(a) Selections from Sanskrit Inscriptions

49 Dutt, Binode Behari.—(a) Town Planning in Ancient India

50 Elliot, W. (a) Coins of Southern India

51 Fergusson James—(a) History of Indian and Eastern Architecture, (b) Cave Temples of India, (c) Archaeology in India, (d) Illustrations of the Rock-cut Temples of India, (e) Picturesque illustrations of ancient Architecture in Hindostan.

52 Fischer, Otto—(a) Die Kunst Indiens, Chinas and Japans

53 Finot Louis—(a) Notes D' Epigraphie Indochinoise (b) L' origin d' Angkor.

51 Foucher A.—(a) La Geographie ancienne du Gandhara, (b) The Beginnings of Buddhist Art & other Essays, (c) Etude sur l' Iconographie Bouddhique de l' Inde

55. Francke, A. H.—(a) Antiquities of Indian Tibet

56. Gangooly, Ordhendra Coomar.—(a) Indian Architecture, (b) A Collection of Indian brasses & bronzes.

57. Godard, A.—(a) Antiquities Bouddhiques de Bamiyan.

58. Goloubew, Victor.—(a) Documents from servir a' l' etude d' Ajanta; etc.

59. Griffiths.—(a) Ajanta Caves.

60. Groneman.—(a) Tyandi Borobudur in Central Java.

61. Grosher, George.—(a) Arts and Archeologie Khmers.

62. Grunwedel, A.—(a) Buddhistische Kunst in Indien

63 Hackin, J.—(a) Guide Catalogue Les Collections Bouddhiques

64 Halder, R R.—(a) Articles on inscriptions in Indian Antiquary and other journals.

65 Hanada Dr. K.—(a) On the Ciay (clay) Faces of Buddha recently found in Afghanistan

66 Hargreaves, H.—(a) Excavations in Baluchistan in 1925.

67. Havell E. B—(a) Indian Architecture, (b) Fundamentals of Indian Art, (c) Indian Sculpture and Painting.

68. Hultzsch, Eugen.—(a) Corpus Inscriptionum Indicarum, (b) South Indian Incriptions

69. Hurlıman, Martin.—(a) L' Inde Architecture.

70. Indraji, Bhagwan Lal.—(a) Hathigumpha and other Inscriptions

71. Iyer, A. V. T.—(a) Indian Architecture.

72. Jahagirdar, R. V.—(a) Indo-Aryan Languages.

73. Jaccon, J A.—(a) Excavation in the Chaman Valley.

74. Jinavijaya, Muni.—(a) प्राचीन जैन-लेख-संग्रह ।

75. Jouveau, Dubreuil G.—(a) Dravidian Architecture, (b) Vedic Antiquities.

76. Juynboll, Dr H. H.—(a) Translation of Sarga XVII of the old Javanese Ramayana.

77 Kak, R C—(a) Ancient and mediaeval Architecture of Kashmir, (b) Handbook of Archaeological and Numismatic Sections of Sri Protap Museum, Srinagar

78 Kaye, G R—(a) The Bakshali Manuscript

79. Kielhorn.—(a) Bruchstucke Indischer Schauspiele in Inschriften Zu Ajmer

80 Konow, Sten.—(a) Classified catalogue of the library of Director General for Archaeology in India

81 Kramer, Dr Augustin.—(a) West Indonesia, Sumatra, Java, Borneo

82 Krom, Dr N J—(a) Hindoe Jovansche Gerchiedenis, (b) Borobudar Archaeologial description

83 Kuraishi, Mohd. Hamid M A—(a) A short guide to the Buddhist remains excavated at Nalanda

84 Lal R B Hira—(a) Inscriptions of the C P and Berars

85 Lanepoole.—(a) Catalogues of the coins of the Sultans of Delhi in the British Museum

86 Law, Bimalcharan—(a) Ancient Indian Tribes

87 Levi, Sylvian.—(a) Le Nepal (b) Pre-Aryan and Pre-Dravidian

88 Luce, G H, M A, I E S—(a) Selections from the inscriptions of Pagan

89 Luders, Heinrich.—(a) A list of Brahmi inscriptions from the earliest times up to 400 A. D.

90 Logan, A. C.—(a) Old chipped stones of India.

91 Lawrence Binyon.—(a) Examples of Indian sculpture at the British Museum.

92 Maitra, A. K.—(a) গৌড়-লেখমালা।

93. Majumdar, Mani Gopal.—(a) Inscriptions of Bengal.

94 Majumdar, Dr. R. C.—(a) Ancient Indian Colonies—Champa.

95. Marshall, Sir John—(a) Guide to Taxila, (b) Mohenjodaro and the Indus Civilization, (c) Conservation Manual—a handbook for the use of Archaeological officers etc., (d) The Bhagh Caves.

96. Matsumoto, Yeichi—(a) Development of the characteristics of the Buddhist pictures in Central Asia in its relation to the Far East.

97. Mehta, Nanalal Chamanlal I. C. S.—(a) Studies in Indian Painting.

98. Mervart, L. A.—(a) Guide to the Anthropological and Ethnographical Museum, Indian Dept. [Leningrad.]

99. Mensching, Gustav—(a) Buddhistische Symbolik.

100. Mitra, Rajendralal (a)—Antiquities of Orissa, (b) Bodh Gaya.

101. Mitra, Panchanan.—(a) Prehistoric India.

102 Nahar, Puran Chand—(क) जैन-शिला-लेख-संग्रह।

108 Nelson, W.—(a) Catalogues of the coins in the Indian Museum, Calcutta.

104 Neogi Panchanan—(a) Copper in Ancient India.

105 Ojha R. B. Gaurishankar H.—(क) प्राचीन लिपि-माला। (ख) अशोककी धर्म-लिपियाँ।

106. Prinsep—(a) Essays on Indian Antiquities.

107. Przyluski, J. (a) Un Ancien Peuple du Penjab Les Udumbaras.

108 Ramanayya N. Venkata.—(a) Essay on the origin of South Indian Temples.

109 Ramavatar Pande, Sahithacharya.—(a) Piyadasi Inscriptions.

110. Rangacharya V.—(a) Inscriptions of the Madras Presidency.

111 Rao Gopinath—(a) Elements of Hindu Iconography.

112 Rao B. Venkoba—(a) Architecture and sculpture of Mysore.

113. Rapson, E. J.—(a) Catalogue of the coins of the Andhra Dynasty, (b) Indian Coins.

114 Rea Alex—(a) Catalogue of the Pre-historic Antiquities from Adichanallur and Perumbair, (b) Chalukyan Architecture.

115 Rice Lewis—(a) Mysore and Coorg from the Inscriptions.

116 Sahni, Daya Ram R. B.—(a) Catalogue of the Museum of Archaeology at Sarnath.

117. Sanyal, Nirabandhu—(a) List of inscriptions in the Museum of the Varendra Research Society, Rajshahi, (b) List of gold coins in the Varendra Research Society Museum.

118. Shastri Anantaprasad Bannerji—(a) Early inscriptions of Bihar and Orissa, (b) Antiquities of Bihar.

119. Schraeder Jovons—(a) Pre-historic antiquities of the Aryan People.

120. Seidenstucker, Karl—(a) Zwolt Jataka Reliefs on Ananda Temple Zu Pagan.

121. Senart Emile—(a) Kharosthi Inscriptions discovered by Sir M. A. Stein.

122. Sewell, Robert.—(a) The Amravati Tope.

123. Shastri H. Krishan.—(a) South Indian images of Gods and Goddesses.

124. Smith, Vincent, A.—(a) History of Fine Art in India & Ceylon, (b) Catalogue of coins in the Indian Museum, Calcutta. (c) The Jain Stupa and other Antiquities of Mathura.

125. Smither, J. G—(a) Architectural remains—Anuradhapura.

126. Spooner, D Brainerd.—(a) Handbook to the sculptures in the Peshawar Museum.

127. Stein, Sir Aurel.—(a) Innermost Asia, (b) Serindia—detailed report of explorations in Central Asia and Westernmost China.

128. Stein, Otto.—(a) Indien in den griechischen Papyri.

129. Thompson, D. V.—(a) Preliminary notes on some Early Hindu Paintings at Ellora.

130. Thurston, E.—(a) Anthropology.

131. Vogel, J. Ph.—(a) Le Sculpture de Mathura, (b) Catalogue of the Delhi Museum of Archaeology, (c) The Yup Inscriptions of King Mulavarman from Koetei, East Borneo, (d) Antiquities of Chamba State.

132. Whitehead, R B—(a) Indo-Greek Coins, Lahore Museum Catalogue.

133. Wilson, H H.—(a) Ariana Antiqua.

134. Woolner, A. C.—(a) Asokan Text and Glossary.

अब कुछ ऐसी पत्र-पत्रिकाओं आदिकी सूची दी जाती है, जो पुरातत्त्व-विज्ञानके जिज्ञासुओंके लिये बहुत ही उपयोगिनी हैं। इनमें पहले नम्बरकी वार्षिक पत्रिका १९२७ से ही प्रकाशित हो रही है। यह पुरातत्त्वके सारे विषयोंका विश्वकोष है।

1. Annual Bibliography of Indian Archaeology, Kern Institute, Leyden, Holland.
2. Acta Orientalia, Royal Library, Copenhagun, Denmark.
3. Bibliographie Bouddhique, Paul Geuthner, 13, Rue Jacob, Paris. (VI)
4. Bulletion of the Museum of Fine Arts, Boston, America.
5. Eastern Art, Philadelphia, America.
6. Indian Art and Letters, India Society, London, S. W 1.
7. Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain & Ireland, London, W. 1.
8. Ostasiatische Zeitschrift, Ferdinand Lessing, Berlin, Leipzig.
9. Rupam, 6, Old Post Office Street, Calcutta.
10. Annals of the Bhandarker Research Institute, Poona.
11. Annual Report of the Archaeological Servey of India, Govt. of India Central Publication Branch, 8, Govt Place, Calcutta.

12. Annual Report of the Archaeological Dept of the Nizam's Dominian, Haidrabad (Deccan).

13 Annual Report of the Archeological Dept. of Mysore State.

14 Annual Report on South Indian Epigraphy, Central Publication Branch, Calcutta

15 Annual Report of the Varendra Research Society, Rajshahi

16 Epigraphia Indica, Central Publication Branch Calcutta

17 Indian Antiquary, British Indian Press, Mazgaon Bombay

18 Indian Historical Quarterly Oriental Press Calcutta

19 Journal of the Andhra Research Society, Rajahmundry Madras

20 Journal of B & O Research Society, Patna

21 Journal of Bombay Historical Society, Exchange Buildings, Sprott Road Bombay

22 Journal of Indian History, Nadu Street Mylapore Madras

23 Journal of the Oriental Research, Luz, Mylapore Madras

24 Journal of the American Oriental Society, Yale Library, New Haven Conn, U S A,

25 Memoir of the Archaeological Survey of India, Delhi,

26 Journal of the Punjab Historical Society, Lahore

27 Journal of the U P Historical Society Indian Press, Allahabad

28 Journal of the Asiatic Society of Bengal 1, Park Street Calcutta

29 Journal of the Royal Asiatic Society, Bombay Branch, Town Hall, Bombay

30 Journal of the Royal Asiatic Society Ceylon Branch, Colombo

31 Epigraphia Zeylanica, Colombo (Ceylone)

32 Djawa, Java Institute, Batavia

33 Archive Orientaller Oriental Institute, Prague Czechoslovakia

34 Journal Asiatique, Paris

35 Journal of Cama Oriental Institute, Bombay

36 Ceylone Antiquary, Colombo

Kerale Society Papers, Trivandrum (Travancore)

38 नागरीप्रचारिणीपत्रिका, काशी।

39 Quarterly Journal of the Mythic Society Banglore

40 तारीख, हैदराबाद (दक्खिन)।

41 Anthropos St Gabriel Modline, Near Vienna, Austria

42 Bulletin of the School of Oriental Studies London

43 The Bukkyo Bijutsu, Tokyo (Japan)

44 Epigraphia Birwanica Rangoon (Burma)

45 Ephigraphia Indo Moslemica, Govt of India Central Publication Branch Calcutta

46 Indian Historical Records Commission Central Publication Depot, Calcutta

47 Journal of the Burma Research Society Rangoon

48 Journal des Savants, Paris

49 Journal of the Society of Oriental Research, New York (America)

50 Revue Numismatique Paris

ये सब पुस्तक, रिपोर्टें और पत्र-पत्रिकाएँ निम्न लिखित स्थानोंपर मिल सकती हैं -

1 Luzac & Co, 46, Great Russell Street, London, W C 1

2 Otto Harrassowitz, 14, Querstrasse, Leipzig, Germany

3 Paul Geuthner, 13, Rue Jacob, Paris (VI),

4 Oriental Book Agency, 15, Shukrawar, Poona.

पुरातत्त्व विषयक पुस्तक और पत्र-पत्रिकाएँ पढ़नेसे साहित्यिक ज्ञान होता है और तद्विषयक मूर्त्तियाँ, शिलालेख, ताम्रपत्र, मुहर आदि देखनेसे पुरातत्त्वके प्रकृत और व्यावहारिक ज्ञानकी अभिवृद्धि होती है। ये चीजें म्युजियम, संग्रहालय या अजायबघरमें सुरक्षित रहती हैं। ऐसे अजायबघर संसार और भारतके प्रायः प्रत्येक बड़े-बड़े नगरमें हैं। भारतमें कलकत्ता का इंडियन म्युजियम, बम्बईका प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम, मद्रासका गवर्नमेंट म्युजियम, पटना म्युजियम, लाहौरका सेंट्रल म्युजियम, मथुराका कर्जन म्युजियम, पेशावर म्युजियम,

तक्षशिला म्युजियम, सारनाथ म्युजियम, लखनऊका प्राविंशियल म्युजियम, ढाका म्युजियम, अजमेरका राजपूताना म्युजियम, राजशाहीकी वारेन्द्र रिसर्च सोसायटी, गोहाटीकी कामरूप-अनुसन्धान-समिति, दिल्लीका आर्कियालाजिकल म्युजियम, सतारा म्युजियम, साँचीका आर्कियालाजिकल म्युजियम, कलकत्तेकी वंगीय साहित्य-परिषद, पूनेका भण्डारकर आरियंटल इंस्टीच्यूट और भारत-इतिहास संशोधक मण्डल, कलकत्तेकी बंगाल एशियाटिक सोसायटी, बम्बईका कामा इंस्टीच्यूट, अमरावतीका शारदाश्रम, रायगढ़की मध्य भारत-इतिहास-समिति आदि ऐसी संस्थाएँ हैं, जिनमें शिलालेख, ताम्रपत्र, मुद्राएँ, मूर्त्तियाँ, भूर्जपत्र और ताड़पत्रपर लिखे प्राचीनतम उत्तमोत्तम ग्रन्थ देखने और पढ़नेको मिल सकते हैं। प्रत्येक बड़े स्टेटमें भी ऐसी संस्थाएँ हैं। उक्त स्थानोंमें जाकर पुरातत्त्वप्रेमियोंको लाभ उठाना चाहिये। खेद है कि, इनमेंसे कइयोंके लिखे-लिखाये विवरण हम इस विशेषाङ्कमें नहीं छाप सके। समयानुसार वे छपेंगे।